

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

❊ जन्मदिवस 19–03–1971 ❊ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ❊ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

वर्द्धमान चरितम्

ग्रन्थकर्त्ता

कविवर श्री असग जी

सम्पादक

पन्नालाल जी जैन साहित्याचार्य

प्रकाशक

जैन संस्कृति संरक्षक संघ

सोलापुर (महाराष्ट्र)

(परम्परानायक)



परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)



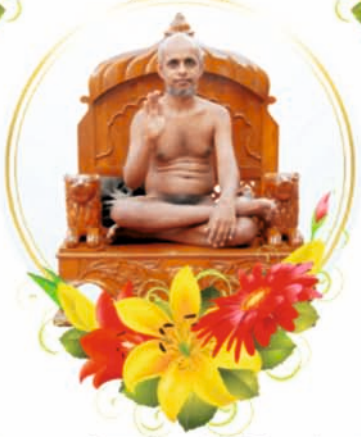
परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)



परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)



परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

जीवराज जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थ २३

ग्रन्थमाला-संपादक

प्रो० आ० ने० उपाध्ये व स्व० प्रो० हीरालाल जैन

श्री-असग-विरचितं

वर्धमानचरितम्

(हिन्दी अनुवाद, आलोचनात्मक प्रस्तावना आदि सहित)

संपादक

पं० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, पीएच. डी.

प्राचार्य, गणेश दि० जैन विद्यालय

सागर (म० प्र०)

प्रकाशक

लालचन्द हीराचन्द

अध्यक्ष, जैन संस्कृति संरक्षक संघ

शोलापुर

वीर नि० सं० २५००] सन् १९७४ [वि० सं० २०३०

प्रकाशक
लालचन्द हीराचन्द
अध्यक्ष
जैन-संस्कृति संरक्षक संघ
सोलापुर

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण
प्रति १०००

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कॉलोनी, वाराणसी-१

JIVARĀJA JAINA GRANTHAMĀLĀ, No. 23
General Editors :
Dr. A. N. Upadhye & late Dr. H. L. Jain

ASAGA'S

VARDHAMĀNA-CHARITAM

Edited
with Hindi Trānslation, Introduction etc.
by

Pt. Pannalal Jain, Sāhityāchārya, Ph. D.
Principal, Ganesha D. Jaina Vidyālaya
Saugar (M. P)

Published by
Lālchand Hirāchand
Jaina Samskriti Samraksaka Sangha, Sholapur
1974
(All Rights Reserved)
Price : Rs. 12 only.

First Edition, Copies 1000
Copies of this book can be had direct from
Jaina Samskriti Samrakṣaka Sangha
Phaltan Galli, Sholapur (India)

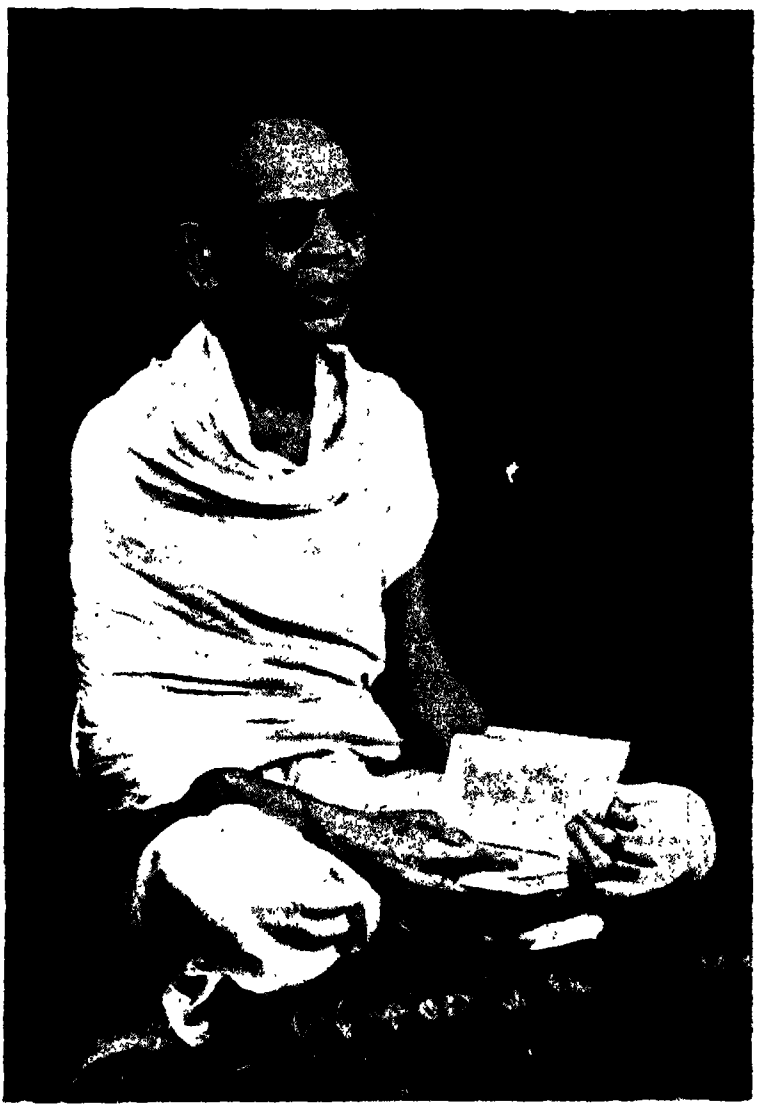
Price : Rs. 12.00 per Copy (exclusive of postage)

जीवराज जैन ग्रंथमाला परिचय

शोलापुर निवासी स्व० ब्र० जीवराज गौतमचंद दोशी कई वर्षोंसे संसारसे उदासीन होकर धर्मकार्यमें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० में उनकी यह प्रबल इच्छा हो उठी कि अपनी न्यायोपार्जित संपत्तिका उपयोग विशेषरूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमें करें। तदनुसार उन्होंने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैनविद्वानोंसे साक्षात् और लिखित रूपसे सम्मतियां इस बातकी संग्रह कीं कि कौनसे कार्यमें संपत्तिका उपयोग किया जाय।

स्फुट मत संचय कर लेनेके पश्चात् सन् १९४१ के ग्रीष्मकालमें ब्रह्मचारीजीने सिद्धक्षेत्र गजपंथ (नासिक) के शीतल वातावरणमें विद्वानोंकी समाज एकत्रित की और ऊहापोहपूर्वक निर्णयके लिये उक्त विषय प्रस्तुत किया। विद्वत्-सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैन संस्कृति तथा साहित्यके समस्त अंगोंके संरक्षण, उद्धार और प्रचारके हेतु 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ'की स्थापना की। उसके लिये रु० ३०००० के दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रह निवृत्ति बढ़ती गई। सन् १९४४ में उन्होंने लगभग दो लाखकी अपनी संपूर्ण संपत्ति संघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण की। इसी संघके अंतर्गत 'जीवराज जैन ग्रंथमाला' द्वारा प्राचीन प्राकृत संस्कृत हिंदी तथा मराठी पुस्तकोंका प्रकाशन हो रहा है। आज तक इस ग्रंथमालासे हिंदी विभागमें २२ पुस्तकें, कन्नड़ विभागमें ३ पुस्तकें और मराठी विभागमें ३९ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ इस ग्रंथमाला का २३वां पुष्प है।



स्व. ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी

संस्थापक : जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापूर

General Editorial

The 2500th Anniversary of the Nirvāṇa of Bhagavān Mahāvīra is being celebrated soon, all over the world, as a mark of respect to that great personality whose doctrines of Ahiṁsā, Anekānta and Aparigraha are a panacea for the baser tendencies of Violence, Intolerance and excessive Greed at the levels of the individual, society or nation. The Jaina Saṃskṛti Saṃrakṣaka Saṅgha, Sholapur, founded by the late Br. Jivaraj Gautamchandaji has rendered, during the last twentyfive years, significant service to the cause of Jaina literature, embodying the teachings of Mahāvīra and his great disciples of yore, through numerous publications in Sanskrit, Prākrit, Apabhraṁśa, Hindī, Marāṭhī, Kannada and English. It is but natural that the authorities of this Granthamālā planned to publish, on the occasion of this celebration, the biography of Mahāvīra, namely, the Vardhamāna carita of Asaga along with Hindi translation. That is how this edition of the Vardhamāna-carita of Asaga is being placed in the hands of readers.

The Mss. of the Mahāvīra-caritra (MC), or Vardhamāna-caritra (or -purāṇa) (VC or VP) or Sanmaticaritra of Asaga are reported to exist in Arrah, Karanja, Varanga, Humch, Idar, Bombay, Mysore, Poona, Svadi, Moodbidri, Madras, Adyar and other places. Those of his Śāntināthapurāṇa (ŚP) are reported to exist in Poona, Limbdi, Ajmer, Bombay and Bodlean Library in U. K. It is reported that the Bodlean Library has also an abridgement of it in twelve chapters, the original work having sixteen cantos.[1] The distribution of the Mss. of these works of Asaga shows their wide circulation. There might be some Mss. here and there, in private collections as well.

So far no Sanskrit commentary on Asaga's poems has come to light. Shri V.B. Lokapur[2] has come across a palm-leaf Ms. containing a Kannada Vyākhyāna on the Vardhamānapurāṇa. It gives the *anvaya* and meaning in Kannada : all this would enable one to understand the text better. The concluding passage gives some information about the commentator. His name is Vije (= Vijaya) rāja; he belonged to the Vaśiṣṭha-gotra; he was a resident of Belagula (the same as Śravaṇa-B) and he completed it in śaka 1402, i.e., A.D.1480. Shri Lokapur has not noted where the Ms. exists. It is better that we know more about it. I have been informed that that there is a Ms. of the Vardhamāna-purāṇa with a Kannada commentary in the Upadhyāya familly of Halagi(Dt. Belgaum). My inquiry has not been so far fruitful.

---

1. H. D. Velankar : Jinaratnakośa, Poona 1940, pp. 336, 342, 381.
2. Jayanti, July 1955, page 48.

A Hindi translation of VP was prepared by Pt. Khubchand Shastri and also published some years back (Surat 1917). Both VP and ŚP were edited and translated into Marathi by Pt. J. P. Phadakule and published by the late Raoji Sakharam Doshi from Sholapur in 1931 and 1935 respectively. The former was in book size, but the latter, in Pothi size with loose sheets.

Asaga gives some information about himself in both these works at their end. It is better that the verses are reproduced here mainly based on the printed editions, for ready reference, because the translators have not taken them identically (VP, XVIII 102-5)

कृतं महावीरचरित्रमेतन्मया परस्वप्रतिबोधनार्थम् ।
सप्ताधिकत्रिंशभवप्रबन्धं पुरूरवाद्यन्तिमवीरनाथम् ॥ १०२॥
वर्धमानचरित्रं यः प्रत्याख्याति शृणोति च ।
तस्येह परलोकस्य सौख्यं संजायते तराम् ॥ १०३ ॥[1]
संवत्सरे दशनवोत्तरवर्षयुक्ते भावादिकीर्तिमुनिनायकपादमूले ।
मौद्गल्यपर्वतनिवासवनस्थसंपत् सच्छ्राविकाप्रजनिते सति वा ममत्वे ॥१०४॥[2]
विद्या मया प्रपठितेत्यसगाह्वयेन श्रीनाथराज्यमखिलं जनतोपकारि ।
प्राप्यैव चोडविषये विरलानगर्यां ग्रन्थाष्टकं च समकारि जिनोपदिष्टम् ॥१०५॥

Pt. Jinadasa and Pt. Pannalal differ in grouping these verses and also in translating them. In my opinion, the verse No. 103 is either misplaced, or it is a later addition. So I leave that verse altogether: it just mentions the fruit of propounding and hearing this MC in this and in the next world. I would group together verses Nos. 102 and 104, and take 105 independently. To render them freely : With a view to enlightening myself (i. e., author) and others,this Mahāvīra-caritra, in which are described thirty-seven Bhavas beginning with that of Purūrava and ending with that of Vīranātha, was composed by me (i.e., Asaga) in the Saṃvatsara 910 at the feet of the great monk Bhāvakīrti, liking for or interest (*mamatva*) in it being evinced by a pious Śrāvikā who dwelt on the mount Maudgalya in a park (or who dwelt in a settlement Vana by name on the mount Maudgalya. Various branches of learning were studied by me, Asaga by name. And having reached (*prāpya*) the kingdom of Śrīnātha, which was beneficial to all the people, eight works dealing with Jainism or incorporating the instructions of Jina, were composed by me in the town of Virala (also read as Varala or Dharala) in the Coḍa territory.

In this context it is interesting to note that the concluding verses are not identical in all the Mss. of the VC. Peterson, in his Report for 1886-92, gives the conclu-

---

1. In this ed. it is a misprint that the word *anuṣṭup*, which should have been the title forthe stanza, has got mixed up in the verse.
2. A readng *vratastha* for *vanastha* would upset the metre. A reading like this is also available : संपत्सच्छ्रावकप्रजनिते सति निर्ममत्वे ।

ding portion of the VC from a Ms. dated Samvat 1979. After the colophon *itv Asagakrte* etc. of the 18th Sarga, there are the following verses:[1])

मुनिचरणरजोभिः etc. as in ŚP
तनुमपि तनुतां etc. as in ŚP
भक्तिं परां etc. as in ŚP
पुत्रस्तयोरसग etc. as in ŚP

सद्वृत्तं दधता स्वभावमृदुना निःश्रेयसप्रार्थिना साधूनां हृदयोपमेन शुचिना सप्रेरितः प्रेयसा ।
एतत्सादरमार्यनन्दिगुरुणा सिद्धयै व्यधात्तासगः कीर्त्युत्कीर्तनमात्रचारुचरितं श्रीसन्मतेः सन्मतेः ॥
इति वर्धमानचरितं समाप्तम्

The first four verses give the biographical details about Asaga, and they are noted below from the ŚP. The fifth verse gives some additional information that Asaga completed the MC or Sanmati-carita (as titled here) being encouraged by Āryanandi-guru whose great virtues are mentioned by him, in details.

In the Śāntipurāṇa more biographical details are available. The relevant verses may be quoted here :

मुनिचरणरजोभिः सर्वदाभूत [पूत ?] भाभ्यां, प्रणतिसमयलग्नैः पावनीभूतमूर्धा ।
उपशम इव मूर्तः शुद्धसम्यक्त्वयुक्तः पटुमतिरिति नाम्ना विश्रुतः श्रावकोऽभूत् ॥१॥

तनुमपि तनुतां यः सर्वपर्वोपवासैस्तनुमनुपमधीः स्म प्रापयन् संचिनोति ।
सततमपि विभूतिं भूयसीमन्नदानप्रभृतिभिरुरुपुण्यं कुन्दशुभ्रं यशश्च ॥२॥

भक्तिं परामविरतं समपक्षपातादातन्वती मुनिनिकायचतुष्टयेऽपि ।
वैरेतिरित्यनुपमा[2] भुवि तस्य भार्या सम्यक्त्वशुद्धिरिव परामभूत् ॥३॥

पुत्रस्तयोरसग इत्यवदातकीर्त्योरासीन्मनीषिनिवहप्रमुखस्य शिष्यः ।
चन्द्रांशुशुभ्रयशसो भुवि नागनन्द्याचार्यस्य शब्दसमयार्णवपारगस्य[3] ॥४॥

तस्याभवद्भव्यजनस्य सेव्यः सखा जिनापो जिनधर्मभक्तः ।
ख्यातोऽपि शौर्यात्परलोकभीरुर्द्विजादिनाथोऽपि विपक्षपातः ॥५॥

व्याख्यानशीलत्वमवेक्ष्य तस्य श्रद्धां पुराणेषु च पुण्यबुद्धेः ।
कवित्वहीनोऽपि गुरौ निबन्धे[4] तस्मिन्नधासीदसगः प्रबन्धम् ॥६॥

---

1. They are quoted in full below, 1-4. These common verses in the Praśastis indicate that one and the same Asaga is the author of VC and ŚP.
2. Also Veritti.
3. Jinnappa is quite a common name among the Jainas, even today, in some parts of Karnataka.
4. Are we to read *guror nibandhe* ?

चरितं विरचय्य सन्मतीयं सदलंकारविचित्रवृत्तबन्धम् ।
स पुराणमिदं व्यधत्त शान्तेरसगः साधुजनप्रमोदहान्यै ॥७॥[1]

There was a famous Śrāvaka Fatumati by name. He always paid respects to monks by touching his head to the ground which was rendered pure by the dust from the feet of the monks. He was an embodiment of mild passions. He was endowed with pure Right Faith. He was a man of intelligence. His body was lean; and he rendered it all the more lean by observing fasts on Parva days. He earned great dignity thereby. And by his gift of food, etc., he acquired great merit and all-bright (lit., white like *kunda* flower) fame. His wife was Vaireti, for whom there could be no parallel in the society. With the same respect she always showed great devotion to the fourfold congregation of monks. She was religious purity incarnate(*samyaktva*, right faith). Both of them were so well-known, and Asaga was their son. He was a pupil of Ācārya Nāganandi who was prominent among the wise or learned, whose spotless fame was spreading everywhere, and who was well versed in *śabda* (grammar) and *samaya* (scripture). Asaga had a friend Jināpa (by name) who was devoted to Jinadharma and liked by the pious. Jināpa, though known for his bravery, was afraid of the next world; and though he was highborn, he was free from prejudice or partiality (there is *śleṣa* here). Seeing that Jināpa (of meritorious intention) had faith in and liking for the exposition of Purāṇa and out of great attachment for him (some have read *guror nibandhe*), Asaga composed this poem, though quite aware of the limitations of his poetic abilities. After having composed the Sanmaticarita, which is rich in poetic embellishments and variety of metrical patterns, Asaga composed this Śāntipurāṇa for diluting the worldly attachment of pious people.

Asaga's relation with the three Ācāryas can be clearly indicated: i) Asaga was a *śiṣya of* Nāganandi, who is *śabdasamayārṇava-pāraga*. Possibly he had studied under him and owed pious allegiance to him. ii) Āryanandi-guru encouraged Asaga to compose the VC or Sanmati-carita. iii) Asaga completed his VC at the feet of, or while staying with, or even under the guidance of Bhāvakīrti. His reference to all the three can be easily understood and accounted for.

This is all that Asaga has said about himself and his works. It is necessary to see what other poets have said about him, before some of his details are critically scrutinised.

Dhavala, the author of the Harivaṁśapurāṇa in Apabhraṁśa, refers to Asaga and his Vīrajinendra-carita in this way.[2]

---

1. Years back there appeared a note on these Praśastis, possibly written by the late Pt. Jugalkishoraji. Jaina Hitaishi, XV. pp. 336 f. It is necessary that some more Mss. will have to be consulted to understand the presence of these Praśastis.
2. Allahabad University Journal Vol. I, p. 167; also my paper, Asaga, his Works and Date, in the Karṇāṭaka Historical Quarterly, Vol. II. i., Dharwar.

अवरु महाकइ असणोहट्ठ वीरजिणेंदचरिउ किउ सुंदरु ।
केत्तिय कहमि सुकइगुण अवर वेय कव्व जहिं विरइय सुंदर ॥

To render it freely, Asaga is a great poet who has composed his beautiful and attractive Vīrajinendracarita in which beautiful verses have been woven, the merits of which are beyond expression. These compliments are on par with what Asaga himself has said about his VC. Dhavala has not given his date, but he is tentatively assigned to the tenth or eleventh century A.D.

Ponna[1], one of the three great poets of Kannada, refers to Asaga, and claims his superiority(perhaps a bit exaggerated)[2] both over Asaga in Kannada (by hundred times) and over Kālidāsa in Sanskrit (by four times), in his Śāntipurāṇa (I. 11)[3]

कन्नडकवितेयोळसगंगं नूर्मडिरेखेगग्गळं सक्कदवोळ् ।
मुन्नुळ्ळ काळिदासंगं नाल्वडि रचनेयोळ् कुकळ्गळ सवण ॥

Ponna's specification indicates that he knew Asaga as a Kannada poet just in the manner that he speaks of Kālidāsa as a Sanskrit poet of the past. Ponna is very much indebted to Kālidāsa : that is a good evidence for his proficiency in earlier Sanskrit literature. He refers to Asaga, as noted above[4] in his Śāntipurāṇa, and we have today, before us, the Śāntipurāṇa of Asaga in Sanskrit. He is naturally indebted to Asaga's work. The late A.P. Chaugule has shown how Ponna is indebted in descriptions, ideas and expressions to Asaga's work.[5] It is not unlikely that some of the ideas are a common inheritance from earlier Sanskrit works. There is some controversy about Ponna's date, because he has not mentioned any himself. Different dates are assigned to the Śāntipurāṇa of Ponna by scholars, namely, c. 933, c. 950 or c. 973. This reference to Asaga by Ponna establishes two facts that Asaga wrote in Kannada too and that he was earlier than Ponna, the latest date for whom is c. 973 A.D.

Durgasiṃha, whose date is now ascertained to be 1031 A. D., mentions Asaga in his Kannada Pañcatantra[6] along with other poets Manasija and Candrabhaṭṭa

पोसतेनिसि देसेयि नवरसमेसेयल्कोळ्पुवेत्त मार्गदिनिळेगे ।
नेसेदुबौ सुकविगळेने नेगळ्दसगन मनसिजन चंद्रभट्टन कृतिगळ् ॥

1. Pampa has not mentianed Asaga, as noted by the Editor.
2. D. L. Narasimhachar : Pīṭhikegaḷu Lekhanagaḷu, Mysore 1972, pp. 295 ff.
3. Venkat Rau & H. Sesha Ayyangar, with an Intro. in English by R. Tata. Madras 1929.
4. There is another context where Ponna refers to Asaga by Śleṣa (XII.23) and possibly to some five works of the latter.
5. A. P. Chaugule : Ponnana mele Asagana Prabhāva, Jinavijaya in Kannada, XXX.I. Belgaum, 1952 January, pp. 4 ff.
6. Ed. S.G. Narasimhachar & M.A. Ramunjayyangar, Mysore 1898. See Kavicarite, Vol I Bangalore 1961, p. 35, App. 2

Here Asaga is credited with the cultivation of Deśi style endowed with nine Rasas or poetic flavours.

Lately, one Ms. of the Vardhamānapurāṇa of Nāgavarma II (A.D.1042) has come to light; and it is to be soon published by the Institute of Kannada Studies, Mysore. He refers to Asaga in his work (I.27) in this manner[1] :

कण्णडदोळ् नेग [ळ्ते] यसगं गजगं गुणनंदि पोन्नर्नेबन्नने संस्कृतोक्तिगे मयूरन बाणन कालिदासनो-।
रन्नने बेरे मत्तिनळिगब्बिगरोळिगरोळ् पोणर्चे पेळ्दन्नने बल्मेवेत्त कवितात्रयदोळ् कवितागुणोदयं ॥

Nayasena, in his Dharmāmṛta (A.D. 1112),[2] speaks of a number of great qualities of different poets and yearns that his work be endowed with them (I.39)

असगन देसि पोन्नन महोन्नतिवेत्त बेडंगु पंपनों-
वसदृशमप्यपूर्वरसमेय्दे गजांकुशनोळ्पुवेत्तु रं-।
जिसुव सदर्थदृष्टि गुणवर्मन जाण् कविरत्ननोजे शोभिसे
नेलसिक्के धारिणिमनंगोळे मत्कृतियोळ् निरंतरं ॥

He refers to the Deśi style of Asaga. This shows that Asaga composed some Kannada works in the Deśi or indigenous style, as against Mārga or classical Sanskrit style.

Brahmaśiva (c.1100-30), in his Samayaparīkṣe,[3] refers to Asaga by the synonym of the word, Rajaka, thus (I.35) :

पोन्नने पंपने रजकने रन्नने कवितागुणोदयने दर्शनसं-
पन्नतेयोळ् कवितेयोळवरन्नने विदितात्मभावनग्गळदेवं ॥

The word *asaga* in an older form of *agasa*, a washerman. It is this that possibly led Ponna to have that śleṣa like this, in his Śāntipurāṇa (XII. 23)

अय्दु कषायोदकदोळ् तोय्दसगंबोळ् नृपेंद्रसमेयेंब कोळ-।
कुय्द [लसदलेदु सिलेयोळ्] पोय्द कविचक्रवर्ति कविचीवरमं ॥

But there is no evidence to say that Asaga was a washerman by profession. On the other hand, it is clear from the biographical details noted above that he was a pious śrāvaka. As I understand the term, his name really stands for Asaṃga, colloquially popularised as Asaga.

Ācaṇṇa (c.1190-1220) remembers Asaga in his Vardhamānapurāṇa[4] in this way (I. 18) :

श्रीविजयं गजांकुशनुदात्तयशं गुणवर्मना जगत्पावननागवर्मनसगं रसिकाग्रणिहंपदेवना ।
भावकचक्रि होन्निगनिळानुतरन्निगनग्गदग्गळंबी विभु बोप्पनेंब कविकंदर्पंरिदेसेदत्तु भूतळं ॥

---

1. I am thankful to Shri B.S.Sannayya for kindly giving me this extract.
2. Ed. K. Shama Shastry Vols. I & II, Mysore 1924-26.
3. Ed. B. S. Kulkarni, Dharwar 1958.
4. Mariyappa Bhatta & M. Govind Rao, Madras 1953.

He Mentions Nāgavarma also whose Vardhamānacaritra has lately come to light as noted above. Shri B. S. Sannayya, who is editing it, tells me that Ācaṇṇa is indebted to Nāgavarma; and close similarities are found in both the works. It is a matter of further investigation whether Ācaṇṇa is directly indebted to Asaga or through Nāgavarma.

Keśirāja (c. 12 0 A, D.), in his Śabdamaṇidarpaṇa[1], refers to Asaga from whose works he appears to have collected his illustrations (5):

गजगन गुणनंदिय मनसिजनसगन चंद्रभट्ट गुणवर्म श्री- ।
विजयर होन्नन हंपन सुजनोत्तंसन सुमागमिदरोळे लक्ष्यं ॥

Namjumḍakavi (A.D. 1525) also refers to Asaga in his Kumārarāmakathe.[2]

गजगन गुणवर्मन नागचंद्रन सुजनोत्तंसनसगन ।
सुजन रन्नन शांतिवर्मन पदसरसिजगळिगोलिदेरगुवेनु ॥

All these references show that Asaga was well known to a number of authors. It is difficult to say that every one of them was directly in touch with Asaga's works either in Kannada or Sanskrit. Ponna had used Asaga's Śāntipurāṇa; and it is quite likely that Nāgavarma and even Ācaṇṇa had used the V1' of Asaga.

It is necessary to scrutinise critically some of the items of information supplied by Asaga himself.

Asaga tells us that he composed eight works embodying the instructions of Jina For the present we have only two of his works in Sanskrit, Vardhamāna- and Śānti-purāṇa, and so for none of his works in Kannaḍa has come to light.

Jayakirti (c. 1000 A. D., any way earlier than the middle of the 12th century A. D.) in his Chandonuśāsana[3] VII. 7, illustrates some metrical patterns in Kannada. He has the following verse to illustrate *samānākṣara:*

रतिपतिगणयुग्माद्रतितः स्मरयुग्मं रतिरपि (च पुनः) प्रतिपादं वर्तते यस्मिंस्तत्समानाक्षरं ॥
श्रुतिकान्तमक्षरदक्षैरादृतमसगाख्यकविना प्रतिपादितं ननु कर्णाटकुमारसंभवकाव्ये ॥७॥

Further, it is added thus by Jayakirti (VII. 16).

कन्दर्पगणतो रतिगणचतुष्कं चेत् छन्दसि जयकीर्तेरादिव राहाख्या ।
छन्दोऽवतंसनामेति चतुष्पदिका संदृष्टासौ कुमारसंभवादौ ॥१६॥

Here is a clear statement of Jayakirti that Asaga wrote the Karṇāṭa Kumārasaṃbhava-kāvya. It is not discovered so far, and naturally a good deal of speculation permeates it.

In the colophon of the Sarga V of the Vardhamāna-purāṇa, the author's name appears as Asagabhūpa. It creates a doubt whether Asaga was a ruler; but there

1. Ed. D. L. Narasimhachar, Mysore 1959.
2. Ed. H Deveerappa, Mysore.
3. H. D. Velankar : Jayadāman, Bombay 1949, pp. 37, 67, 68.

is no such indication in his biographical details. One chief Asagamarasa is known in the family of Śaṃkaragaṃḍa, a feudatory of Rāṣṭrakūṭa Krishṇa, III (A.D.939-67) and another called Asaga (c.950 A D) of the Kalachūri family of Kalyan is mentioned.[1] But these are all later than Asaga. The term *bhūpa* occurs only in one colophon, and the author himself has not said anything in this regard. Pt. Pannalal, in his translation presented in this edition, takes *prāpya*=having acquired, but it is not justified In his Introductin, however, he takes 'having reached'.

It has not been possible so far to identify king Śrīnātha, the mount Maudgalya and the town Viralā. They have to be searched for in the Coḍa Viṣaya or the Telugu area adjacent to Karnataka.

The date of the composition of the Vardhamāna-purāṇa is stated as

संवत्सरे दशनवोत्तरवर्षयुक्ते;

but it is far from a clear statement. Most of the scholars have interpreted it as 910.[2] Some have taken it as Śaka era, because it was mostly current in the South, and equated it with A.D.988.[3] Years back I suggested that it should be taken as Saṃvat;[4] and later, the late R. Narasimhachar has arrived at the same conclusion.[5] The Saka 910=A.D. 988 goes against the known fact that Ponna has used the Śāntipurāṇa which was written after the Vardhamāna-purāṇa as noted by the author himself; and the latest date assigned to Ponna is 973 A. D. Asaga has to be sufficiently earlier than Ponna; and this is possible only if the date 910 is taken as the Vikarama Saṃvat i. e., equal to A.D.853. Thus Asaga flourished in the middle of the 9th century, and wrote his VP in A.D. 853.[6]

Asaga mentions three Jaina Teachers: i) Bhāvakīrti, in whose presence (*pāda-*

---

1. P. B. Desai : Jainism in South India, Sholapur 1959, p. 368; A History of Karnataka, Dharwar 1970, p. 216,
2. 911 is a misprint in the Hindi translation in this edition.
3. H. L. Jain : Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss in C. P. and Berar (Nagpur 1926); see also his Bhāratīya Saṃskṛtime Jaina Dharmakā Yogadāna, Bhopal 1962, p. 170. Pt. J. P. Phadakule in his Introductions.
4. Asaga : his works and date, The Karnatake Historical Larterly II, i. pp. 42 ff. Dharwar 1932. K. M. Sharma : Date of Asaga's Vardhamānacarita, New Indian Antiquary, Vol. IV Bombay 1941-42
5. Karnāṭaka Kavicarite. 2nd ed. 1961; also revised 2nd ed. Bangalore 1972.
6. About Asaga, Shri V. B. Lokapur has contributed a number of articles in Kannada, He has shed a good deal of additional light on this poet. Some of them are : Asaga-kaviya khyāti, Prabuddha-Karṇāṭaka for 1954-55, Mysore. Asagana Vardhmāna purāṇada Kaṇṇada Vyākhyāna, Jayanti, July 1955. Asagana Kannaḍa Kumārasaṃbhava, in the Kannaḍa Nuḍi, Dec. 1952. See also, R. S. Mugali : Kannaḍa Sāhitya-caritre, Ed. 1959, pp. 27, 30, 47, 50.

mūle) he completed the VP for the benefit of the pious Śrāvikā, Sampat; ii) Āryanandi who encouraged him to complete the VP; and iii) Nāganandi whose *śisya* he calls himself. Some Ācāryas of these names are known from inscriptions etc., but one cannot propose identity simply from the similarity of names, because there have been many Ācāryas of the same name. It is obvious that the place of the literary activity of Asaga was the Telugu-Karṇāṭaka area, and he flourished in the middle of the 9th century A.D.

One Āryanandi[1] was the teacher of Vīrasena who completed his Dhavalā in c. 815 A.D. But this would be too early a date for the teacher of Asaga. The Gokak Copper-plates of Indranandi donate a grant of 50 Nivartanas of land made to one Āryanandi who belonged to Jambukhaṇḍi-gaṇa. Evidently the grant is made to a guild for the purpose of worshipping the idol of Arhat, for (the support of) preceptors and ascetics. The grant was made with the permission of the Rāṣṭrakūṭa king Gojja, i. e., Govinda IV (918-33 A.D.), in the year Śaka 845 or 923 A.D.[2] Then in an inscription (date not specified) at Vallimalai, it is noted that one Āryanandi, disciple of Bālacandra, got engraved an image of the teacher Govardhana.[3] In Tamil Nadu, Arcot Dt., at Kalagu Malai and Pañchapāndavamalai there is an epigraph to state that an image of Yakṣiṇī was worshipped by the teacher Nāganandi. But this is in the Tamil area and the date is not given.[4] It is tentatively assigned to the 8th century A. D. Nandipottarasa is identified with Pallava Nandivarman (A. D. 717-77). But there is no mention of Śrīnātha here as Cola Sāmanta, nor is the source of this information given by the editor. There is an inscription in Ranebinnur (Dt. Dharwar), date 8 0 A. D. and belonging to the period of Rāshṭrakūṭa Amoghavarṣa I. It mentions the grant of some lands to Nāganandi Ācārya of the Siṁhavūra-gaṇa. The date and locality suit for identification with Nāganandi mentioned by Asaga, but one cannot be definite. Aparājitasūri had studied under Nāganandi at whose instance he composed his commentary on the (Bhagavatī-) Ārādhanā.[5] Nāganandi in the Śravaṇa Belgol inscriptions is not a monk at all. Another Nāganandi, who was Bhaṭṭāraka, belongs to the 11th century A. D. or a little earlier according to the Nisidhi record at Tagadur in Mysore.[6] Any way we have no clearcut evidence to identify any one of these with the teacher of Asaga.

1. N. Premi : Jaina Sāhitya aura Itihāsa, Bombay 1956, p. 128.
2. Karnataka Historical Review, Vol. ii, pp. 43 ff.
3. E. Hultzsch : E. I., IV, No. 15.
4. V. Venkayya : E. I., IV, n. 6 and n, 1 A R.A.S., p. 20 . Also P. B. Desai, ibid. L. Rice has noted (Mysore Inscriptions Translated, Bangalore 1879) one Nāganandi who was a Guru of the three princes of the Ganga Dynasty : Kala Vallabharāya, Govinda Rāya and Caturbhuja Kanaradeva. But this needs verification.
5. See my Introduction, p. 56, to the Bṛhat-kathākośa, Bombay 1943.
6. E. R, of Mysore, 1938, p. 173.

The Vardhamāna-carita or purāṇa of Asaga is one of the earliest, if not the earliest, poem dealing independently and solely with the biography of Mahāvīra. The author qualifies his poem in the colophon by the expression Mahāpurāṇopaniṣadi[1], possibly hinting thereby that his work is based on the Mahapurāṇa of Jinasena-Guṇabhadra. He calls his VC a Prabandha narrating thirtyseven Bhavas: it is, to put it in plain terms, the biography of the soul of Mahāvīra in its thirty-seven births, Purūrava to Mahāvīra. Of the eighteen Sargas, only the last two constitute the biography of Mahāvīra as such, the earlier sixteen being devoted to his previous births. Mahāvīra's biography, stripped of conventional details and descriptions, can be summarised in short as below :

King Siddhārtha of Jñāti-vaṁśa and his queen Priyakāriṇī lived at Kuṇḍapura in the Videha country. For fifteen months god Tiryag-vijṛmbhaka showered wealth on that town. Priyakāriṇī saw, in the latter half of the night, sixteen dreams, the fruits of which, as Siddhārtha interpreted to her satisfaction, would be that she would carry a worthy and great son. Heavenly nymphs started nursing her. She gave birth to a son, a prince, on the 13th day of the bright half of Caitra, to the jubilation of one and all. The gods celebrated the ceremonial bathing on his birth; and noting the strength of the child on that occasion Indra named the child Vīra. Right from the day she conceived, the prosperity of the family went on increasing, so the child was named Vardhamāna. Once there arrived Cāraṇa saints, Vijaya and Saṃjaya, and some doubts in their mind were just cleared on seeing Vardhamāna, so they named him Sanmati. His boyhood was spent in various sports with his companions. Once the god Saṃgama took the form of a serpent and confronted Vardhamāna. Vardhamāna played with it, without any fear, putting his foot on its head, but his companions fled away in terror. By this feat he became famous as Mahāvīra. He abstained from the temptation of sense pleasures, and accepted renunciation at the age of thirty in the Nāgakhaṇḍavana. Once king Kūla offered to him food duly to the great jubilation of all. While Mahāvīra practised Pratimā-yoga at the Atimuktaka cemetry ground, Rudra created terrors, but Mahāvīra remained firm in meditation, so he came to be known as Mahāti Mahāvīra. He practised severe penances and meditations for twelve years. He attained omniscience (Kevalajñāna) under a Sāla tree, at Jṛmbhaka-grāma on the bank of the river Ṛjukūlā, that being the 10th day of the bright half of Vaiśākha. Kubera organised a rich audience Hall (Samavasaraṇa). Gautama became his Gaṇadhara, and the divine voice flowed out of him. Gautama composed twelvefold scripture. Mahāvīra toured various places, expounding seven Tattvas, nine Padārthas etc. in reply to Indra's questions, with a view to explaining the problems of this and the next world, for thirty years. At the age of 72, he attained Nirvāṇa at Pāvāpurī in the last quarter of the night of the day of the black half of Kārtika, when the star Svāti was in conjunction with the moon

1. Compare the expression Bhagavadgitopaniṣatsu in the Bhagavadgītā.

The earlier lives are narrated directly or some time through the mechanism of Pūrvabhavas put in the mouth of some saint or so. These Bhavas have their interest in various ways. They link Mahāvīra, the last Tīrthankara, with Vṛṣabha, the first Tīrthankara of Jainism. Secondly, the Karma doctrine, which is the backbone of Jainism, is so well demonstrated by these births: every one is responsible for one's own Karmas (in thought, word and deed) and one cannot escape them without experiencing their fruits, good or bad. Thirdly, so many characters, both human and sub-human, are introduced; and it is a psychological study by itself. And lastly, good many moral and religious lessons are conveyed through various situations, persons and sermons. In fact some of the details have a great salutary effect on the pious mind and go to stabilise a religious bent of mind.

What has been a Purāṇic theme woven round the historical personality of Mahāvīra is set into a framework of Sanskrit Kāvya with all its characteristics by Asaga. The division of Sargas, metrical pattern, the nature of characters, requisite descriptions, use of embellishments, introduction of poetic flavours and the objective of the poem: all these make this Prabandha a Kāvya. Asaga is well read in earlier Sanskrit Kāvyas of eminent poets like Kālidāsa, Bhāravi, Māgha and others. He inherits the inspiration from Jinasena; and he is steeped in Jaina dogmatics expounded in earlier works of Kundakunda, Pūjyapāda and others. He has a remarkable love for poetic descriptions and details, often at the cost of the narration of the story or of events. Asaga has stated that this Sanmati-caritra of his is

सदलंकारविचित्रवृत्तबन्धम् ।

and this is fully borne out by the various Alaṃkāras and metres used by him. They are studied in details by Dr. Nemichandra Shastri[1] and by Pt. Pannalal Sāhityācārya[2], and they need not be repeated here.

In addition to what Asaga has inherited from the poets and authors noted above, Pt. Jinadas,[3] Dr. Nemichandra Shastri and Pt. Pannalal have shown how Asaga's work is indebted to the Jīvandhara-campū, Dharmaśarmābhyudaya and Candraprabhacarita which are closely studied in the circle of Jaina Panditas. The common ideas and parallel expressions are quite obvious. Some of them may have been inherited from earlier sources. But the question who is indebted to whom has to remain an open one for further study and investigation in view of the chronological sequence of these authors and the authsenticity of the passages in a particular context. Asaga can be indebted only to those authors who lived earlier than the middle of the 9th century A.D.

---

1. Saṃskṛita Kāvyake Vikāsame Jaina Kaviyokā Yogadāna, Delhi 1971, pp. 139-167.
2. In the Hindi Introduction included in this volume.
3. In the footnotes to his edition noted above.

The General Editor feels grateful to our President Shriman Lalchand Hirachanda for his enlightened guidance in all our deliberations. Heavier responsibilites have devolved on the broad shoulders of Shriman Walchand Deochanda who is helping this Granthamālā in every way for its progress. It is his devotion to the teachings of Mahāvīra that enabled him to bring out this publication.

It is very kind of Professor Dr. Kamaji Upadhyaya, Sagar University, Sagar, to have graced this edition with a Foreword. My sincere thanks to him.

Our thanks are due to Pt. Pannalal Sāhityāchārya who kindly edited this work along with Introduction in Hindi and Hindi translation. Thanks are due to Shri Babulal Phagulla, Mahavira Press, Varanasi, for his cooperation in publishing this work.

Manasa Gangotri
Mysore : Feb. 15, 1974

A. N. UPADHYE

प्राक्कथन

संस्कृत भाषाकी अनुपम विशेषता है कि इसमें विश्वकी प्राचीनतम मानव-विचारधारा युगवाणीके माध्यमसे आज भी मुखरित हो रही है। प्राक्तनकालसे ही आर्य और आर्येतर, वैदिक और अवैदिक जो कुछ विचारणा भारतमें हुई, उसकी प्रदर्शनी यदि कहीं एकत्र मिल सकती है तो वह भारतकी सांस्कृतिक निधि है। भारतकी सनातन धारणा रही है कि यदि अपने विचारोंको अमर बनाना है तो उसे अमरवाणीके द्वारा साहित्यरूपमें ढालना चाहिये। न केवल हिन्दू, जैन और बौद्ध, अपितु मुसलमान राजाओंने भी संस्कृत रचनाओंके द्वारा अपने नाम और सदाशयताको अमिट बनानेकी योजना प्रवर्तित की है।

संस्कृत भाषाका समारम्भ रामचरितसे हुआ है। वाल्मीकि द्वारा प्रणीत रामचरित इतना लोकप्रिय हुआ कि तबसे लेकर आज तक संस्कृतमें जो कुछ लिखा गया, वह रामचरितसे सुवासित है। निःसन्देह आदिकविके रामचरितने भारतका चारित्रिक और कलात्मक निर्माण किया है। स्वाभाविक है कि वाल्मीकिकी आर्ष पद्धति परवर्ती महाकवियोंके द्वारा अपनाई गई और चरित-महाकाव्यकी परम्परा निरवधि काल तकके लिये चल पड़ी। अश्वघोष, कालिदास और अभिनन्दकी परम्परामें महाकवि असगने वर्धमानचरितकी रचना जिस महान् उद्देश्यको लेकर की, वह कविके शब्दोंमें इस प्रकार है—

कृतं महावीरचरित्रमेतन्, मया परस्वप्रतिबोधनार्थम्।

कविको अपने उद्देश्यकी पूर्तिमें प्रकाम सफलता मिली है। इस काव्यमें पदे-पदे मानवता-को उच्चाभिमुखी बननेका सन्देह आपूर्ण है।

जैन कवियोंने प्रारम्भमें अपनी काव्य-प्रतिभाका विकास प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं-के द्वारा किया और उनकी भारतीसे भारतीय साहित्यकी अनुपम समृद्धि सहस्रों वर्षों तक हुई है। कालान्तरमें प्राकृत और अपभ्रंशके साथ ही जैन-संस्कृतिके उन्नायकोंने संस्कृत भाषाको चरित-काव्यके लिये अपनाया और आठवीं शतीसे आगे सैकड़ों चरित-महाकाव्योंमें तीर्थंकरों और महापुरुषोंकी चारुचरितावली निबद्ध की गई। ऐसे महाकवियोंमें असग पहली पीढ़ीके हैं। उनका महाकाव्य कोरा काव्य ही नहीं है, अपितु एक महापुराणोपनिषद् है, जैसा इस रचना को अन्तिम पुष्पिकामें कविवरने स्वयं लिखा है। इसमें जीवनकी आध्यात्मिक प्रवृत्तियोंपर प्रकाश डाला गया है।

असगके महाकाव्यको आजकी विचारधाराका एक अंग बना देनेका श्रेय इसके सम्पादक डॉ० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य को है। डॉ० जैन ने संस्कृत और प्राकृत के अगणित ग्रन्थोंका वैज्ञानिक विधिसे सम्पादन और राष्ट्रभाषामें अनुवाद करके यथायोग्य तपोमयी विजयिनी ख्याति अर्जित की है। आशा है, उनके प्रस्तुत ग्रन्थका भी पूर्ववत् सम्मान होगा और भविष्यमें उनकी लेखनी नित्य नूतन रत्नोंसे सरस्वतीको समलंकृत करती हुई सक्रमत रहेगी।

प्रसन्नताका विषय है कि इस ग्रन्थका प्रकाशन भगवान महावीर स्वामीकी २५०० वीं निर्वाण-तिथिके उपलक्ष्यमें हो रहा है। इसके प्रकाशक जीवराज ग्रन्थमालाके संचालकोंकी प्रवृत्ति प्रशंसनीय है।

रामजी उपाध्याय
१६-१-१९७४
सीनियर प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर

प्रस्तावना

सम्पादनसामग्री

श्रीवर्धमानचरितका सम्पादन निम्नलिखित प्रतियोंके आधारपर किया गया है।

'ब' प्रतिका परिचय

यह प्रति ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन ब्यावरकी है। श्री पं० हीरालालजी शास्त्रीके सौजन्यसे प्राप्त हो सकी है। इसमें १३×५ इंचके सौ पत्र हैं। प्रति पत्रमें ९ पंक्तियाँ और प्रति पंक्तिमें ४०-४५ अक्षर हैं। चमकदार काली स्याहीसे सुपुष्ट कागजपर लिखी गई है। पूर्णविरामके लिये लाल स्याहीका उपयोग किया गया है। यह प्रति १९५८ विक्रम संवत् कार्तिकमें लिखी है। संवत् १६३३ वैशाख सुदी नवमीको लिखी हुई प्राचीन प्रतिसे सिंघाई (राजस्थान) के जैनसिद्धान्तभवनमें इसकी प्रतिलिपि हुई है। श्रीमान् सेठ ब्र० हीरालालजी पाटनीसे पत्राचार करनेपर मालूम हुआ कि सिंघाईके उक्त सिद्धान्तभवनमें अब वह प्रति नहीं है।

यह प्रति किसी असंस्कृतज्ञ लिपिकर्ताके द्वारा लिखी हुई जान पड़ती है इसीलिये इसमें अशुद्धियाँ अधिक रह गई हैं। परन्तु अशुद्धियोंके रहते हुए भी कितने ही शुद्ध पाठ इसमें मिले हैं। श्री पं० जिनदास जी शास्त्री फड़कुले सोलापुरके द्वारा सम्पादित मराठी टीकावाले संस्करणमें एक श्लोक किरातार्जुनीयका "सहसा विदधीत न क्रियाम्"—मूलमें शामिल हो गया था, वह इसमें नहीं है। एक श्लोकका भाग पुनरुक्त था, वह भी इसमें नहीं है। इसके अतिरिक्त दो-तीन स्थानोंपर श्लोकोंका क्रम भी परिवर्तनको लिये हुए है। शुद्ध पाठोंकी अवधारणा करनेमें इस प्रतिसे बहुत सहायता मिली है। ब्यावरसे प्राप्त होनेके कारण इसका सांकेतिक नाम 'ब' किया गया है। प्रतिके अन्तमें लिखनेवालेकी विस्तृत प्रशस्ति दी गई है।

'म' प्रति का परिचय

यह प्रति मार्च सन् १९३१ में श्री रावजी सखाराम दोशी सोलापुरके द्वारा प्रकाशित कराई गई थी। इसमें मूल श्लोकोंके साथ श्री पं० जिनदासजी शास्त्री फड़कुले सोलापुरके द्वारा निर्मित मराठी टीका दी गई है। इसके प्रारम्भमें आचार्यप्रवर श्री शान्तिसागरजी महाराजका सिरंगा चित्र दिया गया है। इसके अतिरिक्त दो-तीन चित्र ग्रन्थके सम्बन्धसे सम्बन्ध रखनेवाले भी हैं। सभी चित्र भावपूर्ण हैं। शास्त्रीजीने विस्तृत भूमिकाके अतिरिक्त कई तुलनात्मक उद्धरण भी दिये हैं। समग्र ग्रन्थ २०×३० साइजके ३८६ पृष्ठोंमें समाप्त हुआ है। प्रारम्भके २८ पृष्ठ पृथक् हैं। उस समय इसकी कीमत चार रुपये थी पर अब वर्षोंसे अप्राप्य है। मुद्रित तथा मराठी टीकासे युक्त होनेके कारण इसका सांकेतिक नाम 'म' रक्खा गया है।

'स' प्रति का परिचय

उपर्युक्त दोनों प्रतियोंके आधारपर यह कार्य पूर्ण किया जा चुका था कि वीरनिर्वाण संवत् २४८४ में सूरतसे प्रकाशित महाबन्धकी एक प्रति और उपलब्ध हुई। यह श्री पं० सुखलालजी आदी द्वारा कृत हिन्दीअनुवादसहित है। संस्कृत श्लोक न देकर मात्र उनके सरल अनुवादमें दिये गये हैं। इसका

प्रकाशन रायबहादुर स्व० सेठ कल्याणमलजी इन्दौरने अपनी पूज्य मातेश्वरी श्री फूलीबाईके स्मरणार्थ कराया था। इसमें १६ पेजी फार्मके २७० पृष्ठ हैं। विद्वान् पण्डितजी समाजके प्रतिष्ठित विद्वान् थे। इसके अतिरिक्त अन्य अनेकों जीवकाण्ड तथा तत्त्वार्थाधिगमभाष्य जैसे ग्रन्थ भी आपके द्वारा अनूदित होकर प्रकाशित हुए हैं। मूल साथमें न होनेसे सम्पादनमें इसका उपयोग नहीं किया जा सका है। यह अब अप्राप्य है। सूरतसे प्रकाशित होनेके कारण इसका सांकेतिक नाम 'स' रखा गया है।

असग कवि

वर्धमानचरित के रचयिता असग कवि हैं। इनके द्वारा रचित १–वर्धमानचरित और २–शान्तिनाथ-पुराण ये दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। यद्यपि इन्होंने वर्धमानचरितके अन्तमें अपने द्वारा रचित आठ ग्रन्थोंकी सूचना दी है तथापि उनकी नामावली अप्राप्त होनेके कारण उनके विषयमें कुछ कहा नहीं जा सकता। वर्धमानचरित की प्रशस्ति इस प्रकार है—

कृतं महावीरचरित्रमेतन्मया परस्वप्रतिबोधनार्थम्।
सप्ताधिकत्रिंशभवप्रबन्ध पुरूरवाद्यन्तिमवीरनाथम् ॥१०२॥
वर्द्धमानचरित्रं यः प्रव्याख्याति शृणोति च।
तस्येह परलोकस्य सौख्यं संजायतेतराम् ॥१०३॥
संवत्सरे दशनवोत्तरवर्षयुक्ते भावादिकीर्तिमुनिनायकपादमूले।
मौद्गल्यपर्वतनिवासवनस्थसंपत्सच्छ्राविकाप्रजनिते सति वा ममत्वे ॥१०४॥
विद्या मया प्रपठितेत्यसगाह्वयेन श्रीनाथराज्यमखिलं जनतोपकारि।
प्राप्येव चोडविषये विरलानगर्यां ग्रन्थाष्टकं च समकारि जिनोपदिष्टम् ॥१०५॥

मैंने पुरूरवाको आदि लेकर महावीरपर्यन्तके सैंतीसभवोंका निदर्शन करानेवाला यह महावीरचरित स्वपरके प्रतिबोधके लिये रचा है ॥१०२॥ जो इस वर्द्धमानचरित्रका व्याख्यान करता है और जो इसे सुनता है उसे इस लोक और परलोकका सुख अवश्य ही प्राप्त होता है ॥१०३॥ ९१० संख्यक उत्कृष्ट वर्षोंसे युक्त संवत्सरमें श्रीभावकीर्ति मुनिराजके चरणमूलमें मुझ असगने विद्या पढ़ी। उस समय मौद्गल्य पर्वतपर स्थित निवासवनमें रहनेवाली संपत् नामक श्राविकाने मेरे साथ ममताभाव रक्खा अर्थात् पुत्रवत् मेरा पालन किया ॥१०४॥ विद्या पढ़नेके अनन्तर मैंने जनसमूहका उपकार करनेवाले श्रीनाथ राजाके राज्यमें जाकर चोल देशकी विरलानगरीमें जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट आठ ग्रन्थोंकी रचना की ॥१०५॥

इन्हीं असगका बनाया हुआ शान्तिनाथपुराण है। उसकी निम्नलिखित प्रशस्तिमें कविने अपना कुछ विशिष्ट परिचय दिया है—

मुनिचरणरजोभिः सर्वदा भूतधात्र्यां
प्रणतिसमयलग्नैः पावनीभूतमूर्धा।
उपशम इव मूर्तः शुद्धसम्यक्त्वयुक्तः
पटुमतिरिति नाम्ना विश्रुतः श्रावकोऽभूत् ॥ १ ॥
तनुमपि तनुतां यः सर्वपर्वोपवासै-
स्तनुमनुपमधीः स्म प्रापयन्तं विनेति।
सततमपि विभूतिं भूयसीमन्नदान-
प्रभृतिभिरुरु पुण्यं कुन्दशुभ्रं यशश्च ॥ २ ॥

भक्तिं परामविरतं समपक्षपाता-
मातन्वती मुनिनिकायचतुष्टयेऽपि ।
वैरेतिरित्यनुपमा भुवि तस्य भार्या
सम्यक्त्वशुद्धिरिव मूर्तिमती पराभूत् ॥ ३ ॥
पुत्रस्तयोरसग इत्यददात्कीर्त्या-
रासीन्मनीषिनिवहप्रमुखस्य शिष्यः ।
चन्द्रांशुशुभ्रयशसो भुवि नागनन्दा-
चार्यस्य शब्दसमयार्णवपारगस्य ॥ ४ ॥

तस्याभवद्भव्यजनस्य सेव्यः सखा जिनापो जिनधर्मयुक्तः ।
ख्यातोऽपि शौर्यात्परलोकभीरुर्द्विजाधिनाथोऽपि विपक्षपक्षः ॥ ५ ॥
व्याख्यानशीलत्वमवेक्ष्य तस्य श्रद्धां पुराणेषु च पुण्यबुद्धेः ।
कवित्वहीनोऽपि गुरौ निबन्धे तस्मिन्नधासीदसगः प्रबन्धम् ॥ ६ ॥
चरितं विरचय्य सन्मतीयं सदलंकारविचित्रवृत्तबन्धम् ।
स पुराणमिदं व्यधत्त शान्तेरसगः साधुजनप्रमोहशान्त्यै ॥ ७ ॥

इस पृथिवीपर प्रणाम करनेके समय लगी हुई मुनियोंकी चरणरजसे जिसका मस्तक सदा पवित्र रहता था, जो मूर्तिधारी उपशम भावके समान था तथा शुद्ध सम्यक्त्वसे युक्त था ऐसा एक पद्मनंदि नामका श्रावक था ॥१॥ जो अनुपम बुद्धिसे सहित था तथा अपने दुर्बल शरीरको समस्त पर्वोंमें किये जाने वाले उपवासोंसे और भी अधिक दुर्बलताको प्राप्त कराता रहता था ऐसा वह पद्मनंदि मुनियोंको आहारदान आदि देनेसे निरन्तर उत्कृष्ट विभूति, विशाल पुण्य तथा कुन्दकुसुमके समान उज्ज्वल यशका संचय करता रहता था ॥२॥ उस पद्मनंदिकी वैरेति नामकी भार्या थी जो निरन्तर ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चारों प्रकारके मुनिसमूहमें उत्कृष्ट भक्ति रखती थी और ऐसी जान पड़ती थी मानों मूर्तिधारिणी सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्ट शुद्धि ही हो ॥३॥ निर्मल कीर्तिके धारक उन पद्मनंदि और वैरेतिके असग नामका पुत्र हुआ। बड़ा होनेपर यह असग उन नागनन्दी आचार्यका शिष्य हुआ जो विद्वत्समूहमें प्रमुख थे, चन्द्रमाकी किरणोंके समान जिनका उज्ज्वल यश था और जो पृथिवीपर व्याकरण तथा सिद्धान्तशास्त्ररूपी सागरके पारगामी थे ॥४॥ असगका एक जिनाप नामका मित्र था। वह जिनाप भव्य जीवोंका सेवनीय था अर्थात् भव्य जीव उसका बहुत सम्मान करते थे, जैनधर्ममें आसक्त था, शौर्यगुणसे प्रसिद्ध होनेपर भी वह परलोकभीरु था—शत्रुओंसे भयभीत रहता था (पक्षमें नरकादि परभवसे भयभीत रहता था) और द्विजाधिनाथ (पक्षियोंका स्वामी—गरुड़) होकर भी (पक्षमें ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यवर्णमें प्रधान होकर भी) पक्षपातसे (पङ्खोंके संचारसे) रहित था (पक्षमें पक्षपातसे रहित था अर्थात् स्नेहवश किसीके साथ पक्षपातका व्यवहार नहीं करता था) ॥५॥ पवित्र बुद्धिके धारक उस जिनापको व्याख्यान-कथोपकथन अर्थात् नानाकथाओंका श्रवण करना अत्यन्त रुचिकर था तथा पुराणोंमें भी उसकी श्रद्धा बहुत थी, इसका विचार कर उसका प्रबल आग्रह होनेपर असग कवित्वशक्तिसे रहित होनेपर भी इस प्रबन्धकी (शान्तिनाथपुराणकी) रचना की ॥६॥ उत्तम अलंकार और नानाछन्दोंकी रचनासे युक्त श्रीवर्धमानचरितकी रचना कर असगने सज्जनोंके उत्कटमोहकी शान्तिके लिये श्रीशान्तिनाथ भगवान्का यह पुराण रचा है ॥७॥

'वर्धमानचरित' और 'शान्तिनाथपुराण'की उपर्युक्त प्रशस्तियोंसे यह स्पष्ट होता है कि असगके पिता

और माताका नाम वसुमति और वैरेति था। माता-पिता अत्यन्त मुनिभक्त थे इसलिये उन्होंने बालक असगको विद्याध्ययन मुनियोंके ही पास कराया था। असगकी शिक्षा नागनन्दी आचार्य और आर्यकीर्ति मुनिराजके चरणमूलमें हुई थी। यतश्च असगने वर्धमानचरितकी प्रशस्तिमें अपनेपर ममत्वभाव प्रकट करनेवाली संघस्थ आर्यिकाका और शान्तिनाथपुराणकी प्रशस्तिमें अपने मित्र जिनाक ब्राह्मणका उल्लेख किया है, अतः प्रतीत होता है कि यह, दोनों ग्रन्थोंके रचनाकालमें गृहस्थ ही थे मुनि नहीं। पश्चात् मुनि हुए या नहीं, इसका निर्देश नहीं मिलता। यह चोलदेशके रहनेवाले थे और श्रीनाथ राजाके राज्यमें स्थित विरला नगरीमें इन्होंने आठ ग्रन्थोंकी रचना की थी। यतश्च इनकी मातृभाषा कर्णाटक थी, अतः जान पड़ता है कि इनके शेष ६ ग्रन्थ कर्णाटक भाषाके हों और वे दक्षिण भारतके किन्हीं भाण्डारोंमें पड़े हों या नष्ट हो गये हों। भाषाकी विभिन्नताके उनका उत्तर भारतमें प्रचार नहीं हो सका हो।

असगने शान्तिनाथपुराणमें रचनाकालका उल्लेख नहीं किया है परन्तु वर्धमानचरितमें 'संवत्सरे दशनवोत्तरवर्षयुक्ते' श्लोक द्वारा उसका उल्लेख किया है। 'अंकानां वामतो गतिः' के सिद्धान्तानुसार 'दशनव'का अर्थ ९१० होता और उत्तरका अर्थ उत्तम भी होता है, अतः 'दशनवोत्तरवर्षयुक्ते संवत्सरे'का अर्थ ९१० संख्यक उत्तमवर्षोंसे युक्त संवत्में, होता है। विचारणीय यह है कि यह ९१० शकसंवत् है या विक्रम-संवत्? यद्यपि दक्षिण भारतमें शकसंवत्का प्रचलन अधिक है, अतः विद्वान् लोग इसे शकसंवत् मानते आते हैं परन्तु पत्राचार करनेपर श्रीमान् डा० ज्योतिप्रसादजी लखनऊने अपने ८-१०-७३ के पत्रमें यह अभिप्राय प्रकट किया है—

—'रचनाकाल ९१० को मैं विक्रमसंवत् = ८५३ ई० मानता हूँ क्योंकि ९५० ई० के पंप, पोन्न आदि कन्नड कवियोंने इनकी प्रशंसा की है'।

इनके निवास और पदकी चर्चा करते हुए भी उन्होंने लिखा है—

'असग एक गृहस्थ कवि थे। नागनन्दीके शिष्य थे, आर्यनन्दीके वैराग्यपर इन्होंने महावीरचरितकी रचना की।'

'असग मूलतः कन्नड निवासी रहे प्रतीत होते हैं और संभव है .इनकी अन्य रचनाओंमेंसे अधिकांश कन्नडभाषामें ही हों। इनके आश्रयदाता तामिल प्रदेश निवासी थे। मद्रासके निकटवर्ती चोलमण्डल या प्रदेशमें ही, संभवतया तत्कालीन पल्लवा-नरेश—नन्दिपोतरसके चोलसामन्त श्रीनाथके आश्रयमें उसकी वरला नगरीमें इस ग्रन्थकी रचना की थी। एक नागनन्दीका भी उक्त काल एवं प्रदेशमें सद्भाव पाया जाता है।

श्रवणबेलगोलके १०८ वें संख्यक शिलालेखसे ज्ञात होता है कि नागनन्दी नन्दिसंघके आचार्य थे।

असगके वर्धमानचरित और शान्तिनाथपुराण श्री पं० जिनदासजी शास्त्री फड़कुले सोलापुर के द्वारा निर्मित मराठी अनुवाद के साथ क्रमशः वीर निर्वाण संवत् २४५७ (सन् १९३१) और वीर निर्वाण संवत् २४६२ (सन् १९३६) में श्री रावजी सखाराम दोशी सोलापुर द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं तथा वर्तमानमें अप्राप्य हैं। वर्धमानचरितका एक संस्करण महावीरचरित्रके नामसे श्रीमान् पं० सूरचन्द्र जी शास्त्रीकृत मात्र हिन्दी अनुवादके रूपमें वीर निर्वाण संवत् २४४४ में सूरतसे भी प्रकाशित हुआ था। यह संस्करण भी अब अप्राप्य है। इस समय श्री प० जीवराज ग्रन्थमालाके संचालकोंने उपर्युक्त दोनों ग्रन्थोंको हिन्दी अनुवादके साथ पुनः प्रकाशित करनेका निश्चय किया है। तदनुसार अभी यह वर्धमानचरित प्रकाशित हो रहा है। शान्तिनाथपुराण आगे प्रकाशित होगा।

वर्धमानचरित की कथावस्तु

वर्धमानचरित १८ सर्गोंमें पूर्ण हुआ है। इसकी कथावस्तु निम्नलिखित प्रकार है—

अयोध्यानगरीमें राजा नन्दिवर्धन रहता था। उसकी प्रियाका नाम वीरवती था। इन दोनोंके नन्दन नामका पुत्र हुआ। नन्दन रूपवान तो था ही, समस्त विद्याओंमें भी निपुण था। एक दिन वह सब-वयस्क राजकुमारोंके साथ वनक्रीड़ा करनेके लिये गया। वहाँ प्रोष्ठिलमुनिराजके दर्शन कर उसने अपने आपको कृतकृत्य माना। राजाने नन्दनको युवराज बनाया और विजयंतरा कन्याके साथ उसका विवाह कर दिया।

राजा नन्दिवर्धनने एक जिनमन्दिरका निर्माण कराकर उसकी प्रतिष्ठा कराई। एक दिन आकाशमें मेघखण्डको विलीन होता देख राजाको संसारसे विरक्ति हो गई, अतः वह नन्दनको राज्य सौंप कर वनमें दीक्षित हो गया। नन्दनने राज्यभार संभाला। उसके नन्द नामका पुत्र हुआ। एक दिन वन-पालके द्वारा मुनिराजके पधारनेकी सूचना पाकर नन्दन समस्त परिवारके साथ मुनिराजकी वन्दना करनेके लिये वनमें गया। उस समय कुमार नन्दन भी उसके साथ गया था। नन्दनकी सुन्दरता देख नगरकी नारियाँ विह्वल हो गयी।

राजा नन्दनने मुनिराजकी वन्दना कर उनसे अपनी भवावली पूछी। मुनिराजने कहा कि तू इस भवसे पूर्व नवम भवमें सिंह था। जब तू गुफाके आगे विश्राम कर रहा था तब आकाशमार्गसे आकर अमितकीर्ति और अमरप्रभ नामक दो चारण ऋद्धिधारी मुनि सप्तपर्ण वृक्षके नीचे बैठकर उच्चस्वरसे प्रज्ञप्तिका पाठ करने लगे। उनकी वाणी सुनकर सिंह गुफासे बाहर आया और शान्तभावसे मुनिराज युगलके सामने बैठ गया। अमितकीर्ति मुनिराज उसे संबोधित करते हुए कहने लगे—तूने रागद्वेषके कारण अनेक भवोंमें परिभ्रमण किया है। उनमेंसे कुछका इतिवृत्त तू ध्यान से सुन।

एक बार पुण्डरीकिणी नगरीका धर्मात्मा सेठ धर्मस्वामी धनसम्पन्न लोगोंके साथ रत्नपुर नगरकी ओर जा रहा था। उसी संघके साथ एक सागरसेन नामक मुनि भी गमन कर रहे थे। एक समय डाकुओंके दलने उस संघपर आक्रमण किया जिससे समस्त संघ छिन्नभिन्न हो गया। मुनिराज सागरसेन अकेले रहनेसे विग्भ्रान्त हो गये। भटकते हुए वे मधुवनमें पहुँचे। वहाँ उन्हें कासरी नामक स्त्रीके साथ पुरूरवा नामका भील मिला। भीलने मुनिराजसे धर्मका उपदेश सुना जिससे वह अत्यन्त शान्त हो गया। भक्तिवश पुरूरवाने मुनिराजको सीधे मार्गपर लगा दिया जिससे मुनिराज किसी आकुलताके बिना इष्ट स्थानपर चले गये। पुरूरवा धर्मका आचरण कर सौधर्मस्वर्गमें दो सागरकी आयुवाला देव हुआ। वहाँ से चयकर भरत क्षेत्रके प्रथम तीर्थंकर वृषभदेवके बड़े पुत्र भरतके उसकी वारिणी नामक स्त्रीसे मरीचि नामका पुत्र हुआ। मरीचिने अपने बाबा भगवान् आदिनाथके साथ मुनिदीक्षा धारण की परन्तु अन्तमें तपसे च्युत हो गया फिर भी वह कायक्लेशके फलस्वरूप ब्रह्मस्वर्गमें दश सागरकी आयुवाला देव हुआ। वहाँसे आकर जैमालय फिर देव, पुष्पमित्र फिर देव, अग्निसह फिर देव, अग्निमित्र फिर देव, धारणाख फिर देव, और प्रभाकर फिर देव हुआ।

अलकादेशकी राजधानी अलकानगरीमें राजा विद्युन्मुखि राज्य करता था। एक दिन राजसभामें आये हुए द्वारपालका अतिकर्कश शरीर देखकर राजा विद्युन्मुखिको संसारसे वैराग्य उत्पन्न हो गया जिससे वह अपने साई विद्युत्प्रभुखिको राज्यभार और अपने पुत्र विद्युत्प्रभको युवराजपद सौंपकर दीक्षित हो गया। विद्युत्प्र-

भूतिने राज्यका विस्तार किया। युवराज विश्वनन्दीने एक सुन्दर उपवन बनवाया। उसे देखकर विशाखभूतिके पुत्र विशाखनन्दीका मन ललचा गया। जब विश्वनन्दी शत्रुको पराजित करनेके लिये बाहर गया हुआ था तब विशाखनन्दीने उस उपवनपर अपना अधिकार कर लिया। विशाखभूतिने पुत्रके व्यामोहमें आकर इसका प्रतिकार नहीं किया। वापिस आनेपर विश्वनन्दीने विशाखनन्दीको परास्त कर अपना उपवन वापिस ले लिया। कुछ समय बाद विशाखभूति और विश्वनन्दीने मुनिदीक्षा ले ली। विश्वनन्दी मुनिमुद्रामें चर्याके लिए मथुरानगरीमें प्रविष्ट हुआ। विशाखनन्दी उस समय राज्यभ्रष्ट होकर मथुरामें ही वेश्याकी छतपर बैठा था। मुनिराज विश्वनन्दीको एक पशुने उपसर्ग किया जिसे देखकर विशाखनन्दीने उसका उपहास किया। उपहासके कारण वे आहारके बिना ही वनमें लौट गये और निदानबन्ध कर महाशुक्रस्वर्गमें महेन्द्र-कल्प नामक देव हुए। विशाखभूति भी दशमस्वर्गमें देव हुआ।

विशाखनन्दीका जीव अलकापुरीके राजा मयूरग्रीवकी रानी कनकमालाके अश्वग्रीव नामका पुत्र हुआ जो प्रतिनारायणपदको प्राप्त था और विशाखभूति तथा विश्वनन्दीके जीव सुरमादेशके पोदनपुर नगरमें स्थित राजा प्रजापतिकी जयावति और मृगावती रानीके क्रमसे विजय और त्रिपृष्ठ नामक पुत्र हुए। विजय बलभद्रपदके धारक और त्रिपृष्ठ नारायणपदके धारक हुए। उस समय राजा प्रजापतिके राज्यमें एक सिंह भारी उत्पात कर रहा था, उसे त्रिपृष्ठने नष्टकर बहुत भारी यश प्राप्त किया। विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीके रथनूपुर नगरका राजा ज्वलनजटी अपनी पुत्री स्वयंप्रभाका विवाह त्रिपृष्ठके साथ करना चाहता था पर अश्वग्रीवको यह बात रुचिकर नहीं थी।

ज्वलनजटी अपनी पुत्री स्वयंप्रभाको लेकर पोदनपुरके उद्यानमें आ गया। वहाँ स्वयंवरका आयोजन किया गया जिससे स्वयंप्रभाका त्रिपृष्ठके साथ विवाह हो गया। जब अलकापुरीके राजा अश्वग्रीवको इसका समाचार मिला तब वह क्रुद्ध होकर भूमिगोचरियोंको दण्ड देनेके लिये चला। अश्वग्रीव नहीं चाहता था कि विद्याधरी कन्याके साथ भूमिगोचरीका विवाह हो।

अश्वग्रीवके आक्रमणका समाचार प्राप्तकर पोदनपुरके राजा प्रजापतिने विमर्श करनेके लिए मन्त्रि-मण्डलको बुलाया। कुछ मन्त्रियोंने क्षमा तथा शान्ति धारण करनेकी बात कही परन्तु विजयने मन्त्रियोंके इस सुझावका खण्डन किया तथा कहा कि जो कारणवश कुपित होता है उसपर क्षमा करना शोभा देता है पर जो अकारण ही कुपित होता है उसपर क्षमा करना शोभाकी बात नहीं है उसका तो प्रतिकार करना ही शोभा देता है। यह कहकर विजय और त्रिपृष्ठ दोनों भाई युद्धके लिये तैयार हो गये।

युद्ध प्रारम्भ होनेके पूर्व अश्वग्रीवका दूत प्रजापतिकी सभामें आकर कहने लगा कि स्वयंप्रभाको अश्वग्रीवके पास भेजकर सन्धि कर लीजिये परन्तु त्रिपृष्ठने फटकार देते हुए युद्धके लिये उसका आह्वान किया।

अश्वग्रीव और त्रिपृष्ठका युद्ध हुआ। दोनों ओरकी सेनाओंने अपने पौरुषका प्रदर्शन किया। जब अश्वग्रीवको अन्य आयुधोंके प्रयोगमें सफलता नहीं मिली तब उसने शक्तिशाली चक्रका प्रयोग किया परन्तु वह चक्र त्रिपृष्ठकी तीन प्रदक्षिणाएँ देकर उसके सामने खड़ा हो गया। त्रिपृष्ठने अश्वग्रीवको एक बार फिर सचेत किया परन्तु वह अपनी दुर्भावनासे विरत नहीं हुआ। अन्तमें उसी चक्ररत्नसे अश्वग्रीवका शिरश्छेदन कर त्रिपृष्ठने विजय प्राप्त की।

विजयी विजय और त्रिपृष्ठने बड़े समारोहके साथ नगरमें प्रवेश किया। अनेक राजाओं और माण्डलीकोंके द्वारा अभिषिक्त त्रिपृष्ठने सर्वप्रथम जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा की। पश्चात् दिग्विजयके लिये प्रस्थान किया।

भरतक्षेत्रके दक्षिण विन्ध्यवर्ती तीन खण्डोंको विजय प्राप्तकर त्रिपृष्ठ घर लौटा। त्रिपृष्ठके दो पुत्र और ज्योति-प्रभा नामकी पुत्री हुई। स्वयम्प्रभाने संसारसे विरक्त हो दीक्षा धारण कर ली। ज्योतिप्रभाका विवाह अर्क-कीर्तिके पुत्र अमिततेजके साथ हुआ। त्रिपृष्ठ रौद्रध्यानसे मरकर सप्तम नरकमें उत्पन्न हुआ।

त्रिपृष्ठका जीव नरकसे निकलकर पुनः सिंहपर्यायको प्राप्त हुआ। मुनिराज उसे सम्बोधित करते हुए कहने लगे कि हे सिंह! जिसने नरकमें घोर दुःख सहन किये हैं वह तू ही है। यह कहकर मुनिराजने नरकके घोर दुःखोंका वर्णन किया। मुनियुगल उस सिंहके मस्तकपर हाथ फेर रहे थे और सिंह आँखोंसे आँसू बहा रहा था। संबोधनः देकर मुनिराज तो आकाशमार्गसे इष्ट स्थानपर चले गये और सिंह संन्यासका नियम लेकर उसी शिलातलपर पड़ रहा। एक माहका उपवास कर अन्तमें प्राण-परित्याग करता हुआ वह सौधर्मस्वर्गमें हरिध्वज नामका देव हुआ।

धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व मेरुकी पूर्वदिशामें जो कच्छा नामका देश है उसके विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीपर हेमपुर नामका नगर है। उसी नगरके राजा कनकाभ और रानी कनकमालाके वह हरिध्वजदेवका जीव कनकध्वज नामका पुत्र हुआ। कनकध्वजका विवाह कनकप्रभाके साथ हुआ। कनकप्रभाके दीक्षित होनेके बाद कनकध्वज राज्यका संचालन करने लगा। एक बार सुदर्शनवनमें सुव्रत मुनिराजके दर्शन कर वह संसारसे विरक्त हो गया। फलस्वरूप मुनिदीक्षा लेकर घोर तपश्चरण करने लगा। अन्तमें वह कापिष्ठस्वर्गमें देव हुआ।

अवन्तिदेशकी उज्जयिनीनगरी अपनी सम्पन्नतासे अत्यन्त प्रसिद्ध थी। वहाँ राजा वज्रसेन राज्य करते थे। उनकी सुशीला नामकी शीलवती और रूपवती स्त्री थी। कनकध्वज (त्रिपृष्ठ) का जीव कापिष्ठ-स्वर्गसे च्युत होकर इसी राजदम्पतीके हरिषेण नामका पुत्र हुआ। हरिषेण भी तप कर महाशुक्रस्वर्गमें देव हुआ।

पूर्वविदेहके कच्छदेशमें राजा धनंजय रहते थे। उनकी स्त्रीका नाम प्रभावती था। हरिषेणका जीव महाशुक्रस्वर्गसे च्युत होकर इसी राजदम्पतीके प्रियमित्र नामका पुत्र हुआ। धनंजयने मुनिदीक्षा ले ली। राज्यका संचालन प्रियमित्र करने लगा। इसकी आयुधशालामें चक्ररत्न प्रकट हुआ जिससे यह चक्रवर्तीके रूपमें प्रकट हुआ। नौ निधियों और चौदह रत्नोंका स्वामी प्रियमित्र चक्रवर्ती एक दिन दर्पणमें श्वेत बाल देखकर संसारसे विरक्त हो गया। विरक्तचित्त प्रियमित्रने तीर्थंकरके समवसरणमें जाकर भक्तिभावसे तीर्थंकरकी वन्दना की। तीर्थंकरका विस्तृत उपदेश हुआ।

प्रियमित्र चक्रवर्ती अरिंजय पुत्रको राज्य सौंपकर दीक्षित हो गया। तपश्चरणपूर्वक संन्यासमरण कर वह सहस्रारस्वर्गमें सूर्यप्रभ नामका देव हुआ।

स्वर्गके सुख भोगकर वह श्वेतातपत्रा नामक नगरीमें नन्दन नामका राजा हुआ। नन्दन स्वभावसे ही सौम्य था। नीतिपूर्वक राज्यका संचालन करनेके बाद उसका मन संसारसे विरक्त हो गया। उसने तत्रत्यवासी मुनिराजसे अपने पूर्वभवोंका वर्णन सुना। फलस्वरूप वह नन्दीश्वर पुत्रको राज्य सौंप कर दीक्षित हो गया। कठिन तपश्चर्या करते हुए उसने दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओंका चिन्तन कर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। अन्तमें समाधिमरण कर वह पुष्पोत्तर विमानमें बीस सागरकी आयुवाला देव हुआ।

इधर भरतक्षेत्र सम्बन्धी कुरुजांगल नामक नगरमें राजा विश्वसेन रहते थे। उनकी स्त्रीका नाम ब्रह्म-णादेवी अथवा विश्वसेना था। ब्रह्मणादेवीने रात्रिके पिछले प्रहर ऐरावत हाथी आदि सोलह स्वप्न देखे। प्रातः पुरोहित राजा विश्वसेनसे बताया कि तुम्हारे तीर्थंकर पुत्र होगा। स्वप्नोंका फल सुनकर ब्रह्मणादेवीको

अवधिज्ञानका पार नहीं रहा। देवियाँ आकर उसकी सेवा करने लगीं। चैत्रशुक्ल त्रयोदशी सोमवारके दिन त्रिशलादेवीके पुत्र उत्पन्न हुआ। यह पुत्र भरतक्षेत्रका चौबीसवाँ तीर्थंकर हुआ। चतुर्णिकायके देवोंके साथ आकर सौधर्मेन्द्रने उनका जन्माभिषेक किया। बालकका नाम वर्धमान रखा गया। पीछे चलकर विशिष्ट प्रसंगोंपर इनके सन्मति, वीर, अतिवीर और महावीर नाम भी प्रसिद्ध हुए। इन्होंने ३० वर्षकी अवस्थामें दीक्षा ले ली और कठिन तपश्चरण कर बारह वर्षके बाद अर्थात् ४२ वर्षकी अवस्थामें ऋजुकूला नदीके तटपर वैशाखशुक्ल दशमीको केवलज्ञान प्राप्त किया।

कुबेरने समवसरणकी रचना की। गणधरके अभावमें ६६ दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी। पश्चात् गौतम गणधरके निश्चित होनेपर श्रावणकृष्ण प्रतिपदाके दिन राजगृहके विपुलाचलपर प्रथम देशना हुई। देशनामें सात तत्त्व, नौ पदार्थ तथा षड्द्रव्य आदिका स्वरूप प्रकट किया गया। ३० वर्ष तक विविध देशोंमें विहार कर उन्होंने धर्मोपदेश दिया। अन्तमें कार्तिककृष्णा चतुर्दशी की रात्रिके अन्तमें पावापुरसे निर्वाण प्राप्त किया।

वर्धमानचरितका महाकाव्यत्व

उपर्युक्त पौराणिक वृत्तको काव्यके साँचेमें ढालकर कविने इसे महाकाव्यका नाम दिया है। परमार्थसे यह महाकाव्यके लक्षणोंसे युक्त है भी। इसमें महाकाव्यके वर्णनीय समस्त वस्तुवृत्तोंका अत्यधिक रोचक ढंगसे वर्णन किया गया है। धीरोदात्त नायकके गुणोंसे युक्त क्षत्रियवंशोत्पन्न वर्धमान तीर्थंकर इसके नायक हैं। शान्तरस अङ्गीरस है, शेषरस अङ्गरसके रूपमें यथास्थान संनिविष्ट हैं। मोक्ष इसका फल है, नमस्कारात्मक पद्योंसे इसका प्रारम्भ हुआ है। १८ सर्गोंमें इसकी रचना हुई है। सर्गोंकी रचना एक छन्दमें हुई है और सर्गान्तमें छन्दोवैषम्य है। नवम, दशम, पञ्चदश और अष्टादश सर्गकी रचना नानाछन्दोंमें हुई है। देश, नगर, राजा, रानी, पुत्रजन्म, ऋतु, वन, समुद्र, मुनि, देवदेवियाँ, युद्ध, विवाह, दूतसंवाद, संध्या, चन्द्रोदय, सूर्योदय, तपश्चरण और धर्मोपदेश आदि सभी वर्णनीय विषयोंका इसमें अच्छा वर्णन हुआ है। पौराणिक वृत्तकी रक्षा करते हुए कविने अलंकारोंकी सुषमासे समग्र ग्रन्थको सुशोभित किया है।

कथावस्तुका मूलाधार

दिगम्बराम्नायमें तीर्थंकर आदि शलाका पुरुषोंके चरित्रके मूलस्तम्भ, प्राकृत भाषाके तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थमें मिलते हैं। इसके चतुर्थ महाधिकारमें तीर्थंकर किस स्वर्गसे चय कर आये, उनके नाम, नगरी और माता-पिताका नाम, जन्मतिथि, नक्षत्र, वंश, तीर्थंकरोंका अन्तराल, आयु, कुमारकाल, शरीरकी ऊँचाई, वर्ण, राज्यकाल, वैराग्यका निमित्त, चिह्न, दीक्षातिथि, नक्षत्र, दीक्षावन, षष्ठ आदि प्राथमिक तप, साथमें दीक्षा लेनेवाले मुनियोंकी संख्या, पारणा, कुमारकालमें दीक्षा ली या राज्यकालमें, दानमें पञ्चाश्चर्य होना, छद्मस्थकाल, केवलज्ञानकी तिथि-नक्षत्र-स्थान, केवलज्ञानकी उत्पत्तिका अन्तरकाल, समवसरणका साङ्गोपाङ्ग वर्णन, विहार, निर्वाणतिथि और साथमें रहनेवाले मुनियोंकी संख्या आदि प्रमुख स्तम्भोंका विभिन्न संग्रह है। इसी संग्रहके आधार पर शलाका पुरुषोंके चरित्र विकसित हुए हैं। जिनसेनने अपने महापुराणका आधार परमेष्ठीकविकृत वागर्थसंग्रहपुराणको बतलाया है। पद्मपुराणके कर्ता रविषेण और हरिवंशके कर्ता जिनसेनने भी तीर्थंकर आदि शलाका पुरुषोंके विषयमें जो ज्ञातव्य वृत्त संकलित किये हैं वे तिलोयपण्णत्ति पर आधारित हैं। वृत्तवर्णनके रूपमें वर्धमानचरितके कथानकका आधार गुणभद्रका उत्तरपुराण जान पड़ता है क्योंकि उत्तर पुराणके ७४वें पर्वमें वर्धमान भगवान्की जो कथा विस्तारसे दी गयी है उसका संक्षिप्त रूप इसमें उपलब्ध होता है। इतना अवश्य है कि असगने उस पौराणिक कथानकको काव्यका रूप दिया है। तत्त्वोपदेशका मूल-

और अलङ्कारोंका उत्कर्षपूर्ण, मूलकथाकी उपयोगिदृष्टि तथा अवसरोचितता दृष्टव्य है। उपलब्ध रूपका विस्तृत वर्णन जिनसेनके महापुराण पर आधारित है।

वर्धमानचरितकी साहित्यिक सुषमा

रसका परिपाक, अलंकारोंका यथास्थान विनियोग और छन्दोंकी रसानुगुणता साहित्यिक सुषमाके प्रमुख अंग हैं। वर्धमानचरितमें इन तीनों अंगोंका सुन्दरतम विकास हुआ है।

१. रस काव्यकी आत्मा है। जिस प्रकार आत्माके रहते हुए ही मानवशरीरपर अलंकारोंकी उपयोगिता होती है उसी प्रकार काव्यमें रसके रहते हुए ही अलंकारोंकी उपयोगिता होती है। वर्धमानचरितका अङ्गीरस शान्तरस है क्योंकि उसका समारोप शान्तरसमें ही हुआ है। अङ्गरसके रूपमें शृङ्गार, भयानक तथा वीररस आये हैं। शृंगाररसके दो भेद हैं—संयोगशृङ्गार और विप्रलम्भशृङ्गार। इनमेंसे वर्धमानचरितमें संयोगशृङ्गारके ही प्रसंग आये हैं, विप्रलम्भके नहीं। विप्रलम्भशृङ्गारका वर्णन करनेवाला मात्र एक श्लोक दशम सर्गमें आया है जिसमें विपृष्ठका मरण होनेपर शोकविह्वल स्वयंप्रभा मरनेके लिये उद्यत बतलाई गयी है—

स्वयंप्रभामनुमरणार्थमुद्यतां बलस्तदा स्वयमुपसान्त्वनोदितैः।
इदं पुनर्भवशतहेतुरात्मनो निरर्थकं व्यवसितमित्यवारयत् ॥ ३०।८७

संयोगशृङ्गारके प्रसंग भी अत्यन्त सीमित हैं।

स्वयंप्रभा और विपृष्ठका विवाह होते ही अश्वग्रीवके कुपित होनेका वर्णन आ जाता है जिससे शृङ्गाररसकी धारा क्षीण होकर धीरे-धीरे वीररसकी धारा प्रवाहित होने लगती है। अश्वग्रीवने जब विद्याधरोंको यह समाचार सुनाया कि ज्वलनजटी विद्याधरने अपनी स्वयंप्रभा कन्या भूमिगोचरी विपृष्ठको दी है तब इसके उत्तरमें विद्याधर राजाओंने जो गर्वोक्तियाँ प्रकट की हैं उनसे वीररसकी उद्भूति होती है। जब अश्वग्रीवका दूत राजा प्रजापतिकी सभामें जाकर कहता है कि विपृष्ठ स्वयंप्रभाको अश्वग्रीवके पास भेजकर शान्तिसे रहे तब इसके उत्तरमें विजय और विपृष्ठने उस दूतके माध्यमसे अश्वग्रीवको जो लताड़ दी है उससे वीररसका संपोषण होता है और रणक्षेत्रमें जब दोनों ओरकी सेनाओंका घनघोर युद्ध होता है तब वीररसका परिपाक होता है। इसके लिये वर्धमानचरितके अष्टम और नवम सर्ग द्रष्टव्य हैं।

विद्याधरीको आता देख भयसे काँपता हुआ विद्याधरी जब कपित्थके वृक्षपर चढ़कर प्राण संरक्षण करना चाहता है तब भयानकरसका दृश्य साकार हो जाता है—

देखिये—

आयान्तमन्तकनिभं तमुदग्रसत्त्व-
मालोक्य वेपथुगृहीतसमस्तगात्रः।
तस्थौ कपित्थतरुमेत्य विद्याधरीन्द्रो
मन्दोद्यतिर्गतबहुत्वमवर्णभेदम् ॥ ७७ सर्ग ४

अश्वग्रीवकी सेनाका प्रयाण भी भयानकरसके दृश्य उपस्थित करता है। काव्यमें शान्तरसके अनेक प्रसंग आये हैं और कविने पूर्ण मनोयोगके साथ उन्हें चरचित किया है। जैसे राजा मेघविजयका आकाशमें विलीन होते हुए मेघको देखकर संसारसे विरक्त होता हुआ वैराग्यका चित्रण करता है (सर्ग ५ श्लोक १०-२४), अनन्तविजय वैराग्यचिन्तन (सर्ग ९ श्लोक ३३-५८, सर्ग १० श्लोक ४८-५८), राजा वज्रायुधका वैराग्य-चित्रण (सर्ग १२ श्लोक ४०-५३), वीरवर महावीरका निष्क्रमणकल्याणक (सर्ग १७ श्लोक १०२-११६)।

२. साहित्यिकसुषमाका दूसरा अङ्ग अलंकार है। अलंकारके शब्दालंकार और अर्थालंकार ये दो प्रमुख भेद हैं। अनुप्रास तथा यमक आदि शब्दालंकार हैं और उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, परिसंख्या, भ्रान्तिमान् आदि अर्थालंकार हैं। वर्धमानचरितमें दोनों प्रकारके अलंकारोंका सुन्दर समावेश किया गया है। यद्यपि समग्र ग्रन्थ अलंकारोंसे परिपूर्ण है अतः पृथक्‌से उदाहरण देना पुनरुक्त जैसा है, फिर भी कुछ उदाहरण देना उपयुक्त प्रतीत होता है—

अनुप्रास

प्रासादशृङ्गाणि समेत्य मेघा यस्यां मयूरान्मदयन्त्यकाले।
तच्चित्ररत्नांशुकलापमालासंपादिताखण्डलचापखण्डाः ॥ १।३०

यमक

प्रतिबुद्धमहोत्पलोत्पलान्तर्विहरत्सारसहंसचक्रवाकैः ।
महिषीकलुषीकृतावतारैर्वरबन्धैः परितः परीतमालः ॥ ४।३

श्लेषोपमा

सुरक्तसर्वप्रकृतिः प्रतापी नित्योदयोऽपास्ततमःप्रचारः।
पद्माकरेशो जगदेकदीपो विभाति यो भास्करवत्सदर्च्यः ॥ ५।१६
नापेक्षतेऽर्थापचयं न कष्टं न वृत्तभंगं भुवि नापशब्दम्।
मूढीकृतः सन् रसिकत्ववृत्त्या कविश्च वेश्यार्पितमानसश्च ॥ १।६
सालो विशालः स्फुरदंशुजालः परैरभेद्यो निरवद्यमूर्तिः।
सतीजनोरःस्थलसाम्यमाप पयोधरालीढसदम्बरश्रीः ॥ ५।९

रूपक

पद्माप्रियः कोमलशुद्धपादो नेत्रोत्पलानन्दकरो जनानाम्।
कलाकलापं समवाप्नुवानो दिने दिनेऽवर्धत बालचन्द्रः ॥ ५।२६
जरावीचीभङ्गो जननसलिलो मृत्युमकरो महामोहावर्तो गदनिवहफेनैः शवलितः।
मया संसाराब्धिर्भवदमलवाक्यप्लवभृता समुत्तीर्णः किंचित्प्रभवनतटीशेषमचिरात् ॥ १२।६९

उत्प्रेक्षा

यत्रासौधासिमयूखरेखा श्यामायिता शेषशरीरशोभाः।
इतस्ततो यान्त्यभिसारिकाः खे दिवा तमिस्रा इव मूर्तिमत्यः ॥ १२।३
वक्षसि श्रियमुदीक्ष्य निषण्णामानने च सततं श्रुतदेवीम्।
यस्य कुन्दविशदा कुपितेव दिग्गता न निरवर्तत कीर्तिः ॥ १३।१४

श्लेष

प्रसिद्धमानेन विरोधवर्जिना प्रमिण्वते यद्गणिजो निकामम्।
यत्तार्किका वा सदसद्विचाराद्वस्तु प्रमत्तोपहितस्ववाचः ॥ ५।१२

परिसंख्या

यत्राकुलीनाः सततं हि तारा दोषाभिलाषाः पुनरेव चूकाः।
सद्वृत्तभंगोऽपि च गद्यकाव्ये रोषः परेषां सुजनस्य चाक्षे ॥ ५।१३
दण्डा ध्वजे सम्मुरजे च बन्धो वराङ्गनानां विकरेषु भंगः।
सत्पञ्जरेष्वेव सदा विरोधो गतावहीनां कुटिलत्वयोगः ॥ ५।१४

भ्रान्तिमान्

रविमण्डलं विमलरत्नभुवि प्रान्तविम्बितं सपदि मुग्धवधूम् ।
सपत्नीमदर्पणधिया दयितामवलोक्य यत्र च जहास सखी ॥ ५।४३

विरोधाभास

यस्मिन्नहीनवपुरप्यभुजंगशीला मित्रानुरागसहितापि कलाधरेच्छा ।
भाति प्रतीतसुवयःस्थितिरप्यपक्षपाता सिवासिजनता सरसाप्यरोगा ॥ १७।१५
सुमनोऽन्वितमप्यपेतबोधं बहुपत्राकुलमप्यसैन्यमासीत् ।
विपरीतमपि प्रशंसिवल्लिवनमाभोगि ततः परं समन्तात् ॥ १८।५

उपर्युक्त श्लोकोंका अर्थ ग्रन्थके अनुवादमें देखिये ।

३ साहित्यिक सुषमाका तीसरा अंग छन्दोंकी रसानुगुणता है । सुवृत्ततिलकमें क्षेमेन्द्रने छन्दोंकी रसानुगुणताका वर्णन करते हुए कहा है—

आरम्भे सर्गबन्धस्य कथाविस्तारसंग्रहे ।
शमोपदेशवृत्तान्ते सन्तः शंसन्त्यनुष्टुभम् ॥
शृंगारालम्बनोदारनायिकारूपवर्णनम् ।
वसन्तादि तदङ्गं च सच्छायमुपजातिभिः ॥
रथोद्धता विभावेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु ।
षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते ॥
वसन्ततिलकं भाति संकरे वीररौद्रयोः ।
कुर्यात्सर्गस्य पर्यन्ते मालिनीं द्रुततालवत् ॥
उपपत्तपरिच्छेदकाले शिखरिणी वरा ।
औदार्यशुचिरौचित्यविचारे हरिणी मता ॥
साक्षेपक्रोधधिक्कारे परं पृथ्वी सरक्षमा ।
प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते ॥
शौर्यं स्तवे नृपादीनां शार्दूलक्रीडितं मतम् ।
सावेगपवनादीनां वर्णने स्रग्धरा वरा ॥
दोधकतोटकनर्कुटयुक्तं मुक्तकमेव विराजति सूक्तम् ।
निर्विषमस्तु रसादिषु तेषां निर्नियमश्च सदा विनियोगः ॥

अर्थात् काव्यमें, कथाके विस्तारमें और शान्तरसपूर्ण उपदेशमें सत्पुरुष अनुष्टुप्छन्दकी प्रशंसा करते हैं । शृङ्गाररसके आलम्बन तथा उत्कृष्ट नायिकाके रूपवर्णनमें वसन्ततिलका और उपजातिछन्द सुशोभित होते हैं । चन्द्रोदय आदि विभावप्रकरणोंके वर्णनमें रथोद्धताछन्द अच्छा माना जाता है । सन्धिविग्रह आदि षड्गुणप्रधान नीतिका उपदेश वंशस्थछन्दसे सुशोभित होता है तो सर्गान्तमें मालिनी अधिक खिलती है । युक्तियुक्तवस्तुके परिज्ञानकालमें शिखरिणी तथा उचितता आदिके औचित्यवर्णनमें हरिणीछन्दकी शोभना अच्छी मानी जाती है । राजाओंके शौर्यकी स्तुति करनेमें शार्दूलविक्रीडित और वेगशाली पवन आदिके वर्णनमें स्रग्धराछन्द श्रेष्ठ माना गया है । दोधक, तोटक तथा नर्कुट छन्द मुक्तकमें सुशोभित है ।

इस प्रसिद्ध छन्दोयोजनाके अनुसार धर्मशर्माभ्युदयमें निम्नांकित छन्दोंका प्रयोग हुआ है। कहाँ कौन छन्द है ? यह छन्दके भीतर श्लोकोंके ऊपर दिया हुआ।

१ उपजाति, २ वसन्ततिलका, ३ रुचिरा, ४ इन्द्रवज्रा, ५ पृथ्वी, ६ प्रमिताक्षरा, ७ विद्योतिनी, ८ पुष्पिताग्रा, ९ अतिरुचिरा, १० आर्यागीति, ११ इन्द्रवंशा, १२ उद्गता, १३ शिखरिणी, १४ वंशस्थ, १५ शार्दूलविक्रीडित, १६ अनुष्टुप्, १७ मालिनी, १८ मालभारिणी, १९ मन्दाक्रान्ता, २० स्वागता, २१ भुजङ्गप्रयात, २२ शालिनी, २३ हरिणी, २४ ललिता, २५ रथोद्धता, २६ स्वागता, २७ प्रहर्षिणी, २८ द्रुतविलम्बित, २९ मञ्जुभाषिणी और ३० पन्द्रह अक्षरकी जातिवाला एक अज्ञात छन्द १५।१०९।

रीति या भाषाका प्रवाह

कविने रसानुकूल भाषाका प्रवाह प्रवाहित किया है। इसमें कहीं अधिक समासवाले पद हैं, कहीं अल्प समासवाले पद हैं और कहीं समासरहित पद हैं। समुदायरूपसे पाञ्चाली रीति मानी जा सकती है। जान पड़ता है कि कविके हृदयसागरमें अनन्त शब्दरत्नोंका भाण्डार भरा हुआ है जिससे उसे किसी अर्थके वर्णनमें शब्दोंकी कमीका अनुभव नहीं होता। उसकी भाषा किसी शिथिलताके बिना अजस्रगतिसे आगे बढ़ती जाती है। देखिये—

प्रत्यालयं प्रहृतमङ्गलतूर्यशङ्खमुत्थापितध्वजवितानकृतान्धकारम्।
प्राग्द्वारदेशविनिवेशितशातकुम्भकुम्भाग्रदत्तसुकुमारयवप्ररोहम् ॥
नृत्यन्मदालसवधूजनवक्त्रपद्मव्याप्तासकृत्कामुकविलोचनभृङ्गम् ।
रङ्गावलीविरचितोज्ज्वलपद्मरागप्रोद्भूतप्रभापटलपल्लवितान्तरिक्षम् ॥
उच्चारणाचतुरचारणबन्दिवृन्दकोलाहलप्रतिनिनादितसर्वदिक्कम् ।
आसीत्परस्परविभूतिजिगीषयेव रम्यं पुरं खचरसन्निहितं वनं च ॥ ६।१७-१९

गुणिनां भवति प्रसङ्गतो गुणहीनोऽपि गुणी धरातले।
सुरभीकुरुतेऽब्ज कर्परं सलिलं पाटलपुष्पवासितम् ॥ ७।४

सौधर्मकल्पमथ धर्मफलेन गत्वा
सद्यो मनोरमवपुः स मनोहरेऽभूत्।
देवो हरिध्वज इति प्रथितो विमाने
सम्यक्त्वशुद्धिरथवा न सुखाय केषाम् ॥ ११।६४

धर्मशर्माभ्युदयपर पूर्ववर्ती कवियोंका प्रभाव

प्रतिभोपजीवी कवि अपनी प्रतिभाके बलपर ही काव्यरचना करता है, उसकी दृष्टि पूर्ववर्ती कवियोंके काव्योंसे निरपेक्ष रहती है परन्तु व्युत्पत्त्युपजीवी कवि अपने पूर्ववर्ती कवियोंके अगाध काव्यसागरसे अवगाहन कर उससे बहुत कुछ प्राप्त कर काव्यरचनामें अग्रसर होता है। व्युत्पत्त्युपजीवी अवश्यसे काव्य-सागरका अवगाहन तो किया ही था साथमें कुन्दकुन्द, पूज्यपाद तथा अकलंक आदिके सिद्धान्तग्रन्थोंका भी अच्छी तरह अवगाहन किया था, ऐसा उनके साहित्यसे ध्वनित होता है। जैसे अमृतके तृतीय सर्गके निम्नलिखित श्लोकमें—

रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यति।
जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद् बन्धमोक्षयोः ॥ ३।२०

कर्मके विषय आचार्योंका निर्देश किया है वे कुन्दकुन्दके निम्नलिखित गाथाओंमें प्रतिपादित कारणोंके अनुरूप हैं—

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

—समयप्राभृत

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥८७॥

—ज्ञेयाधिकार-प्रवचनसार

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥२६॥

—इष्टोपदेश

जिनवचनरसायनं दुरापं श्रुतियुगलाञ्जलिना निपीयमानम्।
विषयविषतृषामपास्य दूरं कमिह करोत्यजरामरं न भव्यम् ॥११।४०

—वर्धमानचरित

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥१७॥

—दर्शन पाहुड

रघुवंश, कुमारसंभव, शिशुपालवध, चन्द्रप्रभचरित तथा किरातार्जुनीयके कितने ही श्लोकोंका भाव असगने ग्रहण किया है। जीवन्धर चम्पू और धर्मशर्माभ्युदयके भी कितने ही श्लोकोंका सादृश्य वर्धमानचरितके श्लोकोंके साथ मिलता है पर किसने किससे भाव ग्रहण किया यह विचारणीय है। तत्तत्प्रकरणोंमें मैंने समानान्तर श्लोक टिप्पणमें उद्धृत किये हैं। सबसे अधिक सादृश्य भारविके किरातार्जुनीयके साथ मिलता है। वर्धमानचरितके सप्तम सर्ग और किरातार्जुनीयके दूसरे सर्गका छन्द एक है। अतः वर्धमानचरितके सर्ग ७ श्लोक ५२ और ५३ के मध्यमें किरातार्जुनीयका—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्य कारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥

—श्लोक सम्मिलित हो गया और मराठी टीकावाले संस्करणमें इसकी टीका भी हो गयी परन्तु 'ब' प्रतिसे मिलान करनेपर वह श्लोक उसमें नहीं मिला। जान पड़ता है समानार्थक होनेसे किसीने टिप्पणमें लिखा हो और मराठी टीकाकारने उसे ग्रन्थका ही अङ्ग समझकर सम्मिलित कर लिया हो। इस संस्करणमें उसे मूलसे अलग कर दिया है।

वर्धमानचरित

वर्धमानचरितके प्रमुख नायक श्री वर्द्धमान तीर्थंकर हैं। इनकी यह तीर्थंकर अवस्था २७ पूर्वभवोंकी साधनाके पश्चात् विकसित हुई है। कविने इनके पूर्वभवोंका वर्णन इनकी सभामेंही किया है कि उनके श्रवण सार्थक होवें अन्यथा नहीं। राजा श्रेणिकका वर्णन उनकी सभाका और उनके गुरु आदि सभ्य जनोंका वर्णन उनकी वीरताको साकार कर देता है। अन्यान्य सहायकोंका वर्णन भी उनकी विशेषता और बुद्धिमत्ताको प्रकट करता है।

समीक्षा

वर्धमानचरित, तीर्थंकरका चरितकाव्य है। इसमें कविने वीरनन्दीके चन्द्रप्रभचरितकी तरह पूर्व-भवोंके वर्णनमें ही ग्रन्थका बहुभाग घेर लिया है। वर्तमानभवके वर्णनके लिये बहुत थोड़ा भाग शेष रहता है इसलिये नायकका वर्तमानचरित्र संक्षिप्त हो गया है तथा कविके कवित्वसे वञ्चित रह गया है। प्रियमित्र चक्रवर्तीके लिये जो विस्तृत तत्त्वोपदेश दिया गया है वह एक पूरा धर्मशास्त्र बन गया है। काव्यके भीतर इतने सुदीर्घ तत्त्वोपदेश पाठकके चित्तको उद्विग्न कर देते हैं। इसके लिए संक्षिप्त उपदेश ही शोभास्पद होते हैं। फिर यही तत्त्वोपदेश यदि वर्धमान तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिके माध्यमसे दिया गया होता तो उससे चरित्र-नायकके कृतित्वपर अधिक प्रकाश पड़ता। महाकवि हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदयमें जो पद्धति अपनायी है वह काव्योचित है।

असग कविका दूसरा ग्रन्थ शान्तिनाथपुराण है। यह १६ सर्गोंमें पूर्ण हुआ है, इसमें सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ भगवान्‌का चरित्र पूर्वभवोंके वर्णनके साथ अंकित किया गया है। वर्धमानचरित महाकाव्य है और यह पुराण है, इस संक्षिप्त सूचनासे ही दोनोंका अन्तर जाना जा सकता है। यह भी श्री जिनदास जी शास्त्रीकृत मराठी टीकाके साथ प्रकाशित हो चुका है। अब हिन्दी टीकाके साथ प्रकाशित होगा।

ज्ञापित तथ्य

सर्ग १८ श्लोक २ में कविने भगवान् महावीरके समवसरणका विस्तार बारह योजन बतलाया है जब कि सिद्धान्तानुसार वह एक योजन मात्र था। जान पड़ता है कि ग्रन्थकर्त्ताने समवसरणके बारह योजन विस्तृत होनेकी बात वादीभसिंहकी गद्यचिन्तामणिके निम्न श्लोकसे ली है—

गीर्वाणाधिपचोदितेन धनदेनास्थायिकामादरात्
सृष्टां द्वादशयोजनायततलां नानामणिद्योतिताम्।
अध्यास्त त्रिदशेन्द्रमस्तकपिलत्पादारविन्दद्वयः
प्राग्देवो विपुलाचलस्य शिखरे श्री वर्धमानो जिनः॥१०॥

—गद्यचिन्तामणि

यदि यह सत्य है तो वादीभसिंहका समय असगसे पूर्व अर्थात् अष्टम नवम शती स्वतः सिद्ध हो जाता है।

सुभाषितसंचय

वर्धमानचरितमें सुभाषितोंका अपरिमित भाण्डार भरा है। कविने ग्रन्थको शृङ्गारबहुल प्रकरणोंसे बचाकर सुभाषितमय प्रकरणोंसे सुशोभित किया है। श्लोकोंके अर्ध अथवा चतुर्थ चरणके माध्यमसे जो सुभाषित दिये गये हैं उनका संकलन परिशिष्टमें 'सुभाषितसंचय'के नामसे किया गया है।

शब्दकोष

शब्दकोषके अन्तर्गत व्यक्तिवाचक, भौगोलिक, पारिभाषिक और कुछ साहित्यिक शब्दोंकी अनुक्रमणिकाएँ परिशिष्टमें दी गयी हैं। इनसे स्वाध्यायी और शोधार्थीजनोंको अध्ययनमें सुविधा प्राप्त होगी, ऐसी आशा है।

आभार

ग्रन्थके संशोधन और संपादनमें श्रीमान् वयोवृद्ध पं० जिनदासजी फडकुले शास्त्रीकृत मराठी टीका-वाले संस्करणसे पर्याप्त सहायता मिली है तथा ग्रन्थकर्ताके समयनिर्धारण आदिके विषयमें श्रीमान् डॉ० ज्योतिप्रसादजी लखनऊने पत्र द्वारा सूचनाएँ दी, इसके लिये उपर्युक्त दोनों विद्वानोंका आभार मानता हूँ। श्री डॉ० नेमिचन्द्रजी, ज्योतिषाचार्य, आराके शोधप्रबन्ध 'संस्कृतकाव्यके विकासमें जैन कवियोंका योगदान'से भी ग्रन्थके संपादनमें सहायता प्राप्त हुई है, अतः उनके प्रति आभार है। भगवान् महावीर स्वामीके २५०० वें निर्वाण महोत्सवके उपलक्ष्यमें श्री ब्र० जीवराजजी ग्रन्थमालाकी ओरसे इसका प्रकाशन हो रहा है, अतः ग्रन्थ-मालाके संचालक धन्यवादके पात्र हैं। अन्तमें अपनी अल्पज्ञताके कारण संपादन और अनुवादमें होनेवाली त्रुटियोंके लिये विद्वज्जनोंसे क्षमाप्रार्थी हूँ। दूरवर्ती होनेसे मैं प्रूफ स्वयं नहीं देख सका हूँ। प्रूफमें सावधानी बरतने पर भी संस्कृत श्लोकोंमें जो अशुद्धियाँ रह गयी हैं उनका शुद्धिपत्र ग्रन्थके आरम्भमें दिया गया है। अध्येता संशोधन कर स्वाध्याय करें।

हमारी विनम्र प्रार्थनाको स्वीकृत कर श्री डॉ० रामजी उपाध्याय, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्, अध्यक्ष संस्कृत विभाग सागर विश्वविद्यालयने प्राक्कथन लिखने की कृपा की है इसलिये उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

दीपावली
२५००

विनीत
पन्नालाल साहित्याचार्य

शुद्धिपत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	८	हृतमोहमन्त्रम्	हृतमोहतन्त्रम्
१६	७	गलेऽपि	गतेऽपि
१९	११	पलाशशाखीं	पलाशशाखी
२२	७	परयाऽऽसद्वीनं	परयायासीद्वनं
२६	२	यातिरवाकुलम्	मतिरलाकुलम्
२७	९	तीरस्थैः	तीरस्थैः
२८	४	वभुः	विभुः
२८	८	निरङ्कुशः	निरङ्कुशः
२९	१३	कपिलाकृत—	कपिलीकृत—
३०	११	वपत्य	वपत्य
३१	२	सप्तसागरसख्यात	सप्तसागरसंख्यात
३२	४	कार्मपाकान्	कर्मपाकान्
३२	८	इत्याभिख्यां	इत्यभिख्यां
४०	५	भोष्यसि	भोक्ष्यसि
४१	७	भामा	भाता
४२	१३	निशानखङ्गे	निशातखड्गे
४४	७	जनाङ्गलीभिः	जनाञ्जलीभिः
४४	१२	चेदि	चेति
४६	५	समुन्न नेक	समुन्नतानेक
४९	२	पतिर्वैर्यमनः	पतिर्वैधव्यनः
५१	८	अष्टा सहस्राणि	अष्टौ सहस्राणि
५५	१३	मितरत्सकलम्	मितरत्सकलम्
५७	६	मृगमीतिकर	मृगमीतिकरः
५७	१७	प्रथम	प्रथमं
६०	१४	सनु-	सूनु-
६२	२०	निपृष्ट	निपृष्ट
६३	७	खचरेन्द्र	खेचरेन्द्र
६७	४	तिवावकिरन्	निवावकिरन्
६९	२	मथितारिकुलाचलेन	मथितारिकुलाचलेन
६९	१५	वृष्टवा	वृष्ट्वा
७०	१	कास्या	कास्या

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७०	९	अनुपपत्तेरित	अनुपपत्तेरिति
७१	५	परिकारराहित्यः	परिकारा राहित्यः
७३	६	परिणामात्मक	परिणामात्मक
७४	३	अनुभवानन्दरानन्दैकाद्	अनुभवानन्दैकाद्
७४	९	दन्यानो	दन्यानो
७७	१७	निजवेद्यबुधेन	निजवेद्यबुधेन
८०	३४	दन्यमान भी	दन्यमान भी
८६	१०	बहुभिर्मिलन्तपामरै	बहुभिर्मिलन्तपामरै—
८७	३	भासुरैः	भासुरैः
८७	८	तृणोल्पावकीर्णा	तृणोल्पावकीर्णा
८८	४	अपमय	अपमय
८८	१३	-निजवसति	-निजवसति
८९	४	खाच्यं	खाच्यं
८९	१०	परोक्ष :	परोक्षतः
८९	१४	अनुमान	अनुमात
९२	१४	स्पृशं	स्पशो
९४	६	दन्यमनिषद्रुमधियः	दन्यसनिषद्रुमधियः
९४	९	मदनसमानसः	मदनसमानसः
९७	१५	मितरेतरं	मितरेतरं
९८	१३	तन्मनौ	तन्मनौ
१०२	१०	पटहाः प्रणदु—	पटहाः प्रणेदु–
१०७	१३	घनमुष्टिबाहा	घनमुष्टिबाहा
१०८	७	नैवाश्ववारस्य	नैवाश्ववारस्य
१०९	६	मार्गैः	मार्गैः
११३	५	नेमि तान्मत्	नेति तान्मत्
११३	१२	मि ष्टः	मिपृष्टः
११५	३	—सर्वशास्त्रसारो	—सर्वशास्त्रसारो
११५	१८	हानुरत्वम्	हानुरत्वम्
११९	१	सप्तमः सर्गः	सप्तमः सर्गः
१२०	१७	खरत	खारत
१२०	१९	अन्तरङ्गमना	अन्तरङ्गमनो
१२१	१	सप्तमः सर्गः	सप्तमः सर्गः
१२३	१	,,	,,
१२७	१	,,	,,
१२९	१५	सुमुखमया	सुमुखमया

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३०	१५	शोकं	शोकं
१३३	२	समदि	सपदि
१३६	११	भवगच्छ	भवगच्छ
१३६	१८	आभव्य	अभव्य
१३७	५	विधते	विधत्ते
१३८	१४	प्रयानम्	प्रयासम्
१४१	१४	योऽभ्युद्धतो	योऽभ्युद्धतो
१४१	१४	दुरित खञ्जनतो	दुरितखञ्जनतो
१४३	१४	तिरोहिराङ्गीरपि	तिरोहिताङ्गीरपि
१४४	९	यतिदेव	यतिरेव
१४४	१३	अधेरी	अंधेरी
१४५	६	जयश्री	जयश्रीः
१४९	२	क्षमस्यैकपति	क्षमस्यैकपतिं
१४९	७	निजेऽप्यमानयाविवशो	निजेऽप्यमानाद्विवशो
१४९	१०	कर्मशयाशीर्वचसा	कर्मक्षयाशीर्वचसा
१४९	१३	प्राञ्जलि	प्राञ्जलि
१५०	४	सागरिकोऽणुव्रतभेदतिन्नऽ	सागारिकोऽणुव्रतभेदभिन्नोऽ
१५०	११	नितरायमुष्मादलोऽत्र	नितराममुष्मादतोऽत्र
१५१	१३	तपी	तपो
१५४	७	पतितोयमुदितैः	पीततोयमुदितैः
१५५	४	हेपयन्ति	ह्रेपयन्ति
१६६	४	रसावितानां	रसार्द्रितानां
१६८	८	क्षेमादिद्युति	हेमादिद्युति
१७१	७	—मार्गज्ञस्त्वथ	—मार्गज्ञस्त्वथ
१८०	१४	संविलष्ट	संक्लिष्ट
१९४	१५	—मिहापुत्र च	—मिहामुत्र च
१९७	८	निरङ्कुशेन	निरङ्कुशेन
१९७	१७	ग्रस्तपश्चरति	यस्तपश्चरति
१९९	१४	मस्तीक्ष्णवर्त्म	यस्तीक्ष्णवर्त्म
२१०	६	देशानां	देशोनां
२२२	७	दर्शविशुद्धि	दर्शनविशुद्धि
२२६	९	मासमेकं	मासमेकं
२२६	१०	ध्यानेनधर्म्येधर्म्येण	ध्यानेन धर्म्येण
२२७	२	शार्दूलविक्रीडितम्	शार्दूलविक्रीडितम्
२३०	५	योत्स्ना	ज्योत्स्ना

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२११	११	पुरमध्युवास	पुरमध्युवास
२३१	२	संबोधनवन्त	संबोधवन्त
२३३	३	यद्विभ्यतुः	यद् बिभ्यतुः
२३६	३४	सर्गह १	सर्ग ६
२३८	४	प्रणतोत्तमाङ्गा	प्रणतोत्तमाङ्गाः
२३९	८	चन्द्रान्वयः	चन्द्रावयः
२४०	१५	दीर्घार्द्ध	दीर्घार्द्ध
२४१	२२	वांछित	वाञ्छित
२४६	२	स सुरैर्भगवान्	स सुरैर्भगवान्
२४७	१०	नमस्तो	नमस्तो
२४८	२	भवाभिधानो	भवाभिधानो
२५१	१६	चतुररत्ना	चतुरस्रा
२५२	८	बभूव	बभूव
२५२	२३	मोतियोंकी शिलापट्ट	मोतियोंके शिलापट्ट
२५८	१२	—मगाङ्गणेशम्	—मगाद्गणेशम्
२५८	१४	विया	विया
२५८	१५	—वाविवाय	—वानिनाय
२५९	१९	त्रया	त्रपा
२६०	४	करणक्रमावरण वरण	करणक्रमावरण
२६०	६	सुतसामाक्त	सुतसुमाक्त
२६०	८	सुदुर्धरः	सुदुर्धर
२६१	४	—प्युत निकाम—	प्युत काम—
२६५	१३	मन्द्रमन्द्रं	मन्द्रंमन्द्रं
२६६	१२	अथार्यिका	अथार्यिकाः
२६६	१३	वन्दि:	वन्दिभः
२६८	७	————	अनुष्टुप्
२६८	८	वर्द्धमानचरित्रं यः अनुष्टुप् प्रत्याख्यानि—	वर्द्धमानचरित्रं यः प्रत्याख्याति—
२६८	२९	९१४ सम्वत्	९१० सम्वत्

पूरवर्ती होनेके कारण मैं भूल स्वयं नहीं देख सका इसलिये मुद्रणमें रही अशुद्धियोंके लिये मैं पाठकोंसे क्षमाप्रार्थी हूँ। समस्त पर्वोंके मूलाङ्कों सम्बन्धी अव्यवस्थाको इस शुद्धिपत्रमें अंकित नहीं किया जा सका है, इसे पाठक स्वयं शुद्ध करते चलें। स्वाध्याय करनेके पूर्व उपर्युक्त अशुद्धियां ठीक कर लेनेसे स्वाध्यायमें सुविधा होगी।

विषयसूची

—:०:—

सर्ग : १	श्लोक	पृष्ठ
मङ्गलपीठिका	१–६	१–२
जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें एक पूर्वदेश है। उसमें श्वेतातपत्रा नगरी सुशोभित है। श्वेतातपत्रा नगरी अपनी निराली शोभा रखती है।	७–३६	२–६
श्वेतातपत्रा नगरीका राजा नन्दिवर्धन था और उसकी रानी वीरवती थी। दोनोंका दाम्पत्यजीवन सुखमय था।	३७–४५	६–७
नन्दिवर्द्धन और वीरवतीको नन्दन नामका पुत्र हुआ। यौवनने नन्दनके सौन्दर्यको वृद्धिंगत किया। एक बार नन्दन मित्रोंके साथ वनमें गया। वहाँ उसने शिलापट्टपर विराजमान श्रुतसागर मुनिको देखा। भक्तिवश उन्हें नमस्कार कर उनसे धर्मोपदेश सुना। व्रत धारण किये। पिता नन्दिवर्धनने नन्दनको युवराजपद दिया। नन्दनने राज्यका विस्तार किया।	४६–६५	७–१२
पिताके आग्रहसे युवराज नन्दनने प्रियङ्कराके साथ विवाह किया।	६६–६८	१२

सर्ग : २		
राजा नन्दिवर्धन सुखसे समय व्यतीत कर रहे थे। एक दिन मेघको विलीन होता देख वे संसारसे विरक्त हो गये। ऊँची छतसे नीचे उतरकर राजा सभागृहमें गये और युवराज नन्दनको संबोधित कर उससे अपने दीक्षा लेनेके विचार प्रकट करने लगे। नन्दनने भी अपनी विरक्तिका भाव प्रकट किया परन्तु पिताके आग्रहवश राज्य संभाल लिया। राजाने विहितास्रव मुनिके पास दीक्षा ले ली।	१–३४	१३–१७
राजा नन्दनने पितृवियोगका शोक छोड़ राज्यका पालन किया। प्रियङ्करासे नन्द नामक पुत्रको जन्म दिया। बालक दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा। इसीके बीच ऋतुराज वसन्तका शुभागमन हुआ जिससे वनकी शोभा निराली हो गयी।	३५–६१	१७–२१
वनमें अवधिज्ञानी प्रोष्ठिल मुनिराजके दर्शन कर वनपालने राजाको खबर दी। खबर पाते ही राजाने उठकर उन्हें नमस्कार किया और वन्दनाके लिये वनको प्रस्थान किया।	६२–७०	२१–२२

सर्ग : ३		
राजा नन्दनने मुनिराजको नमस्कार कर उनसे अपने पूर्वभव पूछे। प्रोष्ठिल मुनिराजने उसको भवान्तर सुनाते हुए कहा—	१–११	२२–२३
कि राजन्! तुम इस भवसे पूर्व तीसरे भवमें भरतक्षेत्रकी वङ्कानदीके उत्तर तट-पर स्थित सिंहपुर पर्वतपर सिंह थे। वह सिंह अनेक जीवोंकी हिंसा कर एक दिन अपनी गुफाके द्वारभाग पर विश्राम कर रहा था। उसी समय आकाशमार्गसे विहार करते हुए अतिबलकीर्ति और अमरप्रभ मुनिराजने उसे देखा। दोनों मुनिराज आकाशसे उतर कर वहीं		

कामदेवकूटके नीचे बैठ गये और धीरे-धीरे अर्हन्तिका पाठ करने लगे। अर्हन्तिका पाठ सुनकर सिंहकी तृष्णा दूर हो गयी और वह मुनिराजके समीप जा बैठा। अमितकीर्ति मुनिराजने उसे संबोधित करते हुए उसके पूर्वभव सुनाये। पुष्करा द्वीपके पश्चिम मेरुकी तथा स्वयंवर विद्याधरके भव सुनाये। १२-११३ २३-३२

सर्ग : ४

इसी पूर्वभववर्णनकी शृङ्खलामें मुनिराजने कहा कि मगधदेशके राजगृह नगरमें राजा विश्वभूति रहता था। उसकी स्त्रीका नाम जैनिनी था। स्वयंवरका जीव स्वर्गसे चयकर इन्हींके विश्वनन्दी नामका पुत्र हुआ। वृद्ध द्वारपालको देखकर राजा विश्वभूति संसारसे विरक्त हो गये तथा अपने भाई विशाखभूतिको राज्यपद तथा विश्वनन्दीको युवराजपद देकर तपस्या करने लगे। १-२७ ३३-३६

राजा विशाखभूतिकी स्त्री लक्ष्मणा थी। उससे उसे विशाखनन्दी पुत्रकी प्राप्ति हुई। विश्वनन्दीके द्वारा निर्मापित सुन्दर उद्यानको देखकर विशाखनन्दीका मन ललचा गया। उसे प्राप्त करनेके लिये उसने अपनी मातासे कहा। माताने राजासे कहा। राजाने मन्त्रियोंसे मन्त्रणा की परन्तु विश्वनन्दीकी समीचीन प्रवृत्तिको देखते हुए मन्त्रियोंने राजा विशाखभूतिको सलाह दी कि ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिये जो विश्वनन्दीके प्रतिकूल हो। राजा विशाखभूतिने स्त्री और पुत्रकी बातोंमें आकर विश्वनन्दीको बाहर भेज दिया। इधर विशाखनन्दीने उसके वनपर अपना अधिकार कर लिया परन्तु एक सेवकके द्वारा इसकी खबर पाकर विश्वनन्दीने बाहरसे आकर अपना वन वापिस छीन लिया। २८-८० ३६-४३

अन्तमें विश्वनन्दी और विशाखभूतिने दीक्षा धारण कर ली। विशाखनन्दी राज्यकी रक्षा नहीं कर सका। एक बार मुनि विश्वनन्दी चर्याके लिये मथुरा नगरीमें गये। वहाँ एक गायने उन्हें गिरा दिया। विशाखनन्दी एक वेश्याकी छतपर बैठा यह देख रहा था। उसने मुनिका उपहास किया। मुनि संन्यासमरण कर महेन्द्रकल्पमें देव हुए। ८१-९४ ४३-४५

सर्ग : ५

इसी पूर्वभवकी शृङ्खलामें मुनिराजने बताया कि जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी विजयार्धपर्वत पर एक अलका नामकी नगरी है। मयूरकण्ठ उसका राजा था और कनकमाला मयूरकण्ठकी स्त्री थी। विशाखनन्दीका जीव इन्हींके अश्वग्रीव नामका पुत्र हुआ। मयूरकण्ठने पुत्रजन्मका बहुत उत्सव किया। अश्वग्रीव बड़ा प्रतापी हुआ। वह प्रतिनारायणपदसे युक्त था। १-१० ४६-५१

इसी भरतक्षेत्रमें सुरम्य नामक देशमें राजा प्रजापति राज्य करते थे। उनकी जयावती और मृगावती दो रानियाँ थीं। इनमेंसे जयावती रानीके पूर्ववर्णित विशाखभूतिका जीव विजय नामका पुत्र हुआ और विश्वनन्दीका जीव मृगावतीके त्रिपृष्ठ नामक पुत्र हुआ। ११-६२ ५२-५५

त्रिपृष्ठ बड़ा बलवान पुत्र था। उसने रत्नमें उत्पात मचानेवाले एक सर्पको हाथसे पकड़कर खेल-खेलमें मार दिया था। विद्युत्वेग नामक विद्याधरको बहुत अधिक

हुई। विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीमें स्थित रथनूपुरनगरके राजा ज्वलनजटीने यहाँ आकर अपनी स्वयंप्रभा नामकी पुत्री त्रिपृष्ठको देनेकी प्रार्थना की। ६३-११५ ५५-६३

सर्ग : ६

निश्चयानुसार ज्वलनजटीने अपनी पुत्रीका विवाह त्रिपृष्ठके साथ कर दिया। १-२२ ६३-६६

अलकाके राजा अश्वग्रीवको यह सहन नहीं हुआ कि विद्याधरकी कन्याके साथ भूमिगोचरीका विवाह हो। उसने विद्याधरोंसे जब यह समाचार कहा तब उन्होंने बहुत क्रोध प्रकट किया। कुछ मन्त्रियोंने अश्वग्रीवको समझाया भी परन्तु वह समझ नहीं सका और त्रिपृष्ठसे युद्ध करनेके लिये तैयार हो गया। इस संदर्भमें राजा प्रजापति और विजय तथा त्रिपृष्ठकी सुन्दर मन्त्रणा हुई। २३-७१ ६६-७५

सर्ग : ७

मन्त्रिमण्डलके बीच राजा प्रजापतिने अपनी शक्तिपर मन्त्रणा की। होनहार बलभद्र और नारायणपदके धारक विजय और त्रिपृष्ठने अपने पिता प्रजापतिको पूर्ण आश्वस्त किया। दोनोंकी सेनाएँ युद्धके लिये तैयारी करती हैं। १-१०३ ७५-८९

सर्ग : ८

अश्वग्रीवके दूतने प्रजापतिकी सभामें आकर कहा कि चक्रवर्ती अश्वग्रीवके साथ वैर करना अच्छा नहीं, इसलिये स्वयंप्रभाको भेजकर सुख से रहो। दूतकी इस कुमन्त्रणाका त्रिपृष्ठने करारा उत्तर दिया। दोनों ओरसे युद्धकी पूरी तैयारियाँ हो गईं। १-८७ ८९-१०२

सर्ग : ९

विविध योद्धाओंके रोमहर्षक युद्धके बाद भी जब अश्वग्रीवको सफलता नहीं मिली तब उसने त्रिपृष्ठ पर चक्ररत्न चलाया परन्तु वह प्रदक्षिणा देकर त्रिपृष्ठके हाथमें आ गया। त्रिपृष्ठके समझानेपर भी जब उसने अपनी हठ नहीं छोड़ी तब त्रिपृष्ठने उसी चक्ररत्नसे उसकी जीवनलीला समाप्त कर दी। त्रिपृष्ठ नारायणके जयघोषसे दिशाएँ मुखरित हो उठीं। १-१०२ १०२-११७

सर्ग : १०

त्रिपृष्ठने दिग्विजय की। बलभद्र और नारायणपदके धारक विजय और त्रिपृष्ठमें गाढ़ प्रीति थी। राजा ज्वलनजटी और प्रजापतिने दीक्षा धारण की। त्रिपृष्ठकी मृत्यु हो गई जिससे बलभद्र विजयने करुण विलाप किया परन्तु अन्तमें उन्होंने त्रिपृष्ठके पुत्र श्री विजयको राज्य देकर सुवर्णकुम्भ गुरुके पास दीक्षा ले ली और तपश्चरण कर मोक्ष प्राप्त किया। त्रिपृष्ठका जीव सातवें नरक गया। १-९० ११८-१३१

सर्ग : ११

नरक गतिके भयंकर दुःखोंका वर्णन करते हुए मुनिराजने कहा कि हे सिंह! नरकके उन दुःखोंको भोगनेवाला तू ही है। संसार दुःखमय है। इन दुःखोंसे बचना चाहता है तो जिनेन्द्र भगवान्‌के वचनरूपी औषधका पान कर। हे मृगराज! कषायरूपी

तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिसे यह ज्ञात कर कि तू भरतक्षेत्रका अन्तिम तीर्थंकर होनेवाला है तुझे सौधर्मेन्द्रके लिये हम दोनों आये हैं। अब तेरी आयु एक मासकी रह गई है, इसलिये इस हिंसासे विरत हो आत्मकल्याणके मार्गमें लग। मुनिराजके मुखसे अपने पूर्व-भव सुन सिंह आँखोंसे आँसू बहाने लगा और मुनिराज उसके सिरपर हाथ फेरने लगे। मुनिराजने यह भी बताया कि तू दशम भवमें भरतक्षेत्रका तीर्थंकर होगा। १–५० १३२–१३९

इतना कहकर मुनियुगल तो आकाशमार्गसे अपने इष्टस्थानपर चले गये और सिंह वहींपर आहार-पानीका त्याग कर संन्यासमें लीन हो गया। उसे मृत समझकर हाथी उसकी गर्दनके बाल खींचते थे तो भी उसे रोष नहीं आता था। अन्तमें समता-भावसे मरकर सौधर्मस्वर्गमें हरिध्वज देव हुआ। देवने अवधिज्ञानसे जानकर उपर्युक्त मुनिराजकी वन्दना की और कहा कि हे नाथ! आपने ही मुझे इस पापरूपी कीचड़से निकाला है। ५१–७१ १३९–१४२

सर्ग : १२

धातकीखण्ड द्वीपकी पूर्व दिशामें सीता नदीके तटपर जो कच्छा देश है उसके विजयार्ध पर्वतपर दक्षिण श्रेणीमें एक हेमपुर नामका नगर है। वहाँ कनकप्रभ नामका राजा था, उसकी स्त्रीका नाम कनकमाला था। हरिध्वजका जीव स्वर्गसे च्युत होकर इन्हींके कनकध्वज नामका पुत्र हुआ। कनकध्वज अत्यन्त सुन्दर था। उसे देखकर विद्याधर कन्याओंका मन उसकी ओर आकृष्ट होता रहता था। १–२५ १४२–१४७

पिताकी आज्ञासे कनकध्वजका कनकप्रभाके साथ विवाह हुआ। राजा कनकप्रभने संसारसे विरक्त हो दीक्षा ले ली। एक बार कनकध्वज अपनी प्रियाके साथ सुमेरु पर्वतके उद्यानमें गया। वहाँ उसने शिलापट्टपर विराजमान सुव्रत मुनिको देखकर उन्हें नमस्कार किया तथा धर्मका स्वरूप पूछा। उत्तरमें मुनिराजने रत्नत्रयरूप धर्मका वर्णन किया जिसे सुनकर उसे संसारसे विरक्ति हो गई और उसने जिनदीक्षा धारण कर ली। चिरकाल तक तपस्या कर वह आयुके अन्तमें कापिष्टस्वर्गमें देवानन्द नामका देव हुआ। २६–७१ १४७–१५३

सर्ग : १३

अवन्ति देशकी वज्रयिनी नगरीमें राजा वज्रसेन रहते थे। उनकी रानीका नाम सुशीला था। देवानन्द देवका जीव इसी राजदम्पतीके हरिषेण नामका पुत्र हुआ। हरिषेण राजनीतिका भाण्डार था। राजा वज्रसेनने श्रुतसागर मुनिराजके समीप दीक्षा ले ली। हरिषेण श्रावकधर्मका पालन करता हुआ राज्य करने लगा। १–३१ १५३–१५८

सूर्योदय हुआ। संध्याकी लाली आकाशमें छा गई। फिर अन्धकारका प्रसार और उसके अनन्तर चन्द्रमाकी चाँदनीका विस्तार हुआ। राजा हरिषेणने सुखसे रात्रि व्यतीत की। प्रातःकाल मागधजनोंने मङ्गलध्वनियोंसे उसे जागृत किया। इस प्रकार राजा हरिषेणका समय सुखसे व्यतीत होने लगा। अन्तमें सुव्रतमुनि मुनिराजके पास दीक्षा लेकर उसने तपश्चरण किया जिसके प्रभावसे वह महाशुक्रस्वर्गमें श्रीतिलक देव हुआ। ३२–८४ १५८–१६७

सर्ग : १४

जम्बूद्वीपके विदेह क्षेत्र सम्बन्धी कच्छा देशमें एक क्षेमपुरि नामका नगर है। वहाँका राजा वज्रसेन था। उसकी स्त्रीका नाम प्रभावती था। प्रीतिंकर देवका जीव इसी राजदम्पतीके प्रियमित्र नामका पुत्र हुआ। प्रियमित्र बड़ा पुण्यशाली था। वज्रसेनने क्षेमंकर तीर्थंकरके पादमूलमें दीक्षा धारण कर ली और प्रियमित्र प्रजाका पालन करने लगा। इसको आयुधशालामें चक्ररत्न प्रकट हुआ जिससे यह चक्रवर्ती कहलाने लगा। चौदह रत्नों और नौ निधियोंका स्वामी प्रियमित्र चक्रवर्ती सुखसे समय व्यतीत करने लगा। १–३९ १६८–१७३

एक दिन चक्रवर्ती प्रियमित्र दर्पणमें अपना मुख देख रहा था। शिरमें सफेद बाल देखकर उसे संसारसे विरक्ति हो गई। मोक्षमार्गको जाननेकी उत्कण्ठा लेकर वह क्षेमंकर जिनेन्द्रके समवसरणमें गया। ४०–५३ १७३–१७६

सर्ग : १५

प्रियमित्र चक्रवर्तीने हाथ जोड़कर जिनेन्द्र भगवान्‌से मोक्षमार्ग पूछा। भगवान्‌की दिव्यध्वनि होने लगी। उन्होंने कहा कि निर्मल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शनका विस्तारसे वर्णन करते हुए उन्होंने जीवाजीवादि नौ पदार्थोंका स्वरूप कहा। उन्होंने जीवपदार्थका वर्णन करते हुए उसके औपशमिक आदि पाँचभावोंका विस्तारसे वर्णन किया। १–१४ १७६–१७८

अजीवतत्त्वका वर्णन करते हुए उन्होंने उसके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पाँच भेदोंका स्वरूप बताया। १५–२० १७८–१७९

आस्रवतत्त्वका विस्तारसे वर्णन करते हुए उन्होंने आठों कर्मोंके पृथक्-पृथक् आस्रव बतलाये। २१–६१ १७९–१८६

बन्धतत्त्वके वर्णनमें सर्वप्रथम बन्धके कारणोंका उल्लेख कर उन्होंने आठों कर्मोंके चतुर्विध बन्धका निरूपण किया। कर्मोंकी स्थिति तथा अनुभागकी भी चर्चा की। ६२–७९ १८६–१९१

संवरतत्त्वका वर्णन करते हुए उसका स्वरूप तथा उसके कारण गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्रका विस्तारसे वर्णन किया। ८०–१६४ १९१–२११

निर्जराका वर्णन करते हुए उसके सविपाक और अविपाक भेदोंका स्वरूप बताया तथा गुणश्रेणीनिर्जराके दश स्थानोंका वर्णन किया। १६५–१६७ २११–२१२

निर्जराके अनन्तर मोक्षतत्त्वका वर्णन करते हुए उन्होंने बताया कि यह जीव किस गुणस्थानमें किस क्रमसे कर्मोंका क्षय करता हुआ चौदहवें गुणस्थानके अन्तमें कर्मोंका सर्वथा क्षय कर मोक्ष प्राप्त करता है। मोक्ष प्राप्त करनेके बाद यह जीव एक समयमें लोकशिखरपर आरूढ हो जाता है। क्षेत्र कालगति आदि अनुयोगोंसे होनेवाली सिद्ध जीवोंकी विशेषताका भी उन्होंने वर्णन किया। १६८–१९३ २१२–२१६

जिनेन्द्र भगवान्‌का उपदेश सुनकर प्रियदत्त चक्रवर्तीने अरिन्दम नामक ज्येष्ठ पुत्रको राज्य सौंपा और स्वयं क्षेमंकर जिनेन्द्रके पादमूलमें दीक्षा धारण कर ली। अन्तमें यह सहस्रारस्वर्गमें सूर्यप्रभ देव हुआ। १९४–१९८ २१६–२१७

सर्ग : १६

श्रेणिक मुनिराजसे कहा कि सुदर्शन मेरुका जीव भी स्वर्गसे च्युत होकर तू अयोध्यापुरी नगरीमें नन्दन नामका राजा हुआ है। अपने पूर्वभव सुनकर राजा नन्दनके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे। उसने मुनिराजको नमस्कार कर मुनिदीक्षा ले ली। उन्होंने बारह प्रकारके तप किये और तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धमें कारणभूत दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारणभावनाओंका चिन्तवन किया। उन्होंने कनकावली आदि कठिन तप किये। अन्तमें समता भावसे शरीरका परित्याग कर नन्दसे मुनि प्राणत स्वर्गके पुष्पोत्तर विमानमें देवेन्द्र हुए। आगे चलकर यही वर्द्धमान तीर्थंकर होंगे। १–६६ २१७–२२७

सर्ग : १७

इसी भरतक्षेत्रके विदेह देशमें एक कुण्डपुर नामका नगर है। उसमें राजा सिद्धार्थ राज्य करते थे। राजा सिद्धार्थकी रानीका नाम प्रियकारिणी था। प्रियकारिणी अन्य नाम तथा गुणवाली रानी थी। दम्पतीमें अपार प्रेम था। १–२९ २२८–२३३

अब प्राणतेन्द्रकी आयु ६ माहकी शेष रह गई तब इन्द्रने अवधिज्ञानसे यह जानकर कि प्रियकारिणीके गर्भमें तीर्थंकर पुत्रका गर्भावतरण होनेवाला है, उनकी सेवाके लिये षट्कुमारिका देवियोंको भेजा। एक समय पिछली रातमें प्रियकारिणीने ऐरावत हाथी आदि सोलह स्वप्न देखे। राजा सिद्धार्थने स्वप्नोंका फल बताते हुए कहा कि तुम्हारे गर्भसे तीर्थंकर पुत्र होगा। आषाढ़शुक्ला षष्ठीके दिन पुष्पोत्तर विमानसे चयकर प्राणतेन्द्रने माताके गर्भमें अवतरण किया। देवों ने उत्सव किया। ३०–५७ २३३–२३७

चैत्रशुक्ल त्रयोदशी सोमवारके दिन बालक वर्धमानका जन्म हुआ। सौधर्मेन्द्रने चतुर्निकायके देवोंके साथ आकर जन्मकल्याणकका उत्सव किया। सुमेरु पर्वतके पाण्डुक वनमें स्थित पाण्डुक शिला पर बालकका जन्माभिषेक किया। सौधर्मेन्द्रने उनका वर्धमान नाम रखा। चारण ऋद्धिधारी विजय और संजय मुनिराजोंने उनके दर्शनसे अपना संशय दूर हो जानेके कारण उनका सन्मति नाम रखा। ५८–९४ २३७–२४३

संगम देवने उनके साहसकी परीक्षा कर उनका महावीर नाम रखा। भगवान् महावीरका कुमारकाल सानन्द बीतने लगा। ३० वर्षकी अवस्थामें एक दिन उनका मन संसारसे विरक्त हो गया। लौकान्तिक देवोंने आकर उनके वैराग्यको बढ़ाया। मार्गशीर्ष कृष्णदशमी तिथि के दिन उन्होंने वृहद्वनमें दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान और सात ऋद्धियाँ प्राप्त हो गईं। ९५–१२४ २४३–२४७

[illegible] सर्ग में [illegible] वर्णन किया है। यहाँ [illegible] कहने के बाद [illegible] किया परन्तु वे [illegible] नहीं हुए। अन्तमें उन्होंने 'महावीर' नाम रखकर [illegible] की। वैशाखशुक्ला दशमीके दिन उन्हें केवलज्ञान होनेके बाद [illegible] होनेके बाद वैभारगिरि [illegible]। देवोंने [illegible] किया। १२५–१३० २४७–२४९

सर्ग : १८

इन्द्रकी आज्ञासे कुबेरने समवसरणकी रचना की। दिव्यध्वनि नहीं खिर रही थी इसलिये इन्द्रने अवधिज्ञानसे उसके कारण पर विचार किया। इन्द्र गौतम ग्रामसे इन्द्रभूति ब्राह्मणको लाया। उसके साथ उसके पाँच सौ शिष्य भी आये। समवसरणमें आते ही उन सबने भगवान् वर्धमानको शिष्यता स्वीकृत की। श्रावणकृष्णा प्रतिपदाके दिन भगवान्की दिव्यध्वनि प्रकट हुई। इन्द्रने उनका स्तवन किया। ३० वर्ष तक विहार कर उन्होंने धर्मका उपदेश दिया। अन्तमें कार्तिककृष्णा चतुर्दशी के अन्तिम मुहूर्तमें उन्होंने पावापुरसे निर्वाण प्राप्त किया। देवोंने निर्वाणकल्याणकका उत्सव किया। १–१०१ २४९–२६८
असग कविने अपनी प्रशस्ति दी

वीर सेवा मंदिर पुस्तका
क्रमांक नं० 563
२१, दरियागंज, देहल

श्रीवर्द्धमानचरितम्

वर्धमानचरितम्

अथवा सर्गः

मङ्गलाचरणम्

[उपजातिः]

त्रिलोकलोकोत्तमवाक्यनाथाद्यात्यन्तिकीं ज्ञातसमस्ततत्त्वात् ।
उपागतां सम्पतिमुज्जयन्तीं वन्दे जिनेन्द्रं हतमोहमल्लम् ॥१
अशेषसत्त्वात्महितैरगम्यं पुरस्क्रियायो नीतिमहारभूतम् ।
रत्नत्रयं नौमि परं पवित्रं सत्त्वैकपात्रं दुरितच्छिदस्त्रम् ॥२
सुदुस्तरानादिपुरन्तदुःखग्राहाकुलेदोदधिवारणेशम् ।
वन्दे समुद्धर्तुमशेषसत्त्वान् ज्ञातसुतं तं जिनशासनज्ञः ॥३
गम्भीरवैराग्यसुधारसोघैः कथं तदुत्पन्नं जगदीः कथं वाहम् ।
मलोऽर्णवैर्वारिनिधिं जनेन्द्रैः पारं गतं वक्ष्यति कि मयूरः ॥४
तथापि पुण्यावहहेतुभूतस्तवात्मनस्तस्य चरितं प्रवक्ष्ये ।
श्रीवर्द्धमानस्य समुद्धतोऽहं फलार्थिनां नास्ति हि दुष्प्रवेशः ॥५

महावीरं महावीरं सर्वसत्त्वहितावहे । वन्देऽहं""जेतवा नित्यं सर्वज्ञतो भवान्तकम् ॥१
वर्द्धमानमहत्कालमवलोक्य विनिर्मितम् । राक्षसानसमुद्धर्तुं सेतुं विद्यामहम् ॥२

जो तीनों लोकों में श्रेष्ठ, अविनाशी, सर्वतत्त्वज्ञता को प्राप्त थे, जिनके वचन निर्दोष—पूर्वापर विरोध से रहित थे तथा जिन्होंने""मोहरूपी मल्ल को नष्ट कर दिया था उन सम्पति जिनेन्द्र""कल्याणक श्री महावीर भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥ जो""आत्महित के इच्छुक मनुष्यों के द्वारा अगम्य होने पर भी अगम्य से रहित है (पक्ष में सुपूजित होने पर भी अपूज्य है) नीतिरूपी""उसकी मात्र होकर स्वयम्भू है, परम पवित्र है, तथा सत्त्वों का अद्वितीय आधार है ऐसे रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-रूपी पापापहारी अस्त्र की मैं स्तुति करता हूँ ॥ २ ॥ जो अत्यन्त दुस्तर, अनादि, दुष्परिणामवाले दुःखरूपी मगरमच्छों से व्याप्त""संसाररूपी विशाल सागरों के तट्ट से उत्पन्न भव्य जीवों का समुद्धार करने में समर्थ है तथा जिसका जीवन ज्ञाता अवश्य है ऐसी जिनवाणी रूपी माताको नमस्कार है—सर्वोत्कृष्ट रूप से विराजमान है ॥ ३ ॥ उत्कृष्ट ज्ञान के धारक गणधरों के द्वारा कहा हुआ यह पुराण कहाँ और मैं मन्दबुद्धि कहाँ ? मल के समान देखनेवाले, बड़े-बड़े समुद्रों-जैसा आकाशतलगामी जिनेन्द्रों के द्वारा पार किये हुए समुद्र को क्या मयूर पार कर सकता है ? कभी नहीं ॥ ४ ॥ तथापि पुण्य उत्पन्न करने में कारण होने से अपनी शक्ति के अनुसार श्रीवर्द्धमान जिनेन्द्र का चरित कहने के लिये

नापेक्षतेऽर्थापचयं न कष्टं न वृत्तभङ्गं भुवि नापशब्दम् ।
मूढीकृतः सन् रसिकत्ववृत्त्या कविश्च वेश्यासु पतन्मनश्च ॥६
द्वीपेऽथ जम्बूद्रुमचारुचिह्ने दक्षिणे भारतं क्षेत्रमप्यवन्ति ।
जिनेन्द्रधर्मामृत वृष्टिसेकैरजस्रमाप्लावितभव्यसस्यम् ॥७
तत्र स्वकान्त्या विजितान्यदेशो देशोऽस्ति पूर्वोपपदेन युक्तः ।
त्रिविष्टपोऽपि स्पृहयत्यमुत्र प्रसूतये स्वर्गकृतावतारः ॥८
रत्नाकरैर्यः समतीतसंख्यै रक्षङ्कुतो हस्तिवनैश्च रम्यैः ।
अकृष्टपच्यान्यनवग्रहाणि क्षेत्राणि तस्यानि सदा बहन्ति ॥९
पुन्नागुवाटीनिचितोपकण्ठाः कुल्याजलैः पूरितशालिवप्राः ।
ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगद्रुमान्वितोद्यानवनैश्च रम्याः ॥१०
अध्यासिता गोधनधूतिमद्भिः कुटुम्बिभिः कुम्भसहस्रधान्यैः ।
ग्रामाः समग्राः निगमाश्च यत्र स्वस्वाधचिन्तामणयो विभान्ति ॥११
अलोलधूताम्बुजातकल्हाराणां तुलाघटीयन्त्रविकीर्णधूलाः ।
वहन्ति यत्रामृतसारसाम्यं नीलोत्पलैर्वासितमम्बु नद्यः ॥१२

उद्यत हुआ हूँ सो ठीक ही है क्योंकि फल की इच्छा रखने वाले मनुष्यों को पापकारक कार्यों की इच्छा नहीं होती है ॥५॥ रसिकत्व वृत्ति से (पक्ष में रसिया स्वभाव से) मूढ हुआ कवि और वेश्याओं में जिसका मन लग रहा है ऐसा पुरुष, न तो अर्थापचय—अनुकूल अर्थ की हानि (पक्ष में धन हानि) की अपेक्षा करता है, न कष्ट की अपेक्षा करता है, न वृत्तभङ्ग-छन्दोभङ्ग (पक्ष में चरित्र भङ्ग) का ध्यान रखता है और न पृथिवी में अपशब्द—रस के प्रतिकूल शब्दों (पक्ष में कुवाच्य शब्दों) की परवाह करता है ॥६॥

तदनन्तर जम्बूवृक्ष के सुन्दर चिह्न से युक्त जम्बूद्वीप की दक्षिण दिशा में भी भारत नाम का वह क्षेत्र (खेत) है जिसमें जिनेन्द्र भगवान् के धर्मामृत की सिंचाई से निरन्तर भव्य जीवरूपी धान्य लहलहाती रहती है ॥७॥ उस भरत क्षेत्र में अपनी कान्ति से अन्य देशों को जीतने वाला एक पूर्वदेश है जहाँ जन्म लेने के लिये स्वर्ग के देव भी इच्छा करते रहते हैं ॥८॥ जो देश असंख्यात रत्नों की खानों, सुन्दर हस्तिवनों और सदा बिना जोते ही सरलता से पकनेवाली तथा वर्षा के प्रतिबन्ध से रहित धान्यों को धारण करने वाले खेतों से सुशोभित रहता है ॥९॥ जिनके समीपवर्ती प्रदेश पाँड़ा और ईखों के वनों से व्याप्त हैं, जिनके धान्य के खेत नहरों के जल से परिपूर्ण हैं, जो पान की लताओं से लिपटे हुए सुपारी के वृक्षों से सहित बाग बगीचों से मनोहर है, जहाँ, गोधनरूप विभूति से युक्त तथा हजारों घड़ों में धान्य का संग्रह करने वाले गृहस्थ निवास करते हैं और और जो अपने स्वामियों के लिये चिन्तामणि के समान हैं—उनकी गोधनोपभोग सम्बन्धी समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने वाले हैं ऐसे समस्त गाँव और नगर जिस देश में सुशोभित हो रहे हैं ॥१०-११॥ पानी के ऊपर चढ़ाने में उद्यत काछियों की घटीयन्त्रों से जिनके किनारे व्याप्त हैं ऐसी नदियाँ जिस देश में अमृतसार के समान-मधुर तथा नीलकमलों से सुवासित जल को धारण करती हैं

---

१. रक्षङ्कुतो-इत्यपि पाठः ।

सरोजिनीनीलितरत्नपत्रैर्नीरैरिवाप्तान्तरः कृपयान्वितानः ।
आह्वयते पानुनिवारणाय यत्रोन्मुखान्पान्थजनान्सरांसि ॥११
तत्रास्ति पुण्यात्मजनाधिवासा पुरी सुरानां नगरीव रम्या ।
श्वेतातपत्राभिधनामधेया श्वेतातपत्रस्य सदानिवासैः ॥१४
अभ्रंलिहोत्तुंगमणीकरविस्फारप्रभापल्लवितेव यस्याः ।
कैः सङ्गतोऽपि वप्राः प्रकारमारोहति नैव भानुः ॥१५
आशाति वातान्दोलैर्नवनीला व्याप्ताम्बरा कदलपत्रनीला ।
यदन्तुङ्गानस्य तरङ्गमाला किः संभ्रमिका खातिरस्य रेजे ॥१६
विराजिता द्वारकवाटविघ्नितिर्यग्जनाघट्टितलोकलक्षैः ।
या गोपुरैरभ्रिलकूटकोटिसंलग्नकीपूतिविलग्नभृङ्गैः ॥१७
याधिष्ठिता कोटिसहस्ररत्नैः श्रुतान्वितैः श्रावकधर्मनिष्ठैः ।
विमुक्तमायैरमदैरुदारैः स्वदारसंतोषपरैर्वणिग्भिः ॥१८
पूजार्हितानर्घ्यविचित्ररत्नपूगप्रभाव्याप्तविमग्नदेहा ।
इन्द्रायुधैः कल्पितपट्टसूत्रेव यत्राङ्गणे जनता विभाति ॥१९

॥१२॥ जिस देश के तालाबों में कमल फूल रहे हैं और हंस मधुर शब्द करते हैं उनसे ऐसा जान पड़ता है मानों तालाबों के द्वारा अपने खिले हुए कमलरूपी नेत्रों से दयापूर्वक देखा गया, मार्गसे खिन्न एवं प्यास से पीड़ित पथिकों का समूह पानी पीने के लिये ही बुलाया जा रहा हो ॥१३॥

उस पूर्व देश में पुण्यात्मा जनों से अधिष्ठित तथा देवों की नगरी के समान मनोहर श्वेतपत्रा नाम की नगरी है। वह नगरी सदा श्वेत छत्रों का निवास होने से सार्थक नाम वाली है ॥१४॥ सूर्य यद्यपि हजार करों—किरणों (पक्ष में हाथों) से सहित है तो भी गगनचुम्बी शिखरों के बीच लगे हुए नीलमणियों की किरणरूपी राहु के आक्रमण की शङ्का से ही मानों उस नगरी के कोट पर नहीं चढ़ता है ॥१५॥ वायु के आघात से चंचल, आकाश को व्याप्त करने वाली तथा केल के पत्तों के समान नीलवर्ण वाली जिसकी परिखा की तरङ्गावली चलती-फिरती पर्वतश्रेणि के समान सुशोभित होती है ॥१६॥ भीड़ की अधिकता के कारण जिसके द्वारों में प्रवेश करने और बाहर निकलने में लाखों लोग क्लेश को प्राप्त होते हैं तथा जिनकी ऊँची शिखरों पर लगे हुए सफेद मेघों के खण्ड, उत्सव के समय फहरायी हुई ध्वजाओं के समान जान पड़ते हैं ऐसे गोपुरों से जो नगरी सुशोभित है ॥१७॥ जो नगरी करोड़ों हजार रत्नों के स्वामी, शास्त्र ज्ञान से सहित, श्रावकधर्म के प्रतिपालक, मायारहित, मदरहित, उदार तथा स्वदार संतोषी वैश्यों से सहित है ॥१८॥ पूजा के लिए धारण किये हुए अमूल्य नाना रत्नसमूह की कान्ति में जिसके शरीर निमग्न हो रहे हैं ऐसी जनता, जिस नगरी के बाजार में ऐसी सुशोभित होती है मानों वह इन्द्रधनुषों से निर्मित वस्त्रों

१ निवासा म० ।

२. क्षणमिव रत्ननगरी क्षपति प्रतिभा सदाऽम्बरीकलनविधीविधिरुद्यमार्कः ।
राहुभयेव विवस्वत्करैः सङ्गतोऽपि न हि लङ्घयति स्व धामम् ॥१३ जीवन्धरचम्पूकाव्ये १ ।

३. वातान्दोलैः म० ।

४. इन्द्रायुधैः पट्टसूत्र म० ।

धोरणीतोरणकर्णपूरा कुडचलक्ष्मीकुलकण्ठभाराः ।
कूटान्तरालस्थितकम्बुजालकलापकान्तिर्जिनवेश्मशोभा ॥२०
आलक्ष्यते विस्तृतबर्हकेशी विलोलहेमाम्बुजबाहुयष्टिः ।
सभासकाशीकरकुम्भपीवरस्तनाङ्किता चारुसरोजनेत्रा ॥२१
अलङ्कृतद्वारसुखी समस्तदिग्व्याप्तिसत्काम्बुजिनीविलासा ।
विभात्युदाराम्बुजिनीसनेत्रा जिनालयश्रीः प्रतनोति यस्याम् ॥२२
[विशेषकम्]

यस्यौकसां कुट्टिमेषु विलम्बमानानिलतस्ततो नीलमहामयूखान् ।
प्रहीतुमायान्ति मुहुर्मयूर्यः कृष्णोरगास्वादनलोलचित्ताः ॥२३
विविक्तभूस्फाटिकरत्नभूमौ संक्रान्तनारीवदनानि यत्र ।
अम्भेति भृङ्गैः कमलानिशङ्की भ्रान्तात्मनो नास्त्यवधा विवेकः ॥२४

से ही समावृत हो ॥१९॥ जिस नगरी में जिनमन्दिरों की शोभा मिथ्यादृष्टि जीवों को भी दर्शन करने की इच्छा उत्पन्न करती रहती है। क्योंकि वहाँ की वह जिनमन्दिरों की शोभा सुन्दर स्त्री के समान जान पड़ती है क्योंकि जिस प्रकार सुन्दर स्त्री नीलकमलों के कर्णपूर—कर्णाभरणों से सुशोभित होती है उसी प्रकार जिनमन्दिरों की शोभा भी कबूतररूपी नीलकमलों के कर्णाभरणों से सुशोभित है। जिस प्रकार स्त्री नीलवर्ण के वस्त्रों से सुशोभित होती है उसी प्रकार वह जिनमन्दिरों की शोभा भी दीवालों में संलग्न नीलमणियों की किरणावलीरूपी नील वस्त्रों से सुशोभित है। जिस प्रकार स्त्री श्वेतरङ्ग के उत्तरीय वस्त्र से सुशोभित होती है उसी प्रकार जिनमंदिरों की शोभा भी शिखरों के बीच-बीच में छाये हुए श्वेत रङ्ग की मेघमालारूप उत्तरीय वस्त्र से सुशोभित है। जिस प्रकार स्त्री सुन्दर केशों से सहित होती है उसी प्रकार जिनमन्दिरों की शोभा भी ऊपर चढ़े हुए मयूरसमूह के पिच्छरूपी सुन्दर केशों से सहित है। जिस प्रकार स्त्री उत्तम भुजाओं से सहित होती है उसी प्रकार जिनमन्दिरों की शोभा भी चंचल सुवर्णकमलों की मालारूपी भुजाओं से सहित है। जिस प्रकार स्त्री स्थूल स्तनों से सुशोभित होती है उसी प्रकार जिनमंदिरों की शोभा भी समस्त सुवर्णकलशरूपी स्थूल स्तनों से सुशोभित है। जिस प्रकार स्त्री नेत्रों से युक्त होती है उसी प्रकार जिनमन्दिरों की शोभा भी सुन्दर झरोखेरूपी नेत्रों से युक्त है। जिस प्रकार स्त्री मुख से सहित होती है उसी प्रकार जिनमन्दिरों की शोभा भी अलंकृत द्वाररूपी मुखों से सहित है और जिस प्रकार स्त्री कमलिनियों के समूह को धारण करती है उसी प्रकार जिनमन्दिरों की शोभा भी सब ओर दिशारूपी कमलिनियों के समूह को धारण करती है अर्थात् चारों ओर विस्तृत मैदानों से सुशोभित है ॥२०-२२॥ जिस नगरी के महलों की दीवालों पर जहाँ-तहाँ संलग्न नीलमणियों की बड़ी-बड़ी किरणों को ग्रहण करने के लिए मयूरियाँ बार-बार आती रहती हैं क्योंकि वे उन किरणों को काले सर्प समझ कर खाने के लिए उत्सुक हो उठती हैं ॥२३॥ जिस नगरी में अत्यन्त निर्मल स्फटिक मणि की भूमि में प्रतिबिम्बित स्त्रियों के मुखों को कमल समझकर

---

१. अंशेषितेन्दीवर ब० ।

२. द्वारसुखातिकान्तसम्भाविता ब० ।

[illegible]
प्रारम्भिताः प्रथमपुष्पफलानि तत्रत्यैर्नूनं न दूर्वमपि बालमृगाः खादन्ति ॥२५
[illegible]
प्रत्यायते किं कुपितेति नवया विनेय कान्तानुनितो हि मूढः ॥२६
[illegible]
नगोन्मुखा दृष्टपरस्परः त्रिलोका इति यत्र पश्यति पौरलोकः ॥२७
यस्यां गवाक्षान्तरसंप्रवेशात्संक्रान्तसान्ध्यातपरूपरम्याः ।
विराजते कुङ्कुमपङ्किलेव निवेशभाग्यन्तररत्नभूमिः ॥२८
दृष्ट्वा स्फुटं स्फाटिकभित्तिभागे पुरःस्थितस्वप्रतिबिम्बकानि ।
विघट्टयद्भ्रूकुटिकोटिविद्धाः क्षुभ्यन्ति यत्र प्रमदाः प्रियेभ्यः ॥२९
प्रासादशृङ्गाणि समेत्य मेघा यस्यां मयूरान्मदयन्ति काले ।
तच्चित्ररत्नांशुकलापमालासंवर्धितानन्दलतानलाभाः ॥३०
विभान्ति यस्यां विपणिका जनानभिसंततः संचरतामजस्रम् ।
अन्योन्यसंघट्टविघटितोर्जाहारमुक्ताफलैस्तारकितेव वेदाः ॥३१

भौंरा उनके सन्मुख आता रहता है सो ठीक ही है। क्योंकि भ्रान्त जीवों को विवेक नहीं होता ॥२४॥ जिस नगरी में महलों की देहलियों में खचित हरे मणियों की किरणरूपी अंकुरों से पहले छकाए हुए बालमृग उन्हीं किरणों की शङ्का से आगे पड़ी हुई दूर्वा को भी नहीं खाते हैं ॥२५॥ जिस नगरी में सुशोभित कुण्डलों में खचित पद्मराग मणियों की कान्ति से जिसका मुखचन्द्र काल-काल हो रहा है ऐसी स्त्री को उसका पति 'क्या यह कुपित हो गई है' यह समझ कर प्रसन्न करता रहता है सो ठीक ही है क्योंकि कामी मनुष्य मूढ़ होता ही है ॥२६॥ जहाँ आकाश के समान स्वच्छ स्फटिक मणि के महलों की ऊँची शिखरों पर स्थित सुन्दर स्त्रियों को 'क्या ये आकाश में स्थित अप्सराएँ हैं' यह समझ कर नगरवासी लोग उत्सवपूर्वक देखते हैं ॥२७॥ जहाँ झरोखों के भीतर प्रवेश करने से प्रातःकाल की सुनहली धूप प्रतिबिम्बित हो रही है ऐसे मकानों की भीतरी रत्नमय भूमि केशर से चर्चित हुई के समान सुशोभित होती है ॥२८॥ जहाँ स्फटिक मणि की दीवालों में सामने स्थित अपने प्रतिबिम्बों को स्पष्ट रूप से देखकर जिनके चंचलचित्त सपत्नियों की आशङ्का से व्याकुल हो रहे हैं ऐसी स्त्रियाँ पतियों के प्रति क्रोध प्रकट करती रहती हैं ॥२९॥ महलों की शिखरों पर लगे हुए विविध मणियों की किरणावली के द्वारा जिनमें इन्द्रधनुष के खण्ड संलग्न मालूम होते हैं ऐसे मेघ, महलों की शिखरों पर आकर वहाँ असमय में ही मयूरों को मत्त करते रहते हैं ॥३०॥ जिस नगरी में जहाँ-तहाँ विचरने वाले मनुष्यों के परस्पर के संघट्ट से

---

१. यस्यामनन्यर्नृपमन्दिरेषु नानारत्नैर्नूनमना बहु खचिताः आसन् ।
वृन्दान्यपि कोमलतृणानि न संचरन्ति स्वीमन्यहारलतयेति मत्वा तानि ॥२७॥ चीरान्वरत्नाभ्य १
२. अर्पिता विभाति नगरी गोरोचनी पुरैः कृता सुवर्णाम्बुजाम्बुभम् ।
कुण्डलिनीमुखकमलविभासितं प्रतिनिशेव कोपिनि वनिते यत्र ॥२५॥ चीरान्वरत्नाभ्य ६
३. स्फुरत्प्रभाभाजुषरत्निकाभीतिभिः सदाभिर्नवतोरणस्थितैः ।
तापच्छिदः सर्वदा यत्र वधोमता देवा इव व्यराजन् ॥२१॥ विद्याधराभ्य वृत्ती ३

सुशन्ति रात्रावपि यत्र वाप्यः स्फुरत्तटीरत्ननरीविभाभिः ।
विनष्टियं लोकवियोगशोकापनिनीषयेव ॥३२
चन्द्रोदये चन्द्रमणिप्रणद्धसौधाग्रभूमिभ्रमणिर्गतानि ।
आदाय सीथानि घनीकृतानृतं यत्रार्द्धतां यान्ति घनाः प्रयान्ति ॥३३
यस्यां निशीथे गृहदीर्घिकाणां भ्राम्यन्ति भृङ्गाः कुमुदोदरेषु ।
चन्द्रांशुनिर्जर्जरितान्धकारलेशा इवाम्बोदितदिङ्मुखेषु ॥३४
यस्यां गवाक्षान्तरसंप्रविष्टां ज्योत्स्नां सुधाफेनसितां प्रदोषे ।
दुग्धेच्छया स्वादयति प्रहृष्टो मार्जारपोतो मणिकुट्टिमेषु ॥३५
सर्वर्तवोऽकृत्रिमसर्वभूषाः सदाधिवसन्ति वनानि यस्याम् ।
लतागृहान्तर्गतदम्पतीनां विलाससौन्दर्यविवृक्षयेव ॥३६
अवेश्वरो विश्वजनीनवृत्तिस्तस्याः पुरोऽभूत्पुरुहूतभूतिः ।
प्राग्गन्धिशब्दान्वितवर्धनाख्यो विख्यातवंशो रिपुवंशदावः ॥३७
प्रतापभानोरुदयाद्रिरिन्दुः कलाकलापस्य समग्रकान्तिः ।
पुण्योद्गमो यो विनयद्रुमस्य जातः स्थितेरम्बुधिरम्बुजासः ॥३८
यस्मिन्महात्मन्यमलस्वभावे नरेन्द्रविद्याः सकलाः प्रतिष्ठाम् ।
अवाप्य रेजुर्घनरोधमुक्तेर्दिनव्यपाये नभसीव तारा: ॥३९

टूट कर बिखरे हुए मोतियों से व्याप्त गलियाँ निरन्तर सुशोभित होती रहती हैं ॥३१॥ जिस नगरी में वापिकाएँ रात्रि के समय भी देदीप्यमान तटों में संलग्न रत्नों की किरणावली के द्वारा चक्रवियों के वियोगरूपी शोक को दूर करने की इच्छा से ही मानों दिन की लक्ष्मी को प्रकट करती रहती हैं ॥३२॥ जहाँ चन्द्रोदय होने पर चन्द्रकान्त मणियों से खचित महलों के अग्रभाग में भ्रम से निकले हुए जल को लेकर जिनके शरीर अत्यन्त सघन हो रहे हैं ऐसे घन-मेघ सार्थक नाम को प्राप्त होते हैं अर्थात् सचमुच वे सघन होते हैं ॥३३॥ जहाँ अर्द्ध रात्रिके समय गृहवापिकाओं के दिग्दिगंत को सुगन्धित करने वाले कुमुदों के मध्य में भ्रमर इस प्रकार घूमते हैं मानों चन्द्रमा की किरणों से जर्जर अवस्था को प्राप्त हुए अन्धकार के खण्ड ही हों ॥३४॥ जहाँ सायंकाल के समय झरोखों के बीच से प्रविष्ट होकर मणिमय फर्शों में बिखरी हुई अमृतफेन के समान सफेद चाँदनी को दूध समझ कर बिलाव का बच्चा हर्षित होता हुआ चाटता रहता है ॥३५॥ जहाँ समस्त वृक्षों को अलंकृत करनेवाली सब ऋतुएँ वनों में सदा निवास करती हैं उससे ऐसा जान पड़ता है कि वे लतागृहों के भीतर स्थित दम्पतियों के विलासपूर्ण सौन्दर्य को देखने की इच्छा से ही मानों सदा निवास करती हैं ॥३६॥

तदनन्तर जिसकी चेष्टा समस्त जीवों का हित करने वाली थी, जो इन्द्र के समान विभूति का धारक था, जिसका वंश अत्यन्त प्रसिद्ध था तथा जो शत्रुओं के वंशरूपी बाँस के वृक्षों को जलाने के लिये दावानल के समान था ऐसा नरेन्द्रदत्त नाम का राजा उस नगरी का स्वामी था ॥३७॥ कमलों के समान नेत्रों को धारण करने वाला यह राजा प्रतापरूपी सूर्य के लिये उदयाचल था, कलाओं के समूह के लिये सम्पूर्ण कान्ति से युक्त चन्द्रमा था, विनयरूपी वृक्ष के लिये वसन्त था

---

१. वार्धः ब० ।

[illegible] ॥३८॥
[illegible] ॥३९॥
[illegible] ॥४०॥
[illegible] ॥४१॥
[illegible] ॥४२॥
[illegible] ॥४३॥
[illegible] ॥४४॥
[illegible] ॥४५॥

और मर्यादा के लिये समुद्र था ॥३८॥ जिस प्रकार मेघ का आवरण दूर होने पर शरद् ऋतु के संध्या समय आकाश में प्रतिष्ठा को प्राप्त कर ताराएं सुशोभित होती हैं उसी प्रकार समस्त राज-विद्याएँ निर्मल स्वभाव वाले उस उदार राजा में प्रतिष्ठा को प्राप्त कर सुशोभित हो रही थीं ॥३९॥ जिस प्रकार जल से आर्द्र अन्तरात्मा वाला समुद्र बढ़वानल की बढ़ती हुई ज्वालाओं के समूह को धारण करता है उसी प्रकार दया से आर्द्र अन्तरात्मा वाला वह राजा शरण में आये हुए स्वाभाविक शत्रुओं को भी धारण करता था अर्थात् शरणागत शत्रुओं की भी रक्षा करता था ॥४०॥ जो राजा प्रजाओं की विभूति के लिये अनेक फलों को उत्पन्न करने वाले नयरूपी कल्पवृक्ष को बुद्धिरूपी जल के सेक से वृद्धिंगत करता रहता है सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुषों की चेष्टा परोपकार के लिये ही होती है। भावार्थ—वह अपनी बुद्धि से विचार कर राजनीति का इस प्रकार प्रयोग करता था जिस प्रकार प्रजा के वैभव की वृद्धि होती थी ॥४१॥ जिसने समस्त पृथिवी तल को अलंकृत कर रखा था तथा जो स्वयं खिले हुए कुन्द के समान कान्ति से युक्त था ऐसे यश के द्वारा उस राजा ने शत्रु स्त्रियों के मुखरूपी चन्द्रमा को मलिन कर दिया था यह आश्चर्य की बात थी ॥४२॥

तदनन्तर उस राजा नन्दिवर्द्धन की वीरवती नाम की वल्लभा थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानों कान्ति की अधिष्ठात्री देवी हो, अथवा सौन्दर्यरूपी महासागर की लहर हो, अथवा कामदेव की मूर्तिमन्त विजयलक्ष्मी ही हो ॥४३॥ जिस प्रकार नूतन मेघ को बिजलीरूपी लता सुशोभित करती है, जिस प्रकार नवीन मञ्जरी आम्रवृक्ष को अलंकृत करती है और जिस प्रकार देवीप्यमान प्रभा निर्मल पद्मरागमणि को विभूषित करती है उसी प्रकार वह वीरवनिता राजा नन्दिवर्धन को विभूषित करती थी ॥४४॥ जिनमें समस्त गुणों का निवास है तथा जो परस्पर एक-दूसरे के योग्य

---

१. [illegible] ॥४३॥
[illegible] ॥४४॥
[illegible] ॥४५॥

२. [illegible]

प्रबुद्धपद्माकरसेव्यपादं जगत्प्रदीपं विततप्रतापम् ।
उत्पादयामास सुतं यथार्कं प्राच्यां प्रसन्नानुगतं प्रभातः ॥४६
तज्जन्मकाले विमलं नभोऽभूद्दिशः सभं भूरपि सानुरागा ।
स्वयं विसृस्रासि च बन्धनानि मन्दं ववौ वन्धवहः सुखानिः ॥४७
जिनेन्द्रपूजां महतीं विधाय चक्रे नरेन्द्रो दशमेऽह्नि पूतोः ।
सर्वप्रजामानसनन्दनत्वात्तन्नन्दनं नन्दन इत्यभिख्याम् ॥४८
बाल्येऽपि योऽभ्यस्तसमस्तविद्यो व्याघातरेखाङ्कितसत्प्रकोष्ठः ।
वैनेयवृद्धीनां रिपुपुरन्ध्रीणां प्रदातुमाचार्यपदं प्रपेदे ॥४९

[वसन्ततिलकम्]

पद्मावधूनयनकटाक्षशरैकलक्ष्यं
कामस्य जीवनरसायनमग्र्यमूर्तेः ।
उद्दामरागरस सागरसाररत्नं
लीलानिधिं तमथ यौवनमाससाद ॥५०

हैं ऐसे उन दोनों दम्पतियों की विधिपूर्वक रचना, कर जान पड़ता है, विधाता ने भी चिरकाल के अनन्तर किसी तरह अपनी सृष्टि के उस प्रथम फल को देखा था ॥४५॥

राजा नन्दिवर्द्धन ने उस रानी में ठीक उसी तरह पुत्र उत्पन्न किया जिस तरह की प्रभात-काल पूर्व दिशा में सूर्य को उत्पन्न करता है। राजा नन्दिवर्द्धन का वह पुत्र सूर्य के समान था भी क्योंकि जिसप्रकार सूर्य प्रबुद्धपद्माकरसेव्यपाद—विकसित कमलसमूह से सेव्यमान किरणों से युक्त होता है उसी प्रकार वह पुत्र भी प्रबुद्धपद्माकरसेव्यपाद—जागृत लक्ष्मी के हाथों से सेव्यमान चरणों से युक्त था। जिस प्रकार सूर्य जगत्प्रदीप—संसार को प्रकाशित करने वाला है उसी प्रकार वह पुत्र भी जगत्प्रदीप—संसार को सुशोभित करने वाला था और जिस प्रकार सूर्य प्रतापानुगत—प्रकृष्ट ताप से सहित होता है उसी प्रकार वह पुत्र भी प्रतापानुगत—तेज से सहित था ॥४६॥ उसके जन्मकाल में आकाश निर्मल हो गया था, दिशाओं के साथ-साथ पृथिवी भी सानुराग—लालिमा और प्रीति से सहित हो गई थी, बन्धन में बद्ध जीवों के बन्धन स्वयं खुल गये थे और सुखस्पर्शी वायु धीरे-धीरे बहने लगी थी ॥४७॥ राजा ने दसवें दिन जिनेन्द्रभगवान् की बहुत बड़ी पूजा कर उस पुत्र का नन्दन नाम रक्खा। उसका यह नन्दन नाम समस्त प्रजा के मन को आनन्द-दायक होने से सार्थक था ॥४८॥ जिसने समस्त विद्याओं का अभ्यास कर लिया था तथा जिसका सुन्दर प्रकोष्ठ प्रत्यञ्चा के आघात की रेखा से चिह्नित था ऐसे उस नन्दन ने बाल्य अवस्था में ही शत्रुस्त्रियों को वैधव्य दीक्षा देने के लिये आचार्यपद को प्राप्त कर लिया था। तात्पर्य यह है कि वह छोटी ही अवस्था में शास्त्र और शस्त्र विद्या में निपुण हो गया था ॥४९॥

तदनन्तर जो देवाङ्गनाओं के कटाक्षरूपी बाणों का प्रमुख लक्ष्य है, शरीररहित होने पर भी कामदेव को जीवित करने वाली रसायन है तथा बहुत भारी रागरस रूपसागर का श्रेष्ठ रत्न है।

---

१. जगत्प्रदीपं ब०।

उद्भिन्नयौवनमनोभवभाण्डरम्य-
मन्यैरनुद्भिन्नतिभिर्विजितं न यावत् ।
एकोऽप्यनेकविधचेष्टितमन्तरङ्ग-
मन्तर्निगूढं रिपुवर्गं स जिगाय वीरः ॥५१
अन्येद्युरात्तसमवर्द्धितराजपुत्रै-
रन्यैश्च बन्धुजनमन्त्रिसुतैः सहितो नवाम्रः ।
स क्रीडितुं पितुरवाप्य वरानुज्ञां
क्रीडावनं कृतकपूर्वरतिप्रतानम् ॥५२
अभ्यर्चितेऽलिविरुतैर्मकरन्दगन्धि-
श्रेष्ठोल्लसिते कुसुमसौरभवासिताशे ।
तस्मिन्वने सरसचापलते विधुत्य
संवृत्तविग्रहगणेन च तस्य तेवाम् ॥५३
तस्मिन्नशोकतरवारतले विधुन्वा-
नासीनमुज्झितमलस्फटिकावनम्रम् ।
पुञ्जीकृतात्मवपुषोऽथ मुनिं जिताक्ष-
मैक्षिष्ट सिद्धचरितं धृततागरात्मम् ॥५४
प्रागेव तं प्रमुदितः प्रणतोत्तमाङ्ग-
व्याजिह्मितत्रिवलितः प्रणयाय दूरात् ।

ऐसा यौवन, लीला के भाण्डारस्वरूप उस नवीन को प्राप्त हुआ ॥ ५० ॥ प्रकट होते हुए नवीन यौवन से जिसे अवसर प्राप्त हुआ है, अन्य राजा लोग जिसे कभी नहीं जीत सके हैं तथा अनेक प्रकार की चेष्टाओं से युक्त होने पर भी जो बाह्य में दिखाई नहीं देता ऐसे अन्तरङ्ग में स्थित शत्रुसैन्य को उस वीर वीर ने अकेला होने पर भी जीत लिया था ॥ ५१ ॥ जो अपने साथ वृद्धि को प्राप्त हुए राजपुत्रों तथा मन्त्री आदि मूलवर्ग के अन्य पुत्रों से सहित था ऐसा वह नन्दन, पिता की उत्तम आज्ञा प्राप्त कर किसी दिन क्रीड़ा करने के लिये कृत्रिम पर्वतों से सुशोभित क्रीड़ावन में गया ॥ ५२ ॥ जो भ्रमरों की गुञ्जार से शब्दकृत हो रहा था, मकरन्दसौरभ से हिल रहा था, फूलों की सुगन्धि से जिसका कोना-कोना सुवासित हो रहा था तथा जिसमें स्वादिष्ट और सुन्दर फल लगे हुए थे ऐसे उस वन में विहार कर नवल तथा उसके साथी अन्य मित्रों की इन्द्रियों का समूह संतुष्ट हो गया था ॥ ५३ ॥ क्षुद्र जीवों से रहित उस वन में उसने अशोक वृक्ष के नीचे अपने एकत्रित यश के समान सुशोभित स्फटिक के ऊँचे तथा सुन्दर शिलापट्ट पर विराजमान, उत्तम चारित्र के धारक धृतसागर नाम वाले जितेन्द्रिय मुनिराज को देखा ॥ ५४ ॥ देखते ही सर्वप्रथम उसने हर्ष-विभोर होकर दूर से उन मुनिराज को प्रणाम किया । प्रणाम करते समय यह नम्रीभूत मस्तक से

---

१. वीरः ब० । २. चील ब० । ३. प्रेङ्खोलिते ब० ।
४. तस्याशोकमसीकलत्वकेतन पाठान्तरम् । एतच्चरणानन्तरमुपलभ्यते पुस्तकान्तरे ॥५८॥
अथतस्तस्य विस्तीर्णं स्फटिकोपलशिखरे । तरुः प्रसूनागमपुण्यपुञ्ज इव विस्तरम् ॥५९॥
—वर्धमानपुराण सर्ग ।

पद्माकरमेत्य निजहस्तसरोरुहाभ्या-
मभ्यर्च्य तस्य चरणावभवत्कृतार्थः ॥५५
संविश्य तं मुनिपतिं मुकुलीकृताग्र-
हस्ताम्बुजो विदितसंसृतिफल्गुभावः ।
उत्कर्षयन् भीमभवसागरमीक्ष्य जीवः
सिद्धिं कथं व्रजति तत्कथयेत्यपृच्छत् ॥५६
पृष्टः स तेन मुनिरेवमुवाच वाचं
यावन्ममेयमिति चेष वृथा प्रयासः ।
तावत्कृतान्तमुखमस्य हि तद्व्यपायाद्-
दात्मात्मभावमधिगम्य स याति सिद्धिम् ॥५७
तस्माद्विनिर्गतमसौ मुनिनूतनार्क-
ज्योतिः परं सकलवस्तुगतावभासम् ।
मिथ्यान्धकारपरिभेदि समेत्य तत्त्वं
पद्माकरः स्वसमये सहसा व्यबुद्ध ॥५८
आरोपितव्रतगणाभरणाभिरामो
भक्त्या मुनिं चिरमुपास्य नरेन्द्रपुत्रः ।
उत्थाय सादरमुपेत्य कृतप्रणामो
गेहं ययौ मुनिगुणान्गणयन्गुणज्ञः ॥५९

पृथिवीतल को आलिङ्गित कर रहा था। तदनन्तर समीप में जाकर और अपने करकमलों से उनके चरणों की पूजा कर वह कृतकृत्य हो गया ॥ ५५ ॥ तदनन्तर जिसने अपने करकमलों को कमल की बोंड़ी के आकार कर रखा है तथा जो संसार की असारता को जानता है ऐसे नन्दन ने उन मुनिराज के समीप बैठकर पूछा कि हे स्वामिन्! यह जीव संसाररूपी भयंकर सागर को पार कर मोक्ष को किस प्रकार प्राप्त होता है? यह कहिये ॥ ५६ ॥ इस प्रकार नन्दन के द्वारा पूछे हुए मुनिराज ने निम्नाङ्कित वचन कहे। उन्होंने कहा कि 'यह मेरा है' जब तक यह व्यर्थ का प्रयास होता रहता है तब तक इस जीव को यम के मुख में प्रवेश करना पड़ता है और जब आत्मा में आत्मबुद्धि कर उस प्रयास से यह दूर हटता है तब मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥ वह नन्दनरूपी कमलवन, उन मुनिराजरूपी नवोदित सूर्य से प्रकट, समस्त वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करने वाली, उत्कृष्ट तथा मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को खण्ड-खण्ड करने वाली वास्तविक ज्योति को प्राप्त कर स्वधर्म के विषय में सहसा प्रतिबोध को प्राप्त हो गया ॥ भावार्थ—जिस प्रकार प्रातःकाल के नवोदित सूर्य की ज्योति को प्राप्त कर पद्माकर—कमल वन खिल उठता है उसी प्रकार उन मुनिराज से उपदेश प्राप्त कर वह पद्माकर—लक्ष्मी की खानस्वरूप राजपुत्र खिल उठा—हर्षविभोर हो उठा ॥ ५८ ॥ तदनन्तर धारण किये हुए व्रतसमूहरूपी आभूषणों से सुन्दर उस राजपुत्र ने चिरकाल तक भक्तिपूर्वक उन मुनिराज की उपासना की, उठ कर बड़े आदर से समीप जाकर उन्हें प्रणाम किया। पश्चात् मुनिराज के गुणों की गणना करता हुआ वह

---

१. ममाह ब० । २. विबुद्धः ब० ।

लब्धे पुरौ सुमनसि वसुवृष्टिहेतुर्
सामन्तमन्त्रिनटसार्थपवेन सार्द्धम् ।
दत्त्वाभिषेकमतुलं परया विभूत्या
तस्मै ददौ नृपवराजपदं नरेन्द्रः ॥६०
आगर्भवासविधसात्मभूति स्वसेवा-
सेवातरासनुसकार्पदि[1]कांश्च मोक्तम् ।
आत्मातिरिक्तविभवान्करीत्युमारः
कल्पो हि कल्पतरुरेव सतां प्रसूतः ॥६१
ऐकोऽप्यनेकविधरत्नकरान्गृहीत्वा
राजात्मजः स विषयान्विषतिपालवस्तान् ।
रेजे भवभ्यसनसन्ततिबीजहेतु-
नन्यानसाधुविषयानविषयान्विहाय ॥६२
विश्राणितं भुवि न केनचिदर्थजातं
ज्ञायेति वस्तु सकलार्थिजनस्य तेन ।
मन्ये महाद्भुतमिदं यदविद्यमानं
स्वस्याभवत्तदपि तत्तनयेन भर्तुः रिपुभ्यः ॥६३
सौन्दर्ययौवननवोदयराजलक्ष्म्यः
प्राप्यापि निर्मलमतिं भवहेतवोऽपि ।

गुणज्ञ राजपुत्र अपने घर गया ॥ ५९ ॥ तदनन्तर जिस दिन पहले धन की वर्षा की गई थी अर्थात् यथेच्छ दान दिया गया था ऐसे[2] गुरुवार के शुभ दिन और शुभ लग्न में राजा ने सामन्त, मंत्री तथा नगरपाल आदि कर्मचारियों के समूह के साथ उत्कृष्ट वैभवपूर्वक अनुपम अभिषेक कर राजपुत्र-नन्दन के लिये युवराज पद दिया ॥ ६० ॥ युवराज नन्दन ने गर्भवास से लेकर अपनी सेवा में संलग्न राजपुत्रों, वस्त्रव्यवस्थापकों तथा मन्त्री आदि मूल वर्गों को अपने से भी अधिक संपत्तिशाली कर दिया सो ठीक ही है; क्योंकि सत्पुरुषों के विषय में उठाया हुआ कल्पेश कल्पवृक्ष ही है अर्थात् कल्प-वृक्ष के समान वांछित फल को देने वाला है ॥ ६१ ॥ वह राजपुत्र एक होने पर भी, जिससे अनेक प्रकार के रत्न करस्वरूप प्राप्त होते थे ऐसे, राजप्रदत्त विषयों—देशों को ग्रहण कर सुशोभित हो रहा था। साथ ही उसने सांसारिक दुःख सन्तति के कारणभूत तथा दुर्जनों से सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषयों—पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषयों को छोड़ दिया था ॥ ६२ ॥ पृथ्वी पर जो वस्तु जिसके पास नहीं है वह आज तक किसी के द्वारा समस्त याचकजनों को नहीं दी गई परन्तु मैं इसे एक बड़ा आश्चर्य मानता हूँ कि इस युवराज के पास जो भय स्वयं अविद्यमान था वह इसने शत्रुओं के लिये दिया था। भावार्थ—समीप में विद्यमान वस्तु ही याचकों को दी जाती है अविद्यमान नहीं परन्तु इस युवराज ने अपने समीप अविद्यमान भय शत्रुओं को दिया था यह बड़े आश्चर्य की बात है। तात्पर्य यह है कि यह स्वयं निर्भय होने पर भी शत्रुओं को भयभीत करता था ॥६३॥ सुन्दरता, जवानी, नई विभूति और राजलक्ष्मी ये सब यद्यपि भव के कारण हैं तथापि उस निर्मल बुद्धि वाले

---

१. कृष्टि ब० । २. कार्पटिक ब भोक्तम् म० । ३. एकानेकविध ब० ।
४. अयमर्थः पुस्तकेषु ई पूर्वं वै क्रियते ऐसे पुस्तक में ।

क्षेत्रुर्न तं भवयितुं शुभभव्युदारं
शुद्धात्मनां न तु विकारकरं हि किञ्चित् ॥६४
अभ्यर्चयन् जिनगृहान्परया स भक्त्या
शृण्वन् जिनेन्द्रचरितानि महामुनिभ्यः ।
विस्तारयंस्तानि विधिवत्प्रयतिः स धीमां
धर्मानुरागमतयो हि भवन्ति भव्याः ॥६५

[रुचिरा]

ऊरूद्वहान्स परिवृढो महात्मनां न रागतः पितुरपरोधतो ययौ ।
निजश्रिया विजितसुराङ्गनाकृतिं प्रियङ्गुरां जगतिजयैकबन्धुराम् ॥६६

[उपजातिः]

व्रतानि सम्यक्त्वपुरःसराणि पत्युः प्रसादात्समवाप्य सापि ।
धर्मामृतं भूरि पपौ प्रियाणां सदानुकूला हि भवन्ति भार्याः ॥६७

[विद्युल्लेखा]

परा सम्यक्कान्तेर्विनयजलराशेर्विवृद्धिकला
वयस्या लज्जाया जयकदलिका पुण्यवपुषः ।
नताङ्गी तं वश्यं पतिमकृत सा साधुचरिता
न किं वा संवसे भुवि गुणगणानामुपचयः ॥६८

इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचरिते महाकाव्ये नन्दनसंभवो नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

राजपुत्र को पाकर उसे मत्त बनाने में समर्थ नहीं हो सके थे सो ठीक ही है, क्योंकि शुद्धात्माओं को विकार उत्पन्न करने वाली कोई वस्तु नहीं है अथवा कोई भी वस्तु शुद्धात्माओं में विकार उत्पन्न नहीं कर सकती ॥ ६४ ॥ वह उत्कृष्ट भक्ति से जिन मन्दिरों की पूजा करता, महामुनियों से जिनेन्द्र भगवान् के चरित्रों को सुनता और विधिपूर्वक व्रतों का पालन करता हुआ समय को व्यतीत करता था सो ठीक ही है; क्योंकि भव्यजीव धर्म में अनुरक्त बुद्धि होते ही हैं ॥ ६५ ॥ महात्माओं में श्रेष्ठ उस जितेन्द्रिय युवराज ने पिता के आग्रह से प्रियङ्गुरा को विवाहा था, राग से नहीं। वह प्रियङ्गुरा अपनी शोभा से देवाङ्गनाओं की आकृति को जीतने वाली थी तथा कामदेव की अद्वितीय पाश थी ॥ ६६ ॥ वह प्रियङ्गुरा भी पति के प्रसाद से सम्यग्दर्शन सहित व्रतों को प्राप्त कर बहुत भारी धर्मामृत का पान करती थी सो ठीक ही है; क्योंकि स्त्रियाँ सदा पति के अनुरूप होती हैं ॥ ६७ ॥ जो कान्ति की अद्वितीय सम्पत्ति थी, विनयरूपी समुद्र को बढ़ाने के लिये चन्द्रकला थी, लज्जा की सखी थी, कामदेव की विजयपताका थी और उत्तम चारित्र को धारण करने वाली थी ऐसी नताङ्गी प्रियङ्गुरा ने युवराज नन्दन को अपने अधीन किया था सो ठीक ही है; क्योंकि गुणों के समूह का संचय पृथिवी पर क्या नहीं करता है ? ॥ ६८ ॥

इस प्रकार असगकृत श्रीवर्द्धमानचरित महाकाव्य में नन्दन की उत्पत्ति का वर्णन करने वाला प्रथम सर्ग पूर्ण हुआ ॥१॥

---

१. क्षेत्रं ब० । २. ऊरूद्वहान्स परिवृढो म० । ३. सर्गः ब० ।

द्वितीयः सर्गः

अजितनाथ

अथात्मजे विन्यसनैकभाजने धरोद्धरो राज्यधुरं निधाय सः ।
सुतोत्थ निश्चिन्ततया निशायकः स्थितः सुतुष्टो हृतपुत्रकोदितः ॥१
कदाचिदुत्तुङ्गसुवर्णसिंहरे निविष्टवानेत्य तमीक्षते स्म तान् ।
जनश्च लोकः सकलः सराजकः सुखाय केषां न हि दर्शनं प्रभोः ॥२
जैनस्तनिष्कञ्चिकनाकलाञ्छनः कनीनकानर्घ्यमणिप्रभाभरम् ।
अपाय शास्त्रं सुमनोधिरन्वितो महीपतिर्भूसुमनस्कुलैः ॥३
सतां प्रियः काञ्चनभूरुहोऽपि यत्फलप्रदानेऽद्भिरतन्द्रितोऽभवत् ।
जिनाभिधानाक्षरसंहितान्वयप्रमाणकारप्रवणा हि साधवः ॥४
सपोत्तमाङ्गद्युतिवानतोऽपहैरनल्पकाश्मीरजपङ्कजालकैः ।
स विभ्रिये प्राभृतमस्तवन्तिभिः प्रिया न केषां भुवि भूरिदन्तिनः ॥५
करान्गृहीत्वा परचक्रभूभृतामनल्पसामन्तसुधामतान्वयान् ।
अनल्पयत्नेन पुरःसरं विभुः स संजगामे जगतो हि वत्सलाः ॥६

द्वितीय सर्ग

तदनन्तर राजा अरिंदमजिन, समस्तगुणों के अद्वितीय पात्रस्वरूप पुत्र पर राज्य का भार रखकर स्त्री सहित निश्चिन्तता से सन्तुष्ट हुए सो ठीक ही है; क्योंकि उत्तम पुत्र पिता के अनुकूल चेष्टा से युक्त होता ही है ॥ १ ॥ किसी समय ऊँचे सिंहासन पर बैठे हुए राजा अरिंदमजिन को देखकर अन्य राजाओं से सहित समस्त लोग हर्षित हो रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि राजा का दर्शन किनके सुख के लिये नहीं होता ? अर्थात् सभी के सुख के लिये होता है ॥ २ ॥ वह राजा निरन्तर इच्छा से अधिक दानसम्पदा के द्वारा याचकों के मनोरथों को पूर्ण करता रहता था तथा सुमनस्—विद्वानों (पक्ष में फूलों) से सहित रहता था इसलिये चलते-फिरते कल्पवृक्ष की तुलना को प्राप्त था ॥ ३ ॥ सज्जनों के प्रिय उस राजा ने सुवर्णमय शिखरों के अग्रभाग में लगे हुए देदीप्यमान पद्मरागमणियों की किरणों से आकाश के वृक्षों को पल्लवित—लाल-लाल किसलयों से युक्त करने वाले जिनमन्दिर बनवाये थे सो ठीक ही है क्योंकि साधु पुरुष धर्मरूपी धन से सहित होते ही हैं ॥ ४ ॥ जिनके कानों के समीप लटकने वाले चंचर कपोलों के मूलभाग से झरते हुए मद जल के लोभी भ्रमरसमूह से काले-काले हो रहे थे ऐसे उपहार में आये हुए हाथियों से वह बहुत ही प्रसन्न होता था सो ठीक ही है; क्योंकि अधिक दानी—आधिक्य मद से युक्त (पक्ष में अत्यधिक दान करने वाले लोग) पृथ्वी में किन्हें प्रिय नहीं होते ? अर्थात् सभी को प्रिय होते हैं ॥ ५ ॥ वह राजा अपने आप टैक्स लेकर आये हुए शत्रु राजाओं के मुख्यमन्त्रियों से कुशल समाचार पूछता हुआ प्रेम से

---

१. हृतपुत्रकोदितः ब० । हि कदोति संगच्छते ब० ॥ २. अजित० ब० द० प्रकाश १ ।

चतुःपयोराशिपयोधरश्रियं निबध्य रक्षायतरश्मिना धनम् ।
उपस्तुतां सप्तपयस्तलाक्षणैर्दुदोह गां रत्नपयांसि गोपकः ॥७
स पद्मनेत्रां ललितभ्रु सस्मितं प्रियानने सादरमाधरपल्लवे शिवः ।
प्रियानने गोपरराम वीक्षितुं मनोहरे वस्तुनि को न रज्यते ॥८
इति त्रिवर्गं प्रतिमानुपार्जयन् यथायथं प्राग्वसुखैकसाधनम् ।
अनेकसंख्यामनयत्स वत्सरान्विमत्सरः साधुषु नन्दिवर्धनः ॥९
अथैकदा हर्म्यतले सुखस्थिते स्थितः क्षितीशः प्रियया तया युतः ।
नभः पयोधेरिव फेनसञ्चयं विचित्रकूटं ददृशे घनोन्नतम् ॥१०
तदिक्षणं पश्यत एव तत्क्षणादवश्यभं गगने व्यलीयत ।
वपुर्वयोजीवितकल्पसंपदामनित्यतां तस्य निदर्शयद्वपुः ॥११
अभूत्तदाप्रत्य विनाशविभ्रमाद्विरक्तचित्तो निजराजसंसदि ।
क्षणार्द्धरम्या तरला बहुच्छला समस्तवस्तुस्थितिरित्यवेत्य सः ॥१२
अचिन्तयच्चैवमनात्मवस्तुषु प्रसक्तिमाप्येत्युपभोगतृष्णया ।
दुरन्तदुःखे भवबन्धपञ्जरे तयैव जन्तुः सततं नियम्यते ॥१३

वार्तालाप करता था सो ठीक ही है क्योंकि स्वामी स्नेह से युक्त होते ही हैं ॥ ६ ॥ चारों दिशाओं के चार समुद्र जिसके चार स्तनों की शोभा बढ़ा रहे थे तथा जो समीचीन नयरूपी बछड़े के दुलार से द्रवीभूत हो रही थी ऐसी पृथ्वीरूपी गाय को उसने रक्षारूपी लम्बी रस्सी से मजबूत बाँधकर गोपाल की तरह उससे रत्नरूपी दूध को दुहा था ॥ ७ ॥ जिसके नेत्र सधन बिरूनियों से युक्त हैं, जिसकी भौंहें अत्यन्त सुन्दर हैं, जो गर्व से युक्त है तथा जिसका अधरोष्ठरूपी पल्लव मन्द-मन्द मुस्कान से मनोहर है ऐसे प्रिया के मुख को परस्पर देखने के लिये वह कभी विरत नहीं होता था अर्थात् सतृष्ण नेत्रों से सदा प्रिया के मुख को देखता रहता था सो ठीक ही है; क्योंकि मनोहर वस्तु में कौन राग नहीं करता है ? ॥ ८ ॥ इस प्रकार जो अत्यन्त बुद्धिमान् था, श्रेष्ठ सुख के प्रमुख साधनस्वरूप त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम का जो यथायोग्य उपार्जन करता था तथा सत्पुरुषों में जो ईर्ष्या से रहित था ऐसे उस नन्दिवर्धन ने अनेक वर्ष व्यतीत किये ॥ ९ ॥ तदनन्तर किसी एक समय राजा अत्यन्त ऊँचे महल की छत पर उस प्रिया के साथ बैठा था वहाँ उसने आकाशरूपी समुद्र के फेनसमूह के समान नानाप्रकार के शिखरों वाला सफेद मेघ देखा ॥ १० ॥ राजा उस विशाल मेघ को आश्चर्य से देख ही रहा था कि वह उसी क्षण आकाश में विलीन हो गया। ऐसा जान पड़ता था मानों वह मेघ राजा को शरीर, आयु, सौन्दर्य और सम्पत्ति की अनित्यता बतलाता हुआ ही विलीन हुआ था ॥ ११ ॥ उस समय मेघ के विनष्ट होने से वह राजा, अपनी राजसभा में विरक्तहृदय हो गया। उसने जान लिया कि समस्त वस्तुओं की स्थिति इसी मेघ के समान आधे क्षण के लिये रमणीय, चञ्चल और अनेक छलों से युक्त है ॥ १२ ॥ वह विचार करने लगा कि यह जीव भोगोपभोगों की तृष्णा से परपदार्थों में आसक्ति को प्राप्त होता है और उसी तृष्णा के कारण अत्यन्त दुःखदायक संसाररूप तलवारों के पिंजड़े में निरन्तर अवरुद्ध रहता है ॥ १३ ॥

---

१. पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥३॥ रघुवंश द्वि० स० । २. सस्मरं ब० ।
३. अनेकसंख्यामगमन् म० । ४. समुच्छ्रिते ब० । ५. निदर्शयतदा ब० ।

दुरं च दुर्लभं मनुष्यजन्मेदमुर्वरं भुवनार्णवमुज्जिघीर्षितानाम् ।
सुदुर्लभा देशकुलप्रसूतता ततोऽपि तेभ्यो हितसाधिका धीः ॥१४
अनादिमिथ्यात्वगदोपसृष्टदृशापि सद्धर्महितप्रदा न रोचते ।
अनासदार्हत्पदवीः स केवलं मृताद्भवत्यन्तकवक्त्रमेव हि ॥१५
अपूरयन्नो विषयेषु निःस्पृहो विमुच्य सर्वं हितिकं परिग्रहम् ।
उपात्तदक्षत्वमयूरिपूक्षयो जिनेन्द्रदीक्षां यतसे विमुक्तये ॥१६
इतीदमात्मैकहितं सुनिश्चितं ध्रुवं विजानन्नपि तृष्णया मया ।
कृतोऽतिसंरम्भमुपेत्य निःसहं समूलमुन्मूलयितुं तरुर्यथा ॥१७
इति प्रभुः प्रक्रमणोत्सुकस्ततोऽवतीर्योच्चतरात्सहैमतः ।
सभागृहेपूर्वनिविष्टविष्टरे सुखं निषिष्टेवमुवाच नन्दनम् ॥१८
त्वमेव वत्स प्रतिपन्नवत्सलः सदा विभूतेरपि सर्वभूभुजाम् ।
नियन्तुरस्मद्गतिरित्यनन्यधीः क्षयोदयं भास्करवन्न्वरेत्य कः ॥१९
प्रजानुरागं ततते नितान्ततः समुन्नतिं मूलफलस्य पुष्पतः ।
धरेयु विश्वासमयत्नतः स्फुटं क्षयोदयं किंनिमितमाश्रयम् ॥२०
अतो विधाय त्वयि राज्यमूर्जितं विनिर्जितारातिबलप्रपञ्चकम् ।
तपोवनं पावनमेष्युपेक्षतस्ततश्च मां प्रतिपूजयतां भव ॥२१

संसाररूपी सागर में डूबते हुए मनुष्यों के लिये यह मनुष्य जन्म करोड़ों जन्मों में दुर्लभ है अर्थात् अन्यपर्याय के करोड़ों जन्म धारण करने पर यह मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। मनुष्य जन्म मिलने पर भी उत्तम देश तथा कुल आदि अत्यन्त दुर्लभ है और उनकी अपेक्षा आत्महित को चाहने वाली बुद्धि नितान्त दुर्लभ है ॥ १४ ॥ सम्यग्दर्शनरूपी सुधा यद्यपि हितकारी है तथापि यह अनादि मिथ्यात्वरूपी रोग से पीड़ित जीव के लिये रुचती नहीं है—अच्छी नहीं लगती। वह तत्त्वों की अद्वितीय श्रद्धा को प्राप्त किये बिना ही मात्र यमराजरूपी राक्षस के मुख में प्रवेश करता है ॥ १५ ॥ इसके विपरीत जो निकट भव्य है वह विषयों में उदासीन होता हुआ रत्नत्रयरूपी बहुत भारी आभूषणों को प्राप्त होता है और दोनों प्रकार के समस्त परिग्रह को छोड़कर मोक्षप्राप्ति के लिये जिनेन्द्र दीक्षा धारण करता है ॥ १६ ॥ 'मेरी एक आत्मा का सुनिश्चित हित है' ऐसा जानता हुआ भी मैं जिस तृष्णा के द्वारा वृद्धी किया गया अब मैं उस तृष्णा को जड़सहित उखाड़ कर उस तरह दूर फेंकता हूँ जिस तरह कि हाथी किसी लता को उखाड़ कर दूर फेंकता है ॥ १७ ॥ इस प्रकार दीक्षा लेने के लिये उत्सुक राजा मणिवर्मन उस ऊँची छत से नीचे उतर कर सभागृह में पहले से रखे हुए सिंहासन पर क्षण भर के लिये बैठ गये और बैठकर वत्सल नामक पुत्र से इस प्रकार कहने लगे ॥ १८ ॥ हे वत्स! आश्रितजनों से स्नेह रखने वाले तुम्हीं, समस्त राजाओं की विभूति के पद पर आसीन हो सो ठीक ही है; क्योंकि नवोदित सूर्य के बिना विश्वलक्ष्मी के पद पर कौन आसीन हो सकता है? तुम्हारी प्रजा एक तुम्हीं में अनुरक्त है ॥ १९ ॥ तुम निरन्तर प्रजा के अनुराग को विस्तृत करते हो, मन्त्री आदि मूलजनों की समुन्नति करते हो—उन्हें उन्नतिशील कर आगे बढ़ाते हो और अन्य जनों पर विश्वास नहीं करते हो अतः स्पष्ट है कि इससे अतिरिक्त मैं तुम्हें और क्या उपदेश दूँ ॥ २० ॥ जिसे दूसरे नहीं धारण कर सकते ऐसे इस विशाल राज्य को, शत्रुओं

---

१. विश्वासमेषी म० । २. ततः म० । ३. संभूयैवातः म० ।

इतीरितां भूपतिना मुमुक्षुणा निशम्य वाचं वचने विचक्षणः ।
स नम्रविद्विड्वृषवाच नम्रणः प्रणम्य पूर्वं प्रणतारिमण्डलः ॥२२
अनात्मनीनेति विचार्य धीमता परेण सर्वत्र मनीषितं त्वया ।
अनुज्झतां ते कथ तात तत्त्वहं कथं प्रवेक्ष्ये विरोधिनीं मम ॥२३
अवैमि किं तातपदद्वयं विना मुहूर्तमप्यास्तितुमक्षमं न माम् ।
त्वयाग्रहीतावरविग्रहाग्रये गतेऽपि किं तिष्ठति वासरः क्षणम् ॥२४
यथा यथा योगयति व्रतेऽसुतस्तथा पिता शासित तत्तथास्तकम् ।
त्वयोपदिष्टो नरकान्धकूपकप्रवेशमार्गोऽयमनर्गलः कथम् ॥२५
प्रणम्य वाचोऽहमनोद्यमार्थकं भवत्तमाप्तु प्रणतस्तिहार्थिनम् ।
तथा सुतं निष्ठितमं नयादरं न कार्यमार्येति स तोषमास्थितः ॥२६
इति स्थितं निश्चयमेकनिश्चये सुतं विनिश्चित्य विपश्चितां वरः ।
अथोचिवेर्ष द्विजनीतिवाक्यकीर्त्युरत्प्रभाराजिविराजिताधरः ॥२७
त्वया विना राज्यमनेतृनायकं कुलक्रमायातमिदं विनश्यति ।
न विद्यते चेद्यदि गोत्रसन्ततिः किमात्मनेऽन्यः स्पृहयन्ति साधवः ॥२८
विपुर्वचो यद्यपि साध्वसाधु वा तदेव कृत्यं तनयस्य नापरम् ।
इति स्थितां नीतिमवैषुषोऽपि ते किमन्यथा सम्प्रति वर्तते मतिः ॥२९

के विजेता तुझ पर रखकर अब मैं पवित्र तपोवन को प्राप्त करना चाहता हूँ सो हे पुत्र ! तुम मेरी प्रतिकूलता को प्राप्त मत होओ—मेरे कार्य में बाधक मत होओ ॥ २१ ॥ इस प्रकार मोक्षाभिलाषी राजा के द्वारा कहे हुए वचनों को सुनकर वचन बोलने में निपुण तथा शत्रु समूह को विनम्र करने वाला नम्रण, क्षणभर विचार कर प्रणामपूर्वक इस प्रकार बोला ॥ २२ ॥ 'आत्मा के लिये हितकारी नहीं है' ऐसा विचार कर आप बुद्धिमान् के द्वारा यह राजलक्ष्मी छोड़ी जा रही है अतः जो आपके लिये इष्ट नहीं है तथा मेरे लिये भी विरुद्ध है उस राजलक्ष्मी को हे पिता जी ! मैं किस प्रकार प्राप्त करूँ ? यह आप ही कहें ॥ २३ ॥ आपके चरणों की सेवा के बिना मैं मुहूर्त भर भी ठहरने के लिये असमर्थ हूँ यह क्या आप नहीं जानते ? अपने जन्म के कारण सूर्य के चले जाने पर भी क्या दिन क्षणभर के लिये भी ठहरता है। ॥२४॥ अपने साथ स्नेह रखनेवाले पुत्र को पिता उसी प्रकार का उपदेश देता है जिस प्रकार से कि वह कल्याणकारी मार्ग में प्रवृत्त होता रहे फिर आपने मुझे नरकरूपी अन्धकूप में प्रवेश कराने वाले इस स्वच्छन्द मार्ग का उपदेश क्यों दिया ? ॥२५॥ आप अमोघ दाता हैं तथा नम्रीभूत मनुष्यों की पीड़ा को हरनेवाले हैं इसलिये मैं प्रणाम कर आपसे यही याचना करता हूँ कि मुझे आपके साथ दीक्षा लेनी दी जावे। मुझे और कोई कार्य नहीं है इतना कहकर वह चुप बैठ गया ॥ २६ ॥ इस प्रकार विद्वानों में श्रेष्ठ पिता ने जब यह निश्चय कर लिया कि पुत्र एक दीक्षा के ही निश्चय में स्थित है तब वह दाँतरूपी मुक्तावली की देदीप्यमान कान्ति के समूह से अधरोष्ठ को सुशोभित करता हुआ इस तरह बोला ॥ २७ ॥ हे पुत्र ! कुलक्रम से चला आया यह राज्य तेरे बिना नायकविहीन होकर नष्ट हो जावेगा। यदि वंश की परम्परा नहीं है तो सत्पुरुष संतान की इच्छा क्यों करते हैं ? ॥ २८ ॥ पिता का वचन चाहे प्रशस्त हो चाहे अप्रशस्त हो, उसे करना ही पुत्र का काम है दूसरा नहीं' इस स्थिर नीति को जानते हुए भी तुम्हारी बुद्धि अन्यथा हो रही है ?

सुतं पुरीयं वनतस्तपोधनं कुलस्थितिर्मे विनशितेत्यवादम् ।
अवात्सयस्तो मम पुत्र मास्यते ततो भूहि दिनानि कानिचित् ॥३०
इतीरयित्वा तनयाय मूर्धनि स्वयं पिता स्वं मुकुटं न्यधित्सत ।
विचित्ररत्नप्रकरैर्विभासितं नतैर्नरेन्द्रानतमौलिभिः कृतम् ॥३१
नतेक्षणाभ्रूस्थितहस्तकुड्मलानुवाच भूपतिरिति मन्त्रिणः सभम् ।
मयात्र मन्ये भवतां महात्मनां करे करस्थस्य इवार्पितः सुतः ॥३२
कलत्रमित्रप्रकरप्रबन्धबान्धवादपृच्छ्य विनिर्ययौ गृहात् ।
अथ तदाक्रन्दरवानुसारिणीं धियं च दृष्टिं च पुरो निवेशयन् ॥३३
नृपैः सभं षड्भयतेः स षड्गतीं गतिं विवक्षुः पिहितास्रवान्तिके ।
प्रपद्य दीक्षामनवद्यचेष्टितस्तपोऽतप्तोद्धतकर्मवां जये ॥३४
यतेः पुरीं वीक्ष्य तहियोगजं विषादमासाद्य ततान मन्त्रिणः ।
तथापि मज्जन्नपि सप्तृतेः स्थितिं सतां वियोगे हि सुधोऽपि खिद्यते ॥३५
अमात्यसामन्तसमाजबन्धुभिः सुतवियोगव्यथितां व्यनोदयत् ।
कथाभिरन्यैरपि तं महीपतिं महीयसां को न सुखाय चेष्टते ॥३६
उदाहरेति तथा समीरितं विषादमुत्सृज्य नरेन्द्र सम्प्रति ।
प्रजाः समालोक्य नाथ सांप्रतः सुधीः पशः कापुरुषो न धीरधीः ॥३७

॥ २९ ॥ 'पुत्र को लेकर तपोवन जाते हुए पिता ने कुल की स्थिति को नष्ट करा दिया' ऐसा लोकापवाद मेरा होना है इसलिये हे पुत्र ! कुछ दिन तक घर मे रहो ॥ ३० ॥ इस प्रकार कहकर पिता ने अपना वह मुकुट स्वयं ही पुत्र के सिर पर रख दिया जो कि नाना रत्नों की देदीप्यमान किरणों के समूह से इन्द्रधनुष के मण्डल को निर्मित कर रहा था ॥ ३१ ॥ तदनन्तर नम्रीभूत मस्तक पर अञ्जलि बाँध कर बैठे हुए राजाओं और मन्त्रियों से राजा ने कहा कि वन को जाते हुए मैंने आप सब महात्माओं के हाथ में यह पुत्र धरोहर के समान समर्पित किया है ॥ ३२ ॥ स्त्री, मित्र तथा स्थायी भाई-भतीजों से विधिपूर्वक पूछ कर वह घर से निकल पड़ा । क्षणभर के लिये स्त्री-मित्र आदि के रोने के शब्दों का अनुसरण करनेवाली अपनी बुद्धि और दृष्टि को उसने शीघ्र ही उस ओर से हटाकर अग्रिम पथ में स्थापित कर लिया ॥ ३३ ॥ षड्गति को प्राप्त करने के इच्छुक राजा ने पाँच सौ राजाओं के साथ विहितास्रव नामक गुरु के समीप निर्दोष चेष्टावाली दीक्षा धारण कर ली । इस प्रकार दीक्षाधारण कर वह ज्ञानावरणादि आठ उद्धतकर्मों को जीतने की चेष्टा करने लगा ॥ ३४ ॥ नन्दन, यद्यपि संसार की स्थिति को जानता था तो भी कल्याणकारी पिता के चले जाने पर उनके वियोग से उत्पन्न विषाद को प्राप्त कर दुःखी हो गया सो ठीक ही है; क्योंकि सत्पुरुषों के वियोग में विद्वान् भी दुःखी होता ही है ॥ ३५ ॥ मन्त्री, सामन्त तथा भाइयों का समूह पिता के वियोग से पीड़ित उस राजा को कथा-कहानियों और अन्य उपायों से बहलाने लगा सो ठीक ही है; क्योंकि महापुरुषों के सुख के लिये कौन नहीं चेष्टा करता ? ॥ ३६ ॥ एक दिन सभा ने अपने उस राजा से कहा कि हे नरेन्द्र ! अब आप विषाद को छोड़कर स्वामिविहीन प्रजा को सम्बोधित कीजिये क्योंकि हीन पुरुष ही शोक के वशीभूत होता है, धीर-वीर बुद्धि को धारण करनेवाला नहीं ॥ ३७ ॥ हे

१. तपोवनाद् घ० । २. व्यधात् घ० ।

पुरेव सर्वः क्षितिपाल वासरक्रियाकलापः क्रियतां यथेच्छया ।
इति प्रभो शोकवशे त्वयि स्थिते सचेतनाः के सुखमासते परे ॥३८
पतिं विसृष्टमित्यनुशिष्य सा सभा विसर्जिता तेन मुहानुपाययौ ।
विषादमुन्मुच्य चकार नन्दनः क्रियां यथोक्तां सकलामविक्लवः[2] ॥३९
अहोभिरल्पैरेव नूतनेश्वरो विनैव खेदेन धिया गरीयसा ।
गुणानुरक्तामकरोद्धरावधूं भयावनम्रानपि शत्रुसंहतिम् ॥४०
तदद्भुतं नो तनुयेऽत्र भूभृतां कलापि लक्ष्मीस्त्वचलत्वमाप यत् ।
इदं तु चित्रं सकले महीतले स्थिरापि कीर्तिर्भ्रमतीति सन्ततम् ॥४१
अनुन्नतत्वेन विमत्सरात्मना गुणैः शरच्चन्द्रमरीचिहारिभिः ।
न केवलं तेन समाभिमण्डलं प्रसाधितं बन्धुकुलं च लीलया ॥४२
इति स्वशक्तित्रयसारसम्पदा क्षितीश्वरे कल्पलतीकृते क्षितौ ।
दिने दिने राज्यसुखं वितन्वति न्यधत्त गर्भं प्रमदाय तत्प्रिया ॥४३
असूत कालेन ततः सुतं सती प्रियङ्करा प्रीतिकरं महीपतेः ।
अभिख्यया नन्द इतीह विश्रुतं मनोहरं चूतलतेव पल्लवम् ॥४४
विवर्धयन् जातिकुमुद्वतीमुदं प्रसारयन्नुज्ज्वलकान्तिचन्द्रिकाम् ।
कलाकलापाधिगमाय केवलं दिने दिनेऽवर्धत बालचन्द्रमाः ॥४५

महीपाल ! दिन को समस्त क्रियाओं का समूह पहले के समान इच्छानुसार किया जाय । हे प्रभो ! जब आप ही इस तरह शोक के वशीभूत होकर बैठे हैं तब दूसरे कौन सचेतन—समझदार पुरुष सुख से बैठ सकते हैं ? ॥ ३८ ॥ इस प्रकार सभा ने राजा को सम्बोधित किया । सम्बोधन के बाद राजा के द्वारा विसर्जित सभा अपने-अपने घर गई और समस्त याचकों को आनन्दित करनेवाला राजा नन्दन विषाद छोड़ कर समस्त क्रियाओं को यथोक्त रीति से करने लगा ॥ ३९ ॥ तदनन्तर नवीन राजा नन्दन ने थोड़े ही दिनों में किसी भारी खेद के बिना मात्र बुद्धि से ही पृथिवीरूपी स्त्री को अपने गुणों में अनुरक्त कर लिया तथा शत्रुसमूह को भी भय से विनम्र बना दिया ॥ ४० ॥ वह आश्चर्य की बात नहीं थी कि लक्ष्मी चंचल होने पर भी उस राजा को पाकर अचल हो गई थी परन्तु यह आश्चर्य की बात थी कि कीर्ति स्थिर होने पर भी समस्त पृथिवीतल पर निरन्तर घूमती रहती थी ॥ ४१ ॥ विशाल पराक्रमी और ईर्ष्याविहीन हृदयवाले उस राजा ने शरद् ऋतु के चन्द्रमा की किरणों के समान मनोहर गुणों के द्वारा न केवल भाईयों के समूह को वशीभूत किया था किन्तु शत्रुसमूह को भी अनायास वश में कर लिया था ॥ ४२ ॥ इस प्रकार अपना उत्साह, मन्त्र और प्रभुत्व इन तीन शक्ति रूप श्रेष्ठ संपत्ति के द्वारा पृथिवी पर कल्पलता के समान सुशोभित राजा जब प्रतिदिन राज्य सुख को विस्तृत कर रहा था तब उसकी वल्लभा ने हर्ष के लिये गर्भ धारण किया ॥ ४३ ॥ तदनन्तर जिस प्रकार आम्रलता मनोहर पल्लव को उत्पन्न करती है उसी प्रकार पतिव्रता रानी प्रियङ्करा ने समय होने पर राजा की प्रीति को उत्पन्न करनेवाला वह पुत्र उत्पन्न किया जो कि लोक में नन्द इस नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ ४४ ॥ जातिरूपी कुमुदिनियों के हर्ष को बढ़ाता और उज्ज्वल कान्तिरूपी चाँदनी को फैलाता हुआ वह बालकरूप चन्द्रमा मात्र कलाओं के समूह की

---

१. प्रभौ म० । २. नन्दनाद् ब० ।

अथोच्छ्वसत्प्रसूनपल्लवप्रवालपाणिभिः क्षणोपहृतमुत्सुकं सुखं ।
विधातुमागतं चिरं मधुः परिश्रमं नेतुमिवान्तिकं द्रुमम् ॥४६
पुराणपत्रापनयेन दूरतो विधूननैर्दक्षिणवातरिङ्खणैः ।
अलंचकारानुचरैरिवादिभिर्वनं मधुर्मत्तमधुव्रताकुलम् ॥४७
अपीच्यबन्धुप्रभवाभिरूपितं धनेव्य भूतं प्रणयाः सिषेविरे ।
वनान्यनेभद्रुमसम्पदां पदं सुवल्लिभर्तृ मधुभिर्वधूमुखाः ॥४८
निरन्तरं कुड्मलकोरकोत्करान्वहन्तो विभवमोकसामयः ।
मृगेक्षणानां चरणाम्बुजाहतः प्रहृष्टरोमेव अशोकपादपः ॥४९
स्वभुक्तशेषं विरहार्दितात्मनां निधातुं मांसं मदनोग्ररक्षसा ।
पलाशशाखौ प्रसवच्छलेन वा निरन्तरं लोकयितुं व्यधारयत् ॥५०
विलासिनीवक्त्रसरोरुहासवप्रपायिनं कलरवेण पुष्पितम् ।
तुतोष कूजन्मधुपायिनां कुलं प्रियाः समानव्यसना हि देहिनाम् ॥५१
अनन्तपत्रोकिलपुष्करध्वनिप्रबुद्धभृङ्गस्वगणीतसंगिते ।
वनान्तरङ्गे स्मरबन्धिनाटकं लतास्त्रिया दक्षिणवातनर्तकः ॥५२
हिमक्षतां वीक्ष्य समस्तपद्मिनीमिति क्रुधा प्रोज्झितदक्षिणायनः ।
रविर्विधात्यग्निमिव तस्य निग्रहं हिमालयस्थाग्निमुखं व्यधत्त ॥५३

प्राप्ति के लिये दिन-प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होने लगा ॥ ४५ ॥ तदनन्तर उस राजा के लिये खिलते हुए नवीन पुष्प और पल्लवों का उपहार लेकर हर्षपूर्वक उसके दर्शन की इच्छा से बहुत दूर से वसन्त आया और परिश्रम दूर करने के लिये ही मानों वन में ठहर गया ॥ ४६ ॥ वसन्त ऋतु ने दक्षिण दिशा से आये हुए मलयसमीर के कम्पनों से पुराने पत्तों को दूर हटा कर मदोन्मत्त भ्रमरों से व्याप्त वन को अङ्कुरों तथा कुड्मलों आदि से अलंकृत कर दिया ॥ ४७ ॥ जिस प्रकार धन के अभिलाषी बन्धु, उदार तथा आनेवाली बहुत भारी संपदाओं के स्थानभूत सरल बन्धु की सेवा करते हैं उसी प्रकार भ्रमर, कुछ-कुछ प्रकट होती हुई मञ्जरियों के अङ्कुरों से युक्त आम्रवृक्ष की प्रदक्षिणा दे-देकर सेवा करने लगे ॥४८॥ मृगनयनी स्त्रियों के चरणकमलों से ताडित अशोक वृक्ष, अपनी जड़ से लेकर निरन्तर कुड्मलों तथा बेंड़ियों के समूह को धारण करता हुआ लोगों के द्वारा ऐसा देखा गया था मानों उसे स्त्रियों के चरणस्पर्श से हर्ष के रोमाञ्च ही निकल आये हों ॥४९॥ पलाश का वृक्ष ऐसा जान पड़ता था मानों वह, कामरूपी उग्र राक्षस के द्वारा छील-छीलकर निकाले तथा उसके खाने से शेष बचे हुए विरहपीड़ित मनुष्यों के मांस को फूलों के छल से निरन्तर सुखाने के लिये ही धारण कर रहा था ॥ ५० ॥ स्त्रियों के मुखकमल की मदिरा का पान करनेवाले पुष्पित बकुल वृक्ष को पाकर गुंजार करते हुए भ्रमरों का समूह संतोष को प्राप्त हुआ सो ठीक ही है; क्योंकि समान व्यसन वाले लोग प्राणियों को प्रिय होते हैं। भावार्थ—जिस प्रकार भ्रमर मधुपायी होते हैं उसी प्रकार बकुलवृक्ष भी मधुपायी थे इसलिये समान व्यसन होने से दोनों का प्रसन्न होना उचित ही था ॥ ५१ ॥ कोयल की कूक रूप मृदङ्गध्वनि के साथ होनेवाले भ्रमरों के शब्दरूप गीत से सुशोभित वनान्तरूपी रङ्ग-भूमि में मलयसमीररूपी नर्तक लतारूपी स्त्रियों से कामवर्धक नाटक का नृत्य करा रहा था ॥५२॥ समस्त कमलिनियों को हिम के द्वारा नष्ट हुई देख क्रोध से उसका प्रतिकार करने के लिये ही मानों

---

१. विधातुमागतम् ब० । २. व्यधीयत ब० । ३. स्त्रीभिः प्रयुक्त म० ।

[1]समन्वितोऽप्युज्ज्वलरङ्गशोभया न कर्णिकारो ऽभजते स्व सौरभम् ।
तथाहि लोके लभते न दृश्यते समाश्रयः कोऽपि समस्तसंपदाम् ॥५४
अनन्यसाधारण सौरभान्वितं दधानमप्युज्ज्वलपुष्पसंपदम् ।
[2]न चम्पकं भृङ्गलताः सिषेविरे कथं सुगन्धे मलिनात्मनां रतिः ॥५५
शरोत्सहिष्णा शिशिरात्यये चिरात्कथंचिल्लवलाभितपूर्वसम्पदा ।
वसन्तलक्ष्मीमभिवीक्षितुं मुदा महोत्पलं चक्षुरिवोन्मीलत ॥५६
अवृष्टपूर्वामिव पूर्ववल्लभां विहाय [3]कौन्दीलतिकां मधुव्रताः ।
प्रपेदिरे पुष्पितमाधवीलतां चला हि लोके मधुपायिनां [4]रतिः ॥५७
हिमव्यपायाद्विशदां सुखावहां कुमुद्वतीनां कुमुदाकरश्रियः ।
प्रसारयामास निशासु चन्द्रिकां मनोभुवः कीर्तिमिवोन्नतश्रियः ॥५८
स्वसौरभामोदितसर्वदिङ्मुखं समं मधुश्रीर्मधुगन्धबन्धुभिः ।
स्वयं सिषेवे तिलकं मनोरमं विशेषकीकर्तुमिवेच्छयात्मनः ॥५९
जगद्वशीकर्तुमनं मनोभुवा प्रयोजितं चूर्णमिवौषधैः परैः ।
मनोज्ञगन्धस्थिति दक्षिणानिलस्ततान सन्तानकपुष्पजं रजः ॥६०

सूर्य दक्षिणायन को छोड़ हिमालय के सन्मुख लौट गया था ॥ ५३ ॥ कनेर का वृक्ष उज्ज्वल रङ्गों की शोभा से युक्त होने पर भी सुगन्धि को प्राप्त नहीं कर सका था सो ठीक है; क्योंकि समस्त संसार में ऐसा कोई दिखाई नहीं देता जो निखिल सम्पदाओं का आधार हो ॥ ५४ ॥ चम्पा का फूल यद्यपि अनन्य-साधारण—अन्यत्र न पाई जानेवाली सुगन्धि से सहित था और उज्ज्वल पुष्प रूप संपदा को धारण कर रहा था तो भी भ्रमरों के समूह उसकी सेवा नहीं कर रहे थे सो ठीक ही है; क्योंकि मलिनात्माओं—कलुषित हृदयवालों (पक्ष में श्याम वर्ण वालों) की सुगन्ध में प्रीति कैसे हो सकती है ? ॥ ५५ ॥ शिशिर ऋतु की समाप्ति होने पर चिरकाल बाद जिसने किसी तरह अपनी पूर्व-सम्पत्ति को प्राप्त किया था ऐसी कमलिनी ने वसन्तलक्ष्मी को देखने के लिये ही मानों हर्षवश नेत्र के समान कमल को खोला था अर्थात् कमलिनी में कमल पुष्प विकसित हुए थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानों कमलिनी ने वसन्त की शोभा को देखने के लिये हर्षवश नेत्र खोले हों ॥ ५६ ॥ भौंरे पूर्ववल्लभा—पहले की स्त्री के समान कुन्दलता को छोड़ कर फूलों से युक्त माधवी लता के पास इस प्रकार जा पहुंचे जैसे उसे कभी देखा ही नहीं हो—मानों वह उनके लिये नवीन वल्लभा हो सो ठीक ही है; क्योंकि लोक में मधुपायी जीवों की प्रीति चञ्चल होती ही है ॥ ५७ ॥ चन्द्रमा रात्रियों में हिम का अभाव हो जाने से निर्मल तथा कुमुदिनियों के लिये सुखदायक चाँदनी को विस्तृत करने लगा जिससे ऐसा जान पड़ता था मानों सम्पत्तिशाली कामदेव की कीर्ति को ही विस्तृत कर रहा हो ॥५८॥ वसन्त लक्ष्मी, भ्रमरियों के समूह के साथ अपनी सुगन्ध से समस्त दिशाओं को सुगन्धित करनेवाले सुन्दर तिलक पुष्प की स्वयं सेवा कर रही थी और उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो उस तिलक पुष्प को अपना तिलक बनाने की इच्छा से ही सेवा कर रही हो ॥ ५९ ॥ मलयसमीर, मनोहर गन्ध से युक्त, सन्तानक वृक्षों से उत्पन्न फूलों

---

१. वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः ।
प्रायेण सामान्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥२८॥ —कुमारसंभव सृ० स०
२. सं चम्पकं ब० । ३. कौन्दीं लतिकां ब० । ४. मधुपायिनां वधूः ब० ।

निपुणं चलत् रजोभूतं जिगीषितः सदा स्मरन् किं जिगीषते स्मरायुधा ।
इतीव निर्गन्तुमिव वनं मनोभिकः स्वभूमिरेणुभ्रमणव्यपोहकः ॥६१
इति प्रफुल्लद्रुमराजि राजितं वनं भ्रमन्नद्रुमपालको ददर्श ।
तदेकदेशे मुनिसूचिताभिधं प्रवेदिनं प्रौढिलमेत्य प्रभुम् ॥६२
प्रणम्य भक्त्या परया महामुनिं जगाद वेगाद्वनपालकः पुरीम् ।
तदीयमभ्यागमनं महीपतेरभीष्टमासेदुषि मन्मथेरपि ॥६३
महाप्रतीहारनिवेदितागमः सदःस्थितायाथ प्रणतो महीभुजे ।
व्यधेदवद्धांजलिपल्लवैर्नवैः वनौकसां सूनिमनागतम् ॥६४
इतो निकामोपवने स्थितं मुनिं महीभुजेऽथ मुनेन्द्रविद्विषात् ।
पदानि सप्त प्रतिगम्य तां दिशं ननाम चूडामणिपीडितावनिः ॥६५
वनं स्वगात्राभरणैः समं तदा विसीर्य तस्मै बहु पारितोषिकम् ।
अदापयत्प्यातमुनीन्द्रवन्दनाप्रयाणभेरीं नगरे नरेश्वरः ॥६६
प्रतिस्वनापूरितसर्वदिङ्मुखं तदीयमाकर्ण्य रवं समन्ततः ।
जिनेन्द्रधर्मश्रवणोत्सुकात्मनां विनिर्ययौ पौरजनेन तत्क्षणम् ॥६७
पुरःसरैरष्टभवैः पदातिभिः समन्वितं द्वारमुपेत्य वेगतः ।
अभीष्टवाहानधिरुह्य राजकं प्रतीक्षमाणास्त नरेन्द्रनिर्गमम् ॥६८

की पराग को सब ओर विस्तृत कर रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानों कामदेव जगत् को वश में करने के लिये समर्थ, श्रेष्ठ औषधों से निर्मित चूर्ण को ही विस्तृत कर रहा है ॥ ६० ॥ मार्ग में पड़ने वाले आम्रवृक्षों पर बैठी कोयल अपनी कूक से पथिक को मानों यह डाँट ही दिखा रही थी कि लौटकर अपने घर जा, प्रिय स्त्रियों का स्मरण करता हुआ कामव्यथा से व्यर्थ ही क्यों मर रहा है ? ॥ ६१ ॥ इस प्रकार पुष्पित वृक्षावली से सुशोभित वन में सब ओर भ्रमण करते हुए वनपालक ने वन के एक देश में स्थित अवधिज्ञानी प्रौढिल नामक मुनिराज को देखा ॥ ६२ ॥ परमभक्ति से महामुनि को प्रणाम कर वनपालक शीघ्र ही राजा को मुनिराज तथा वसन्तऋतु के अभीष्ट आगमन की सूचना देने के लिये नगरी की ओर गया ॥ ६३ ॥ प्रधान द्वारपाल के द्वारा जिसके आगमन की सूचना दी गई थी ऐसे वनपाल ने, सभा में स्थित राजा के लिये प्रणाम कर दिखाये हुए फूलों और पल्लवों से वसन्त की तथा वचनों के द्वारा मुनिराज के आगमन की सूचना दी ॥ ६४ ॥ 'मुनिराज वन में स्थित हैं, वनपाल से यह समाचार सुन राजा ने सिंहासन से उठकर तथा उस दिशा में सात डग जाकर उन्हें नमस्कार किया। नमस्कार करते समय राजा अपने चूड़ामणि से पृथ्वी को पीड़ित कर रहा था ॥ ६५ ॥ उस समय अपने शरीर पर धारण किये हुए आभूषणों के साथ वनपाल को पारितोषिकरूप में बहुत धन देकर राजा ने नगर में प्रसिद्ध मुनिराज की वन्दना के लिये प्रस्थान-भेरी बजवाई ॥ ६६ ॥ प्रतिध्वनि के द्वारा समस्त दिशाओं को व्याप्त करनेवाले भेरी के शब्द को सुनकर जिनेन्द्र धर्म को सुनने के लिये उत्कण्ठित नगरवासी जन तत्क्षण सब ओर से बाहर निकल पड़े ॥ ६७ ॥ आगे-आगे चलनेवाले आठ-आठ सेवकों सहित राजा लोग, अभीष्ट वाहनों पर सवार हो शीघ्र ही द्वार पर आ पहुँचे और राजा के निकलने की

---

१. चूडामणिद्वार ब० । २. पीडितावनिम् ब० । ३. विनिर्ययौ ब० ।

गृहीतनेपथ्यविलासविभ्रमं परीतमन्तःपुरमङ्गरक्षकैः ।
ततस्ततो युग्यगतं विनिर्ययौ तदाज्ञया ज्ञाननिधिं निरीक्षितुम् ॥६९

[शार्दूलविक्रीडितम्]

अर्थैर्याचकमानसोरथफलव्यक्तीकृतं भक्तिभृ-
त्तत्कालोचितवेषभृत् क्षितिभृतां ज्ञातैर्वृतः सर्वतः ।
भूपेन्द्रो मुनिवन्दनाय परयाऽभ्यासन्नतीनं सम्पदा
हर्म्याग्रस्थितचारुपौरवनितानेत्रोत्पलैरर्चितः ॥७०

॥ इत्यसगकविकृते श्रीवर्धमानकाव्ये वन्दनाभक्तिगमनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥

●

तृतीयः सर्गः

अनुष्टुप्

अथ प्राप मुनेस्तस्य निवासात्पावनं वनम् । नन्दनो नन्दनोद्यानसन्निभं शक्रसन्निभः ॥१
परिरेभे समभ्येत्य दूराद्दूरीकृतश्रमः । सुगन्धिर्बन्धुवद्भूरिदक्षिणं दक्षिणानिलः ॥२

प्रतीक्षा करने लगे ॥ ६८ ॥ जिसने वेषभूषा और हावभाव को ग्रहण किया था, जो अङ्गरक्षकों से घिरा हुआ था तथा उचित वाहनों पर अधिरूढ था ऐसा अन्तःपुर राजा की आज्ञा से ज्ञान के भण्डारस्वरूप मुनिराज के दर्शन करने के लिये सब ओर से बाहर निकला ॥ ६९ ॥ जो धन के द्वारा याचकों के मनोरथ को सफल कर रहा था, उस समय के योग्य वेष को धारण कर रहा था, राजाओं के समूह से सब ओर घिरा हुआ था और महलों के अग्रभाग पर स्थित नगरवासियों की सुन्दर स्त्रियों के नयनकमलों से पूजित था ऐसा राजा मत्त हाथी पर सवार हो उत्कृष्ट विभूति के साथ वन की ओर चला ॥ ७० ॥

॥ इस प्रकार असग कवि कृत श्री वर्धमान काव्य में वन्दनाभक्ति के
लिये गमन का वर्णन करनेवाला दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥

●

तृतीय सर्ग

तदनन्तर इन्द्र के समान नन्दन, नन्दनवन के समान उस वन को प्राप्त हुआ जो कि उन मुनिराज के निवास से पवित्र हो गया था ॥ १ ॥ श्रम को दूर करनेवाली सुगन्धित मलयसमीर ने अतिशय उदार राजा नन्दन का दूर से सम्मुख आकर भाई के समान आलिङ्गन किया। भावार्थ—राजा नन्दन भूरिदक्षिण—अतिशय उदार था (पक्ष में अत्यधिक दाक्षिणात्य था) और मलयसमीर भी दक्षिण से आ रही थी इसलिये दाक्षिणात्यपने की अपेक्षा दोनों में भाईचारा था।

दूरादवातरन्नागस्कन्धेभ्यस्तुङ्गमन्थरैः । विनयेन विना का श्रीरित्यसूत्रं व्यजायत ॥३
अपनीतसमस्तराजचिह्नोऽविशद्वनम् । अपि त्यक्त्वा महीपालो भृत्यहस्तावलम्बनम् ॥४
रक्ताशोकतरोर्मूले निर्मले स्फटिकोपले । ददर्शासीनं मुनिमेकाग्र्येणेव पुण्यैनि ॥५
किरीटकोटिविन्यस्तहस्ताम्भोरुहकुड्मलः । प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा प्रणनाम महामुनिम् ॥६
स निषिद्य तदभ्यर्णभूतले भूभृतां विभुः । प्राञ्जलिः प्रणिपत्यैनमासीनस्तुदितो मुनिम् ॥७
भगवन्भव्यसस्यानां निर्मूलैः किं न बाध्यते । तव निर्मूलनोद्युक्त दर्शनादुर्दृशादिव ॥८
अकामेनापि दृष्टेन पूर्णकामः कथं कृतः । नाथ त्वयाद्भुतमस्मासु दृष्टमन्यो वरो मम ॥९
भव्यसत्त्वसमूहानामनुग्रहकरात्मनः । भवतः श्रोतुमिच्छामि भवसन्ततिमात्मनः ॥१०
इत्युदाहृत्य वचनं तूष्णींभूते महीभुजि । ततो मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलः ॥११
यथावत्कथ्यमानानि मया जन्मान्तराणि ते । त्वमेकाग्र्यधिया श्रुत्वा भव्यपूजामवाप्नुहि ॥१२
अस्मिन्नेव हि भरते क्षेत्रे कुलशैलसरोभवा । विद्यते जाह्नवी फेनैर्हसन्तीवान्यसिन्धवः ॥१३
अस्यास्तरतटे तस्या वराहो नाम पर्वतः । उल्लङ्घ्य शिखरैर्व्योम द्रष्टुं नाकमिवोच्छ्रितः ॥१४
अभवस्त्वं गिरौ तत्र प्रासितक्षीपकुञ्जरः । इतः प्रभृति राजेन्द्र भृगेन्द्रो नवमे भवे ॥१५

अत. भाई, भाई का आलिङ्गन करता ही है ॥२॥ राजा पर्वत के समान ऊँचे हाथी से दूर से ही नीचे उतर पडा इससे ऐसा जान पडता था मानों 'विनय के बिना लक्ष्मी क्या है' इस सुभाषित को ही वह प्रकट कर रहा था ॥ ३ ॥ जिसने छत्र आदि राजचिह्न दूर कर दिये हैं ऐसे राजा ने भृत्य के हाथ का अवलम्बन भी छोड़कर वन मे प्रवेश किया ॥४॥ उसने लाल-लाल अशोक वृक्ष के नीचे स्फटिक मणि के निर्मल शिलातल पर विराजमान मुनि के दर्शन किये। निर्मल शिलातल पर विराजमान मुनि ऐसे जान पडते थे मानों समीचीन धर्म के मस्तक पर ही विराजमान हों ॥ ५ ॥ जिसने हस्त-कमल के कुड्मलों को मुकुट के अग्रभाग पर लगा रखा था ऐसे राजा ने तीन प्रदक्षिणाएँ देकर महामुनि को प्रणाम किया ॥ ६ ॥ राजाधिराज मन्धन, उनके निकट पृथ्वी तल पर बैठ गया और हाथ जोड़ प्रणाम कर प्रसन्न होता हुआ मुनिराज से इस प्रकार कहने लगा ॥ ७ ॥ हे भगवन् ! सम्यग्दर्शन के समान मोह को नष्ट करनेवाले आपके दर्शन से भव्य जीवों को तृप्ति क्यों नहीं होती है ? ॥ ८ ॥ हे नाथ ! अकाम—इच्छारहित होने पर भी आपने मुझे पूर्णकाम-पूर्णमनोरथ कैसे कर दिया ? इसीसे मुझे आश्चर्य हो रहा है इसके सिवाय दूसरा आश्चर्य मुझे नहीं है ॥ ९ ॥ हे स्वामिन् ! भव्यजीवों के समूह का उपकार करने वाले आपसे मैं अपनी भवपरम्परा को सुनना चाहता हूँ ॥ १० ॥ इस प्रकार कहकर जब राजा चुप हो गया तब सर्वावधिज्ञानरूपी नेत्र को धारण करने वाले मुनि इस प्रकार कहने लगे ॥ ११ ॥ हे भव्यशिरोमणे ! मैं तुम्हारे भवान्तरों को यथार्थरूप से कहता हूँ सो तुम एकाग्र बुद्धि से उन्हें अच्छी तरह सुनो ॥ १२ ॥ अथानन्तर इस भरत क्षेत्र में हिमवत्कुलाचल के पद्म नामक सरोवर से उत्पन्न गङ्गा नाम की नदी है जो फेनों से ऐसी जान पड़ती है मानों अन्य नदियों की हँसी ही कर रही हो ॥ १३ ॥ उस गङ्गा नदी के उत्तर तट पर एक वराह नाम का पर्वत है जो शिखरों से आकाश को लाँघ कर ऐसा जान पड़ता है मानों स्वर्ग को देखने के लिये ही ऊँचा उठा जा रहा हो ॥ १४ ॥ हे राजेन्द्र ! इस भव से पूर्व नौवें भव में तुम उस पर्वत पर मदोन्मत्त हाथियों को भयभीत करनेवाले सिंह थे ॥ १५ ॥ आल-

---

१. ब धर्मस्येव ब० । २. तदाभ्यर्ण म० । ३. तूष्णीभूते म० ब० । ४. महीभुवें म० ।

[illegible]

चन्द्रमा के साथ स्पर्धा करनेवाली दाढ़ों के अग्रभाग से जिसका विशाल मुख भयंकर था, जिसकी गर्दन की घुँघराली सटाएँ दावानल की शिखाओं के समान पीतवर्ण थी, जो पीली-पीली भौंहो रूपी धनुष से भयंकर था, जिसके नेत्र देदीप्यमान उल्का के समान थे, क्रमपूर्ण गोलाई को लिये हुई पूँछ का गुच्छा ही जिसकी ऊपर उठी हुई ध्वजा थी, जो अपने उन्नत पूर्वभाग से ऐसा जान पड़ता था मानों गगनतल की छलाँग ही भर रहा हो, चन्द्रमा की सघन किरणों के पड़ने से खिले हुए कुमुदो के समान जिसकी कान्ति थी, जो उस पर्वत की शिखर पर गरजते हुए मेघों को क्रोधवश अपनी गर्जना से डाँटता हुआ वेग से उछल-उछल कर पैने नखों से चीर रहा था, तथा निकुञ्जों से युक्त उस पर्वत पर दौड़ते हुए हाथियों का जो पीछा कर रहा था ऐसा वह सिंह उस पर्वत पर स्वच्छन्दता-पूर्वक चिरकाल से रह रहा था ॥ १६-२० ॥ किसी समय वह सिंह जङ्गली हाथी को शिकार कर परिश्रम से दुखी होता हुआ गुफा के अग्रभाग में शयन कर रहा था। गुहा के अग्रभाग पर पड़ा हुआ वह सिंह पर्वत के अकारण हास्य के समान जान पड़ता था ॥ २१ ॥ उस प्रकार सोये हुए उस सिंह को आकाश मार्ग से आगत अमितकीर्ति तथा अमितप्रभ नाम के पवित्र मुनियों ने देखा ॥२२॥ आकाश मे चलनेवाले अर्थात् चारणऋद्धि के धारक दोनों प्रमुख मुनिराज आकाश से उतर कर सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे मणिमय-शिलातल पर बैठ गये ॥ २३ ॥ जो दयावान् थे, निर्भय थे, मनोहर कण्ठ से युक्त थे तथा अतिशय बुद्धिमान् थे ऐसे वे दोनों चारणऋद्धिधारी मुनिराज सिंह को सम्बोधने के लिये उच्चस्वर से प्रज्ञप्ति का पाठ करने लगे ॥ २४ ॥ तदनन्तर उनकी आवाज से जिसकी निद्रा-सम्बन्धी तन्द्रा नष्ट हो गई थी ऐसा वह सिंह अपनी सहज-जन्मजात क्रूरता को छोड़ क्षणभर मे आर्य मनुष्यों जैसे हृदय का धारक हो गया ॥ २५ ॥ जिसके कानों के अग्रभाग और पूँछ नीचे की ओर झुक गई थी ऐसा वह सिंह उस पर्वत के गुहाद्वार से बाहर निकलकर तथा भयंकर आकृति को छोड़कर उन मुनियों के समीप जा पहुँचा ॥ २६ ॥ सामने उन मुनियों का मुख देखने की प्रीति से जिसके नेत्र विस्तृत हो रहे थे ऐसा वह सिंह उनके आगे अत्यन्त शान्त भाव से बैठ गया ॥ २७ ॥ उदार बुद्धि के धारक अमितकीर्ति मुनिराज उस सिंह को देख इस प्रकार बोले।

१. पल्लवोद्भासिकृतध्वज ब० । २. प्रोल्लसत् ब० । ३. [illegible] ।

नाथेन केवलं भूतं सिंह सिंहायितं त्वया । दुरन्तभवविस्तारकान्तारेऽप्यभयात्मना ॥२९
अनाद्यनिधनो जीवः परिणामी स्वकर्मभुक् । कर्ता शरीरमात्रोऽस्ति ज्ञानादिगुणलक्षणः ॥३०
[1]रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुञ्चति । जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः ॥३१
अतो रागादिभिः सार्धं विषमत्वमिमुत्सृज । कालादिलब्धयो लब्धा नासपूर्वा मनाक्त्वया ॥३२
मूलं बन्धादिदोषस्य रागद्वेषावुदाहृतौ । तयोरपचयेनैव बन्धनाशं च विदुर्बुधाः ॥३३
त्वया रागादिदोषैर्यं भ्रान्त्वा जन्मपरम्पराः । या सिंह श्रूयतां सोऽयं मत्प्रोक्तस्तत्र स्थिरं मनः ॥३४
ह्यस्तेऽस्तिलावती पूर्वमिदेहे पुण्डरीकिणी । तत्रैवाहोऽभवत्तस्यां धर्मस्वामीति धार्मिकः ॥३५
सार्थेन तस्य सार्थेन तेन सार्धं महामुनिः । ययौ रत्नपुरेणाथो विभवत्सत्वसंयुतः निधिः ॥३६
एकदा दस्युभूयेन तस्मिन् सार्थे विलुण्ठिते । शूरैर्हतं गतं भीतैर्नरै रत्नपुराभरे ॥३७
नार्यां पुष्करवाणायां वसत्या मधुवने मुनेः । ग्रहणे यतिना तेन सिंहवृत्तेन वनेचरः ॥३८
स क्रूरोऽपि मुनेर्वाक्यात्पुलिन्दो धर्ममग्रहीत् । अभ्याकस्मिकतः साधोः संयोगात्को न शाम्यति ॥३९

अहो मृगराज ! सम्यक्त्व को न पाकर आप ऐसे हुए हैं ॥ २८ ॥ हे सिंह ! जान पड़ता है कि न केवल इसी पर्वत पर तूने सिंहवृत्ति धारण की है किन्तु दुःखदायक अनादि संसाररूप अटवी में भी निर्भय रहकर तूंने सिंह जैसा आचरण किया है ॥ २९ ॥ आदि अन्त से रहित, परिणमनशील, अपने कर्मों को भोगनेवाला, कर्मबन्ध को करनेवाला, शरीरप्रमाण तथा ज्ञानादिगुण रूप लक्षण से युक्त जीव नामा पदार्थ है ॥ ३० ॥ रागी जीव कर्मों को बाँधता है और वीतराग जीव कर्मों को छोड़ता है, बन्ध और मोक्ष के विषय में संक्षेप से यह भगवान् जिनेन्द्र का उपदेश है ॥ ३१ ॥ इसलिये रागादिक के साथ मिथ्यात्वरूपी विष को छोड़ो, क्योंकि प्राप्त करने योग्य कालादि लब्धियाँ तुम्हे पहले प्राप्त नहीं हुई हैं ॥ ३२ ॥ बन्ध आदि दोषों का मूल कारण राग-द्वेष कहा गया है क्योंकि उन्ही की वृद्धि से सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है ॥ ३३ ॥ हे सिंह ! रागादि दोषों के कारण तुमने जिस जन्मपरम्परा में भ्रमण किया है, कानों को मेरे वचनों का पात्र बनाकर उस जन्म-परम्परा को सुनो ॥ ३४ ॥ इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में एक पुण्डरीकिणी नाम की नगरी है। उसमें किसी समय धर्मस्वामी नाम का धर्मात्मा सेठ रहता था ॥ ३५ ॥ एक बार वह सेठ धन-सम्पन्न संघ के साथ रत्नपुर नगर की ओर जा रहा था। उसी संघ के साथ तप के भाण्डार सागरसेन नाम के प्रसिद्ध महामुनि भी गमन कर रहे थे ॥ ३६ ॥ एक समय चोरों के समूह ने उस संघ को लूट लिया जिससे शूरवीर तो मारे गये और भयभीत मनुष्य रत्नपुर के बीच मार्ग से ही भाग गये। तात्पर्य यह कि वह समस्त संघ छिन्न-भिन्न हो गया ॥ ३७ ॥ मुनिराज अकेले रहने से दिग्भ्रान्त हो गये। उन्होंने मधुवन में वासी नामक स्त्री के साथ एक पुष्करवा नाम के भील को देखा ॥३८॥ वह भील यद्यपि क्रूर था—पुलिन्द था फिर भी उसने मुनिराज के कहने से धर्म ग्रहण कर लिया सो ठीक ही है; क्योंकि साधु के आकस्मिक संयोग से भी कौन नहीं शान्त होता ? अर्थात्

---

१. रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो । एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०
—समयसार ।

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहियप्पा । एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्चयदो ॥८७
—प्रवचनसार अध्याय २ ।

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥२६ इष्टोपदेश ।

२. विरो०।

अतिदूरं समं गत्वा तेन प्रणुतवर्त्मनि । वस्तुना योजितो भक्त्या ययौ यातिरवाकुलम् ॥४०
अहिंसादीनि संरक्ष्य व्रतानि स चिरान्मृतः । सौधर्मे द्विसमुद्रायुरासीद्देवः पुरूरवाः ॥४१
अणिमादिगुणोपेतस्तत्र दिव्यं सुखामृतम् । पीत्वाप्यवातरत्पश्चात्पूर्वपुण्यक्षयात्ततः ॥४२
भारतेऽस्मिन्पुरी ख्याता विनीतास्ति पुरां पतिः । स्वर्गसारमिवोद्धृत्य स्वयं शक्रेण कल्पिता ॥४३
रत्नसालप्रभाजालैर्निरुद्धतिमिरागमा । व्यर्थोदयं हसन्तीव या निशासु निशाकरम् ॥४४
हर्म्याग्रशिखरानद्धस्फुरन्नीलरुचां चयैः । आच्छाद्यते ससन्ध्याभ्रैर्यत्र नीलघनैरिव ॥४५
निवासतौरभाकृष्ट वक्त्राम्भोजेषु योषिताम् । भृशं भवेक्षणैः सार्द्धं निपतन्ति मधुव्रताः ॥४६
यत्र च प्रतिमायात रमणीलोललोचनाः । नीलोत्पलसरःकान्तिं वहन्ति मणिभूमयः ॥४६
सौधगोपानसीलग्नपद्मरागांशुमण्डलैः । यत्राकालिकसंध्याभ्रविभ्रमो विधि तन्यते ॥४८
यस्यां मरकतच्छायाच्छादिता हर्म्यमूर्धसु । मयूराव्यक्तिमायान्ति परं केकारवैः कलैः ॥४९
श्रीमांस्तीर्थंकृतामाद्यः सार्वः सर्वगुणास्पदम् । वृषभो वृषसंपन्नो नगरीमध्युवास ताम् ॥५०
यस्य गर्भावतारे भूरिन्द्राद्यैर्निचितामरैः । बभार सकलां लक्ष्मीं स्वर्गलोकस्य तत्क्षणम् ॥५१
दिव्यदुन्दुभयो नेदुः प्रणमत्तारुरोगणः । यस्मिन् जाते जहासद्यौः पतत्कुसुमवृष्टिभिः ॥५२

सभी शान्त होते हैं ॥ ३९ ॥ भक्तिवश बहुत दूर तक साथ जाकर उस भील ने मुनिराज को सीधे मार्ग पर लगा दिया जिससे वे किसी आकुलता के विना इष्ट स्थान पर चले गये ॥ ४० ॥ तदनन्तर वह पुरूरवा भील, चिरकाल तक अहिंसा आदि व्रतों की रक्षा कर मरण को प्राप्त हुआ और मरकर सौधर्म स्वर्ग में दो सागर की आयु वाला देव हुआ ॥ ४१ ॥ वहाँ अणिमा आदि गुणों से युक्त हो स्वर्गसम्बन्धी सुखरूपी अमृत का पान करता रहा। पश्चात् पूर्वपुण्य का क्षय होने के कारण उस स्वर्ग से अवतीर्ण हुआ ॥ ४२ ॥ इस भरत क्षेत्र में एक विनीता नाम की प्रसिद्ध तथा समस्त नगरियों में श्रेष्ठ नगरी है। वह नगरी ऐसी जान पड़ती है मानों स्वर्ग के सार को लेकर स्वयं इन्द्र के द्वारा निर्मित हुई हो ॥ ४३ ॥ रत्नमय कोट की प्रभाओं के समूह से जिसमें अन्धकार का आगमन रुक गया था ऐसी वह नगरी रात्रि के समय व्यर्थ उदित चन्द्रमा की मानों हँसी ही करती रहती थी ॥ ४४ ॥ जिस नगरी में महलों की अग्रिम शिखरों में संलग्न चमकदार नीलमणियों की किरणों के समूह से सूर्य ऐसा आच्छादित होता है मानों नील मेघों से ही आच्छादित हो ॥ ४५ ॥ जहाँ स्त्रियों के मुखकमलों पर उनके श्वासोच्छ्वास की सुगन्ध से आकृष्ट हुए भौरे युवाओं के नेत्रों के साथ निरन्तर पड़ते रहते हैं ॥ ४६ ॥ जिनमें स्त्रियों के चञ्चल नेत्रों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है ऐसी मणिमय भूमियाँ जिस नगरी में नीलकमलों के सरोवर की कान्ति को धारण करती है ॥ ४७ ॥ जहाँ महलों की छतरियों में संलग्न पद्मराग मणियों की किरणों के समूह द्वारा आकाश में असमय में प्रकट हुए संध्याकालीन मेघों का भ्रम विस्तृत किया जाता है ॥ ४८ ॥ जहाँ महलों के अग्रभाग पर मरकत मणियों की छाया में छिपे हुए मयूर अपनी मनोहर केकावाणी से ही प्रकटता को प्राप्त होते हैं ॥ ४९ ॥ सर्वहितकारी, समस्त गुणों के स्थान, धर्म से संपन्न, प्रथम तीर्थंकर भगवान् श्री वृषभनाथ उस नगरी में निवास करते थे ॥ ५० ॥ जिनका गर्भावतार होने पर इन्द्र आदि समस्त देवों से व्याप्त भूमि उस समय स्वर्गलोक की समस्त शोभा को धारण करती थी ॥ ५१ ॥ जिनके उत्पन्न होते ही दिव्य दुन्दुभियाँ बजने लगी थीं, अप्सराओं के समूह ने नृत्य किया था, तथा द्यौ रही

---

१. शिखरोद्गद ब० । २. मूर्द्धनि ब० । ३. नगरीं सोऽध्युवास ब० ।

उत्पन्नमात्रमनसा हर्षं नीत्वा मेरुपर्वतम् । [1]स्नापयामासिरे देवैः क्षीरवारिभिः ॥५३
मतिश्रुतावधिज्ञानैः सहैवोत्पेदिरे स्वयम् । व्यबुद्ध सिद्धिसन्मार्गं यः स्वयंभूरतः स्मृतः ॥५४
षट्कर्मजीवनोपायैः सक्लिष्टामकुलाः प्रजाः । येन कल्पद्रुमाघाये कल्पवृक्षायिता पुनः ॥५५
आसीत्तस्यात्मजो नाम्ना भरतो भारतावनेः । पाता चक्रभृतामाद्यः साम्राज्यश्रीविराजितः ॥५६
चतुर्दशमहारत्नसंपत्संपत्तितोषतः[2] । यस्यासन्प्रत्यहं नित्यं निधयो नवकिङ्कराः ॥५७
यस्य दिग्विजये भूरिसेनाभरनिपीडनम् । असहन्ती धरा रेणुव्याजेनोत्पतितोह सम् ॥५८
रेजिरे तत्सेनावल्लरीभिरवतंसिताः । वेलाकच्छलताली नां भङ्गा प्राप्यापि पल्लवाः ॥५९
अम्भोराशिः करानिन्दोः पीत्वा पुनरिवोद्गिरन् । यद्बले सैन्यिकैर्दृश्य तीरस्थैः फेनराशिभिः ॥६०
यत्सैन्यक्षुभितारब्धा वारिधौ वारिकुञ्जरैः । अन्तर्भूतैर्मदावार्द्रैः कृता युद्धमिव दन्तिभिः ॥६१
[3]यः शशास रुरुरत्नचक्रिया दक्षिणभुजा । षट्खण्डमण्डलं भर्त्री भारतीशासनद्विषः ॥६२
तस्य प्रिया महादेवी त्रिजगच्चारुतासधिः । भारिणीति विती ख्याता बभूव गुणभारिणी ॥६३
तयोर्महास्मनोरासीत्स्वर्गादेत्य सुरः सुतः । मरीचिर्वलितादित्यमरीचीन् हेपयन् स्वया ॥६४

पुष्पवृष्टि से आकाश हँसने लगा था ॥ ५२ ॥ उत्पन्न होते ही हर्ष से मेरु पर्वत के शिखर पर लेजाकर इन्द्र आदि देवों ने जिनका क्षीरसागर के जल से अभिषेक किया था ॥ ५३ ॥ जिस कारण वे साथ ही उत्पन्न हुए मति, श्रुत और अवधि ज्ञान के द्वारा मोक्षमार्ग को स्वयं जानते थे उस कारण स्वयभू थे ॥ ५४ ॥ उन्होंने कल्पवृक्षों के नष्ट होने पर व्याकुल प्रजा को असि, मसी, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन षट्कर्मरूप जीविका के उपायों से युक्त किया था इसलिये वे कल्पवृक्ष के समान जान पड़ते थे ॥ ५५ ॥ उस भगवान् वृषभदेव का भरत नाम का पुत्र था जो भरतक्षेत्र की समस्त वसुधा का रक्षक था, प्रथम चक्रवर्ती था और बहुत बड़े साम्राज्य से सुशोभित था ॥ ५६ ॥ चौदह महारत्नरूप सपत्ति के द्वारा उन्नति को प्राप्त करनेवाले जिस भरत के घर में निरन्तर नौ निधियाँ विद्यमान रहती थी जो कि नौ किंकरों के समान जान पड़ती थीं ॥ ५७ ॥ दिग्विजय के समय जिसकी बहुत भारी सेना के समूह के द्वारा की हुई अत्यधिक पीड़ा को नही सहती हुई पृथिवी धूलि के बहाने ही मानों आकाश में जा चढ़ी थी ॥ ५८ ॥ उसकी सेनासम्बन्धी सुन्दर स्त्रियों के द्वारा कर्णाभरण रूप से धारण किये हुए तटवन की लतासमूह के पल्लव भङ्ग को प्राप्त होकर भी सुशोभित हो रहे थे ॥ ५९ ॥ तीर पर ठहरे हुए जिसके सैनिक, फेनसमूह से युक्त समुद्र को ऐसा देख रहे थे मानों चन्द्रमा की किरणों का पान कर वह उन्हें ही पुनः उगल रहा हो ॥ ६० ॥ युद्ध का अवसर नही प्राप्त करनेवाले जिसके हाथी, समुद्र में प्रतिकूल खड़े हुए जलगजों के साथ मदसम्बन्धी असहनशीलता के कारण क्रोधवश युद्ध करते थे ॥ ६१ ॥ जो चक्रवर्तियों में प्रथम चक्रवर्ती था और देदीप्यमान चक्ररत्न से सुशोभित दाहिनी भुजा से षट्खण्ड पृथिवी का शासन करता था ॥ ६२ ॥ उस भरत की भारिणी इस नाम से पृथिवी पर प्रसिद्ध, गुणों को धारण करनेवाली प्रिय रानी थी जो सुन्दरता के विषय में ऐसी जान पड़ती थी मानों तीनों जगत् की सुन्दरता की सीमा ही हो ॥ ६३ ॥ पुरूरवा भील का जीव देव, स्वर्ग से आकर उन दोनों महात्माओं के मरीचि नाम का पुत्र हुआ । वह मरीचि अपनी कान्ति से उदित सूर्य की किरणों को लज्जित करता

---

१. स्नापयांचक्रिरे म० । २. संपत्तितोषतः म० । ३. यं म० ।

लौकान्तिकामरैरेत्य बोधितेन स्वयंभुवा । स दीक्षां पुरुदेवेन मरीचिः समगृह्णत ॥६५
दीनेन दुस्सहस्तेन सेहिरे न परीषहाः । नैर्ग्रन्थ्यं हि परं धत्ते धीरचित्तो न कातरः ॥६६
प्रतिहाय तपो जैनं संसारोन्मूलनक्षमम् । स्वयं प्रवर्तयामास सांख्यं सांख्यविदां वरः ॥६७
[1]निपुण्य कापथे तस्मिन्नल्पप्रज्ञान्प्रपेदिवान् । मरीचिर्घोरमिथ्यात्वादाचचार चिरं तपः ॥६८
मृत्युमासाद्य कालेन मरीचिः कुटिलाशयः । त्रिदशः ब्रह्मणे कल्पे कायक्लेशफलाद्भवत् ॥६९
दशाम्बुधिभवन्दिव्यां दशाङ्गभोगसंगतः । [2]अवसत्सुरनारीभिस्तत्र नेत्रार्घचर्चितः ॥७०
आसन्नाद् कृतान्तस्तं क्रीडितान्ते निरङ्कुशः । संसृतौ वर्तमानस्य कस्य मृत्युरगोचरः ॥७१
पुरे [3]कौलीयके जातः सर्वशास्त्रविशारदः । द्विजन्मा कौशिको नाम कौलीन्येन विवर्जितः ॥७२
तस्य प्रणयिनी जातीत्कपिला कपिलोपमा । नितरामधुरालापा भर्तृपादैकदेवता ॥७३
अजायत तयोः प्रेयान् स्वर्गादित्य सुतः सुरः । तत्रस्थिमव्यादृशां चित्ते मैत्रीं मैत्रायणः पराम् ॥७४
पारिव्रज्यं तपो घोरमाचार्याचार्यतां गतः । क्रुद्धेनेवेति स प्रापे कृतान्तेन कृतान्तकृत् ॥७५

था ॥ ६४ ॥ लौकान्तिक देवों ने आकर जिन्हें संबोधित किया था ऐसे स्वयंभू-भगवान् वृषभदेव के साथ उस मरीचि ने दीक्षा ग्रहण की थी ॥ ६५ ॥ परन्तु वह दीन कठिन परीषहों को सहन नहीं कर सका सो ठीक ही है, क्योंकि उत्कृष्ट निर्ग्रन्थ दीक्षा को धीरचित्त मनुष्य ही धारण करता है, कायर मनुष्य नहीं ॥ ६६ ॥ सांख्यमत के जाननेवालों में श्रेष्ठ उस मरीचि ने, संसार का उन्मूलन करने में समर्थ जैन तप छोड़ कर स्वयं सांख्य मत चलाया ॥ ६७ ॥ उस भ्रष्ट साधु ने, अल्प बुद्धि वाले अन्य लोगों को भी उस कुमार्ग में लगाकर तीव्र मिथ्यात्व के कारण चिरकाल तक तपश्चरण किया ॥ ६८ ॥ कुटिल अभिप्राय वाला मरीचि यथासमय मृत्यु को प्राप्त होकर कायक्लेश के फल स्वरूप पञ्चम स्वर्ग में देव हुआ ॥ ६९ ॥ दिव्य अवस्था का अनुभव करता हुआ वह देव दशसागर की आयु से सुशोभित था। देवाङ्गनाओं द्वारा अर्घनेत्रों से देखा जानेवाला वह देव वहाँ सुख से निवास करता था ॥ ७० ॥ आयु के अन्त में निरङ्कुश मृत्यु उसे प्राप्त हुई सो ठीक ही है; क्योंकि मृत्यु संसार में रहनेवाले किस मनुष्य का विषय नहीं है ? अर्थात् किसकी मृत्यु नहीं होती है ? ॥७१॥ कौलीयक नगर में एक कौशिक नाम का ब्राह्मण रहता था जो समस्त शास्त्रों में निपुण था और ब्याज आदि के व्यापार से रहित था ॥ ७२ ॥ उसकी कपिला—रेणुका के समान कपिला नाम की प्रिया थी जो स्वभाव से ही मधुरभाषिणी तथा पति के चरणों को अद्वितीय देवता माननेवाली थी ॥ ७३ ॥ मरीचि का जीव देव, स्वर्ग से आकर उन दोनों के मैत्रायण नाम का प्रिय पुत्र हुआ। वह मैत्रायण मिथ्यादृष्टि जीवों के चित्त में मित्रता को विस्तृत करनेवाला था ॥ ७४ ॥ परिव्राजकता, कठिन तप और आचार्यों की आचार्यता को प्राप्त हुआ वह मैत्रायण कृतान्तकृत्—यम का छेदन करनेवाला था (पक्ष में अनेक शास्त्रों की रचना करनेवाला था) इसलिये ही मानों क्रुद्ध होकर

---

१. मरीचिश्च गुरोर्नप्ता परिव्राड्भूयमास्थितः । मिथ्यात्ववृद्धिमकरोदपसिद्धान्तभाषितैः ॥ ६१ ॥
तनुपश्चमभूद्योगशास्त्रं तन्त्रं च कापिलम् । येनायं मोहितो लोकः सम्यक्त्वान्पराङ्मुखः ॥ ६२ ॥
—महापुराण पर्व १७.

विधाय दर्शनं सांख्यं कुमारेण मरीचिना । व्याख्यातं निजशिष्यस्य कपिलस्य पटीयसा ॥ १८ ॥
—धर्मपरीक्षा परिच्छेद १८.

२. अवसत् ब० । ३. कोलीयके ब० ।

[illegible] ॥७५
[illegible] ॥७६
[illegible] ॥७७
[illegible] ॥७८
[illegible] ॥७९
[illegible] ॥८०
[illegible] ॥८१
[illegible] ॥८२
[illegible] ॥८३
[illegible] ॥८४
[illegible] ॥८५
[illegible] ॥८६
[illegible] ॥८७

यम ने उसे प्राप्त किया था अर्थात् उसका मरण हो गया ॥ ७५ ॥ मरने के बाद वह प्रथम स्वर्ग में अपरिमित कान्तिरूपी सम्पत्ति को धारण करने तथा देवाङ्गनाओं के मन को हरनेवाला महान् देव हुआ ॥ ७६ ॥ देदीप्यमान मणियों से युक्त विमान के मध्य में अधिष्ठित हो वह प्रसन्न चित्तदेव, अपनी देवाङ्गनाओं के साथ देवगति के भोगों का उपभोग करता हुआ संतुष्ट हो रहा था ॥ ७७ ॥ देवगति सम्बन्धी सुख के विनाश से उत्पन्न होनेवाले अपरिमित शोकरूपी वज्र से हृदय पर ताड़ित हुआ वह देव दो सागर प्रमाण आयु का क्षय होने पर उस स्वर्ग से च्युत हुआ ॥ ७८ ॥ तदनन्तर स्थूणाकार नगर में एक भारद्वाज नामक उत्तम ब्राह्मण रहता था जो राजहंस पक्षी के समान निर्दोष उभय पक्षों—मातृपक्ष और पितृपक्ष (पक्ष में निर्दोष दो पङ्खों) से सुशोभित था ॥ ७९ ॥ उसकी पुष्पवन्ता नाम की स्त्री थी जो अपने दाँतों की शोभा से कुन्द की कलियों की उत्तम कान्ति की हँसी करती थी तथा घर का आभूषणस्वरूप थी ॥ ८० ॥ मैत्रायण का जीव देव, स्वर्ग से अवतीर्ण होकर निरन्तर परस्पर अनुरक्त रहनेवाले उन दोनों के पुष्पमित्र नाम का पुत्र हुआ। वह पुष्पमित्र, मोहरूपी बीज के अंकुर के समान जान पड़ता था ॥ ८१ ॥ प्रतिबन्ध से रहित उस पुष्पमित्र ने स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा से बाल्य अवस्था में ही परिव्राजकों के आश्रम में जाकर हठपूर्वक दीक्षा धारण कर ली अर्थात् परिव्राजक का वेष धारण कर लिया ॥८२॥ चिरकाल तक तप तपकर वह मृत्यु को प्राप्त होता हुआ ऐशान स्वर्ग में दो सागर की आयु वाला देव हुआ ॥ ८३ ॥ उस मनोहर स्वर्ग में वह कन्दर्पजाति के देवों के द्वारा बजाये हुए बाजों तथा गीतों के क्रमानुसार होनेवाले अप्सराओं के नृत्य को देखता हुआ निवास करने लगा ॥ ८४ ॥ जिस प्रकार दिन के समाप्त होने पर सोनेवाले महाबल को मत्त हस्ती नीचे गिरा देता है उसी प्रकार पुण्य क्षीण होने पर उस देव को भी स्वर्ग ने नीचे गिरा दिया ॥ ८५ ॥ तदनन्तर श्वेतविका नाम की नगरी में अग्निद्युति नाम का एक अग्निहोत्री ब्राह्मण था और सुवर्ण के समान कान्ति वाली, पतिव्रता गौतमी उसकी स्त्री थी ॥ ८६ ॥ पुष्पमित्र का जीव देव, स्वर्ग से च्युत होकर उन दोनों के अग्निसह नाम का पुत्र हुआ। वह अग्निसह बिजली के समान देदीप्यमान शरीर की कान्ति से

---

१. [illegible] म० । २. पुरे ब० । ३. रथाङ्गज म० ।

पारिव्राज्यमनुष्ठाय तपो निष्ठिततीर्थितः । सुरः सनत्कुमारेऽभूत्कल्पेऽल्पश्रिया युतः ॥८८
सप्तसागरसंख्यातमायुस्तत्यागमस्तयम् । निपीतमिव तद्वीक्ष्य ज्याजेनाप्सरसां दृशा ॥८९
अस्तीह भरते नाम्ना सानन्दं भारते पुरम् । मन्दिरप्रघटत्केतुमालामन्थीकृतातपम् ॥९०
गौतमोऽभूत्पुरे तस्मिन् द्विजः कुन्दसमद्विजः । कौशिकी कुशला गेहे गेहिनी चास्य वल्लभा ॥९१
दावानलशिखाकल्पानल्पकेशोज्ज्वलश्रिय । मिथ्यात्वेनापरेणासौतस्योऽग्निमित्रनामयोः सुतः ॥९२
गृहवासरतिं हित्वा तपस्यामाचरन्वराम् । परिव्राजककल्पेन चक्रे मिथ्योपदेशनम् ॥९३
पञ्चतां चिरकालेन कालेन प्राप्य दुर्मदः । कल्पे बभूव माहेन्द्रे माहेन्द्रप्रतिमः सुरः ॥९४
साम्रोदधिसमं कालं तत्र स्थित्वा यथेच्छया । ततोऽच्यवत निःश्रीकः पादपाज्जीर्णपर्णवत् ॥९५
स्वस्तिमत्यां पुरि श्रीमान्शालङ्कायननामभाक् । द्विजन्माभूत्प्रिया चास्य मन्दिरा गुणमन्दिरम् ॥९६
स्वर्गादित्य तयोरासौ वपत्यमनपत्ययोः । वैनतेय इवाचारो भारद्वाजो द्विजश्रियः ॥९७
पौरिव्राज्यं तपस्तप्त्वा चिराद्गलितजीवितः । माहेन्द्रे महनीयश्रीः कल्पेऽल्पोमरोऽभवत् ॥९८
तस्यूहं विब्बनारीभिरायतैर्घनपङ्क्तिभिः । कर्णोत्पलैः कटाक्षैश्च मुमुदे तत्र ताडितः ॥९९

समस्त दिशाओं को प्रकाशित कर रहा था ॥ ८७ ॥ यहाँ भी वह परिव्राजकों का तप धारण कर मृत्यु को प्राप्त हुआ और मरकर सनत्कुमार स्वर्ग में बहुत भारी लक्ष्मी से युक्त देव हुआ ॥ ८८ ॥ वहाँ उसकी सात सागर प्रमाण आयु उस तरह क्षय को प्राप्त हो गई मानों देखने के बहाने अप्सराओं के नेत्रों ने उसे पी ही लिया हो ॥ ८९ ॥ इसी भरत क्षेत्र में एक मन्दिर नाम का नगर है जो सब प्रकार के आनन्द से पूर्ण है तथा मन्दिरों के अग्रभाग पर फहराती हुई पताकाओं की पङ्क्ति से जहाँ सूर्य का आताप मन्द कर दिया गया है ॥ ९० ॥ उस नगर में कुन्द के समान दाँतों वाला एक गौतम नाम का ब्राह्मण रहता था । उसकी गृहकार्य में कुशल कौशिकी नाम की प्रिय स्त्री थी ॥ ९१ ॥ अग्निसह का जीव देव, तीव्र मिथ्यात्व के कारण उन दोनों के अग्निमित्र नाम का पुत्र हुआ । वह अग्निमित्र, दावानल की ज्वालाओं के समान बहुत भारी केशों से—पीली-पीली जटाओं से ऐसा जान पड़ता था मानों प्रज्वलित ही हो रहा हो ॥९२॥ गृहवास की प्रीति को छोड़ बहुत भारी तपस्या करते हुए उसने परिव्राजक के वेष में मिथ्या उपदेश किया ॥ ९३ ॥ चिरकाल बाद आयु समाप्त होने से मृत्यु को प्राप्त हुआ वह अहंकारी ब्राह्मण माहेन्द्र स्वर्ग में माहेन्द्र के समान देव हुआ ॥ ९४ ॥ वहाँ इच्छानुसार सात सागर तक रह कर वह देव श्रीहीन होता हुआ वहाँ से इस प्रकार च्युत हुआ जिस प्रकार कि वृक्ष से जीर्ण पत्ता च्युत होता है—नीचे गिरता है ॥ ९५ ॥ तदनन्तर स्वस्तिमती नगरी में एक शालङ्कायन नाम का श्रीमान् ब्राह्मण रहता था । उसकी स्त्री का नाम मन्दिरा था जो सचमुच ही गुणों का मन्दिर थी ॥ ९६ ॥ उन दोनों के कोई सन्तान नहीं थी । अग्निमित्र का जीव देव, स्वर्ग से आकर उन दोनों के भारद्वाज नाम का पुत्र हुआ । वह भारद्वाज गरुड़ के समान था क्योंकि जिस प्रकार गरुड़ पक्षियों का राजा होने के कारण द्विजश्री—पक्षियों की लक्ष्मी का आधार होता है उसी प्रकार वह भी द्विज की—ब्राह्मणों की लक्ष्मी का आधार था ॥ ९७ ॥ चिर काल तक परिव्राजक का तप तपकर वह मृत्यु को प्राप्त हुआ और मर कर माहेन्द्र स्वर्ग में महनीय विभूति का धारक बहुत बड़ा देव हुआ ॥ ९८ ॥ वहाँ पंक्तिबद्ध अनेक

---

१. गुणमन्दिरा म० । २. द्विजश्रियः म० । ३. पारिव्रज्यं म० । ४. सल्पेऽमरो ब० ।

अमारतं रतं तत्तत्सम्भावभूषणन्वितैः स्त्रिया । प्राप्तसागरसख्यातकालस्थितिसमेतया ॥९९
कल्पद्रुमस्य कम्पेन म्लानमन्दारमालया । दृष्टिभ्रान्त्यादिभिरन्यैः सूचितः स्वर्गनिर्गमः ॥१०१
विललाप कृताक्रन्दो मन्दीभूततनुद्युतिः । विषादविधुरां दृष्टिनिष्टङ्कामासु पातयन् ॥१०२
शान्तपुण्यप्रदीपस्य चिन्तासंतमसेततः । आशाचक्रं निराक्रान्तं ममाद्य तिमिरावृतम् ॥१०३
हा स्वर्गविघ्नमोपेतविव्यनारीजनाश्रित ! किं मां न धारयस्यार्तं निपतन्तं निराश्रयम् ॥१०४
शरणं कं प्रपद्येऽहं किं कृत्यं का गतिर्मम । केनोपायेन वा मृत्युं वञ्चयिष्यामि तत्त्वतः ॥१०५
सहजेन गतं क्वापि लावण्येनापि देहतः । हा हा पुण्यक्षये किं वा विफलेयं नोपपद्यते ॥१०६
प्रणयेन समाश्लिष्य गाढं कण्ठे तनूदरि । स्निग्धं वेगेन गात्रेभ्यो निर्जिघांसूनसूनिमान् ॥१०७

वसन्ततिलकम्

कुर्वन्प्रलापमिति मानसदुःखभारसंप्रेरणादिव दिवः सहसा पपात ।
कारुण्यबाष्पकुलिताक्षियुगेन दृष्टः कष्टं विधूय निजपुण्यवधूजनेन ॥१०८

उपजातिः

ततोऽतीवास्तमितोत्पुण्यो मिथ्यात्वदाहज्वरविह्वलात्मा ।
चिरं त्रसस्थावरयोनिमध्यमध्यास्त दुःखानि समश्नुवानः ॥१०९॥

देवाङ्गनाओं के द्वारा इच्छापूर्वक सुदीर्घ कर्णाभरणों और कटाक्षों से ताड़ित होता हुआ वह देव प्रमोद को प्राप्त हुआ ॥ ९९ ॥ सात सागर प्रमाण स्थिति से युक्त लक्ष्मी के सहित वह देव निरन्तर उन देवाङ्गनाओं के सुरत का अनुभव करता था ॥ १०० ॥ अन्त में कल्पवृक्ष के कम्पन से, मुरझाई हुई मन्दारमाला से तथा दृष्टिभ्रान्ति आदि अन्य कारणों से जब उसे स्वर्ग से निकलने की सूचना मिली तब वह रोने लगा, उसके शरीर की कान्ति मन्द पड़ गई, तथा विषाद से विधुर दृष्टि को इष्ट स्त्रियों पर डालता हुआ इस प्रकार विलाप करने लगा ॥ १०१–१०२ ॥ जिसका पुण्यरूपी दीपक बुझ गया है, जिसका चित्त चिन्ता से संतप्त हो रहा है तथा जिसकी आशाएँ नष्ट हो चुकी हैं ऐसे मेरा दिङ्मण्डल आज अन्धकार से आवृत हो गया है ॥ १०३ ॥ बड़े दुःख की बात है कि हाव-भाव से युक्त देवाङ्गनाओं से सुशोभित हे स्वर्ग ! दुखी, नीचे पड़ते हुए मुझ निराधार को तुम क्यों नहीं धारण कर रहे हो ? ॥ १०४ ॥ मैं किसकी शरण जाऊँ ? मुझे क्या करना चाहिये ? मेरा आधार क्या है ? अथवा वास्तव में किस उपाय से मैं मृत्यु को चकमा दे सकता हूँ ? मेरा सहज–जन्मजात सौन्दर्य भी शरीर से निकल कर कहीं चला गया है । हाय-हाय ! पुण्य का क्षय होने पर कौन वस्तु वियोग को प्राप्त नहीं होती ? ॥ १०५–१०६ ॥ हे कृशोदरि ! प्रेमपूर्वक गले से गाढ आलिङ्गन कर शरीर से वेगपूर्वक निकलने के लिये इच्छुक इन प्राणों को रोक लो ॥ १०७ ॥ जो इस प्रकार का प्रलाप कर रहा था तथा दयालुता के कारण अश्रुपूर्ण नयन युगल से युक्त उसकी सुन्दर स्त्रियाँ जिसे दुःख प्रकट कर देख रही थीं ऐसा वह देव मानसिक दुःख के भार की प्रबल प्रेरणा से ही मानों स्वर्ग से शीघ्र ही नीचे गिर गया—मृत्यु को प्राप्त हो गया ॥ १०८ ॥ तदनन्तर जिसका विशाल पुण्य अस्त हो गया था तथा जिसकी आत्मा मिथ्यात्वरूपी दाह ज्वर से विह्वल हो रही थी ऐसा

---

१. दृष्टिघातं ब० जनार्पितः ड० । २. कारुण्यमाप्तेन ब० । ३. निर्मूलम् ब० ।

वसन्ततिलकम्

भ्रान्त्वा कुयोनिषु चिरात्कथमप्यवाप मानुष्यकं पुनरिहाद्भुतपापभारात् ।
जीवस्तमाहि निजनिर्मितकर्मणाकस्मान्नेति किं किमिह नीयति किं न धत्ते ॥११०

इन्द्रवज्रा

अस्याः पुरे भारतवर्षलक्ष्म्या लीलाम्बुजे राजगृहे द्विजोऽभूत् ।
शाण्डिल्यनामायमनामधेयः पाराशरी तस्य बभूव भार्या ॥१११
त्यक्त्वा तयोः स्थावर दुःखमिश्रां विप्रसुतः स्थावरकर्ममुक्तः ।
कृत्वा तपो मत्करिणां अगाम स ब्रह्मलोकं दशसागरायुः ॥११२

मालिनी

सहजमणिविभूषाशोभमन्दारमालालुलितवरसरम्यं देहमासाद्य सद्यः ।
चिरमरमत तत्र स्फीतसंपत्समेतः सुरयुवतिपरीतः पूर्णकामो निकामम् ॥११३

॥ इत्यसगकृते श्रीवर्धमानकाव्ये मरीचिमनुष्यभवलाभो नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

●

वह देव का जीव स्वर्ग से च्युत हो दुःखों को भोगता हुआ चिरकाल तक त्रस और स्थावर योनियों के मध्य निवास करता रहा ॥ १०९ ॥ आश्चर्यकारी पाप के भार से चिरकाल तक कुयोनियों में भ्रमण कर देव का वह जीव किसी तरह यहाँ पुनः मनुष्यभव को प्राप्त हुआ सो ठीक ही है; क्यों कि अपने द्वारा किये हुए कर्म के उदय से यह जीव इस संसार में किसके सम्मुख नहीं जाता ? क्या नहीं छोड़ता ? और और क्या नहीं धारण करता ? ॥ ११० ॥ तदनन्तर इस भारतवर्ष की लक्ष्मी के क्रीडाकमलस्वरूप राजगृहनगर में एक शाण्डिल्यायन नाम का ब्राह्मण रहता था, उसकी स्त्री का नाम पाराशरी था ॥ १११ ॥ स्थावर नाम कर्म से मुक्त हुआ वह जीव उन दोनों के स्थावर नाम को धारण करनेवाला पुत्र हुआ । परन्तु फिर भी परिव्राजकों का तप कर ब्रह्म लोक को प्राप्त हुआ वहाँ उसकी दश सागर की आयु थी ॥ ११२ ॥ सहज मणिमय आभूषण, रेशमी वस्त्र, मन्दार वृक्ष की माला तथा चन्दन-रस से रमणीय शरीर को प्राप्त कर जो शीघ्र ही विशाल सम्पत्ति से युक्त हो गया था, देवाङ्गनाओं से जो घिरा रहता था तथा जिसके मनोरथ पूर्ण हो गये थे ऐसा वह देव वहाँ चिरकाल तक अत्यधिक क्रीड़ा करता रहा ॥ ११३ ॥

॥ इस प्रकार असग कविविरचित श्री वर्द्धमान काव्य में मरीचि के मनुष्य भव की प्राप्ति का वर्णन करनेवाला तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

●

---

१. पापभारः ब० । २. यात ब० । ३. मरीचिविलभनं नाम ब० ।

चतुर्थः सर्गः

भाक्तारिणी

[illegible]

चतुर्थ सर्ग

तदनन्तर भरतक्षेत्र की इस भूमि पर अपनी कान्ति से स्वर्गलोक की शोभा को धारण करने-वाला मगध नाम से प्रसिद्ध एक देश है। यह मगधदेश पुण्यात्मा जीवों के निवास का अद्वितीय हेतु है ॥ १ ॥ जहाँ समस्त ऋतुओं में धान के खेत, धान की सुगन्धि से आकृष्ट भ्रमरों के समूह से आच्छादित रहते हैं जिससे ऐसे सुशोभित होते हैं मानों तोताओं के आक्रमण के भय से किसानों के समूह ने उन्हें नीलरङ्ग के वस्त्र से ढँक रखा हो ॥ २ ॥ जिनमें खिले हुए सामान्य कमल तथा नील कमलों के बीच सारस, हंस और चक्रवाक पक्षी क्रीडा कर रहे हैं तथा जिनके तट भैंसों के द्वारा मलिन कर दिये गये हैं ऐसे जलाशयों से वह देश सब ओर से व्याप्त है ॥ ३ ॥ चलते हुए गन्ना पेरने के यन्त्र और गाड़ियों के समूह के चीत्कार शब्द से जिनमें कानों के विवर विदीर्ण हो रहे हैं तथा एकत्रित किये हुए धान्य की राशियों के निकट चलनेवाले बैल उन धान्य की राशियों को चुटवा रहे हैं ऐसे गाँवों से वह देश सुशोभित है ॥ ४ ॥ जहाँ पथिक, वनों में केले खाने के बाद नारियलों का पवित्र पानी पीकर तथा नवीन पल्लवों की शय्या पर सोकर विश्राम करते हैं ॥५॥ उस मगध देश में पृथिवी तल की सर्वश्रेष्ठ सम्पत्तियों के समूह का स्थान, तथा उत्तमोत्तम राज-भवनों से सुशोभित राजगृह नाम की धारण करनेवाला सुन्दर नगर है ॥ ॥ ६ ॥ बड़े-बड़े महलों के शिखरों के समूह से निकलते हुए कृष्णागुरुधूप के बहुत भारी धूमों से जिनका रङ्ग बदल गया है ऐसी

---

१. 'विषये तस्मिन् मगधदेशनाम्नि तु भाक्तारिणीयम्'—कल्पलतायां परिशिष्टे।

२. आक्रमण ब०।

प्रतिमापतशालपद्मरागद्युतिभिः पाटलिताम्बुरम्बुजातः ।
नवविद्रुमजालभिन्नवीचेः सरितां वस्तुरवाह यत्र कान्तिम् ॥८
उच्चसौधतलस्थदम्पतीनामनुपां कान्तिमुदीक्ष्य निर्निमेषाः ।
अधुनाप्यतिविस्मयेन यस्मिन्निबुधा इत्यनुमन्यते नृलोकः ॥९
सदनाग्रनियद्धनीलभासां निचयैः संचलितैर्गजस्तिहस्तैः ।
विसृजन्निव सर्वतः कलङ्कं बहुशो यत्र शशी निजं निशासु ॥१०
नृपतिर्जगति प्रतीतवंशो निचितेजोवपुषाग्निवंशजातः ।
स्वयमर्जितगृहीतविश्वभूतिर्नगरं तत्प्रशशास विश्वभूतिः ॥११
नवचक्षुरनूनसत्त्वशाली भजतां पूरयिता मनोरथानाम् ।
विनयैकधनोज्झितो जितात्मा परमासीद् गुणसंपदां पदं यः ॥१२
अथवत्कमलेव यौवनस्य त्रिजगत्कान्तिरिवैकतामुपेता ।
पदवीव सतीव्रतस्य सिद्धेर्जयिनी तस्य जनेश्वरस्य जाया ॥१३
विजितावनिमण्डलो निधाय स्वहिते मन्त्रिणि राज्यतन्त्रचिन्ताम् ।
मृगशावदृशा तया नरेन्द्रः सह सर्वर्तुसुखानि निर्विवेश ॥१४
अवतीर्य दिवस्तयोरवारस्तनयः ख्यातनयो बभूव देवः ।
अजहत्प्रकृतिं कृती स दिव्यां कुशलो विश्वकलासु विश्वनन्दी ॥१५

सूर्य की किरणें जहाँ व्याघ्रचर्म की शोभा को धारण करती हैं ॥ ७ ॥ प्रतिबिम्बित कोट के पद्मराग-मणियों की कान्ति से जिसका पानी लाल-लाल हो रहा है ऐसी परिखा जहाँ, नवीन मूँगाओं के समूह से विभिन्न तरङ्गों वाले समुद्र की कान्ति को धारण करती है ॥ ८ ॥ बड़े-बड़े महलों की छतों पर स्थित स्त्री-पुरुषों की अनुपम कान्ति को देखकर अत्यधिक आश्चर्य से देव आज भी निमेष रहित हैं ऐसा जहाँ के मनुष्य समझते हैं ॥ ९ ॥ जहाँ रात्रि के समय महलों के अग्रभाग में खचित नीलमणियों की कान्ति के समूह से व्याप्त किरणरूपी हाथों से चन्द्रमा ऐसा दिखाई देता था मानों वह अपने कलङ्क को सब ओर छोड़ ही रहा हो ॥ १० ॥ संसार में जिसका वंश अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसने अपने तेजरूपी दावानल से शत्रुओं के वंशरूपी बाँसों को जला दिया है तथा जिसकी समस्त विभूति याचकों के द्वारा अपने आप ग्रहण की जाती है ऐसा विश्वभूति नाम का राजा उस राजगृह नगर का शासन करता था ॥ ११ ॥ नीति ही जिसके नेत्र हैं, जो बहुत भारी पराक्रम से सुशोभित है, जो सेवकों के मनोरथ को पूर्ण करनेवाला है, जो विनयरूप अद्वितीय धन से सबल है तथा जितेन्द्रिय है ऐसा वह राजा गुणरूप सम्पदाओं का अद्वितीय स्थान था ॥१२॥ उस राजा की अयिमी नाम की स्त्री थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानों यौवन की लक्ष्मी ही हो, अथवा एकता को प्राप्त हुई तीनों जगत् की कान्ति ही हो, अथवा पातिव्रत्यधर्म की सिद्धि का मार्ग ही हो ॥ १३ ॥ समस्त पृथ्वीतल को जीतनेवाला राजा विश्वभूति, अपने हितकारी मन्त्री के ऊपर राज्यतन्त्र की चिन्ता को निहित कर उस मृगनयनी के साथ समस्त ऋतुओं का सुखों का उपभोग करता था ॥ १४ ॥ स्वावर का जीव देव, ब्रह्म स्वर्ग से अवतीर्ण होकर उन दोनों के विश्वनन्दी नाम का उत्कृष्ट पुत्र हुआ। विश्वनन्दी प्रसिद्ध नीतिज्ञ था, कार्य सिद्ध करनेवाला था, उसने अपनी दिव्य—स्वर्गसम्बन्धी प्रकृति को नहीं छोड़ा था तथा समस्त कलाओं में वह कुशल था ॥१५॥ तदनन्तर एक समय राजा

उपयातवतोऽवलोक्य विशेषेण वपुर्विहारं वरतां परीतमूर्तिम् ।
इति विभवभृतिरात्मवान्तः स्थितिमस्यास्थिरां गृहीतवृद्धभावः ॥१६
वपुरस्य पुरा विभूषणं मृदुभोगेन सदाऽनुलेपनेन ।
अधिना पलितेन साम्प्रतं तदियं लक्ष्यति कस्य वा न शोच्यम् ॥१७
सकलेन्द्रियशक्तिसम्पदं जरसा विप्रकृतां विराकृतोऽपि ।
न जहाति तथापि जीविताशां बत वृद्धस्य विवर्धते हि मोहः ॥१८
अवनम्य पदे पदे शिरोभिः शिथिलं भ्रूयुगलं निरुद्धच दृष्ट्या ।
पतितं नवयौवनं चरन्ध्यानमनन्येष्वनिवेशते प्रयत्नात् ॥१९
अथवा विनिगूहतस्ति वेहगतां कुशलं जगत्यनेऽविमार्गे ।
अयतां सततं स्वकर्मदोषादिति निर्वेदपुरस्सरा मतिर्वः ॥२०
अवधार्य परिपाकदुःखमीदृक् विषयेषु राज्यसुखं तदा नरेन्द्रः ।
विनिवर्तयितुं मनस्तरीयां महतां हि विषयेषु कस्तिरस्ति ॥२१
अवलोक्य च धारणस्य मूले विनिवेश्याग्रजमग्रजन्मभूतिम् ।
तनयं च निधाय यौवराज्ये जरसीवाभिरभूत्ततो हि मुक्तः ॥२२
उपगम्य चतुःशतैर्नरेन्द्रैः सहितः श्रीधरपादपद्ममूलम् ।
अजरामरतानुपैतुकामो विनयीभां पृथिवीपतिः प्रपेदे ॥२३

विभवभूति, समीप आते हुए वृद्ध द्वारपाल को देख शरीर की स्थिति से ग्लानि करता हुआ निश्चल नेत्र हो इस प्रकार विचार करने लगा ॥ १६ ॥ इसका जो शरीर पहले उत्कण्ठा से युक्त स्त्रीजनों के द्वारा करवट बदल-बदल कर प्रीतिपूर्वक सेवित हुआ था वही इस समय झुर्रियों तथा सफेद बालों से आक्रान्त हुआ किसके लिये शोचनीय नहीं है ? ॥ १७ ॥ यह द्वारपाल यद्यपि वृद्धावस्था से झक-झोरी हुई समस्त इन्द्रियों की शक्तिरूप सम्पत्ति से तिरस्कृत हो रहा है तथापि जीवित रहने की आशा को नहीं छोड़ता है सो ठीक ही है; क्योंकि वृद्ध मनुष्य का मोह निश्चय से बढ़ता ही है ॥१८॥ यह जो पद-पद पर ग्रीवा को नीची कर तथा शिथिल भौंहो के युगल को दृष्टि से रोक कर नीचे देख रहा है उससे ऐसा जान पड़ता है मानों पड़े हुए नवयौवन को प्रयत्नपूर्वक खोजने के लिये ही पृथिवी पर देख रहा है ॥ १९ ॥ अथवा जिसमें मार्ग का पता नहीं ऐसे इस संसाररूपी वन में अपने कर्मोदय से निरन्तर भटकते हुए प्राणियों का कुशल क्या हो सकता है ? इस प्रकार विचार करता हुआ राजा वैराग्य को प्राप्त हुआ ॥ २० ॥ राज्यसुख परिपाककाल में दुःख का कारण है ऐसा जानते हुए राजा ने उसे तत्काल छोड़ दिया सो ठीक ही है; क्योंकि संसार की समस्त स्थिति के जाननेवाले महापुरुषों की क्या उसमें आसक्ति होती है ? अर्थात् नहीं होती ॥ २१ ॥ वह श्वेत छत्र के नीचे छोटे भाई विभवभूति को बैठाकर और युवराज पद पर पुत्र को नियुक्त कर विरक्त हो गया सो ठीक ही है; क्योंकि सत्पुरुषों को निःस्पृहता ही अच्छी लगती है—उसीको वे प्रीतिपूर्वक धारण करते हैं ॥२२॥ अजर-अमर अवस्था को प्राप्त करने की इच्छुक राजा ने चार हजार राजाओं

---

१. मृदुवस्तेव म० ।

२. अवधार्य मण्डनमङ्गयष्टेर्नष्टं मम यौवनरत्नमेतत् । ३. अवधार्य निःस्पृहता म० ।
इतीव वृद्धो नतपूर्वकायः पश्यन्भुवोऽधो भुवि सम्भ्रमेति ॥५९॥—धर्मशर्माभ्युदय सर्ग ४ ।

अथवान्य विनिर्जितारिजातं कृतयद्वर्गवधं विशाखभूतिम् ।
अभिवृद्धिमियाय राज्यलक्ष्मीः ततार कल्पक्षितिरेव कल्पवृक्षम् ॥२४
अधिकोऽपि नयेन वीरलक्ष्म्या युवराजो बलसम्पदा पितृव्यम् ।
न विलङ्घयति स्म मेदिनीशं स्थितिमत्राक्रमति किं महानुभावः ॥२५
ऋतुभिः सकलैः सदा वरीतं विबुधस्त्रीसमुपास्यपुष्टम् ।
अनमिन्द्रवनाभिभाविशोभं युवराजः समकारयद्विचित्रम् ॥२६
सहितेन विशाखिनीवनेन व्यहरत्तत्र सह त्रिकालरम्ये ।
सहकारतले रतिद्वितीयं स्थितमन्वेष्टुमिवादरादनङ्गम् ॥२७
नरनाथ नवीक्ष्य यौवनाया: प्रियसूनुः प्रथमो विशाखनन्दी ।
अभवन्मदवीवनेन मत्तो मदनेनापि निरङ्कुशः करीव ॥२८
स कदाचिदुदीक्ष्य दीक्षणीयं युवराजस्य वनं मदेभगामी ।
जननीं प्रणिपत्य वर्जितात्मस्तदुपादाय विशेति याचते स्म ॥२९
तनयाय वनं प्रयच्छ राजन्यदि कार्यं मम जीविते तवास्ति ।
इति सा रहसि स्ववल्लभत्वादनुबन्धेन नराधिपं बभाषे ॥३०
सहसा वचनेन वल्लभाया युवराजे स्वहितैकमानसेऽपि ।
अपनिह्नुतिं विशाखभूतिः प्रियजानेः स्वजनो हि वैरिवर्गः ॥३१

के साथ श्रीधर गुरु के चरणकमलो के मूल मे जाकर जिनदीक्षा धारण कर ली ॥ २३ ॥ जिसने शत्रुओं के समूह को जीत लिया है तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य-इन छह अन्तरङ्ग शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है ऐसे विशाखभूति के समीप जाकर राज्यलक्ष्मी उस तरह निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हुई जिस तरह कल्पवृक्ष के समीप जाकर कल्पलता वृद्धि को प्राप्त होती है ॥ २४ ॥ युवराज यद्यपि नीति, वीरश्री और शक्तिरूप सम्पदा के द्वारा अधिक था तो भी वह अपने चाचा राजा विशाखभूति का कभी उल्लङ्घन नही करता था सो ठीक ही है; क्योंकि महान् पुरुष क्या मर्यादा का उल्लङ्घन करते हैं ? अर्थात् नही करते ॥ २५ ॥ तदनन्तर युवराज ने एक ऐसा अनोखा बाग बनवाया जो समस्त ऋतुओं से सदा व्याप्त रहता था, जिसमें मत्त भौंरे और कोयलें शब्द करती रहती थी तथा जिसकी शोभा इन्द्र के नन्दनवन को तिरस्कृत करनेवाली थी ॥ २६ ॥ वह तीनों काल में रमणीय रहनेवाले उस बाग में सुन्दर स्त्रियों के साथ विहार करता था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानों आम्रवृक्ष के नीचे रतिसहित बैठे हुए कामदेव को आदर-पूर्वक खोजने के लिये ही विहार करता था ॥ २७ ॥ राजा विशाखभूति और उसकी स्त्री लक्ष्मणा का विशाखनन्दी नाम का प्रथम प्रियपुत्र था जो नवयौवन से मत्त था तथा काम से हाथी के समान निरङ्कुश हो रहा था ॥ २८ ॥ मदोन्मत्त हाथी के समान चलनेवाले विशाखनन्दी ने किसी समय युवराज के उस दर्शनीय बाग को देखकर खाना-पीना छोड़ दिया और माता के पास जाकर याचना की कि वह बाग युवराज से लेकर मुझे देदो ॥ २९ ॥ माता को पुत्र बहुत ही प्यारा था इसलिये उसने एकान्त में आग्रहपूर्वक राजा से कहा कि हे राजन् ! यदि तुम्हें मेरे जीवन से प्रयोजन है तो पुत्र के लिये बाग देदो ॥ ३० ॥ युवराज यद्यपि अपने हित में

---

१. पत्नं ब० । २. स्थिति ब० ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

न ददाति वनं स याच्यमानो भवता तद्गुणरञ्जितानुरक्तः ।
अवलोक्य नाथ शुद्धबुद्ध्या ननु कस्यामिमते धृतिर्न लुब्धा ॥३९
अनवाप्य वनं प्रयासि कोपं त्रिदया वाक्यलवया प्रताड्यमानः ।
हरणाय हठात्प्रवर्तसे चेत्प्रतिपक्षस्य तदानपेक्ष्य पक्षम् ॥४०
स्थितिहीनमिति प्रतीतसत्त्वाः सकलास्त्वामपहाय राजमुख्याः ।
उपयान्ति तदा तमेव वीरं भुवि विख्यातनदा इवाम्बुराशिम् ॥४१
विजितान्यनरेश्वरोऽपि राजन्युवराजस्य पुरो न भाति युद्धे ।
कुमुदाकरबन्धुवह्निनादौ किरती रश्मिचयं सहस्ररश्मेः ॥४२
अथवा निहतः स युद्धरङ्गे भवता दैववशेन वा कथंचित् ।
विदधाति जगज्जनापवादो बहुले नक्तनिबान्धकारराशिः ॥४३
अनपेतनयं विपाकरम्यं वचनं कर्णरसायनं बुधानाम् ।
हितनिस्पृहमित्यधाय मन्त्रिमुख्ये विरते प्रत्यवदन्नराधिनाथः ॥४४
इदमीदृशमेव यत्प्रणीतं भवता कृत्यविदा तदेव कृत्यम् ।
तमुपायमुदीरयार्य येन जनहीनं तदवाप्यते सुखेन ॥४५
इति तद्वचनं निशम्य पश्चः पुनरूचे सचिवो विचारदक्षः ।
तदुपायवरं वयं न विद्मः कुशलो यस्तदवाप्तये विपाके ॥४६

है ॥ ३८ ॥ आप याचना करते हैं और वन की सुन्दरता में अनुरक्त युवराज वन को नहीं देता है तो हे स्वामिन् ! यहाँ आप शुद्ध बुद्धि से—पक्षपातरहित दृष्टि से देखिये । इष्ट वस्तु में किसकी बुद्धि लुब्ध नहीं होती ? अर्थात् सभी की बुद्धि लुब्ध रहती है ॥ ३९ ॥ यदि वन को न पाकर आप क्रोध को प्राप्त होते हैं अथवा स्त्री के द्वारा वचनरूपी कोड़ा से ताड़ित होते हुए विरोधी के पक्ष की उपेक्षा कर हठपूर्वक हरण करने के लिये प्रवृत्त होते हैं तो शक्तिसम्पन्न समस्त प्रमुख राजा 'यह नीति से भ्रष्ट है' ऐसा समझ आपको छोड़कर उसी वीर-वीर के पास उस प्रकार चले जावेंगे जिसप्रकार कि पृथिवी पर प्रसिद्ध नद समुद्र के पास चले जाते हैं ॥ ४०–४१ ॥ हे राजन् ! यद्यपि आपने अन्य राजाओं को जीत लिया है तो भी युद्ध में युवराज के आगे आप उस तरह सुशोभित नहीं हो सकते जिस तरह कि दिन के प्रारम्भ में किरण-समूह को बिखेरनेवाले सूर्य के सामने चन्द्रमा सुशोभित नहीं होता ॥ ४२ ॥ अथवा दैववश युद्ध के मैदान में वह किसी तरह आपके द्वारा मारा भी गया तो जिस प्रकार कृष्णपक्ष में अन्धकार की राशि रात्रि को आच्छादित कर लेती है उसी प्रकार लोकापवाद जगत् को आच्छादित कर लेगा ॥ ४३ ॥ इस प्रकार नीति युक्त, फलकाल में रमणीय तथा विद्वानों के लिये कर्णप्रिय हितकारी वचन कह कर जब प्रधानमन्त्री चुप हो गया तब राजा ने इसका उत्तर दिया ॥ ४४ ॥ राजा ने कहा कि कार्य के जाननेवाले आपने जो कार्य कहा है यह यद्यपि ऐसा ही है तथापि हे आर्य ! वह उपाय बताओ कि जिससे किसी हानि के बिना ही सुख से वह वन प्राप्त किया जाय ॥ ४५ ॥ राजा के यह वचन सुन कर विचार करने में चतुर मन्त्री ने फिर कहा कि हम लोग उस श्रेष्ठ उपाय को नहीं जानते हैं जो उस वन की प्राप्ति के लिये फलकाल में

---

१. नराधिराजः ब० । २. तदुपाय म० ।

यदि वेत्सि विधत्स्व तं स्वबुद्ध्यात्र तवास्ति हि अस्ति सूनवे विनिवेद्यः ।
मतु सुत्यधियो प्रभवन्त्यनीदृशः सचिवोऽपि स्वमतं प्रकाशयितुः ॥४७
इति मागधपुरीशं मन्त्रिसुहृदे विसृज्य मन्त्रिगणान्तिकगतं राजा ।
मनसा स्वयमालोक्य किंचिदनन्तरमसूत्र सुतमिदं वचनाय ॥४८
अयमद्य विदितो न किं तवेतिः प्रतिपूते पथि कामरूपनाथः ।
मम वर्तत इत्यहं विहन्तुं द्रुतमभ्येमि तमात्मजात्र यावत् ॥४९
इति तद्वचनं निशम्य सम्यक् प्रणिपत्यैवमुवाच विश्वनन्दी ।
मयि तिष्ठति कस्तव प्रयासः क्षितिप प्रेषय मामहं जिगेष्ये ॥५०
प्रतिपक्षमनाप्य मत्प्रतापो भुजयोरेव चिरं विलीयमानः ।
नरनाथ न जातु वीक्षितो यः परमार्थात्क्षितिपैः स्वयं स तस्य ॥५१
इति गर्वनिधाय तावदेवं पुनरभ्यर्चनपूर्वकावनीशः ।
विससर्ज तमेव सोऽभ्ययात्तत्प्रविधायोपवनस्य चाभिरक्षाम् ॥५२
विनतैरथ सन्धितैः स्वदेशं तरसातीत्य नयेन संगतानिः ।
पथि राजकलोटिभिः परीतो रिपुदेशस्य समीपमाससाद ॥५३
प्रविशन्नथ दूरतः सभायां प्रतिहारेण सहान्यदा प्रतीतः ।
व्रणपट्टकबद्धसर्वदेहो युवराजा ददृशे वनाधिरक्षः ॥५४
प्रणनाम निवेशितेन भूम्यां शिरसा नाभवनाथवत्सलं सः ।
अभिलक्ष्य च विष्टरोपविष्टं स्थितवांस्तत्प्रथमद्युतिस्तवेशे ॥५५

अच्छा उपाय कहा जा सके ॥ ४६ ॥ यदि आप जानते हैं तो अपनी बुद्धि से उस उपाय को करो क्योंकि बुद्धियाँ प्रत्येक पुरुष की विभिन्न प्रकार की होती है। यह निश्चित है कि कार्य करने में राजा ही प्रमाण होता है मन्त्री तो अपना मत प्रकट करने में ही समर्थ होता है ॥ ४७ ॥ इस प्रकार के वचन कह कर जब प्रधान मन्त्री चुप हो गया तब राजा ने मन्त्रिगणों को विदाकर मन से स्वयं ही कुछ विचार किया और शीघ्र ही युवराज को बुलाकर कहा ॥ ४८ ॥ हे भले पुत्र ! यह क्या तुम्हें विदित नहीं है कि कामरूप का प्रख्यात राजा मेरे विरुद्ध मार्ग में प्रवृत्ति कर रहा है इसलिये उसे नष्ट करने के लिए मैं शीघ्र ही उसके सन्मुख जाता हूँ ॥४९॥ राजा के इस वचन को सुनकर, युवराज विश्वनन्दी ने अच्छी तरह प्रणाम कर इस प्रकार कहा कि हे राजन् ! मेरे रहते हुए आपका प्रयास क्या है ? आप मुझे भेजिये, मैं इसे जीतूँगा ॥ ५० ॥ मेरा प्रताप शत्रु को न पाकर चिरकाल से भुजाओं में ही विलीन होता आ रहा है। हे राजन् ! आपने उसे कभी देखा भी नहीं है अब उसे कामरूप के राजा पर अच्छी तरह प्रकट होने दिया जाय ॥ ५१ ॥ इस प्रकार के गर्वपूर्ण वचन कह विश्वनन्दी ने फिर से राजा को शिर झुका कर प्रणाम किया। फलस्वरूप राजा ने उसे ही विदा किया और वह भी उपवन की रक्षा कर कामरूप गया ॥ ५२ ॥ तदनन्तर कुछ ही दिनों में वेग से अपने देश को लाँघ कर वह शत्रु देश के समीप आ पहुँचा। मार्ग में वह नीतिपूर्वक मिले हुए अनेक राजाओं के दलों से संयुक्त होता आता था ॥ ५३ ॥ किसी एक दिन युवराज ने द्वारपाल के साथ सभा में प्रवेश करते हुए पूर्व परिचित वनरक्षक को दूर से देखा। वनरक्षक के समस्त शरीर पर घावों की पट्टियाँ बँधी हुई थी ॥ ५४ ॥ वनरक्षक ने कुमारों के

क्षणलब्धावकाशेन पूर्वं क्षितितलेन निवेदितं शरीरैः ।
पुनरुक्तविशेषणेव पृष्टो विजयावागमनस्य कारणं सः ॥५६
अरणाख्यवनेरुपद्रवाणामवधीरणं विशाखनन्दी ।
विदधाति स्म भवत्प्रतापयोग्यं तदपि श्रोष्यति यत्कृतं च रक्षैः ॥५७
इति तेन निवेदितां विदित्वा वनवार्तां कुपितोऽपि विश्वनन्दी ।
अवधीरयति स्म धीरचित्तः कथया तामथ लीलयान्यथैव ॥५८
महतीमथ तस्य कारयित्वा सहसा स्नानपुरस्सरां सपर्याम् ।
विनयावनतिः स च प्रसादं पुनरासाद्य ननाम्ययावनम्रः ॥५९
अथ तेन भवैः प्रतापयोगात् परया च प्रथमीकृतः सपत्नः ।
प्रणिपत्य करं वितीर्य सारं विनिवृत्यापि तदाज्ञया जगाम ॥६०
निरवर्तत वेगतो युवेशः सकलीकृत्य ततस्तदा तदाज्ञाम् ।
स्वपुरं प्रतिपूज्य राजलोकं विबुधानप्रतिमः प्रतिप्रयाणम् ॥६१
अवलोकयति स्म स स्वदेशं त्वरसा प्राप्य पलायमानलोकम् ।
किमिदं कथयेति तेन पृष्टो निजगादेत्यभिधानधेयः ॥६२

साथ स्नेह करनेवाले तथा सिंहासन पर बैठे हुए अपने स्वामी के समीप जाकर उन्हे पृथिवी पर झुके शिर से प्रणाम किया और प्रणाम के पश्चात् वह उनकी प्रेमपूर्ण दृष्टि द्वारा प्रदत्त स्थान पर बैठ गया ॥ ५५ ॥ तदनन्तर क्षणभर बैठकर स्वामी द्वारा पूछे गये वनरक्षक ने अपने आने का कारण कहा सो उसका वह कहना पुनरुक्त के समान हुआ, क्योंकि घावों से युक्त शरीर के द्वारा वह कारण पहले ही कह दिया गया था ॥ ५६ ॥ उसने कहा कि राजा की आज्ञा से हम सबको तिरस्कृत कर विशाखनन्दी उपवन में प्रविष्ट हो चुका है। इस संदर्भ मे रक्षकों ने आपके प्रताप के योग्य जो कुछ किया है उसे भी आप सुनेंगे ॥ ५७ ॥ इस प्रकार वनरक्षक के द्वारा कहा हुआ वन का समाचार जान कर विश्वनन्दी यद्यपि कुपित तो हुआ तो भी धीर-वीर चित्त के धारक उसने लीलापूर्वक दूसरी कथा छेड़कर उस समाचार को उपेक्षित कर दिया ॥ ५८ ॥ तदनन्तर विश्वनन्दी ने शीघ्र ही उस वनरक्षक का स्नान सहित बहुत सत्कार कराया। सेवक के इस सत्कार से राजा सुशोभित हुआ और राजा से प्रसाद को पाकर वह सेवक भी अतिशय नम्र हुआ ॥ ५९ ॥ पश्चात् युवराज विश्वनन्दी ने नीति तथा बहुत भारी प्रताप के बल से शत्रु को अधीन किया जिससे उसने आकर युवराज को प्रणाम किया, अत्यन्त श्रेष्ठ कर प्रदान किया और उसके अनन्तर वह युवराज की आज्ञा से लौट कर वापस चला गया ॥ ६० ॥ तदनन्तर युवराज, राजा विशाखभूति की आज्ञा को सफलकर वेग से अपने देश की ओर लौटा। लौटते समय उपमारहित युवराज प्रत्येक पड़ाव पर राजाओं को सन्मानित कर विदा करता आता था ॥ ६१ ॥ शीघ्र ही स्वदेश को प्राप्तकर उसने देखा की बहुत-से लोग भागे जा रहे हैं। 'यह क्या है कहो' इस प्रकार युवराज के पूछने पर अनिष्ट नामक किसी मनुष्य ने कहा कि हे नाथ! विशाखनन्दी आपके वन को चारों ओर से

---

१. अवधारयति स्म ब० । २. लीलयान्यथैव म० ।

अतिरौद्रमिदं कर्म विश्वभूतिकृतं तव प्रभु दुर्गमतां विधाय सैन्यम् ।
नयतात्र हि सम्प्रतीक्ष्य वेगं जवनानीक मुखादिवोऽस्तु सुव्यवस्थितिः ॥६३
तदवैहि जवात्ययो जवानो मुखतोऽस्यैव विनाशकर्म भवेत् ।
कथितं च मया यथातथं तदिदं देव परं न वेद्मि किञ्चित् ॥६४
इति साहसमेत्य विश्वभूतौ स विशिष्यैवमिति प्रभाव धीरगदः ।
प्रभवे वचन मथ विरचितवृत्तिमनुप्रयातुमुद्यतमेतां च यात्रा ॥६५
विनिवृत्य यदि प्रयामि पश्चाद्भवतः कोऽपि विपत्तिं न भूयः ।
यदि हन्मि ततो जनापवादो यद कि दुष्टमनुष्ठितं मयैवम् ॥६६
पुनरित्यभिधेन नोदितः सन्मतिविद्यः स नृपं विनीतमाहार ।
गदनाथ यथा च वीरलक्ष्मीर्विमुखी नैव भवेत्तथैव कृत्यम् ॥६७
अभवद्विभुजो यथा तस्मिन्नवनाथस्य हृतं पुरापि देव ।
अपहृत्य च स स्वकीयमेव प्रसभं हन्तुमधीहते भवन्तम् ॥६८
इदमद्भुतमीदृशेऽपि कोपो भवतस्तत्र न जायते कथं वा ।
प्रतिकूलगतं भवन्तिं लोके हरते तुल्यतरुं तटापवारोऽपि ॥६९
यदि च त्वयि तस्य बन्धुबुद्धिः किमु न प्रेक्षयतीति वृत्तमेकम् ।
विहितानति च प्रयाति कोपं यदि भीत्या रचिताञ्जलौ विधार्यः ॥७०

अत्यन्त भयंकर दुर्ग बना कर आपके साथ युद्ध करने की इच्छा कर रहा है जब कि राजा आप दोनों पर एक समान वृत्ति वाला है ॥ ६२–६३ ॥ युद्ध का समाचार जान यह देश, भय से कुछ आशङ्का करता हुआ शीघ्र ही भाग रहा है। हे देव ! यह जैसा हो रहा है वह मैंने कहा इसके सिवाय मैं कुछ नहीं जानता हूँ ॥ ६४ ॥ इस प्रकार के उसके वचनों से विश्वभूति कुछ विचार कर बोला। बोलते समय उसके वचन बहुत ही गंभीर निकल रहे थे। वह कहने लगा कि मेरी मनोवृत्ति जिस विषय में लज्जित होती थी विधाता उसी विषय को लेकर आगे खड़ा हो गया ॥ ६५ ॥ यदि लौट कर पीछे जाता हूँ तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि कोई भी निर्भय सेवक लौटता नहीं है। यदि विश्वभूति को मारता हूँ तो लोकापवाद होता है। इस प्रकार दोनों कार्य यद्यपि अकृत्य हैं, करने योग्य नहीं हैं तो भी मेरे करने योग्य कोई एक कार्य बताइये। इस प्रकार राजा के द्वारा बार-बार प्रेरित होने पर मन्त्री ने स्पष्ट रूप से यह कहा कि हे राजन् ! जिस तरह वीरलक्ष्मी विमुख न हो वही कार्य करने योग्य है ॥ ६६–६७ ॥ हे देव ! यद्यपि आपने यह पहले ही सुन रखा था कि विश्वभूति ने वन का हरण कर लिया है तो भी आप उसके विरुद्ध नहीं हुए। अब वह आपकी ही वस्तु का अपहरण कर हठपूर्वक आपको ही मारने की चेष्टा कर रहा है ॥ ६८ ॥ यह आश्चर्य की बात है कि इस प्रकार की धृष्टता करने पर भी उसपर आपका क्रोध क्यों नहीं उत्पन्न हो रहा है ? लोक में प्रतिकूलता को प्राप्त हुए अतिक्रूर वृक्ष को नदी का वेग भी तो उखाड़ देता है ॥६९॥ यदि आपमें उसकी बन्धुबुद्धि है—यह आप को अपना भाई समझता है तो एक वृत्त क्यों नहीं सैंचता ? अर्थात् वृत्त सैंच कर क्षमा क्यों नहीं माँग लेता ? अपराध हो जाने पर यदि वे भय से हाथ जोड़ लेता है तो क्या आप मृत पर क्रोध को प्राप्त होते हैं ? अर्थात् नहीं होते। आशयार्थ—

---

१. जवनानीक मुखादिवोऽस्तु क० । २. तीक्ष्णतमेन क० ।

कृतघ्नरिक्तराष्ट्रेऽपि सन्धौ प्रतिनिवेशे न करोति दोषं यः ।
प्रतिबिम्बितकलङ्के स पराजिगमारीमुखदर्पणे कलङ्कम् ॥७१
अयमेव पराक्रमस्य कालो मनसो मानवतामनीश्वरस्य ।
कथितं च मया विचार्य कार्यं सदृशं स्वानुजयोरिदं न चान्यत् ॥७२
इति विक्रमशालिनां नतोऽसौ वचनं न्यायविदां च तस्य मत्वा ।
अविलम्बितमेव विक्रमज्ञो प्रययावम्बरिपुर्मुपप्रकोपात् ॥७३

वसन्ततिलकम्

सेनामथ प्रसुदितां प्रणतागमस्य दूरे निवेश्य सुभटैः सह कैश्चिदेव ।
दुर्गावलोकनपदेन जगाम वेगाद्युद्धे निधाय हृदयं युवराजसिंहः ॥७४
प्राप्तस्तदप्रतिमसालमलङ्घ्यजातं नानाविधैः परिवृतं परितोऽपि यन्त्रैः ।
विध्यातशूरनिकुरम्बकपाल्यमानं स्थानान्तरोच्छ्रितसितध्वजजीवितांशम् ॥७५
उत्प्लुत्य सातमचिरेण विलङ्घ्य सालं भग्ने समं रिपुबलेन निशानखड्गे ।
उत्पाटितेन सहसैव शिलामयेन स्तम्भेन भासुरकरो रिपुमाप कोपात् ॥७६
आयान्तमन्तकनिभं तनुवेपमानमालोक्य वेपथुगृहीतसमस्तगात्रः ।
तस्थौ कपित्थतरुमेत्य विशालनन्दी मन्दीकृतद्युति बहन्वदनं भयेन ॥७७

उद्यान का अपहरण कर लेने पर भी यदि उसके हृदय में आप के प्रति बन्धुत्व का भाव होता तो वह दूत भेज कर अपने उस भाव को प्रकट करता और इस स्थिति में आपका क्रोध न करना भी उचित ठहरता। परन्तु उसने अपराध करने पर भी कोई दूत नहीं भेजा इससे सिद्ध है कि उनके हृदय में आपके प्रति कोई बन्धुत्व का भाव नहीं है। इसलिये उसके प्रति आपके हृदय में क्रोध का उत्पन्न होना उचित ही है ॥ ७० ॥ बहुत भारी तिरस्कार करनेवाले विरुद्ध शत्रु पर भी जो पौरुष नहीं करता है वह पीछे अपनी स्त्री के मुख-रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित कलङ्क को देखता है अर्थात् स्त्रियों के समक्ष उसे लज्जित होना पड़ता है ॥ ७१ ॥ आप मानी मनुष्यों के अधिपति हैं अतः आपके पराक्रम का यही काल है। मैंने यह विचार कर कार्य कहा है। तुम्हारी भुजाओं के अनुरूप यही कार्य है, अन्य नहीं ॥ ७२ ॥ इस प्रकार मंत्री के पराक्रमशाली तथा नीतिज्ञ मनुष्यों के प्रिय, वचनों को स्वीकृत कर विक्रमज्ञ तीव्र क्रोध से शीघ्र ही शत्रु के दुर्ग की ओर चल पड़ा ॥ ७३ ॥ तदनन्तर युद्ध का अवसर आने से प्रसन्न सेना को दूर खड़ी कर श्रेष्ठ युवराज युद्ध में हृदय लगा कर कुछ ही वीरों के साथ दुर्ग देखने के बहाने वेग से गया ॥ ७४ ॥ जिसका अनुपम कोट है, जो अलंघनीय परिखा से युक्त है, जो चारों ओर नाना प्रकार के यन्त्रों से घिरा हुआ है, प्रसिद्ध शूर वीरों का समूह जिसकी रक्षा कर रहा है तथा बीच-बीच में फहराती हुई सफेद पताकाओं से जो दिशाओं को कम्पित कर रहा है ऐसे दुर्ग को वह प्राप्त हुआ ॥ ७५ ॥ वह शीघ्र ही परिखा को तैर कर तथा कोट को लाँघ कर शत्रु की सेना को नष्ट करने लगा। शत्रुदल के साथ-साथ जब उसकी तीक्ष्ण तलवार भग्न हो गई तब वह शीघ्र ही उखाड़े हुए पत्थर के एक खम्भा से हाथ को सुशोभित करता हुआ क्रोधवश शत्रु पर झपटा ॥ ७६ ॥ यमराज के समान शक्तिशाली युवराज को आता देख भय से जिसका समस्त शरीर काँपने लगा ऐसा विशालनन्दी निष्प्रभ मुख को धारण करता हुआ कैथा के वृक्ष की ओट में आकर खड़ा हो गया ॥ ७७ ॥ परन्तु

तस्मिन्नरेन्द्रतनये सदयं स्वयमेवोत्थेन प्रोन्मूलिते सहसा तेन महाद्रुमेण ।
उन्मूलनादरचिताञ्जलिमेत्य सद्यो भीत्या भयाक्षरपदः शरणं ततोऽन्यः ॥७८
पादानतं तमवलोक्य विहीनसत्त्वं तत्क्षीणतापरिहृतं प्रविहाय कोपम् ।
नूनं भयाकुलतयेति ज्ञातवेऽपि प्रत्यर्पयत्यपनिधिः स्वयमेति लज्जाम् ॥७९
मूर्धानमानतमुदस्य तदा तदीयं पर्यस्तरत्नमुकुटं स करद्वयेन ।
तस्मै ददावभयमुन्मितसाहसानां युक्तं तदेव महतां शरणागतेषु ॥८०
कृत्वाऽहमीदृशमनात्मसमं कथं वा स्थास्यामि तस्य पुरतोऽद्य विशाखभूतेः ।
इत्याकलय्य हृदयेन गृहीतलज्जो राज्यं विहाय तपसे निरगाद्वयारात् ॥८१
यान्तं तदा चरितमाचरितुं मुनीनां रोद्धुं समुद्यतमपि न तं पितृव्यः ।
पादानतोऽपि सकलैः सह बन्धुवर्गैः किं वा महान् व्यवसिताद्विनिवृत्य याति ॥८२
उल्लङ्घ्य मन्त्रिवचनं विहितं पुरा यत् तस्मात्तदानुतमवाप्य नरेश्वरोऽपि ।
लोकापवादचकितः स्वसुते स तस्मिन् लक्ष्मीं निधाय सकलां तनुते प्रतस्थे ॥८३
मत्वा महीपतिगिरात्मु सभं सहर्षैः संभूतपादयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना ।
दीक्षां विरेजतुरुभावपि तौ गृहीत्वा पुंसां तपो ननु विभूषणमेकमेव ॥८४
कृत्वा तपश्चिरतरं स विशाखभूतिः सोढ्वा परीषहगणानथ दुर्निवारान् ।
हित्वा निदानमनघं बलमं समाप्य दुष्टाम्बुधिस्थितिसमस्य सुरं बभूव ॥८५

महाबलवान् युवराज ने अपने मनोरथ के साथ-साथ जब उस महान् वृक्ष को भी उखाड़ लिया तब वह शरणरहित हो भय से नम्रीभूत होता तथा भयपूर्ण शब्दों के साथ हाथ जोड़ता हुआ उसी युवराज की शरण को प्राप्त हुआ ॥ ७८ ॥ जो चरणों में नम्रीभूत है, जिसकी शक्ति क्षीण हो चुकी है तथा जो लज्जा से भरा है ऐसे उस विशाखनन्दी को देख युवराज ने शीघ्र ही क्रोध छोड़ कर उसे स्वीकृत किया सो ठीक ही है, क्योंकि प्रसिद्ध पौरुष का भाण्डार पुरुष भयभीत शत्रु के ऊपर भी निश्चय से लज्जा को प्राप्त होता है ॥ ७९ ॥ जिसका रत्नमय मुकुट नीचे गिर गया था ऐसे उसके नम्रीभूत मस्तक को युवराज ने उसी समय दोनों हाथों से उठा कर उसे अभयदान दिया सो ठीक ही है क्योंकि अत्यन्त साहसी महापुरुषों का शरणागत मनुष्यों के विषय में वही व्यवहार उचित है ॥ ८० ॥ मैं अपने अनुरूप इस प्रकार के कार्य कर के उस विशाखभूति के आगे किस प्रकार खड़ा होऊँगा ? ऐसा हृदय से विचार कर लज्जित होता हुआ युवराज राज्य छोड़ तप के लिये घर से निकल पड़ा ॥ ८१ ॥ उस समय मुनियों के चारित्र का आचरण करने के लिये जाते हुए युवराज को चाचा विशाखभूति रोकने के लिये समर्थ नहीं हो सका सो ठीक ही है; क्योंकि समस्त बन्धुवर्ग भले ही चरणों में नम्रीभूत हो कर रोकें तो भी महान् पुरुष क्या अपने निश्चय से लौट कर पीछे आता है ? अर्थात् नहीं आता ॥ ८२ ॥ मन्त्री के वचनों का उल्लङ्घन कर पहले जो किया था उससे राजा विशाखभूति भी उस समय पश्चात्ताप को प्राप्त हुआ ? फलस्वरूप लोकापवाद से चकित होता हुआ वह भी समस्त लक्ष्मी अपने पुत्र के लिये देकर युवराज के पीछे चल पड़ा अर्थात् उसने भी दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया ॥ ८३ ॥ विश्वनन्दी और विशाखभूति दोनों ने शीघ्र ही एक हजार राजाओं के साथ आकर संभूत नामक मुनि के चरणयुगल में सिर से प्रणाम किया और दोनों ही उनके समीप दीक्षा लेकर सुशोभित होने लगे सो ठीक ही है; क्योंकि एकमात्र तप ही मनुष्यों का अद्वितीय आभूषण है ॥ ८४ ॥ तदनन्तर विशाखभूति चिरकाल तक तप कर,

वंशस्थम्

अथावधन्याशु विशाखनन्दिनं विवर्जितं दैव पराक्रमाद्यदैः ।
विजित्य युद्धे सपुरादवे श्रियं पुरेण तायादमहीपतिः समम् ॥८६

उपजातिः

आत्मन्परित्राणपरोपहाय मानं तनेव धृतक्रियमत्र सिषेवे ।
महीपतिः प्रागपि नित्यशङ्कं निर्विक्रमस्यापि जनाङ्गुलीभिः ॥८७
अथैकदासूत्रितपोविभूतिर्मासोपवासेन कृशीकृताङ्गः ।
प्रोत्तुङ्गहर्म्यां मथुरां स्वकाले विवेश भिक्षां प्रति विश्वनन्दी ॥८८
शृङ्गप्रहारेण [illegible]ः पतन्तं रक्षानुगे सानुशयानुवृत्तः ।
अहास वीक्ष्य विशाखनन्दी वाराङ्गना सौधतलाधिरूढः ॥८९
जगाद चैवं क्व गतं बलं ते विजित्य सेनां सकलां सदुर्गाम् ।
उन्मूलितो येन शिलाविशालः स्तम्भः कपित्थश्च पुरा त्वयाद्य ॥९०

वसन्ततिलकम्

आकर्ण्य तस्य वचनं प्रविलोक्य तं च क्षान्तिं विहाय विनिवृत्य तथैव गत्वा ।
कृत्वा निदानमसुधान्मुनिरात्मदेहं कोपो हि कारणमनर्थपरम्पराया: ॥९१

दुर्निवार परीषहों के समूह को सहन कर तथा मिथ्यात्व माया और निदान इन तीन शल्यों को छोड़ कर अट्ठारह सागर की आयु वाले बहुत भारी सुख से सम्पन्न दशम स्वर्ग को प्राप्त हुआ ॥ ८५ ॥ तदनन्तर विशाखनन्दी को शीघ्र ही देव और पराक्रम से रहित जान उसके भागीदार अन्य राजा ने युद्ध में उसे जीतकर नगर के साथ-साथ उसकी सब सम्पत्ति छीन ली ॥ ८६ ॥ 'पेट भरना है' इस अभिप्राय से विशाखनन्दी मान छोड़ कर दूत क्रिया से उसी विजेता राजा की सेवा करने लगा जब कि लोग अङ्गुलियों द्वारा निःशङ्क होकर परस्पर बताया करते थे कि यह पहले का राजा है ॥ ८७ ॥ तदनन्तर एक मास के उपवास से जिनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया था ऐसे उग्रतपस्वी विश्वनन्दी मुनि ने योग्य समय भिक्षा के उद्देश्य से ऊँचे-ऊँचे महलों से युक्त मथुरा नगरी में प्रवेश किया ॥ ८८ ॥ प्रवेश करते ही गली के प्रारम्भ में एक पशु ने सींगों से उस मुनि पर प्रहार किया जिससे वे गिर पड़े । उन्हें गिरता देख दुराचारी विशाखनन्दी जो कि एक वेश्या की छत पर बैठा था हँसने लगा ॥ ८९ ॥ उसने कहा कि आज तुम्हारा वह बल कहाँ गया जिसने पहले दुर्गसहित समस्त सेना को जीत कर पत्थर का विशाल खम्भा और कैथ का वृक्ष उखाड़ा था ॥ ९० ॥ उसके वचन सुन मुनि ने उसकी ओर घूर कर देखा तथा क्षमा भाव का परित्याग कर आहार के बिना

---

१. कालं मासमुपोष्य स्वे विक्रान्तं मथुरापुरीम् । तं मध्याह्नवृषा गृष्टिर्वत्सोऽभी प्राहरत्पथि ॥४१
तस्याः शृङ्गप्रहारेण पतितं विश्वनन्दिनम् । अहासीत्तत्समक्षात्सुनुर्वेश्यावाटीवतले स्थितः ॥४२
प्राहासीत्तत्र सोल्लेखान्मुनिना मृगम् । तेनाकारि निदानं च प्रायस्तद्वधसिध्यया ॥४३
स निवृत्य ततो गत्वा हित्वा तनुतरां तनुम् । महर्द्धिर्विबुधो जज्ञे महाशुक्रे दशार्णवात् ॥४४
—हरिवंश कविवर्य श्रीजिनसेनाचार्य, सर्ग ६६.

२. विशालः स्तम्भः ब ।

वसन्ततिलका

ततो महाशुक्रनवाख्य कल्पं महेन्द्रकल्पस्त्रिदशो बभूव ।
स षोडशाम्भोनिधिसन्मितायुर्विद्याङ्गनालोकनलोलनेत्रः ॥९२

पृथ्वी

विचित्रमणिरश्मिभिर्जटिलीकृताखिलाशामुखं शशाङ्ककिरणाङ्कुरद्युतिहरं विमानोत्तमम् ।
अनेकशिखरावलीतटनिबद्धशुभ्रध्वजं समग्रसुखसंपदां पदमधिष्ठितः पिप्रिये ॥९३

मन्दाक्रान्ता

श्रित्वा जैनं व्रतमनुपमं लक्ष्मणायास्तनूजो दृष्ट्वा व्योम्नि प्रचुरविभवं खेचराणामधीशम् ।
बाध्यद्भोगातनुकृतकृपणो दुर्निदानं तपःस्थः कल्पं प्राप्तस्तदपि बहुधः क्लेशतः सद्व्रतैश्च ॥९४

॥ इत्यसगकविकृते श्रीवर्धमानचरिते विश्वनन्दिनिदानोनाम चतुर्थः सर्गः ॥

ही लौट कर वापिस चले गये। उन्होंने निदान कर अपना शरीर छोड़ा सो ठीक ही है; क्योंकि क्रोध अनर्थ परम्परा का कारण है ॥ ९१ ॥ तदनन्तर महाशुक्र नामक स्वर्ग को प्राप्त कर वे महेन्द्रकल्प नाम के देव हुए। वहाँ सोलह सागर प्रमाण उनकी आयु थी तथा देवाङ्गनाओं को देखने में उनके नेत्र सतृष्ण रहते थे ॥ ९२ ॥ नानाप्रकार के मणियों की किरणों से जिसमें समस्त दिशाओं के अग्रभाग व्याप्त थे, जो चन्द्रमा की किरणरूप अंकुरों की कान्ति को हरण कर रहा था, जिसकी शिखरावली के तट पर सफेद रङ्ग की अनेक ध्वजाएँ फहरा रही थीं तथा जो समस्त सुख-संपदाओं का स्थान था ऐसे उस उत्तम विमान को पाकर वह बहुत ही प्रसन्न हो रहा था ॥ ९३ ॥ लक्ष्मण के पुत्र विश्वनन्दी ने जिनेन्द्र भगवान् का अनुपम व्रत धारण कर तपश्चरण किया परन्तु आकाश में प्रचुर वैभव से युक्त विद्याधर राजा को देख उसे भोगों की इच्छा जागृत हो उठी। उसी इच्छा से दीन हो उसने खोटा निदान किया। फिर भी काय-क्लेश तथा सद्व्रतों के प्रभाव से वह महाशुक्र स्वर्ग को प्राप्त हुआ ॥ ९४ ॥

॥ इस प्रकार असग कविकृत श्री वर्द्धमानचरित में विश्वनन्दी के निदान का वर्णन करने वाला चतुर्थ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

पञ्चमः सर्गः

उपजातिः

द्वीपेऽत्र जम्बूमति भारताख्ये वर्षे महीध्रो विजयार्धनामा ।
समुन्नमन्नेकसुकूटरश्मिमद्वेतीकृताशेषनभःस्थलोऽस्ति ॥१
यत्रामलस्फाटिककूटकोटिस्थिता विलोक्यात्मवधूः खगेन्द्राः ।
साम्येन मूढा विबुधाङ्गनानां प्रयान्ति केल्यां सहसा व्यतीत्य ॥२
यत्प्रावनीलांशु महाप्रभाभिर्मृगेन्द्रशावो बहु विप्रलब्धः ।
गुहामुखं शङ्कितमानसश्चिरेण विवेश सद्यस्तु गुहासु नैव ॥३
यः सानुदेशस्थितपद्मरागमरीचिमालारुणितान्तरिक्षः ।
संशोभते नित्यमनन्ततेजाः संध्याघनो वा नितरां मनोज्ञः ॥४
यत्सानुदेशप्रतिबिम्बितं स्वं निरीक्ष्य वन्यद्विरदो मदान्धः ।
समेत्य वेगेन रदप्रहारैर्हिनस्ति को वा मदिनां विवेकः ॥५

पञ्चमसर्ग

इसके बाद जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में अत्यन्त उत्तुङ्ग अनेक शिखरों की किरणों से समस्त नभःस्थल को सफेद करने वाला विजयार्ध नाम का पर्वत है ॥ १ ॥ जहाँ निर्मल स्फाटिक निर्मित कूटों के अग्रभाग पर स्थित अपनी स्त्रियों को देख कर विद्याधर राजा देवाङ्गनाओं की समानता से भ्रान्ति में पड़ जाते हैं अर्थात् उन्हें देवाङ्गनाएँ समझने लगते हैं इसलिये क्रीड़ा के समय उन्हे सहसा छोड़कर चले जाते हैं ॥ २ ॥ जिस पर्वत के प्रत्यन्त पर्वतों में लगे हुए नीलमणियों की बहुत भारी प्रभा से अनेकों बार छकाया गया सिंह का बच्चा गुहाद्वार के प्रति शङ्कित चित्त होता हुआ सचमुच की गुहाओं में भी चिरकाल तक प्रवेश नहीं करता है ॥ ३ ॥ शिखरप्रदेश में स्थित पद्मरागमणियों की किरणावली से आकाश को लाल-लाल करनेवाला, अपरिमित तेज का धारक जो पर्वत निरन्तर अतिशय मनोहर सन्ध्या के मेघ के समान सुशोभित होता है ॥ ४ ॥ जिस पर्वत के शिखरप्रदेश में प्रतिबिम्बित अपने आपको देख मदान्ध जङ्गली हाथी वेग से आकर दाँतों के प्रहार से उसे मारता है सो ठीक ही है; क्योंकि मदसहित जीवों को कौन विवेक होता है ? अर्थात्

---

१. नमस्तलोऽस्ति ब० ।

२. यत्सानुनीलमणिदीप्तिपरम्पराभिः पञ्चाननस्य शिशवो बहु विप्रलब्धाः ।
सत्येऽपि कन्दरमुखे परिशङ्कमाना निश्चित्य गर्जनकृतध्वनिमिर्विशन्ति ॥ ८ ॥

३. स्वं वीक्ष्य वन्यद्विरदो नितम्बे यस्य बिम्बितम् । समेत्य दन्तैस्तं हन्ति मदिनां का विवेकिता ॥ ९ ॥

—जीवन्धरचम्पू, लम्ब ३.

बिम्बं विलोक्य निजमुज्ज्वलरत्नभित्तौ क्रोधादतिद्विप इतीह वृथा प्रहारम् ।
तद्भग्नदीर्घदशनः पुनरेव तोयात्पङ्कीकृतं स्पृशति पश्य गजः प्रियेति ॥ १९ ॥

—वर्धमानाभ्युदय सर्ग १०;

[illegible]

कुछ भी नहीं ॥ ५ ॥ विषरूपी अग्नि की तीव्रता से जिनके फन अत्यन्त भयंकर हैं ऐसे चारों ओर घूमते हुए सर्प, जिस पर्वत पर गरुड़मणियों की विस्तृत किरणावली के संस्पर्श से निर्विष हो जाते है ॥ ६ ॥ उस पर्वत की दक्षिण श्रेणी में पृथिवी के तिलक के समान आचरण करनेवाली एक अलका नाम की नगरी है जो उत्सव के समय बजनेवाले बाजों तथा संगीत के शब्दों से भरी हुई इन्द्र की अमरावती के समान सुशोभित होती है ॥ ७ ॥ तरङ्गों के प्रसार से दिशाओं को पूर्ण करनेवाली जिसकी विस्तृत परिखा सत्पुरुष और समुद्र के समान सुशोभित होती है; क्योंकि जिस प्रकार सत्पुरुष और समुद्र महाशय उदार अभिप्राय तथा विस्तृत मध्य भाग से युक्त होते हैं उसी प्रकार वह परिखा भी महाशय—विस्तृत मध्य भाग से संयुक्त थी। जिसप्रकार सत्पुरुष और समुद्र धीरतर—धैर्यशाली तथा मर्यादा के रक्षक होते हैं उसी प्रकार वह परिखा भी धीरतर—मर्यादा की रक्षक थी। जिसप्रकार सत्पुरुष और समुद्र गभीर—सहनशील तथा अगाध होते हैं उसी तरह वह परिखा भी गभीर—गहरी थी और जिसप्रकार सत्पुरुष तथा समुद्र सत्त्वाधिक—शक्तिसम्पन्न तथा मगरमच्छ आदि जीवों से युक्त होते हैं उसी प्रकार वह परिखा भी सत्त्वाधिक—सत्त्व अर्थात् जीवों से अधिगत है क—पानी जिसमें ऐसा था ॥ ८ ॥ देदीप्यमान किरणों के समूह से युक्त, शत्रुओं के द्वारा अभेद्य तथा निर्दोष आकृति को धारण करनेवाला जिसका विशाल कोट सती स्त्रियों के वक्षःस्थल की समानता को प्राप्त था; क्योंकि जिसप्रकार सती स्त्रियों का वक्षःस्थल पयोधरालीढसदम्बरश्रीः—स्तनों से व्याप्त समीचीन वस्त्र की शोभा से युक्त होता है उसी प्रकार कोट भी पयोधरालीढसदम्बरश्रीः—मेघों से व्याप्त उत्तम आकाश की शोभा से संपन्न था ॥ ९ ॥ जिस नगरी के गोपुरों के अग्रभाग में स्थित करोड़ों पुतलियों के मध्यप्रदेश को प्राप्त होकर अच्छी तरह विलीन हुई शरद् ऋतु की मेघमाला उत्तम उत्तरीय वस्त्र के समान सुशोभित होती है ॥ १० ॥ मन्द-मन्द

---

१. वक्षोरुहाभोगसदम्बरश्रीः ।
वक्षःस्थलीव प्रसवजनानां मनो हरीहृति च निर्जरेशाम् ॥ १४ ॥ —जीवन्धर० तृतीयलम्भ.

२. छन्द न० ।

३. यद्गोपुराग्रेषु नामनिपुणी विभाति । पृथूपलब्धप्रकृतेव शारदाम्बुदमालका ॥ १९ ॥
—जीवंधर० लम्भ ३.

मन्दानिलोल्लसितसौधगतध्वजौघैर्नीतानुभूः सपदि तान्[1] ।
उद्भूतहस्तनिलयैः स्वशोभामाभूय संदर्शयतीव नित्यम् ॥११
प्रसिद्धनामेन विरोधवर्जिता प्रमिण्वते वस्तुविदो निकामम्[2] ।
तत्रार्थिका वा सदसद्विचाराद्वस्तुप्रयत्नोपहितस्वभावाः[3] ॥१२
यत्राकुलीनाः सततं हि तारा दोषाभिलाषाः पुनरेव ऊकाः[4] ।
सद्वृत्तभङ्गोऽपि च गद्यकाव्ये रोधः परेषां सुजनस्य चासीत्[5] ॥१३
दण्डो ध्वजे सन्मुरजे च बन्धो वराङ्गनानां विकरेषु भङ्गः ।
सत्पञ्जरेष्वेव सदा विरोधो गतावहीनां कुटिलत्वयोगः ॥१४

वायु से फहराती भवनों पर लगी ध्वजाओं के समूह से जो नगरी ऐसी जान पड़ती है मानों ऊपर उठाये हुए अपने हाथों द्वारा सब ओर से स्वर्ग की भूमियों को बुलाकर निरन्तर उन्हें अपनी शोभा ही दिखा रही हो ॥ ११ ॥ प्रयत्नपूर्वक अपने वचनों का प्रयोग करने वाले लोकप्रिय वचन बोलने वाले (पक्ष में युक्तिसंगत वचन बोलनेवाले) जहाँ के वणिक् उत्तम नैयायिकों के समान विरोध से रहित—हीनाधिकता के दोष से रहित अथवा विरुद्ध आदि हेत्वाभासों से रहित प्रसिद्ध मान—क्रेता और विक्रेता में प्रसिद्ध प्रस्थ आदि प्रमाण के द्वारा (पक्ष में वादी और प्रतिवादी में प्रसिद्ध अनुमान आदि प्रमाण के द्वारा) सदसद्विचारात्—अच्छे-बुरे का विचार होने से (पक्ष में अस्ति पक्ष और नास्ति पक्ष का विमर्श होने से) वस्तु—नमक-तेल आदि पदार्थों को (पक्ष में जीवाजीवादि तत्त्वों अथवा-द्रव्य-गुण-कर्म सामान्य आदि पदार्थों को) अच्छी तरह प्रमाण का विषय करते हैं—तोलते हैं (पक्ष में जानते है) ॥ १२ ॥ जिस नगरी में निश्चय ही निरन्तर तारा—नक्षत्र ही अकुलीन—आकाश में लीन थे वहाँ के मनुष्य अकुलीन—नीच कुलोत्पन्न—असभ्य नहीं थे। उल्लू ही दोषाभिलाष—दोषा—रात्रि के चाहनेवाले थे वहाँ के मनुष्य दोषाभिलाष—दुर्गुणों के इच्छुक नहीं थे। सद्वृत्तभङ्ग—समीचीन छन्दों का अभाव गद्य काव्य में ही था वहाँ के मनुष्यों में सद्वृत्तभङ्ग सदाचार का विनाश नहीं था और दूसरों का रोध—नियन्त्रण सत्पुरुषों की इन्द्रियों में ही था अर्थात् सत्पुरुष ही अपनी इन्द्रियों को अन्य पदार्थों में जाने से रोकते थे वहाँ के मनुष्यों में दूसरों का रोध-नियन्त्रण नहीं था ॥ १३ ॥ जिस नगरी में दण्ड—आधारभूतकाष्ठयष्टि ध्वजा में ही थी वहाँ के मनुष्यों में दण्ड—जुर्माना नहीं था। बन्ध—बन्धरूप चित्रकाव्य की रचना सब मुरज—उत्तम मुरजाकार लिखे जानेवाले विशिष्ट श्लोक में ही थी वहाँ के मनुष्यों में बन्ध—रज्जु आदि से होनेवाला बन्धन नहीं था। भङ्ग—कुटिलता—घुँघरालापन उत्तम स्त्रियों के केशों में ही था वहाँ के मनुष्यों में भङ्ग—पराजय नहीं था। विरोध—वि—तोता आदि पक्षियों का रोध—रोकना सत्पञ्जरों—उत्तम पिंजड़ों में ही था वहाँ के मनुष्यों में विरोध—विद्वेष नहीं था और कुटिलत्व योग—टेढ़ी चाल का संयोग सदा साँपों में ही था वहाँ के मनुष्यों में कुटिलत्वयोग—मायाचार का संयोग नहीं था ॥ १४ ॥ तदनन्तर

---

१. मन्दानिलोल्लसितसौध शिरः प्रणद्ध ब०।

२. प्रसिद्धनामाविरुद्धेन मानेनाव्यभिचारिणा। वणिजस्तार्किकाश्चापि यत्र वस्तु प्रमिण्वते ॥ १४२ ॥
—चन्द्रप्रभ० सर्ग २

३. वस्तु प्रयत्ना हि यतः स्ववाचा म०। ४. न गद्यकाव्य म०। ५. भङ्गः कचेषु नारीणां न क्लेषु सपक्षिणाम्।

[illegible] धैर्येकधनः सहेन्द्रलीलो विविधर्द्धिसंहतिः ।
विद्यावलिप्तोन्नतसारसुन्दरः सहाप्रभावोऽभवदत्र मयूरकण्ठः ॥१५
सुरक्तसर्वप्रकृतिः प्रतापी नित्योदयोऽपास्ततमःप्रचारः ।
पद्माकरेशो जगदेकदीपो विभाति यो भास्करवत्सदर्च्यः ॥१६
अपास्तपद्मा कमनीय कान्तिर्मूर्तेव लक्ष्मीरुपयातमूर्तिः स्वयंगतेव ।
रतिः स्मरस्येव बभूव देवी मनोहरा यस्य कनकमालाख्या ॥१७
जङ्घाभृदुत्वेन हृता नितान्तं विसारतां सत्कदली प्रयाता ।
पयोधराभ्यां विजितं च यस्या भाकूरमास्ते कठिनं वनान्ते ॥१८
[2]नेत्रोत्पलाभ्यामनघाभ्यां यस्या नीलोत्पलं सत्परिभूयमानम् ।
सरस्यगाधे पतितं प्रगल्भ निरादरत्वात्किमनीयतेऽद्य ॥१९

धैर्य ही जिसका धन था, जो महेन्द्र के समान लीला का धारक था, जो अनेक ऋद्धियों का समूह था, जिसका उदार और सुन्दर हृदय विद्याओं से गर्वित था, तथा जिसका बहुत बड़ा प्रभाव था ऐसा मयूरकण्ठ-(मयूरग्रीव) नाम का विद्याधरों का राजा उस अलका नगरी का स्वामी था ॥१५॥ जो मयूरकण्ठ सूर्य के समान सुशोभित होता था; क्योंकि जिस प्रकार सूर्य सुरक्त सर्वप्रकृति होता है—उसमें समस्त प्रकृति—प्रजा सुरक्त—अच्छी तरह अनुरक्त रहती है उसी प्रकार मयूरकण्ठ भी सुरक्त सर्वप्रकृति था—मन्त्री आदि मूलवर्ग उसमें अच्छी तरह अनुरक्त था अथवा उसकी सर्वप्रकृति—सम्पूर्णस्वभाव सुरक्त—उत्तम प्रेम से परिपूर्ण था। जिस प्रकार सूर्य प्रतापी—प्रकृष्ट तपन से बहुत भारी गर्मी से युक्त होता है उसी प्रकार वह मयूरकण्ठ भी प्रतापी—कोश और सेना से उत्पन्न होनेवाले तेज से युक्त था। जिस प्रकार सूर्य नित्योदय—प्रतिदिन होनेवाले उदय से युक्त होता है उसी प्रकार मयूरकण्ठ भी नित्योदय—स्थायी अभ्युदय से युक्त था। जिस प्रकार सूर्य अपास्ततमः-प्रचार—अन्धकार के प्रसार को नष्ट करनेवाला होता है उसी प्रकार मयूरकण्ठ भी अपास्ततमःप्रचार—तमोगुण अथवा अज्ञान के प्रसार को नष्ट करनेवाला था। जिस प्रकार सूर्य पद्माकरेश—कमलवन का स्वामी होता है उसी प्रकार मयूरकण्ठ भी पद्माकरेश—लक्ष्मी के हाथों का स्वामी था। जिस प्रकार सूर्य जगदेकदीप—जगत् का अद्वितीय दीपक है उसी प्रकार मयूरकण्ठ भी जगदेकदीप—जगत् का अद्वितीय प्रकाशक था और जिस प्रकार सूर्य सदर्च्य—सत्पुरुषों के द्वारा पूज्य होता है उसी प्रकार मयूरकण्ठ भी सदर्च्य सत्पुरुषों के द्वारा समादरणीय था॥ १६ ॥ उसकी मनोहर शरीर को धारण करनेवाली कनकमाला नाम की रानी थी। वह कनकमाला ऐसी जान पड़ती थी मानों अपने निवासस्वरूप कमल को छोड़कर कमला—लक्ष्मी ही आ पहुँची हो अथवा शरीर ग्रहण कर कान्ति ही स्वयं आ गई हो अथवा कामदेव की स्त्री रति ही हो ॥ १७ ॥ जिसकी जङ्घाओं की कोमलता से अत्यन्त पराजित हुई उत्तम कदली निःसारता को प्राप्त हो गई थी और स्तनों के द्वारा पराजित हुआ कठोर बिल्वफल वन के अन्त में रहने लगा ॥ १८ ॥ जिसके नेत्ररूपी नीलकमलों से तिरस्कृत

---

१. [illegible] म० विरीषः पद्माकरेष्वेव न मनःसु महात्मनाम् ॥ —पद्मप्रभ०, सर्ग २.

२. विकुलक्षोभानि विलोचनोत्पलैः सितेतराम्बन्युपहारिणि योषिताम् ।
सरस्यगाधेऽम्बुनिधौ यत्र शीतले लुठन्ति तापार्दिव वीचिकाजले ॥ १६ ॥ —पद्मप्रभचरित, सर्ग १.

३. नेत्रोत्पलाभ्यामनघाभ्यां म० । ४. निरीषयेव ब० ।

[illegible] ।
[illegible] ॥२०
[illegible] ॥२१
[illegible] ॥२२
[illegible] ॥२३
[illegible] ॥२४
विधाय पूजां महतीं जिनानामनुज्ञया गोत्रमहत्तराणाम् ।
तेजस्विनः खेचरपुङ्गवोऽसौ चकार सूनोर्हयकन्धराख्याम् ॥२५
पद्माप्रियः कोमलशुद्धपादो नेत्रोत्पलानन्दकरो जनानाम् ।
कलाकलापं समवाप्नुवानो दिने दिनेऽवर्धत बालचन्द्रः ॥२६

होता हुआ नीलकमल अपने तिरस्कारजनित संताप को दूर करने की इच्छा से ही मानों जाकर गहरे तालाब में पड़ गया है ॥१९॥ जिसके मुख में स्थित शोभा को न पाकर जब पूर्ण चन्द्र भी कलङ्कित हो गया तब मदस्रावी हाथी के समान चालवाली उस कनकमाला की कान्ति अन्य किस पदार्थ के साथ उपमान को प्राप्त हो सकती है ? ॥२०॥ सद्गुणों से विभूषित, कलाओं का भाण्डार तथा निर्मल शील से युक्त उस कनकमाला में विद्याधरों के अधिपति मयूरकण्ठ की असाधारण प्रीति थी सो ठीक ही है; क्योंकि मनोहर वस्तु में आसक्ति किसको नहीं प्राप्त होती है ? अर्थात् सभी को प्राप्त होती है ॥२१॥ इसके बाद जो विशालमन्वी स्वर्ग में देव हुआ था वह वहाँ से च्युत होकर सुन्दर शरीर के धारक उन मयूरकण्ठ और कनकमाला का पुत्र हुआ। उत्पन्न होते ही हर्षविभोर ज्योतिषी ने उसे अर्द्धभरत क्षेत्र का स्वामी बतलाया ॥ २२ ॥ जिसके गर्भसम्बन्धी महान् भार से आक्रान्त होने पर भी माता तीनों लोकों को जीतने की इच्छा करती थी। यदि सूर्य भी ऊपर से गमन करता था तो उस पर भी वह मुख तथा नेत्रों को लाल-लाल करती हुई शीघ्र ही क्रोध करने लगती थी ॥ २३ ॥ राजा मयूरकण्ठ ने पुत्र जन्म के समय पृथिवी को 'देहि–दो' इस याचनासूचक शब्द से रहित कर दिया था तथा समस्त आकाशतल को हर्षसहित बजते हुए बाजों और संगीत के मधुर शब्दों से शब्दमय बना दिया था ॥ २४ ॥ कुल के वृद्धजनों की आज्ञा से उस विद्याधराधिराज ने जिनेन्द्र भगवान् की बहुत बड़ी पूजा कर तेजस्वी पुत्र का अश्वग्रीव नाम रखा ॥ २५ ॥ जो पद्माप्रिय—लक्ष्मी का पति था (पक्ष में पद्म-कमलों का अप्रिय—शत्रु था) जिसके पाद—चरण कोमल तथा शुद्ध थे (पक्ष में जिसके पाद—किरण कोमल तथा निष्कलङ्क थे) जो मनुष्यों के नेत्र-रूपी नीलकमलों को आनन्द करनेवाला था तथा जो कलाओं—चौसठ कलाओं (पक्ष में सोलह

---

१. दिवः पतिर्योऽत्र म० । २. महाविगीर्षा म० । ३. जिलोक्याम् म० ।
४. शशिकाननाक्षी म० । ५. बालचन्द्रमाः म० ।

[illegible]

प्रतिलेखना

अथ भारतेऽस्ति विषयोऽत्र बहुपुरसंनिधां सुरनिवासतमः ।
विविधोऽपि कान्तिनिवहो जगतः स्वयमेकतां गत इवाप्रतिमः ॥३२
सरसाः सनुप्ततया सहिताः स्वयमर्थिभिः परिगृहीतफलाः ।
अभवन्नवः कुलसमस्तजनास्तरवोऽपि यत्र सह सत्पुरुषैः ॥३३

कलाओं) के समूह को प्राप्त हो रहा था ऐसा वह बालकरूपी चन्द्रमा दिन-प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होने लगा ॥ २६ ॥ किसी दिन गुहा के मध्य में स्थित अश्वग्रीव श्वेत रङ्ग की अक्षमाला लेकर तथा पद्मासन से बैठ कर जब तक सम्यक् प्रकार से ध्यान नहीं करता है तब तक अर्थात् ध्यान के पूर्व ही विद्याओं का समूह उसके आगे आकर उपस्थित हो गया ॥ २७ ॥ विद्याओं की सिद्धि होने से कृतकृत्यता को प्राप्त वह अश्वग्रीव मेरुपर्वत की शिखर पर स्थित जिनालयों की वन्दना के लिये गया । उन्हें प्रणाम कर तथा प्रदक्षिणा देकर उसने पाण्डुक शिला की पूजा की, पश्चात् आकर घर में प्रवेश किया ॥ २८ ॥ उसने हजार आरों वाला चक्र, अमोघ शक्ति, दण्ड, तलवार, सफ़ेद छत्र और अर्ध भरत क्षेत्र की लक्ष्मी का स्वामित्व प्राप्त किया सो ठीक ही है; क्योंकि पुण्योदय से क्या साध्य नहीं है ? अर्थात् सभी कुछ साध्य है ॥ २९ ॥ उसके ललित मुसकान से युक्त, अत्यन्त सुन्दर तथा अतिशय उन्नत स्थूल स्तनों से सुशोभित अड़तालीस हजार स्त्रियाँ थीं ॥ ३० ॥ समस्त दिशाओं को करदायी बनानेवाला वह अश्वग्रीव, अत्यन्त साहसी, तथा विद्या के प्रभाव से उन्नत सोलह हजार राजाओं से संयुक्त होकर राज्य करता था ॥ ३१ ॥ अथानन्तर इस भरत क्षेत्र में सुरम्य नामको धारण करनेवाला एक स्वर्गतुल्य देश है । ऐसा जान पड़ता है कि संसार में जो नाना प्रकार का अनुपम कान्ति का समूह है वह सभी स्वयं आकर वहाँ एकता को प्राप्त हो गया था ॥ ३२ ॥ जिस देश में सत्पुरुषों के साथ-साथ वृक्ष भी सरस—हरेभरे (पक्ष में स्नेह से युक्त), सनुप्त—ऊँचे (पक्ष में उदारता से युक्त), याचकों के द्वारा स्वयं गृहीतफल—याचक स्वयं आकर जिनके फलों का उपभोग करते थे (पक्ष में याचक स्वयं आकर जिनकी सम्पत्ति का उपभोग करते थे) तथा नवतुल्य—सदा नवीन—अपनी छाया में समस्त जनों को विश्राम देनेवाले

---

१. विद्याएं ग० ।

अटवीषु यत्र सरसां सरसेर्नलिनीदलैः पिहिततीरजलम् ।
सहसा पपौ न तृषितापि मृगी गरुडोपलभ्रमविमूढमतिः ॥३४
सुपयोधराः शफरलोलदृशः सकलाश्च यत्र तनुवीचिभुजाः ।
अपि लोकसेवितनितम्बभुवः सरिदङ्गना बभुरपङ्कतया ॥३५
अनपेतपुष्पफलभारकुलैर्निचितैः सुभावबलसौधचयैः ।
निगमैः समुज्ज्वलनिवासिजनैरवरीचकार च कुरूनपि यः ॥३६
पुरमस्ति पोदनमिति प्रथितं पृथु तत्र वैबुधसमूहचितम् ।
अवरीकृताम्यनगरं स्वरुचा नभसोऽवतीर्णमिव शक्रपदम् ॥३७
रजनीषु यत्र सदनाग्रभुवो मणिदर्पणासलचयो व्यरुचन् ।
प्रतिमागतैरुडुगणैः परितो नवमौक्तिकैरिव विकीर्णतलाः ॥३८
परिवारितो धवलवारिधरैर्बहुभूमिकः स्फटिकसौधचयः ।
सकलां दधावुदितपक्षततेस्तुहिनाचलस्य भुवि यत्र रुचिम् ॥३९

(पक्ष में समस्त मनुष्यों को शरण देनेवाले) थे ॥ ३३ ॥ जिस देश के वनों में हरे-भरे कमलिनियों के पत्तों से आच्छादित सरोवरों के तटजल को हरिणी प्यासी होने पर भी शीघ्र नहीं पीती थी; क्योंकि गरुडमणियों का स्थल समझने से उसकी बुद्धि भ्रान्त हो गई थी ॥ ३४ ॥ जिस देश की नदियाँ स्त्रियों के समान थीं; क्योंकि जिस प्रकार स्त्रियाँ सुपयोधरा—उत्तम स्तनों से युक्त होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी सुपयोधरा—उत्तम जल को धारण करनेवाली थीं, जिस प्रकार स्त्रियाँ शफरलोलदृशः—मछलियों के समान चञ्चल नेत्रों वाली होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी मछली-रूपी चञ्चल नेत्रों से युक्त थीं और जिस प्रकार स्त्रियाँ सकला—कलाओं से सम्पन्न होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी सकला अव्यक्त मधुर शब्द से युक्त थी और जिस प्रकार स्त्रियाँ तरङ्गों के समान पतली भुजाओं से युक्त होती है उसी प्रकार नदियाँ भी पतलीतरङ्गरूपी भुजाओं वाली थीं। परन्तु आश्चर्य यह था कि नदीरूपी स्त्रियों की नितम्बभूमि यद्यपि लोगों के द्वारा सेवित थी तो भी वे अपङ्कतया—निष्कलङ्क वृत्ति से सुशोभित हो रही थीं (पक्ष में उन नदियों की तटभूमि यद्यपि मनुष्यों के द्वारा सेवित थी तो भी वे अपङ्कतया—कीचड़ के अभाव से सुशोभित थीं ॥ ३५ ॥ जिनके वृक्ष फूलों और फलों से सुन्दर हैं, जो अतिसघन बसे हुए हैं, जिनके महलों के समूह चूना से सफेद हैं तथा जिनमें रहनेवाले मनुष्य अत्यन्त उज्ज्वल हैं ऐसे ग्रामों के द्वारा जो देश देवकुरु और उत्तरकुरु को भी तिरस्कृत करता है ॥ ३६ ॥ उस सुरमा देश में पोदन इस नाम से प्रसिद्ध विशाल नगर है। वह नगर विद्वानों के समूह से व्याप्त है, अपनी कान्ति से अन्य नगरों को तिरस्कृत करनेवाला है तथा ऐसा जान पड़ता है मानों आकाश से उतरा हुआ इन्द्र का नगर ही हो ॥ ३७ ॥ जिस नगर में रात्रि के समय मणिमय दर्पणों के समान निर्मल कान्तिवाली भवनों की उपरितल भूमियाँ प्रतिबिम्ब रूप से आये हुए नक्षत्रों के समूह से ऐसी सुशोभित होती हैं मानों उनके स्तनों में चारों ओर से नवीन मोती ही बिखेरे गये हों ॥ ३८ ॥ जहाँ सफेद मेघों से घिरा हुआ, अनेक खण्डों वाला, स्फाटिकमणि के महलों का समूह पृथिवी पर उदित पक्षों की पंक्ति से युक्त हिमालय की सम्पूर्ण कान्ति को धारण करता हो ॥ ३९ ॥ जहाँ तालाबों

१. सपुरलोलदृशः म० ।

सरसीषु यत्र च शिरीषनिभासतटद्रुमाग्रगतमणिद्युतयः ।
अतिसंदधुः समदहंसवधूर्नवशैवलाशनकुतूहलिनीः ॥४०
सदनाग्रलग्न हरिनीलरुचां पटलेन सांशुनिहितं वदुशे ।
वपुरेन्दवं युवतिभिः सहसा निशि यत्र राहुपरिवेष्टमिव ॥४१
ललनामुखाम्बुरुहगन्धवहो गृहवीधिकातनुतरङ्गभवः ।
भ्रमति स्म यत्र पवनः सततं गमयन्निव ध्वजांशुकुलपटान् ॥४२
रविमण्डलं विमलरत्नभुवि प्रतिबिम्बितं सपदि पुण्यवशात् ।
तपनीयदर्पणधिया वहतीसखलोकयत्र च जहास सखी ॥४३
समकारयन्न परिखावकयं न च यत्र शासनमि बाहुबली ।
प्रतिपक्षभीतिविधुरेण वेता किमनेन दूरयमिति मानधनः ॥४४
सकलावनीशमुकुटाग्रमणीद्युतिमञ्जरीजटिलिताङ्घ्रियुगः ।
तदलंचकार पुरमप्रतिमो नृपतिः प्रजापतिरिति स्वगुणैः ॥४५
महतां वरे सकलसत्त्वदयास्थितिराजिते प्रविमलात्मगुणे ।
श्रियमाप यत्र कमलाप्यपरां श्रयति स्थिता निशि कलेव विधोः ॥४६
स्थिरसंगतो विनयसारधनो नयवर्त्मनि स्थितविशुद्धमतिः ।
स्ववशीकृताक्षहृदयप्रसरो विरराज यः स्वयमिव प्रशमः ॥४७

में शिरीष के फूल के समान, तट पर लगे हुए गरुड मणियों की किरणें शेवाल खाने के कुतूहल से युक्त मदोन्मत्त हंसियों को छकाया करती हैं। भावार्थ—गरुडमणि की किरणों को शेवाल समझ कर मदमाती हंसियाँ खाने के लिये आती हैं परन्तु शेवाल न होने से निराश हो जाती है ॥ ४० ॥ जहाँ महलों के अग्रभाग पर लगे इन्द्र नीलमणियों की किरणों के समूह से आधा ढँका हुआ चन्द्रमा का शरीर रात्रि में स्त्रियों के द्वारा सहसा ऐसा देखा जाता है मानों राहु के द्वारा ही ग्रस्त हो रहा हो ॥ ४१ ॥ जहाँ स्त्रियों के मुखकमल की सुगन्धि को धारण करनेवाला तथा गृहवापिकाओं की पतली-पतली तरङ्गों से उत्पन्न वायु निरन्तर इस प्रकार घूमता रहता था मानों ध्वजाओं के रेशमी वस्त्रों की गिनती ही कर रहा हो ॥ ४२ ॥ जहाँ निर्मल रत्नमय भूमि में प्रतिबिम्बित सूर्यबिम्ब को सुवर्णमय दर्पण समझ सहसा उठाती हुई भोली स्त्री को देख सखी उसकी हँसी उड़ाती थी ॥ ४३ ॥ जहाँ भुजाओं के बल वाले तथा मानरूपी धन को धारण करनेवाले राजा ने न परिखा चक्र बनवाया था और न कोट ही। क्योंकि वह कहता था कि ये दोनों शत्रुभय को सूचित करनेवाले हैं अतः इनके रहने से क्या कार्य है ? ॥ ४४ ॥ समस्त राजाओं के मुकुटों के अग्रभाग में संलग्न मणियों की कान्तिरूपी मञ्जरी से जिसके चरणयुगल व्याप्त थे तथा जिसकी कोई उपमा नहीं थी ऐसा राजा प्रजापति अपने गुणों से उस नगर को अलंकृत करता था ॥ ४५ ॥ जिस प्रकार रात्रि के समय आकाश में स्थित चन्द्रमा की कला अद्वितीय शोभा को प्राप्त होती है उसी प्रकार समस्त पराक्रमसमूह की स्थिति से सुशोभित अत्यन्त निर्मल आत्मगुणों से युक्त उस महाश्रेष्ठ राजा में स्थित लक्ष्मी अद्वितीय शोभा को प्राप्त हो रही थी ॥ ४६ ॥ जो धैर्य वाली था, विनय ही जिसका श्रेष्ठ धन था, जिसकी निर्मल बुद्धि नीतिमार्ग में स्थित थी और जिसने इन्द्रियों तथा

---

१. उशां ब० । २. स्वयमपि ब० ।

उत्कीर्णकं रिपुषु साधुषु च प्रणयं प्रजासु च नयं विनयम् ।
गुरुषु श्रियं च विनतेषु परां प्रथयांबभूव भुवि यः सततम् ॥४८
प्रतिपन्न सुरसिन्धुसुते धृतिसाधुते इव गृहीततनू ।
जनने स्वकान्तिविजिताप्सरसौ स जयावतीं मृगवतीं च विभुः ॥४९
स्वयमं विनिन्यतुरनन्यसमे समसेव ते निजममोघतया ।
तस्मिंश्चाधिनाथमरविन्दकमाभुतवेक्षते स्वयमिव प्रकटे ॥५०
स विशाखभूतिरवतीर्य दिवस्तनयोऽजनि क्षितिपतेर्विजयः ।
स जयावतीप्रमदहेतुरभूद् भुवि यः पुरापि मगधाधिपतिः ॥५१
सकलः शशीव विमलं गगनं कुसुमोद्गमो महविवोपवनम् ।
भुवि विश्रुतं श्रुतमिव प्रशमप्रवरं चकार स कुलं धवलम् ॥५२
अर्थीव प्रतापविभुनेव दिवस्तमथागतं मृगवती विबुधम् ।
उदरेण निर्मलतरं प्रदधौ प्रथमाम्बुबिन्दुमिव शुक्तिवधूः ॥५३
उदरस्थितस्य यशसेव युतं परिपाण्डुतामुपययौ वदनम् ।
असहद्विसोढुमिव तद्गुरुतां तनुतां तदीयमगमच्च वपुः ॥५४

हृदय के प्रसार को स्वाधीन कर रक्खा था ऐसा वह राजा स्वयं विनय के समान सुशोभित हो रहा था, अर्थात् ऐसा जान पड़ता था मानों शरीरधारी विनय ही हो ॥ ४७ ॥ जो पृथिवी पर निरन्तर शत्रुओं में विशाल पराक्रम को, साधुओं में स्नेह को, प्रजाजनों में नीति को, गुरुओं में विनय को और विनीत पुरुषों में श्रेष्ठ सम्पत्ति को विस्तृत करता रहता था ॥ ४८ ॥ वह विभु राजा अपनी कान्ति से अप्सराओं को जीतनेवाली जयावती और मृगवती इन दो स्त्रियों को प्राप्त कर सुशोभित हो रहा था। उसकी वे दोनों स्त्रियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो शरीर को धारण करनेवाली धृति और साधुता ही हों ॥ ४९ ॥ जो स्वयं प्रकट हुई लक्ष्मी और सरस्वती के समान जान पड़ती थीं ऐसी अनन्यतुल्य उन दोनों स्त्रियों ने अपनी सुन्दरता से उस राजा को एक साथ ही अपने अधीन कर लिया था ॥ ५० ॥ जो विशाखभूति पृथिवी पर पहले मगध देश का राजा था और तप कर महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ था वह वहाँ से च्युत होकर राजा के विजय नाम का पुत्र हुआ। वह विजय, जयावती माता के हर्ष का कारण था। भावार्थ— विशाखभूति का जीव स्वर्ग से चल कर राजा प्रजापति की जयावती नाम की रानी से विजय नाम का पुत्र हुआ ॥ ५१ ॥ जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमा निर्मल आकाश को, वसन्त विशाल उपवन को, और प्रथम गुण शास्त्र को अलंकृत करता है उसी प्रकार वह विजय भी पृथिवी पर प्रसिद्ध निर्मल कुल को अलंकृत करता था ॥ ५२ ॥ जो पृथिवी को वश में करने के लिये ही मानों स्वर्ग से आया था ऐसे विश्वनन्दी के जीव निर्मल देव को दूसरी रानी मृगावती ने अपने उदर से सीप ही उस प्रकार धारण किया जिस प्रकार कि प्रथम जल की बूँद को सीप धारण करती है ॥ ५३ ॥ उदरस्थित बालक के यश से युक्त होकर ही मानों माता का मुख धवलता को प्राप्त हो गया था और गर्भस्थित बालक की गुरुता को सहन न कर सकने के कारण ही मानों उसका

---

१. चकारः म० । २. धर्मं म० ।

तनुलतरतिनिवसनवसना सततमेव[1] सह सुतेनेयम्।
वपुषे तनीयसुदरं च सुता जनिमावहं सह जगाम ॥५५॥
जगतोऽस्य तां प्रथमगर्भवतीं रजतीं दिनस्य तरणिप्रभाम्।
जलयाचलस्तरितरोहितकरं रजनीमिव प्रियतिथिर्ददृशे ॥५६॥
कृतकारणैर्बहुविधिः क्रमशः सरसे सुतं सृजवती सुषुवे।
निखिलं त्रिदशे विबुधस्थपतिं वरदीव वसुमुहूर्तं वसिनी ॥५७॥
अथ हृष्टिवृद्धिरभवत्तदा तदखिलेऽपि तस्य नगरे महती।
परितश्च पञ्चविधरत्नवती निपपात वृष्टिरमला नभसः ॥५८॥
अनवद्यवाद्यनयनाभिरतं प्रथमर्तौ वारवनिताभिरगात्।
नृपमन्दिरेऽपि तिसृणां निरतः विबुधाम्बुजस्तवनिबिडमनाः ॥५९॥
स्वयमादरे निजमनोऽभिमतं सहसा वणीपकजनेन धनम्।
अपहाय काञ्चनमणिप्रवरैर्वलयैस्तपश्चिरस्तरुणम् ॥६०॥
गणकस्त्रिकालविदनुज्ञतनुः प्रथितो जगाम इव दिव्यवपुः।
स्फुटमाविवेश नृपतेः स्वसुतो भविताऽर्हदाख्यवर एव इति ॥६१॥
स्वकुलोचितां जिनपतेर्महिमां महतीं विधाय विधिना नृपतिः।
अकरोत् त्रिपृष्ट इति नाम मुदा तनयस्य तस्य वसुधे विबुधे ॥६२॥
शरदम्बरद्युतिसुधा वपुषा स शनैः शनैः कठिनतामुपयन्।
परिरक्षया नरपतेर्बभुवे जलधेरमूल्य इव नीलमणिः ॥६३॥

शरीर कृशता को प्राप्त हो गया था ॥ ५४ ॥ शत्रुओं की लक्ष्मी के साथ-साथ उसका स्तनयुगल कृष्णमुख हो गया था और समस्त पृथिवी के साथ-साथ उसका उदर प्रतिदिन हर्ष से वृद्धि को प्राप्त हुआ था ॥ ५५ ॥ जो श्रेष्ठ खजाने को धारण करनेवाली पृथिवी के समान थी अथवा उदयाचल से तिरोहित चन्द्रमा को धारण करनेवाली रात्रि के समान जान पड़ती थी ऐसी प्रथम गर्भवती मृगावती को देख कर राजा प्रसन्न हो रहे थे ॥ ५६ ॥ तदनन्तर जिसकी गर्भकालिक सुन्दर क्रियाएँ पूर्ण की गई थीं ऐसी मृगावती ने क्रम-क्रम से समय आने पर उस शरद् पुत्र को उत्पन्न किया जिस तरह कि शरद ऋतु में कमलिनी लक्ष्मी के निवास तथा बहुत भारी जल से युक्त कमल के कुड्मल (कली) को उत्पन्न करती है ॥ ५७ ॥ तदनन्तर समस्त नगर में उस समय बहुत भारी हर्ष की वृद्धि हुई और सब ओर आकाश से पाँच प्रकार के रत्नों से सम्पन्न निर्मल वृष्टि पड़ी ॥ ५८ ॥ उस समय और तो क्या, उत्सव में जिसका मन संलग्न था ऐसा मयूरों का समूह भी राजभवन में वेश्याओं के साथ-साथ निर्दोष बाजों की लय और ताल के अनुसार वसन्तिक नृत्य कर रहा था ॥ ५९ ॥ याचक जनों ने राजा के जिनेन्द्रस्वरूप स्तवन में छन को छोड़कर अथवा मनचाहा अन्य समस्त धन स्वयं ही शीघ्र से लिया था ॥ ६० ॥ त्रिकालज्ञ, उत्तम शरीर के धारक तथा दिशाओं में कलाधरण के समान आकाशी ने राजा से स्पष्ट कह दिया था कि आपका यह पुत्र अर्हन् चक्रवर्ती होगा ॥ ६१ ॥ राजा ने दसवें दिन विधिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान् की अपने कुल के योग्य बहुत बड़ी पूजा कर उस पुत्र का हर्षपूर्वक त्रिपृष्ठ यह नाम रखा ॥ ६२ ॥ जल यद्यपि के समान

---

1. क्षणिकी सततम् इति च० ।

सुतरामशिक्षत कलाः सकला नृपविद्यया सममनन्यमतिः ।
पुरुसंग्रहे जगति जन्तुपरः शिशुरप्यहो भवति सत्पुरुषः ॥६४
तमवाप्य यौवनमवाप परां श्रियमेत्य सोऽपि तदभूत्सुभगः ।
प्रथमं प्रसूनमिव चूततरुं स च संप्रयत्न समये तदिव ॥ ६५
अतिमानुषं तमथ वर्म्मधरं जयगोमिनी प्रथममप्रकटम् ।
स्वयमालिलिङ्ग मदनाकुलधीरभिसारिकेव हृदयाभिमतम् ॥६६
अथभूपतिः सुतयुगेन समं सह राजकेन च सभाभवने ।
सुखमेकदास्त हरिपीठतटे घटितारुणाश्मकिरणाङ्कुरिते ॥६७
परिकुड्मलीकृतकराम्बुरुहः प्रणिपत्य देशसचिवो विदितः ।
उपलब्धवाग्यवसरप्रसरः क्षितिपं व्यजिज्ञपदिति प्रकटम् ॥६८
अभिरक्षितामपि तवासिलताशितधारया वरणिनाथ धराम् ।
परिबाधते मृगगणाधिपतिर्बलवानहो जगति कर्मरिपुः ॥६९
स्वयमेव किं हरिपदेन यमो जनतां हिनस्त्युत महानसुरः ।
तव पूर्वशत्रुरथवा विबुधो न हि तादृशी मृगपतेर्विकृतिः ॥७०
सुतयोषितोऽप्यनभिवीक्ष्य भयात्प्रपलायितं सकलजानपदैः ।
तव शात्रवैरिव शरीरभृतां न हि जीवितादपरमिष्टतमम् ॥७१

की कान्ति को हरण करनेवाले शरीर से धीरे-धीरे कठोरता को प्राप्त होता हुआ वह त्रिपृष्ट, राजा की रक्षा से समुद्र के भीतर अमूल्य नीलमणि के समान वृद्धि को प्राप्त होने लगा ॥ ६३ ॥ अनन्य बुद्धि होकर उसने राजनीति के साथ समस्त कलाओं को अच्छी तरह सीखा सो ठीक ही है; क्योंकि आश्चर्य है कि जगत् में गुणों का संग्रह करने में तत्पर रहनेवाला शिशु भी सत्पुरुष हो जाता है ॥ ६४ ॥ जिस प्रकार वसन्त ऋतु में प्रथम पुष्प आम्रवृक्ष को प्राप्त कर परम शोभा को प्राप्त होता है और आम्रवृक्ष उस प्रथम पुष्प को प्राप्त कर सुन्दर हो जाता है उसी प्रकार उस त्रिपृष्ठ को प्राप्त कर यौवन परम शोभा को प्राप्त हुआ था और त्रिपृष्ट भी यौवन को प्राप्त कर सुन्दर हो गया था ॥ ६५ ॥ जिस प्रकार काम से आकुल बुद्धि वाली अभिसारिका अपने अभीष्ट प्रियतम का स्वयं आलिङ्गन करती है उसी प्रकार विजय लक्ष्मी ने उस लोकोत्तर कवचधारी (तरुण) त्रिपृष्ट का पहले ही गुप्तरूप से आलिङ्गन किया था ॥ ६६ ॥ अथानन्तर एक दिन राजा प्रजापति सभाभवन में दोनों पुत्रों तथा अन्य राजाओं के साथ, जड़े हुए पद्मरागमणियों की किरणों से अङ्कुरित सिंहासन पर सुख से बैठे थे ॥ ६७ ॥ उसी समय जिसे बोलने का अवसर प्राप्त हुआ था ऐसा प्रसिद्ध देशमन्त्री हाथ जोड़ कर राजा से इस प्रकार स्पष्ट निवेदन करने लगा ॥ ६८ ॥ हे पृथिवीपते ! यह पृथिवी आपकी तलवार की तीक्ष्ण धारा के द्वारा यद्यपि सब ओर से सुरक्षित है तो भी सिंह उसे बाधा पहुँचा रहा है सो ठीक ही है; क्योंकि आश्चर्य है कि जगत् में कर्मरूपी शत्रु बहुत बलवान् है ॥ ६९ ॥ क्या सिंह के छल से यमराज स्वयं जनता को मार रहा है; या कोई बड़ा असुर अथवा आपका पूर्वभव का शत्रु कोई देव प्रजा का घात कर रहा है क्योंकि सिंह की वैसी विकृति नहीं होती ॥ ७० ॥ समस्त देशवासी लोग आपके शत्रुओं के समान भय से बच्चों तथा स्त्रियों की भी उपेक्षा कर भाग गये हैं सो ठीक ही है, क्योंकि प्राणियों को

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

जीवन से अधिक अन्य वस्तु अत्यन्त इष्ट नहीं है ॥ ७१ ॥ राजा उसके कहने से उस समय देश की सिंहकृत पीड़ा को सुनकर हृदय में बहुत दुखी हुए सो ठीक ही है; क्योंकि निश्चय ही दुःख जगत् को पीड़ित करता है ॥ ७२ ॥ दाँतों की किरणावली के बहाने हृदयस्थित निर्मल दया को बिखेरते हुए के समान राजा, गम्भीर ध्वनि से सभाभवन के मध्यभाग को व्याप्त करने वाले वचन बोले ॥ ७३ ॥ उन्होंने कहा कि पृथिवी पर धान्य की रक्षा के लिये बनाया हुआ तृण का मनुष्य भी मृगों को भय उत्पन्न करता है परन्तु सब राजाओं को करदायक बना देने पर भी मैं उस तृण-निर्मित पुरुष की अपेक्षा भी अधिक अकर्मण्यता को प्राप्त हो गया हूँ ॥ ७४ ॥ जो राजा जगत् के भय को नष्ट न करता हुआ जगत् का आधिपत्य करता है—अपने आपको जगत् का स्वामी मानता है वह चित्रगत राजा के समान है तथा जनता नम्र होकर व्यर्थ ही उसका दर्शन करती है ॥ ७५ ॥ इस समय सिंह मार भी दिया जावेगा तो भी मनुवंशी राजा के रहते हुए भी पृथिवी पर ऐसा प्रकट अप रहा, यह अपयश क्या समस्त दिशाओं में विस्तृत नहीं होगा ? ॥ ७६ ॥ इस प्रकार के वचन कहकर जिन्होंने भौंह तान ली थी तथा जो सिंह का वध करने के लिये तत्काल उठकर खड़े हो गये थे ऐसे पिता को रोककर विनीत विष्णु ने मन्दहासपूर्वक इस प्रकार कहा ॥७७॥ हे पिता जी ! यदि पृथिवी पर पशु का निग्रह करने में भी आपको बहुत भारी श्रीम करना पड़ता है तो फिर पुत्र जैसे पुत्रों के द्वारा उस कार्य को छोड़ दूसरा कौन कार्य किया जाय, पहले यह कहिये ॥ ७८ ॥ इसलिये आपका जाना अनुचित है इस प्रकार राजा से कह कर विजय नामक बड़े भाई के साथ नारायण अवतार विष्णु पिता की आज्ञानुसार सिंह का वध करने के लिये सेना के साथ चल पड़ा ॥ ७९ ॥ वहाँ उसने उस देश को देखा जो कि मनों के अग्र भाग से व्याप्त मनुष्यों

[illegible]

की आँतों के समूह को ग्रहण करने में व्यग्र आकाश में मँडराते हुए गृध्रपक्षियों के समूह से यम-तुल्य सिंह की गति को सूचित कर रहा था ॥८०॥ मृत मनुष्यों की हड्डियों से अत्यन्त सफेद-सफेद दिखने वाले पर्वत पर जाकर उसकी विशाल गुहा में सोये हुए सिंह को ताडित नगाड़ों और सेना के शब्द से सिंह को जगाया ॥ ८१ ॥ जागने के समय होनेवाली जमुहाई से जिसका मुख अत्यन्त भयंकर था तथा जिसने धीरे-धीरे अपनी पीली जटाओं को कम्पित किया था ऐसा वह सिंह कनखियों से सेना को देख झुके हुए शरीर को फैलाकर खड़ा हो गया ॥ ८२ ॥ जो मुखरूपी गुहा को खोलकर तीव्र गर्जनाओं के द्वारा दिशाओं को शब्दायमान कर रहा था, जिसका शरीर ऊँचा था तथा जो सम्मुख छलाँग भर रहा था ऐसे सिंह के आगे निर्भय त्रिपृष्ट अकेला ही खड़ा हो गया ॥ ८३ ॥ उसने शिला के समान कठोर उसके दोनों चरणों को तो निर्दयतापूर्वक बाहिने हाथ से कसकर पकड़ा और दूसरा हाथ उसके मुँह में ठूँसकर उसे देखते-देखते गिरा दिया ॥ ८४ ॥ जो क्रोध से नवीन रुधिर को धारण करनेवाले दोनों नेत्रों से दावानल के कणों को उगल रहा था तथा बलवान् त्रिपृष्ट के द्वारा जिसका उद्यम और बल निष्फल कर दिया गया था ऐसा वह सिंह विवश हो एक साथ मूर्च्छित हो गया ॥ ८५ ॥ जिस प्रकार मेघ नवीन जल के द्वारा पृथिवी के संतापसमूह को शान्त कर देता है उसी प्रकार उस त्रिपृष्ट ने नूतन मृणाल के समान सिंह को चीरकर उसके रुधिर से पृथिवी के संताप समूह को तत्काल शान्त कर दिया ॥ ८६ ॥ सममुच महान् पुरुष अपने बहुत भारी साहस के द्वारा भी पृथिवी पर हर्ष को प्राप्त नहीं होता । यही कारण है कि वह त्रिपृष्ट जो दूसरे से नहीं मारा जा सकता था ऐसे सिंह को भी मार कर निर्विकार रहा ॥ ८७ ॥ तदनन्तर नारायण त्रिपृष्ट

१. पढिमचरियं प्रतौ [illegible] श्लोकस्यपूर्वार्धकल्पा वर्तते । २. मृगाधिपतिः म० । ३. अवपतिते म० ।

[illegible] ॥८८

[illegible]

[illegible] ॥८९

[illegible]

[illegible] ॥९०

[illegible]

[illegible] ॥९१

[illegible]

[illegible] ॥९२

[illegible]

[illegible] ॥९३

इति भूपतिः सुतयुगेन सह परिरभ्य चिरतरं करतलैः।
सकलं जनानत मरविन्दुकलाभिरलं व्रजः प्रतिदिशं विकिरन् ॥९४

उपजातिः

अथैकदा कौशुकनिवणालो दौवारिकः कञ्चुकमेत्य हृष्टः।

ने दोनों हाथों से लीलापूर्वक कोटिक शिला को ऊपर उठाकर अपने पराक्रम समूह को विस्तृत किया सो ठीक ही है क्योंकि वह कोटिक शिला बलवान् पुरुषों को बल की कसौटी अथवा सीमा है ॥ ८८ ॥ वहाँ से लौट कर विष्णु अपने नगर गया। उस समय वह नगर विजय पताकाओं से इतना सजाया गया था कि उससे सूर्य की किरणें भी आच्छादित हो गई थीं। नगर में प्रवेश करते समय वह, अनुराग प्रकट करने में तत्पर बालकों के द्वारा भी गाये जानेवाले अपने यश को सुन रहा था। भावार्थ—उसके यश को वयस्क लोग तो गाते ही थे पर अबोध बालक भी प्रेम से बिल्कुल होकर गा रहे थे ॥८९॥ जिसमें मङ्गलाचार की सब विधियाँ की गई थीं ऐसे राजकुल में शीघ्र ही प्रवेश कर विष्णु ने बड़े भाई विजय के बाद मन्त्रज्ञ शिखामणि से युक्त शिर से राजा प्रजापति को प्रणाम किया ॥ ९० ॥ राजा ने पहले चिरकाल तक दुर्वचनित बालुओं को धारण करनेवाले नयनयुगल से अपने दोनों पुत्रों का आलिङ्गन किया, पश्चात् पुलकों की तरह भुजयुगल से उनका बाद आलिङ्गन किया ॥ ९१ ॥ जिनका शरीर रोमाञ्चों से व्याप्त था ऐसे राजा ने चिरकाल बाद पुत्रों को आलिङ्गन से विश्रब्ध-मुक्त किया। आलिङ्गन से छूटने के बाद दोनों भाईयों ने फिर से प्रणाम किया। पश्चात् उनकी आज्ञा से दोनों ही एक साथ सर्वसिंहासन के निकट बैठ गये ॥ ९२ ॥ बार-बार पूछनेवाले राजा से जब विजय अपने छोटे भाई-विष्णु के अपूर्व पराक्रम का वर्णन कर रहा था तब विष्णु लज्जा से मुख कर घुमाकर बैठ गया सो ठीक ही है क्योंकि अपनी गुणस्तुति महापुरुषों के मुख के लिये नहीं होती ॥ ९३ ॥ इस प्रकार नवयौवन की मदनाओं के समान निकट सब को अनेक विधाओं में विश्रब्धेनेवाला राजा दोनों पुत्रों के साथ संरम्भ से समस्त पृथिवी को हर्षित करता हुआ जयकार कराता था ॥ ९४ ॥ अनन्तर कौशुक के निकले वेत्र विनयवश हो

---

२. कञ्चुकेन स० । २. कञ्चुकं स० ।

विद्युन्मता कनिष्ठेन देव द्वारि नियोजितो विस्मयनीयमूर्तिः ।
तेजोमयो वीक्षितुमिच्छति त्वां प्रमाणमत्र स्वयमित्यवोचत् ॥९६
प्रवेशय द्राक्सुपुरोत्यथाज्ञामवाप्य रायो निर्गमयत्य गत्वा ।
प्रावेशयत्तं सभया सभीक्ष्यं सविस्मयोत्फुल्लदृशौ[1] विवृत्य ॥९७
राजा समेत्यागतमादरेण स्वहस्तनिर्दिष्टहिरण्यपीठे ।
सद्भूरवनिष्पुपवेश्य किञ्चिद्विश्रान्तमालोक्य तमाबभाषे ॥९८
सौम्याकृतिः कस्त्वमनन्यसाम्यः कस्मादिमां भूमिमुपागतोऽसि ।
किमर्थमाख्यात इति क्षितीशा स्वयं स पृष्टः पुनरेवमूचे ॥९९
अस्त्यत्र शैलो विजयार्धनामा नरेन्द्र विद्याधरलोकवासः ।
श्रेणीद्वयेनोत्तरदक्षिणेन विराजितो राजतशुभ्रभृङ्गः ॥१००
श्रेणीमपाचीं रथनूपुराख्यं पुरं समाध्यास्य महेन्द्रलीलः ।
नमश्चराणां ज्वलनादिवेगः पतिर्जटी नाम भुनक्ति तत्र ॥१०१
त्वदन्ववायः प्रथमस्य तनुर्गृहात्तनां बाहुबली जिनानाम् ।
निपीड्य दोर्भ्यां भरतेश्वरं यो मुमोच लक्ष्म्या सह हेलयैव ॥१०२
अलंकरोतीन्दुकरावदातं नमेः कुलं कच्छनृपात्मजस्य ।
नमश्चराधानविधोऽपि राजन्पितृव्यसुस्ते तनयो नमश्चः ॥१०३

रहे थे, जो हाथ में सुवर्ण की घड़ी लिये हुए था तथा हर्ष से जिसके वचन रुके हुए थे ऐसा द्वारपाल, दौड़ता हुआ पास आकर राजा से इस प्रकार कहने लगा ॥ ९५ ॥ हे देव ! आकाश से आकर द्वार पर खड़ा, आश्चर्य कारक शरीर का धारक कोई तेजस्वी पुरुष आपके दर्शन करना चाहता है। इस विषय में आप ही प्रमाण हैं इतना कह कर वह चुप हो गया ॥ ९६ ॥ 'हे सुमुख ! उसे शीघ्र प्रवेश कराओ' इस तरह राजा की आज्ञा पाकर द्वारपाल लौट कर गया और आश्चर्य से विकसित दृष्टि को इधर-उधर घुमाते हुए उसने सभा के द्वारा दर्शनीय उस पुरुष को भीतर प्रवेश करा दिया ॥ ९७ ॥ आकर आदर से नमस्कार करनेवाले उस पुरुष को राजा ने अपने हाथ से दिखाये हुए समीपवर्ती सुवर्ण पीठ पर बैठाया। पश्चात् जिसने कुछ विश्राम कर लिया था ऐसे उस पुरुष को देख उन्होंने कहा ॥ ९८ ॥ सौम्य आकृति के धारक तथा अन्य जनों की उपमा से रहित तुम कौन हो ? कहां से इस भूमि पर आये हो ? तथा किस प्रयोजन से आये हो ? इस प्रकार राजा द्वारा स्वयं पूछे जाने पर वह आगन्तुक पुरुष पुनः इस प्रकार बोला ॥ ९९ ॥ हे राजन् ! यहां एक विजयार्ध नामका पर्वत है, जो विद्याधर लोगों का निवास स्थान कहलाता है, वह अपनी उत्तर और दक्षिण इन दो श्रेणियों से सुशोभित है तथा चांदी की ऊँचे शिखरों से युक्त है ॥ १०० ॥ दक्षिण श्रेणी के रथनूपुर नगर में निवास करनेवाला, इन्द्र के समान लीला से युक्त तथा विद्याधरों का अद्वितीय पति ज्वलनजटी उस पर्वत की रक्षा करता है ॥ १०१ ॥ तुम्हारे वंश का आदि पुरुष बाहुबली था जो महात्मा तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर का पुत्र था और भुजाओं से जिसने भरतेश्वर को पीड़ित कर लक्ष्मी के साथ अनायास ही छोड़ दिया था ॥१०२॥ हे राजन् ! विद्याधरों का राजा ज्वलनजटी भी राजा कच्छ के पुत्र नमि के चन्द्र किरण के समान

---

१. वृषा म० । २. समाध्यास्य म० ।

अतोऽनवद्यः कुशली भवन्तं कुशलेन्द्रगोप्तुरिवानुराधिम् ।
अनामयं पृच्छति बन्धुरेष ते नयेन सम्बन्धिवयस्यमद्य पुरः ॥१०४
कुलोचितैः कर्मभिरीदृशैरसौ स्वयंप्रभायाः सह सूनुरीश्वरः ।
देवौ च पादद्वितयं प्रणामैरभ्यर्चयन्तीव तवार्चनीयम् ॥१०५

महाप्रभाणी

अथ कल्पलतामिवैकपुष्पां सदृशीं कामफलोन्मुखीमुपेताम् ।
तनयामवलोक्य तत्समानं न वरं मन्त्रिविलोचनोऽन्वपश्यत् ॥१०६
कुशलं सकले निमित्तशास्त्रे विहितश्रद्धमनाद्यनन्तमाप्तम् ।
उपगम्य रहस्यमात्यमुख्यैः सह सौम्यं नयनोत्सवेश्वरोऽसौ ॥१०७
सदृशः सुदृशः स्वयंप्रभायाः पतिरस्माभिरनेकशो न कश्चित् ।
अवलोकय दिव्यचक्षुषा तं ननु भर्तृस्मरविधौ भवान्प्रमाणम् ॥१०८

प्रहर्षिणी

इत्युक्त्वा विरतवति स्वयंप्रभेशं संभिन्नः श्रवरपतावबोधविज्ञम् ।
त्वत्सूनुं शृणु विदितं मया मुनीन्द्रावधिपुलकैरवधिपुरः पुरा प्रणम्य ॥१०९

उज्ज्वल कुल को अलंकृत करता है। इसके सिवाय नीति को जाननेवाला वह ज्वलनजटी तुम्हारी बुआ का पुत्र है ॥१०३॥ जिस प्रकार चन्द्रमा दूर रहने पर भी समुद्र से आरोग्य प्रश्न-कुशल मङ्गल पूछता रहता है उसी प्रकार हमारा राजा दूर रहने पर भी निरन्तर कुशल रहनेवाले अपने पुराने बन्धु का प्रेम से आलिङ्गन कर मुझ से कुशल-मङ्गल पूछ रहा है ॥१०४॥ हे ईश ! शत्रुओं की कीर्ति को नष्ट करनेवाला अर्ककीर्ति उसका पुत्र है, स्वयंप्रभा उसकी अद्वितीय पुत्री है तथा ज्वलनवेगा उसकी रानी है। ये सब आपके पूजनीय चरण युगल की प्रणामों द्वारा पूजा करते हैं अर्थात् बार-बार आपके चरणों में नमस्कार करते हैं ॥ १०५ ॥ तदनन्तर राजा ज्वलनजटी ने एक दिन अद्वितीय पुष्प से युक्त कल्पलता के समान, कामरूप फल के उन्मुख दशा—तरुण अवस्था को प्राप्त पुत्री को देखा। पुत्री को देखते ही वर की ओर उसका मन गया परन्तु मन्त्री रूप नेत्रों से युक्त होने पर भी उसे कन्या के योग्य कोई वर नहीं दिखा ॥ १०६ ॥ तत्पश्चात् जो समस्त निमित्त-शास्त्रकुशल था, जिसका विश्वास किया जाता था तथा जो आप के समान सज्जन को प्राप्त था ऐसे संभिन्न नामक निमित्त ज्ञानी के पास एकान्त में प्रमुख मन्त्रियों के साथ जाकर राजा ज्वलनजटी ने इस प्रकार कहा ॥ १०७ ॥ हम लोग सुन्दर नेत्रों वाली स्वयंप्रभा के योग्य किसी वर को नहीं देख सके हैं अतः आप अपने दिव्य नेत्रों से उस वर को देखिये। विषय में मेरे कार्य के संपन्न करने में आप ही प्रमाण हैं ॥ १०८ ॥ इस प्रकार अपने कार्य के बीज को कहकर अब विद्याधरों का राजा ज्वलनजटी चुप हो गया तब संभिन्न निमित्तज्ञानी इस प्रकार बोला—हे आयुष्मन् ! मैंने पहले अवधिज्ञानी मुनिराज से तुम्हारा कार्य जैसा जान रखा है वैसा सुन चुके ॥ १०९ ॥ इस प्रकार संभिन्न ज्ञानी राजा के सामने कहकर तथा अवधिज्ञान से पुलक युक्त

वसन्ततिलकम्

अस्त्यत्र भारते भरते भरतेश वंशे राजा प्रजापतिविचारपतिर्यशोज्ञा ।
तत्पुत्रजौ विजयिनौ विजयत्रिपृष्ठनाम्नानुजन्मबलकेशवपूर्वजौ ॥११०

वंशस्थम्

रिपुस्त्रिपृष्ठस्य पुराभवेऽभवद्विशाखनन्दीत्ययमस्य कन्धरः ।
ततः प्रहृत्याहवपूर्वकं रणे बभञ्जरेनं भवितार्द्धचक्रभृत् ॥१११

मालिनी

तदयमचलशेषरत्नमाप्तारं कन्यारत्नं वासुदेवाय देयम् ।
निःसन्देहं तत्प्रसादादुदीचीं प्राप्य श्रेणीं वास्यसि त्वं च वृद्धिम् ॥११२

मन्दाक्रान्ता

इत्यादेशादवितथगिरस्तस्य कार्तान्तिकस्य व्यक्तात्मानं व्यजनलटिना प्रेषितं विद्धि दूतम् ।
मासिद्धार्थं घटयितुमिदं देव कल्याणकार्यं कार्यार्तिघ्नं स्थिरतरधिया स्वस्तकाशं प्रकाशम् ॥११३

शार्दूलविक्रीडितम्

श्रीमानागमनस्य कारणमिति व्यक्तं निवेद्य स्थितं स्वाङ्गस्पृष्टतमस्तमूरुवलगणैरभ्यर्च्य तं भूपतिः ।
सत्यानामधिरावणोचरतया तस्यैव हस्ते पुनः संदेशं सचराधिपस्य मुदितः सप्राभृतं प्राहिणोत् ॥११४

स्रग्धरा

श्रोणीनार्थं प्रणम्यस्वयमुकुटतटीकोटिविन्यस्तहस्तः
सोत्कान्विद्याधरेशान्पतिमनतिचिरादानय द्रष्टुमस्मान् ।

प्रजापति नामक राजा है ऐसा तुम जानो। उसके विजय और त्रिपृष्ट नाम के दो पुत्र हैं जो शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेवाले हैं, लोकोत्तर बल से युक्त हैं तथा प्रथम बलदेव और नारायण हैं ॥ ११० ॥ चूंकि त्रिपृष्ट का पूर्वभव का वैरी विशाखनन्दी ही यह अश्वग्रीव हुआ है इसलिये युद्ध-सम्बन्धी दुष्ट अहंकार से युक्त इस विद्याधर राजा को मार कर त्रिपृष्ट अर्द्धचक्रवर्ती होगा ॥१११॥ अतएव विजयार्ध पर्वत का सारभूत यह कन्या रत्न नारायण त्रिपृष्ट के लिये देना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं है कि तुम उसके प्रसाद से उत्तर श्रेणी को प्राप्त कर वृद्धि को प्राप्त होवोगे ॥ ११२ ॥ हे राजन् ! इस प्रकार उस सत्यवादी संभिन्न निमित्त ज्ञानी के आदेश से व्यजनलटी ने निःशङ्क होकर कार्य के जानकर मुझ हनु नामक दूत को यह मङ्गलमय कार्य संपन्न करने के लिये दृढ़ निश्चय पूर्वक स्पष्टरूप से आपके पास भेजा है ऐसा आप जानें ॥११३॥ इस प्रकार अपने आगमन का स्पष्ट कारण बतलाकर जब वह आगन्तुक विद्याधर ऊपर बैठ गया तब समृद्धिशाली राजा प्रजापति ने उसे अपने शरीर के स्पर्शको प्राप्त हुए समस्त आभूषणों के समूह से सम्मानित किया तथा शीघ्र ही विजयार्ध पर्वत पर मनुष्यों के न पहुँच सकने के कारण उसने उस विद्याधर के हाथ प्रणाम होकर विद्याधरों के राजा व्यजनलटी के लिये उपहार सहित संदेश भेजा ॥११४॥ तदनन्तर राजा प्रजापति को प्रणाम कर जिसने अपने हाथ नमीभूत मुकुट तट के अग्रभाग पर रखा है

[illegible]
[illegible] ॥१२५॥
इति श्रीजिनसेनसूरीये [illegible] पञ्चमः सर्गः ।

षष्ठः सर्गः

वसन्ततिलकम्

यातेषु भेषुचिरहःसमय प्रवीरसामन्त बाहुबलनेकविधे प्रजाते ।
तस्यामिनं सह बलेन निशम्य सौम्याद् इन्दुं पुरा नृपतिपाय विद्याधरीशः ॥१
एकेन साधुवचसा प्रति दक्षिणेन बाहुं वरेरिमिह च परेण गच्छन् ।
दोर्व्यक्तिबोधतपनांशुविराजिताभ्यां ताभ्यां वरायत सर्गं तिलिमः सुधान्याम् ॥२
वाक्छया हुगतिवेगविलोलहारस्फारांशुचक्रकलितविग्विभागैः ।
व्योतान्वयैः पवि निजप्रतिबिम्बकैर्वा राजाम्बरेचरपतौ वनमाप भूपः ॥३

ये तथा राजा ने जिसे यह कह कर विदा किया था कि हम उत्कण्ठित लोगों को देखने के लिये विद्याधरों के अधिपति ज्वलनजटी को शीघ्र लाओ, ऐसा वह इन्दु नामका विद्याधर, विद्याबलकी सम्पत्ति के द्वारा निर्मित सुशोभित विमान पर आरूढ़ हो शीघ्र ही नीलकमल के समान आभावाले गगनतल में चला गया—आकाश मार्ग से उड़ गया ॥११५॥

इस प्रकार असग कविकृत श्रीवर्द्धमान चरित में त्रिपृष्ट की उत्पत्ति का वर्णन करनेवाला पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

छठवाँ सर्ग

अनन्तर कितने ही दिन व्यतीत होने पर एक सुप्त दिन राजा प्रजापति ने सौम्य नामक वनपाल से सुना कि विद्याधरों का राजा ज्वलनजटी सेना के साथ आकर बाह्य वन में ठहरा हुआ है। सुनते ही वह हर्ष विभोर हो उसे देखने के लिये गया ॥१॥ उस समय ऊँचे और स्पष्ट वर्णों से सुशोभित अपने पुरातन लेखों पुनः के साथ आया हुआ राजा ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो अपनी दोनों भुजाओं से ही सुशोभित हो रहा है। उन में एक भुज को दक्षिण—सीधी ओर खड़ा था वह बाहु बलदेव के योग्य दक्षिण—सरल अक्षरों वाला और दूसरा जो बाम—टेढ़ी ओर खड़ा था वह बाहु नारायण के योग्य बाम—विषम था ॥२॥ अभिनिवेश वाली के और ज्वलनजटी वेग से चलते हुए वे विद्याधर विद्याबलसे विनिर्मित विमानों के विस्तार को आच्छादित कर विद्या

---

१. श्रीवर्द्धमानचरिते च० ।

विद्याप्रभावरचिताद्भुतसौधकूटविन्यस्तचारुनयनोत्पलपंक्तयोऽपि ।
प्रत्युत्थितेन सहसा सह खेचरेण प्रीतिप्रसारितदृशा वपुषेव जग्मुः ॥४
यानात् ससंभ्रममुपात्तवतौर्यमूरादासन्नचारुभुजदत्तकरावलम्बौ ।
अन्योन्यसन्मुखमभीयतुरुत्सुकौ तौ पादद्वयेन धरणीधरणीभृतौ ॥५
गाढोपगूहनसुधासलिलेन सिक्तः सम्बन्धचन्दनतरुः सममेव ताभ्याम् ।
जीर्णोऽपि सद्य इवाङ्कुरितो विरेजे केयूरकोटिमणिरश्मिभिरुल्लिखद्भिः ॥६
तस्यार्ककीर्तिरवनीश्वरनायकस्य दूरावनेन शिरसा चरणौ ववन्दे ।
पित्रा तवानभिहितोऽपि कटाक्षपातैर्नूनं सतां विनयो महत्सु ॥७
लक्ष्मीप्रतापबलशौर्यमतिश्रुताद्यैर्लोकाधिकावपि समं विजयत्रिपृष्ठौ ।
प्रीत्या प्रणेमतुरभौ ज्वलनाधिपं तं स्तब्धो महान्नुदति नो गुणतोऽधिकोऽपि ॥८
आलिङ्ग्य तुङ्गतरदेहमनङ्गकल्पं तावर्ककीर्तिममलेन्दुसमानकीर्तिम् ।
प्रीतौ बभूवतुरभावपि भूरिशोभौ केषां तनोति न मुदं प्रियबन्धुसङ्गः ॥९

था, जिनके वंश प्रसिद्ध थे तथा जो मार्ग में अपने ही प्रतिबिम्बों के समान जान पड़ते थे ऐसे राजकुमारों से अनुगत राजा वन को प्राप्त हुआ। भावार्थ—घोड़ों पर सवार अनेक राजकुमार मार्ग में उसके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥३॥ विद्या के प्रभाव से निर्मित आश्चर्यकारी महलों के शिखरों के अग्रभाग में स्थित विद्याधारियों के चञ्चल नेत्रों के साथ जो अगवानी के लिये सहसा उठकर खड़ा हुआ था, तथा प्रीति से जिसके नेत्र विस्तृत हो रहे थे ऐसे विद्याधरों के अधिपति ज्वलनजटी ने राजा प्रजापति को देखा ॥ ४ ॥ जो घबड़ा कर दूसरे से ही वाहन से नीचे उतर गये थे, निकटवर्ती सुन्दर योद्धा जिनके लिये हाथों का आलम्बन दे रहे थे, तथा जो उत्सुकता से भरे थे ऐसे दोनों ही पृथिवी और विजयार्ध के प्रजापति और ज्वलनजटी एक दूसरे के सम्मुख पैदल ही चल रहे थे ॥ ५ ॥ गाढालिङ्गन रूपी अमृतजल के द्वारा जिसे दोनों ने एक साथ सींचा था ऐसा सम्बन्ध रूपी चन्दन का वृक्ष जीर्ण होने पर भी निकलती हुई केयूर के अग्रभाग में संलग्न मणियों की किरणों से नवीन की तरह अङ्कुरित हो उठा था ॥ ६ ॥ ज्वलनजटी के पुत्र अर्ककीर्ति से यद्यपि उस समय उसके पिता ने कटाक्षपातों—नेत्र को संकेतों से कुछ कहा नहीं था तो भी उसने दूर से ही झुके हुए शिर से राजाधिराज प्रजापति के चरणों को नमस्कार किया था सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषों के प्रति महापुरुषों में विनय स्वाभाविक ही होती है ॥७॥ विजय और त्रिपृष्ट यद्यपि समानरूप से लक्ष्मी, प्रताप, बल, शौर्य, बुद्धि और शास्त्र ज्ञान आदि के द्वारा समस्त लोगों में श्रेष्ठ थे तो भी दोनों ने विद्याधरों के अधिपति ज्वलनजटी को प्रीतिपूर्वक प्रणाम किया सो ठीक ही है क्योंकि जो महान् होता है वह गुणों से अधिक होने पर भी गुरुजनों के विषय में अहंकारी नहीं होता ॥ ८ ॥ जिसका शरीर अत्यन्त ऊँचा था, जो कामदेव के समान था तथा जिसकी कीर्ति निर्मल चन्द्रमा के समान थी ऐसे अर्ककीर्ति का आलिङ्गन कर बहुतसी शोभा से युक्त विजय और त्रिपृष्ठ दोनों ही प्रसन्न हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि प्रियबन्धुओं का समागम किनके हर्ष को विस्तृत नहीं करता ? अर्थात् सभी के हर्ष को विस्तृत करता है ॥ ९ ॥

---

१. धरणीं धरणीभृतौ म० ।

[illegible]

[illegible] ॥१०

[illegible] ।

[illegible] ॥११

[illegible] ।

[illegible] ॥१२

इत्थं तदा निगदितः सचिवस्य वाचस्तामिप्सु वेदरचितः स्वयमेवमूचे ।
अन्वर्थयन्विबुधवर्गगिरामतीतां वाग्मर्दिनिर्विशिरिजुगिरैः ॥१३

द्विज्यको मतिमतां वर जो वचस्तत्सिद्धाकको गतिकुलस्य विरलतोद्यः ।
आराध्य कच्छतनयो यदहीन्द्रवत्यां वैद्याधरीं सिद्धपति विद्यविद्याम् ॥१४

आज्ञामनाद्रतनुमित्तनतानमन्त्रीविद्यतमौकपदेन दत्ताम् ।
सञ्जस्ततोऽथ स विधातुमर्थं मनोऽस्य पूर्वजनो मनु सत्यवित्तुलोयः ॥१५

संभोज्य तार्क्षिति महीपतिचेचराणां भार्यां पुरा प्रणिधिना विधिनैव सृष्टाम् ।
[1]स्फीतां विधाहमहिमां सुतयोर्विधातुमभ्युद्यतौ विधिसुतुं हृदुपताकम् ॥१६

तदनन्तर प्रजापति राजा का प्रीतिपात्र मन्त्री, मुखों के विभ्रम से राजा प्रजापति और ज्वलनजटी के बोलने की इच्छा को जान कर इस प्रकार के वचन बोला सो ठीक ही है क्योंकि चतुर मनुष्य समय के ज्ञाता होते ही हैं ॥ १० ॥ उसने कहा कि इस समय आप दोनों के कुलदेवता अच्छी तरह प्रसन्न हुए हैं, आप दोनों के पुण्य कर्मों का उदय आया है और आप दोनों का जन्म सफल हुआ है जिससे कि पूर्व पुरुषों के द्वारा आचरण की हुई वह आत्मीयता छिन्न होने पर भी लता के समान अपने आप फिर से अङ्कुरित हो उठी है ॥ ११ ॥ जिस प्रकार योगी प्रतिपक्ष रहित, आत्म-तुल्य अन्यजन दुर्लभ केवलज्ञान को प्राप्त कर समस्त लोक का मान्य हो जाता है साथ ही अविनाशी और सर्वश्रेष्ठ पद—मोक्ष को प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार हे देव ! प्रजापति भी विरोध रहित, आत्म-समान तथा अन्यजन दुर्लभ आपको प्राप्त कर समस्त लोक का मान्य हो गया है, साथ ही इसने स्थायी और सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त कर लिया है। भावार्थ—आपके साथ सम्बन्ध होने से राजा प्रजापति का गौरव सर्वमान्य हुआ है ॥ १२ ॥ इसप्रकार कहनेवाले मन्त्री के वचन काट कर विद्याधरों का राजा ज्वलनजटी स्वयं ही इस तरह बोला। बोलते समय चन्द्रमा के समान उसके सफेद दाँतों की किरणें बाहर निकल रही थीं उनसे वह ऐसा जान पड़ता था खिली हुई कुन्द कलियों से मानों भीतर विद्यमान सरस्वती देवी की पूजा ही कर रहा हो ॥ १३ ॥ हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ ! तुम ऐसे वचन मत कहो क्योंकि इक्ष्वाकुवंशी राजा कच्छ के पुत्र नमि आदि जिनेन्द्र की आराधना कर धरणेन्द्र के द्वारा दी हुई विद्याधरों की लक्ष्मी को प्राप्त हुआ था ॥ १४ ॥ इसलिये विद्याधर अहिंसा मार्ग अनादर से ऊपर उठा हुआ है ऐसी बातों को दृष्टिगोचर करने के लिये वह आप की—मेरे ज्वलनजटी की तैयार हुई इस कन्या का पालन करने के लिये यह आप की—मेरे ज्वलनजटी की तैयार हुई यह कन्या ठीक ही है क्योंकि विद्वान् ही पहले का आज्ञा उल्लंघन के लिये अनुकूल होता ही है ॥ १५ ॥ इसप्रकार कहकर भूमिगोचरी और विद्याधरों के स्वामी

---

१. तथा अभिनवार्थ-चेतसि ब० । २. कुलदेवता ब० । ३. विगलितः ब० । ४. वा वर्धितस्य ब० । ५. धरणेन्द्रादिष्टां ब० । ६. कन्या ब० ।

प्रत्यग्रकायं प्रहसनजनकपूर्वजन्मपुरन्ध्रीचित्तव्यक्षिप्तानङ्गाभ्यन्तरम् ।
प्राक्तूरदेशविनिवेशितप्रारब्धोन्मुक्तोन्मादवसन्तुङ्गारवप्ररोहम् ॥१७
नृत्यन्मदालसवधूजनवक्त्रपद्मव्याप्तस्मरोन्मुखविलोचनभृङ्गम् ।
रङ्गावलीविरचितोज्ज्वलपद्मरागश्रेणीप्रभापटलपल्लवितान्तरिक्षम् ॥१८
उच्चारणाचतुरचारणवन्दिवृन्दकोलाहलप्रतिनिनादितसर्वदिक्कम् ।
आसीत्परस्परविभूतिजिगीषयेव रम्यं पुरं खचरसन्निहितं वनं च ॥१९ [विशेषकम्]
संभिन्नवस्तुविदुषेऽथ जिनेन्द्रपूजां पूर्वं विधाय जिनमन्दिरमन्दराग्रे ।
लक्ष्मीमपास्तकमलामिव खेचरेन्द्रः पुत्रीं ददेश विधिना पुरुषोत्तमाय ॥२०
केयूरहारकटकोज्ज्वलकुण्डलाद्यैः संमान्य राजकमशेषमनोपितारिः ।
कन्याप्रदानबहुनेन समं महिष्या चिन्तासमुद्रमतरन्नृपतिर्वंशकेतुः ॥२१
इत्थं प्रदाय तनुजां विजयानुजाय प्रीतिं परामुपययौ खचरविनाथः ।
एष्यन्महाभ्युदयवैभवभाजनेन सम्बन्धमेत्य महता सह को न तुष्येत् ॥२२

राजा प्रजापति तथा ज्वलनजटी विधाता रूप गुप्तचर के द्वारा पहले से ही रची हुई पुत्रपुत्रियों के विवाह की विस्तृतमहिमा को पूर्ण करने के लिये फहराती हुई पताकाओं से सुशोभित घर में प्रविष्ट हुए ॥ १६ ॥ जिनमें घर-घर माङ्गलिक बाजे और शङ्खों का शब्द हो रहा था, ऊपर फहराई हुई पताकाओं के समूह से जिनमें अन्धकार किया गया था, जिनमें पूर्वद्वारदेश में रक्खे हुए सुवर्णमय कलशों के अग्रभाग पर जौ के सुकोमल अङ्कुर दिये गये थे, जिनमें नृत्य करती हुई मद से अलसाई स्त्रियों के मुख कमलों पर कामीजनों के नेत्र रूपी भ्रमर संलग्न हो रहे थे, जिनमें रङ्गावली के बीच दिये हुए देदीप्यमान पद्मराग मणियों की ऊपर की ओर उठती हुई कान्ति के समूह से आकाश पल्लवित—लाल-लाल पत्तों से युक्त हो रहा था, और जहाँ उच्चारण करने में चतुर चारणों और बन्दियों के समूह के कोलाहल से समस्त दिशाएँ प्रतिध्वनि से गूँज रही थीं ऐसा नगर और विद्याधरों से अधिष्ठित वन—दोनों ही परस्पर की विभूति को जीतने की इच्छा से ही मानों रमणीय हो रहे थे ॥ १७-१९ ॥ तदनन्तर संभिन्न नामक निमित्तज्ञानी के द्वारा दिये हुए दिन, विद्याधरों के राजा ज्वलनजटी ने सबसे पहले जिनमन्दिररूपी मेरुपर्वत के अग्रभाग पर जिनेन्द्र देव की पूजा की। पश्चात् त्रिपृष्ट नारायण के लिये विधिपूर्वक अपनी पुत्री प्रदान की। वह पुत्री ऐसी जान पड़ती थी मानों कमल को छोड़कर आई हुई लक्ष्मी ही हो ॥ २० ॥ शत्रुओं को नष्ट करनेवाले राजा ज्वलनजटी ने बाजूबंद, हार, कटक तथा देदीप्यमान कुण्डल आदि के द्वारा समस्त राजाओं का सन्मान किया। इसप्रकार मनुवंश की पताका स्वरूप ज्वलनजटी, कन्यादानरूपी नौका के द्वारा अपनी रानी के साथ-साथ चिन्ता रूपी समुद्र को तैर कर पार हुआ ॥ २१ ॥ इसप्रकार विजय के छोटे भाई त्रिपृष्ट के लिये पुत्री देकर विद्याधरों का अधिपति परम प्रीति को प्राप्त हुआ सो ठीक ही है क्योंकि आगे आनेवाले महान् अभ्युदय तथा वैभव के पात्रस्वरूप महापुरुष के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होकर कौन नहीं संतुष्ट होता है ? ॥ २२ ॥ तदनन्तर 'विद्याधरों के

---

१. विरचितामल ब० ।

भूत्वाग्र खेचरभोगिभिः सभागं भूलोकदत्ता विहितात्मचारेण नीलम् ।
तच्छ्रुत्वानुक्रोशं नवमेघरावगम्भीरं सिंहो यथा नवकोपरक्तनेत्रम् ॥२३
कोपेन पल्लवितलोहितभीषणाक्षैरङ्गारवर्षमिव किरन्तमभाषताम् ।
दूरं जगाद वितताशनिघोरघोषः प्रत्येकधारिणिकाश्रुतकर्णपूरः ॥२४
हे खेचराः श्रुतमिदं नमु किं भवद्भिर्जीर्णतृणं तेन विहितं वरराजमेन ।
युष्माकमुत्तमनिधिं प्रविलङ्घ्य दत्तं कन्याजनाय भुवि भोग्यमिवाजगत्प्रभावम् ॥२५
इत्याहृतं प्रतिमुखं वचनेन तस्य प्रक्षोभभूषितमुवाह सभा समस्तम् ।
लीलां प्रसादविहरद्विकोपजन्यां कल्पान्तकालपवनक्षुभितार्णवस्य ॥२६
अग्रेसरः स्थितिमतामधिकङ्कनीयं विक्रान्तभूमितिमनन्यभवोदयत्वः ।
कोपात्प्रकम्पितजगज्जनतात्क्षयाय प्रालेयशैल इव नीलरथश्चचाल ॥२७
विभ्राम्यतो निहतशात्रवशोणितेन चित्रां भवां परिभृशद्भुजगात्करेण ।
वामेन वेगचलिताङ्गदपद्मरागज्वालायतोल्लिखितकोपवनानलेन ॥२८

राजा ज्वलनजटी ने 'अपनी पुत्री भूमिगोचरी के लिये दी है' अपने प्रसिद्ध गुप्तचर के द्वारा कहे हुए इस समाचार को सुनकर विद्याधरों का चक्रवर्ती अश्वग्रीव शीघ्र ही उस तरह कुपित हो गया जिस तरह कि नवीन मेघ की गम्भीर गर्जना को सुनकर सिंह कुपित होता है ॥ २३ ॥ क्रोध के कारण पल्लवों के समान लाल-लाल भयंकर दृष्टिपात से जो सभा में मानों अंगार समूह की वर्षा कर रहा था, जिसका शब्द विस्तृत वज्रपात के समान भयंकर था और जो स्वेदजलकणों के समूह रूप कर्णाभरणों से युक्त था ऐसा अश्वग्रीव इस प्रकार बोला ॥ २४ ॥ हे विद्याधरो ! उस नीच विद्याधर ने जो काम किया है इसे निश्चय ही आप लोगों ने क्या सुना है ? उसने तुम सबको जीर्ण तृण के समान उलङ्घ कर जगत् में श्रेष्ठ कन्यारूपी आभूषण भूमिगोचरी मनुष्य के लिये दिया है ॥ २५ ॥ अश्वग्रीव के यह कहने से समस्त सभा अत्यधिक क्षोभ के कारण इस प्रकार काँप उठी मानों प्रत्येक के मुख पर प्रहार किया गया हो। प्रसन्नता के नष्ट हो जाने से वह सभा प्रलयकाल की वायु से क्षुभित समुद्र की अदर्शनीय लीला को धारण करने लगी ॥ २६ ॥ क्रोध से जगत् को कम्पित करनेवाला नीलरथ विद्याधर, भूमिगोचरी मनुष्यों का क्षय करने के लिए इस प्रकार चला जैसे हिमालय ही चल रहा हो क्योंकि हिमालय और नीलरथ में सादृश्य था। जिस प्रकार हिमालय स्थितिमान्—पर्वतों में अग्रसर—प्रधान है उसी प्रकार नीलरथ भी स्थितिमान्—मर्यादा के रक्षक पुरुषों में प्रधान था। जिस प्रकार हिमालय अविलङ्घनीय उन्नति—न लाँघने योग्य ऊँचाई को धारण करता है उसी प्रकार नीलरथ भी न लाँघने योग्य उन्नति—अभ्युदय को धारण कर रहा था और जिस प्रकार हिमालय अनन्यभवोदयत्व—अन्यत्र न होनेवाले बड़े-बड़े जन्तुओं से संयुक्त है उसी प्रकार नीलरथ भी अनन्यभवोदयत्व—दूसरे पुरुषों में न होनेवाले विशाल पराक्रम से भरा था ॥ २७ ॥ विभ्राम्यतः, मारे हुए शत्रुओं के खून से चित्र-विचित्र भवा को बाँये हाथ से घुमाता हुआ उठकर खड़ा हो गया। उस समय उसका बाँया हाथ वेग से कम्पित बाजूबंद में संलग्न पद्मराग मणियों की कान्ति के छल से ऐसा जान पड़ता था मानों क्रोध रूप दावानल को प्रकट ही कर रहा

---

१. नीतम् ब० । २. न तु ब० । ३. नीलरथोऽन्यवाजीव् ब० । ४. निहित ब० ।

भ्रूभङ्गभास्वदुरुवक्त्रः परिस्फुटाक्षः प्रस्वेदवारिपरिषेकपरीतगण्डः ।
दोलायितोच्छ्रितवपुः स्फुरिताधरोऽभूद् भीमः स्वयं सदसि कोप इवानुबन्धः ॥२९
विद्याबलिप्तहृदयः शरणागतानां दत्ताभयः प्रतिभये सति नीलकण्ठः ।
उच्चैर्जहास कटुभां विदधानि कोपाद् ब्रध्नायतध्वनिभिरर्णवगोचरैः ॥३०
स्वेदार्द्रनिर्मलतनुप्रतिबिम्बितेन क्रुद्धेन संसदि जनेन जनेन तेन ।
आसीदनेकविध हन्तुमरीन्विकुर्वन् विद्याबलेन बलवानिव सैन्यसेनः ॥३१
क्रोधोद्धतः समदशात्रवदन्तिदन्तप्राप्तान्निपातविपुलक्षतमग्नहारम् ।
वक्षःस्थलं विपुलपुलकं करेण वामेतरेण परिघः परितो ममार्ज ॥३२
निर्व्याजपौरुषवशीकृतवैरिवर्गोविद्याविभूतिबलितोन्नतिदत्तदानः ।
उर्वीं जघान कुपितो हरिकन्धराढ्यः कर्णोत्पलेन चलितालिकुलाकुलेन ॥३३
भूरिप्रतापपरिपूरितसर्वदिक्कः पद्माकरार्पितजगत्प्रणतांघ्रिपद्मः ।
कोपाज्जनक्षयमिव प्रथयन्विवर्तस्तूर्णं दिवाकर इवैष दिवाकरोऽभूत् ॥३४

हो ॥ २८ ॥ भौंहों के भङ्ग से जिसका मुख भयङ्कर हो रहा था, जिसके नेत्र लाल-लाल थे, जिसके गालों का मूलभाग पसीना के जलकणों से व्याप्त था, जिसका ऊँचा शरीर झूला के समान चञ्चल था तथा जिसका ओठ फड़क रहा था ऐसा तीव्रकोपी भीम नाम का विद्याधर, सभा में स्वयं क्रोध के समान हो रहा था ॥ २९ ॥ जिसका हृदय विद्या के गर्व से गर्वीला था तथा जो भय का अवसर उपस्थित होने पर शरणागत दुखी मनुष्यों को अभयदान देता था, ऐसा नीलकण्ठ नामका विद्याधर क्रोधवश कहकहा की गम्भीर ध्वनि से दिशाओं के अन्तराल को शब्दायमान करता हुआ जोर से हँसा ॥३०॥ सैन्य विद्याधर के पसीना से आर्द्र निर्मल शरीर में सभास्थित क्रुद्ध लोगों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था इससे वह ऐसा जान पड़ता था मानों युद्ध-सम्बन्धी अनुराग से शत्रुओं को मारने के लिये विद्याबल से अनेक सेनारूप विक्रिया कर रहा हो ॥ ३१ ॥ क्रोध से उद्धत परिघ, शत्रुओं के मदोन्मत्त हाथियों के दाँतों से प्राप्त विस्तृत घावों में जिसका हार निमग्न हो गया था तथा जिसमें रोमाञ्च उठ रहे थे ऐसे अपने चौड़े वक्षःस्थल को दाहिने हाथ के द्वारा सब ओर से साफ कर रहा था ॥ ३२ ॥ जिसने निष्कपट पौरुष से शत्रुसमूह को वश कर लिया था, विद्या के वैभव से जिसकी अत्यधिक उन्नति हुई थी तथा जिसके कन्धे ऊँचे उठे हुए थे ऐसा अश्वग्रीव कुपित हो चञ्चल भ्रमर समूह से व्याप्त कर्णोत्पल के द्वारा पृथिवी को ताडित कर रहा था, भावार्थ—कानों से कर्णोत्पल निकाल-निकाल कर पृथिवी पर पटक रहा था ॥३३॥ बहुत भारी प्रतापरूपी तेज से जिसने समस्त दिशाओं को व्याप्त कर दिया था (पक्ष में बहुत भारी तपन से जिसने समस्त दिशाओं को पूर्ण कर दिया था); जिसके जगत् द्वारा नमस्कृत चरणों का अग्रभाग पद्माकर—लक्ष्मी के हाथों में अर्पित था अर्थात् लक्ष्मी जिसके चरण दाबती थी (पक्ष में जिसके जगत् के द्वारा नमस्कृत किरणों का अग्रभाग पद्माकर—कमल वन में अर्पित था अर्थात् जिसकी किरणें कमलों के समूह पर पड़ रही थीं); जो क्रोध से मानों मनुष्यों के विनाश को विस्तृत कर रहा था तथा जिसका वर्ण स्वयं फीका पड़ गया था ऐसा दिवाकर विद्याधर, शीघ्र ही दिवाकर—सूर्य के समान हो गया था ॥ ३४ ॥

---

१. कन्धराढ्यः म० ।

प्रत्यञ्चा के आघात से उत्पन्न भट्टों के द्वारा जिसके अग्रहस्त ऊँचे-नीचे हो गये थे ऐसा कामदेव, शत्रुसमूह रूप पर्वत को नष्ट करनेवाले अपने दोनों हाथों से वक्षस्थल पर पड़ी हुई हाररूपी लता को सभा में इस प्रकार चूर-चूर कर रहा था कि सूत भी शेष नहीं रह गया था। भावार्थ—कामदेव नाम का विद्याधर अपनी छाती पर इतने जोर से हाथ पटक रहा था कि उससे हार का सूत भी शेष नहीं बचा था—सब टूटकर नीचे गिर गया था ॥ ३५ ॥ शत्रु के साथ युद्ध करने के लिये जो आकाश में उछल रहे थे, तथा उभारी हुई उज्ज्वल तलवार की किरणरूप अंकुरों के बढ़ने से जिनके दाहिने भुजदण्ड देदीप्यमान हो रहे थे ऐसे ईश्वर और वज्रबंधु नाम के विद्याधर सभासदों द्वारा किसी प्रकार बड़ी कठिनाई से पकड़े जा सके थे ॥ ३६ ॥ यद्यपि बहुत समय बाद मुझे अवसर प्राप्त हुआ था तो भी इसने मुझे स्वीकृत नहीं किया इस कारण रुष्ट होकर ही मानों सार्थक नामधारी अकम्पन राजा का क्रोध उससे दूर रहा अर्थात् उसे क्रोध नहीं आया, वह गम्भीर मुद्रा में ही बैठा रहा सो ठीक ही है, क्योंकि सभा में चञ्चल बुद्धिवाला मनुष्य ही क्रोध करता है वीर-वीर नहीं ॥ ३७ ॥ जिसने बड़े वेग से निर्दयतापूर्वक अपना सुन्दर ओठ डंस लिया था तथा वज्र के समान जिसका पराक्रम था ऐसे कुपित राजा बली ने क्षणक्षण शब्द करनेवाले आभूषणों से युक्त दाहिने हाथ से पृथिवी को इतने जोर से पीटा कि वह गम्भीर शब्द करती हुई चिल्ला उठी ॥३८॥ जो क्रोध से लाल-लाल नेत्रों के द्वारा देख कर सभा की आरती उतारता हुआ-सा जान पड़ता था तथा खुले मुख से फैले हुए धूम के द्वारा जिसने विद्वानों को चुप चुक कर दिया था ऐसा उद्धत अहंकारी राजा बलसिंह सभा में इस प्रकार बोला ॥ ३९ ॥ हे अकम्पन ! आज्ञा करो, व्यर्थ ही क्यों बैठे हो ? पराभव होने पर सत्पुरुषों की आज्ञा किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं करती। हे वज्रबंधु ! मैं क्या इस समस्त पृथिवी को बायें हाथ से उठाकर समुद्र में फेंक दूँ ? ॥ ४० ॥ मुझे के बले में

१. विच्छिन्नैः म० । २. रुद्धा राजन् । रुद्धोऽग्रहस्तौ यस्य सः—म० । ३. 'आलोक्य कोपपरिपाटलितेक्षणाग्र्यां वीरश्रियमिव समरसभिसङ्गशाली' इत्यर्धमधिकं म० पुस्तके । ४. शत्रु म० । ५. अनाहूतोऽहं न विवेशेत्यभिप्रायः म० ।

एतेषु कस्यापि यः शेखरायितेषु भूविभ्रमेण भवतानिहितः स एव ।
आकस्मिकं नमिकुलप्रलयं विधत्ते काकेषु नाथ मनुजेषु च तस्य कात्स्न्यं ॥४२
क्रुद्धे यमे त्वयि च जीवति कः क्षणं वा लोके प्रसिद्धमिति वाक्यमिदं च जानन् ।
इत्थं विरोधमकरोत्स कथं युवत्ते क्षीरत्यहो मतिमतां मतिरप्यभावे ॥४३
अत्रान्तरेऽबन्धुनिबर्हैः सह नागपाशैर्बद्ध्वा वधूवरयुगं सहसानयामः ।
इत्युत्थितानतुनयन्खचरान्कथंचिन्मन्त्री निवार्य हयकन्धरमित्यवादीत् ॥४४
निष्कारणं किमिति कुप्यसि नाथ बुद्धिर्याता क्व ते सकलनीतिपथप्रवीणा ।
कोपात्र शत्रुरपरोऽस्ति शरीरभाजां लोकद्वयेऽपि विपदां ननु हेतुभूतः ॥४५
तृष्णां विवर्धयति धैर्यमपाकरोति प्रज्ञां विनाशयति संजनयत्यवाच्यम् ।
संतापयेत्स्वपुरिनिन्द्यवर्णपुञ्जः पित्तज्वरप्रतिनिधिः पुरुषस्य कोपः ॥४६
रागं दृशोर्मुखि कम्पमनेकरूपं चित्ते विवेकरहितानि विचिन्तितानि ।
पुंसामनार्गमगमं मदमुद्भवन्तं कोपः करोति सहसा मदिरामदश्च ॥४७
यः कुप्यति प्रतिपदं भुवि निर्निमित्तमाप्तोऽपि नेच्छति जनः सह तेन सख्यम् ।
अन्धालिलोलुलसितपुष्पभरानतोऽपि किं सेव्यते विषतरुर्मधुपव्रजेन ॥४८

उज्ज्वल रत्नों की माला के समान उस असदृश मनुष्य के द्वारा कण्ठ में लगाई हुई विद्याधर राजा की लोकोत्तर—श्रेष्ठ पुत्री को देखकर कौन असहनशील मनुष्य विधाता की बुद्धि की हँसी नहीं करता ? अर्थात् सभी करते । भावार्थ—जिस प्रकार कुत्ते के गले में पहनायी हुई देदीप्यमान रत्नों की माला को देख कर सब लोग पहनाने वाले की हँसी करते है उसी प्रकार उस अयोग्य भूमिगोचरी मनुष्य के गले लगी हुई विद्याधर की श्रेष्ठ पुत्री को देख कर सब लोग विधाता की बुद्धि पर हँसते हैं ॥४१॥ इन विद्याधर राजाओं में भौंह के संकेत से जिस किसी को भी आप कह देंगे वही नमिवंश का आकस्मिक विनाश कर देगा सो ठीक ही है, क्योंकि हे नाथ ! कौओं और भूमिगोचरी मनुष्यों में उसका आदर ही क्या है ?—उन्हे वह समझता ही क्या है ? ॥४२॥ यमराज तथा आपके कुपित होने पर क्षणभर के लिये भी कौन जीवित रहता है ? इस लोक प्रसिद्ध वाक्य को जानते हुए भी उसने इस तरह आपका विरोध क्यों किया ? आश्चर्य है कि मृत्यु का अवसर आने पर बुद्धिमान् मनुष्यों की भी बुद्धि नष्ट हो जाती है ॥ ४३ ॥ अपने बन्धु समूह के साथ वधू-वर की जोड़ी को नागपाश से बाँध कर हम इसी समय यहाँ ले आते हैं इस प्रकार कह कर खड़े हुए विद्याधरों को किसी तरह अनुनय-विनयपूर्वक रोक कर मन्त्री ने अश्वग्रीव से यह कहा ॥ ४४ ॥ हे नाथ ! इस प्रकार बिना कारण आप क्रोध क्यों करते है ? समस्त नीतिमार्ग में निपुण आपकी बुद्धि कहाँ चली गई ? सचमुच ही दोनों लोकों में प्राणियों की विपत्ति का कारण क्रोध से बढ़कर दूसरा शत्रु नहीं है ॥ ४५ ॥ तीव्र क्रोध पित्तज्वर के समान पुरुष की तृष्णा—लालच (पक्ष में प्यास) को बढ़ाता है, धैर्य को दूर करता है, बुद्धि को नष्ट करता है, अवाच्य—न कहने योग्य वचनों को उत्पन्न करता है, और अपने शरीर तथा इन्द्रियसमूह को संतप्त करता है ॥ ४६ ॥ क्रोध और मदिरा की नशा शीघ्र ही पुरुषों की दृष्टि में लालिमा, शरीर में नाना प्रकार का कम्पन, मन में विवेक रहित विचार, कुमार्ग में गमन तथा श्रम और दुःखों के समूह को उत्पन्न करती है ॥ ४७ ॥ जो मनुष्य

---

१. म म० ।

आलम्बनं प्रतिभयं प्रति मानवानां मोघोदयः कथितसाधुपरिच्छदः ।
श्रीमानसाधुपरिवारतिरोहितात्मा प्राप्नोति शीघ्रमवकेशवकल्पतां सः ॥४९॥
रक्षापरा समभिवाञ्छितकार्यसिद्धेः सिद्धाञ्जनैकगुटिका तिमिरस्य दृष्टेः ।
लक्ष्मीलतावलयवर्द्धनवारिधारा सम्पत्तिकस्य भुवि केन वरस्तु ॥५०
न श्रेयसे भवति विक्रमलालितोऽपि कोपः परेष्वतिबलस्य सतुल्यतेषु ।
अभ्योधरान्तरभिलङ्घ्य कृताधिरोहो निष्कारणं स्वयमुपैति न किं प्रपातम् ॥५१
युक्तात्मबाहुबलगर्वतयैव मूढः स्वस्येतरस्य च बलस्य न वेत्ति सारम् ।
उद्यच्छिगीषु रभिवह्निपतत्पतङ्गप्राप्यां दशामनुभवत्यधिरावधिस्थान् ॥५२
पुत्ये रिपौ भवति दैवपराक्रमाभ्यां सन्धिः प्रभीरभिहितो भवतात्मविद्भिः ।
अभ्युन्नतो भवति पूज्यतमश्च लाभ्यां हीनोऽपि सन्नतिनतां लहते न निन्द्यैः ॥५३

पृथिवी में पद पद-पर कारण के बिना ही क्रोध करता है उसके साथ भला पुरुष भी मित्रता नहीं करना चाहता सो ठीक ही है क्योंकि विषवृक्ष मन्द वायु से मिलते हुए पुष्प समूह से नम्रीभूत होने पर भी क्या भ्रमरों के समूह से सेवित होता है ? अर्थात् नहीं होता ॥४८॥ हे मानद ! हे मान को खण्डित करने वाले ! जो भय उपस्थित होने पर मानी मनुष्यों के लिये आलम्बन स्वरूप है अर्थात् भय का अवसर आने पर जो मानशाली मनुष्यों की रक्षा करता है, जो वंश से उन्नत है—उच्च कुलीन है तथा दया-दान-दाक्षिण्य-औदार्य आदि प्रख्यात गुणों से विशुद्ध है ऐसा श्रीमान् मनुष्य यदि असाधु परिवार से तिरोहितात्मा है—दुष्ट जनों के संसर्ग से दूषित है, तो वह शीघ्र कलङ्क—लोकापवाद को प्राप्त होता है। इसी प्रकार वह तलवार भी, जो कि भय का अवसर आने पर मानी मनुष्यों का आलम्बन है—रक्षक है, उसकी आत्मा का विकास नहीं हो पाता है, वंश—धनुष के जन्मदाता बाँस से उत्कृष्ट है, तथा तीक्ष्णता आदि प्रसिद्ध गुणों से युक्त है, यदि असाधु परिवार—खराब आवरण—दूषित म्यान से तिरोहितात्मा—छिपी है तो वह शीघ्र ही कलङ्क को प्राप्त होती है—प्रशंसा को प्राप्त नहीं होती ॥४९॥ जो इच्छित कार्यसिद्धि की रक्षा करने में तत्पर रहती है, जो दृष्टि के तिमिर रोग को नष्ट करने के लिये सिद्ध किये हुए अञ्जन की अद्वितीय गुटिका है, और जो लक्ष्मी रूपी लता समूह की वृद्धि करने के लिये जलधारा है ऐसी क्षमा, पृथिवी में किस कारण से सत्पुरुषों के लिए इष्ट न हो अर्थात् सभी कारणों से इष्ट हो ॥५०॥ पराक्रम से सुशोभित होने पर भी बलिष्ठ मनुष्य का दूसरे समुन्नत मनुष्यों पर क्रोध करना कल्याण के लिये नहीं होता क्योंकि मेघों के प्रति क्षणभर सिंह स्वयं ही बिना कारण क्या खेद को प्राप्त नहीं होता ? अर्थात् अवश्य होता है ॥५१॥ अपने पक्षबल के गर्व से युक्त होने के कारण ही जो बलवानी, अपनी तथा दूसरे की शक्ति का विचार किये बिना विजय की इच्छा रखता हुआ शत्रु की ओर अभियान करता है वह शीघ्र ही अग्नि के सन्मुख पड़ते हुए फुलगों के द्वारा प्राप्त करने योग्य उस दशा का अनुभव करता है जिसका कि उसे कभी विचार ही नहीं आया था ॥५२॥ जो शत्रु, दैव और पराक्रम से अपने समान है उसके

---

१. आलम्बनः ग० । २. मानं वदति सम्बन्धयतीति मानद स्तत्सम्बुद्धौ हे मानद ! ३. परिवृता ग० ।
४. दशामः ग० ।

अन्तर्वर्धं चरिष्णोरिव भुवो हिमानि प्रातः करः इव जिनेशभुवोऽभनक्तम् ।
लोकातिशायितामपि भावि जिनान्तरार्हं प्रख्यापयन्ति पुरुषस्य विचेष्टितानि ॥५४
यस्मादभूत् पुरुषसिंह नृपराजराजकोटीबलं नवमृणालसिताङ्गुलीभिः ।
स्वैरं क्व चारुवलयैकरेण बभ्रे येनातपत्रमिव कोटिशिला भुजस्य ॥५५
यं च स्वयं ज्वलनजटपुपनम्य विद्वान् कन्याप्रदानविधिपूर्वमुपास्त धीरः ।
तेजोनिधिः स तव तावनियोऽद्य यातव्य इत्यभिदधाति वद त्रिपृष्ठः ॥५६ (युग्मम्)
चक्रश्रिया परिवतोऽहमिति स्वचेतो गर्वं वृथा मनसि मानद मा कृथास्त्वम् ।
किं वा विभूतममलप्रमितेन्द्रियाणां संपत्सुखाय सुचिरं परिणामकाले ॥५७
तस्मान्न कार्यमभियानमनात्मनीनमेतत्तव प्रति नरेश्वर चक्रिणश्च ।
इत्थं निगद्य सचिवः परिणामपथ्यं तूष्णीम्बभूव नहि मन्त्रिगिरः वदन्त्यकार्यम् ॥५८

साथ राजा को सन्धि कर लेनी चाहिये, ऐसा नीति शास्त्र के ज्ञाता पुरुषों ने कहा है। जो मनुष्य दैव और पराक्रम की अपेक्षा वर्तमान में अपने से हीन है वह भी समय पाकर उन्नत और पूज्य हो जाता है अतः बुद्धिमान् मनुष्यों को सहसा उसकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये। भावार्थ—युद्ध प्रारम्भ करने के पहले अपनी और शत्रु की शक्ति का विचार करना चाहिये। वह शक्ति दैव और पुरुषार्थ के भेद से दो प्रकार की है। यदि शत्रु इन दोनों शक्तियों की अपेक्षा अपने से सबल है तो उसके साथ युद्ध करना ही नहीं चाहिये। यदि शत्रु अपने समान है तो उससे सन्धि कर युद्ध का अवसर टाल देना चाहिये और यदि शत्रु उपर्युक्त दोनों शक्तियों की अपेक्षा अपने से हीन है तो भी उसके साथ बुराई नही करनी चाहिये क्योंकि आज जो हीन है वह कालान्तर में समुन्नत और पूज्य हो सकता है। तात्पर्य यह है कि युद्ध का प्रसङ्ग प्रत्येक अवस्था में त्याज्य है ॥५३॥ जिस प्रकार गजराज की गर्जनाएं उसके भीतर स्थित पद को सूचित करती हैं और प्रभात काल में प्रकट होनेवाली किरणें उदित होते हुए सूर्य को प्रख्यापित करती हैं उसी प्रकार मनुष्य की चेष्टाएं उसके आगे होनेवाले साम्राज्य को निश्चित रूप से प्रसिद्ध करती हैं ॥५४॥ जिसमें सिंह रूपी करोड़ों राजाओं के समान बल था ऐसे उस सिंह को जिसने अङ्गुलियों से स्वेच्छानुसार नवीन मृणाल के समान विदीर्ण कर दिया और इसके अनन्तर जिसने कोटिशिला को उठा कर एक हाथ से छत्र के समान धारण किया। और विद्वान् तथा धीर-वीर ज्वलनजटी ने स्वयं आकर कन्या प्रदान करते हुए जिसकी सेवा की ऐसा तेज का भाण्डार स्वरूप वह त्रिपृष्ट आज तुम्हारा शत्रु और चढ़ाई करने के योग्य कैसे हो गया ? यह मैं आपके संमुख कहता हूँ, उत्तर दीजिये ॥५५–५६॥ हे मानद ! 'मैं चक्र की लक्ष्मी से युक्त हूँ' तुम अपने मन में ऐसा अहंकार व्यर्थ ही मत करो क्योंकि जिनका चित्त अत्यन्त मूढ है तथा जिन्होंने इन्द्रियों को नहीं जीता है। ऐसे मनुष्यों की संपत्ति क्या फल काल में चिरकाल तक सुख के लिये होती है ? अर्थात् नहीं होती ॥ ५७ ॥ आप चक्रवर्ती हैं और ज्वलनजटी साधारण राजा है अतः आपको उसके प्रति अपने आप के लिये अहितकारी यह अभियान नहीं करना चाहिये। इस प्रकार फल काल में हितकारी वचन कह कर मन्त्री चुप हो गया सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य बेकार नहीं बोलता ॥ ५८ ॥ जिस प्रकार तम-रात्रि-सम्बन्धि सघन

---

१. चिरपरवशीक ब० । २. जिनान्त्यस्य ब० । ३. योऽयो म० । ४. इत्यपि वदन्ति म० ।

तत्पार्श्वलोकनकरैर्जनकेऽवलोपं[1] मन्त्रैरिव प्रणयसंवलनैकसूक्तैः ।
यत्नैः स तस्य रमणेन प्रतिबद्धबुद्धिर्दुष्टः प्रबोधमगमत् कुधुकूकवः ॥५९
दुःशिक्षितैरनवलोकितकार्यपाकैः केनिन्नरप्रणयिभिः विजबुद्धिबलावलिप्तः ।
उत्तेजितः सचिवमित्यवदत् कोपाद् भ्रूभङ्गभङ्गुरितदुष्टललाटपट्टः ॥६०
नोपेक्षते परिणतावपि कालमिष्टसिद्धिप्रदो रिपोरभिवृद्धिमिद्धाम् ।
अल्पस्तको नयु भवत्यधिराधरातिः काले ववर्धत सहसा परिहीयमानः ॥६१
पद्माकरं समवलम्ब्य स राजहंसः पक्षान्वितोऽपि कुरुते भुवि न प्रतिष्ठाम् ।
एकत्र शत्रुजलदेऽपि नयु स्वकाले सर्वंसहोपनतसैन्यसितातिरौद्रे ॥६२
भूरिप्रतापसहितैरविभिन्नदेहैस्तेजोमयैरपगतैः सहितः सहायैः ।
उद्यन्न साधयति किं भुवनं जिगीषुर्भास्वान्करैरिव वृहद्विसमस्तदिक्कैः ॥६३

अन्धकार में जिसकी बुद्धि लग रही है ऐसा दुष्ट उल्लू, पदार्थों का दर्शन करानेवाले तथा जगत् को अद्वितीय रूप से प्रकाशित करनेवाले सूर्य की किरणों के समूह से प्रबोध को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार तम—क्रोधप्रधान तमोगुण में जिसकी बुद्धि लग रही थी ऐसा दुष्ट अश्वग्रीव मन्त्री के वचनों से प्रबोध को प्राप्त नहीं हुआ ॥ ५९ ॥ जो अपने बुद्धिबल के अहंकार से युक्त था ही, उसपर खोटी शिक्षा से युक्त और कार्य के फल का विचार न करनेवाले कुछ लोगों ने आकर जिसे उत्तेजित कर दिया था, फलस्वरूप क्रोध के कारण भौंहों के भङ्ग से जिसका ऊँचा ललाट तक कुटिल हो रहा था ऐसा अश्वग्रीव मन्त्री से इस प्रकार बोला ॥६०॥ तदनन्तर फलकाल में हित की इच्छा रखनेवाले मनुष्य, शत्रु के प्रकाश में आनेवाली थोड़ी भी अभिवृद्धि की उपेक्षा नहीं करता, क्योंकि सहसा बढ़ता हुआ शत्रु और रोग समय आने पर शीघ्र ही दुःखदायक होते हैं। भावार्थ—बढ़ते हुए शत्रु और रोग की उपेक्षा करनेवाला मनुष्य फल काल में दुरन्त-दुःख को प्राप्त होता है ॥६१॥ वर्षाकाल में बिजली की कौंध से भय उत्पन्न करनेवाले मेघ के गरजने पर जिस प्रकार राजहंस पक्षी पद्माकर—कमलवन का आश्रय लेकर तथा पक्षों—पङ्खों से युक्त होने पर भी पृथिवी में एक स्थान पर प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होता अर्थात् एक स्थान पर स्थित नहीं रहता उसी प्रकार ग्रहण की हुई पैनी तलवाररूपी बिजली से भयंकर शत्रुरूपी मेघ के गरजने पर राजहंस—श्रेष्ठ राजा भले ही पद्माकर—लक्ष्मी के हस्तावलम्बन को प्राप्त हो अथवा पक्ष—सहायक राजाओं से संयुक्त हो तो भी पृथिवी पर एक जगह प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होता। भावार्थ—धन-बल और जनबल से सहित बड़े से बड़ा राजा भी, शत्रु के विरोध में खड़े होने पर पृथिवी में एक जगह स्थिर नहीं रह सकता। अश्वग्रीव, मन्त्री के वचनों का उत्तर देता हुआ कह रहा था कि अल्पशक्ति, कितना ही धनबल और जनबल से युक्त क्यों न हो मेरे विरोध में खड़े होने पर एक जगह स्थिर नहीं रह सकेगा ॥६२॥ जिस प्रकार उद्यन्—उदय को प्राप्त होता हुआ सूर्य, बहुत भारी सन्ताप से सहित, अखण्ड, तेजोमय, अपगत, सहगामी और विशाओं को व्याप्त करनेवाली किरणों से क्या जगत् को सिद्धि नहीं करता ? अपने अधीन नहीं करता उसी प्रकार उद्यन्—आगे

---

१. उपेक्षितः क्षीणबलोऽपि शत्रुः प्रभावदोषात्पुरुषैर्मदान्धैः ।
अल्पोऽपि भूत्वा प्रथमं ततोऽत्यन्तप्रवृद्धतां व्याधिरिव प्रयाति ॥—इति क्षेमशर्माचार्यकः श्लोकः

द्रागान्धुसेकसुरभीकृतगण्डविम्बौ संचारिणाविव तुङ्गनगौ गजानाम् ।
हृत्वा भृशं स नृपतिः सगुणप्रकारानेकान् कथोपदेशमधिगम्य गजाग्रणीरिः ॥६४

उपजातिः

इत्थं धृतिमन्मतिसारयोगं प्रमाणभूतं प्रविलङ्घ्य वाग्भिः ।
स्वातन्त्र्यमत्यन्तमवाप कोपात्क्षोरणं मत्त इव द्विपेन्द्रः ॥६५

प्रहर्षिणी

प्रोत्तस्थावथ समयं विलङ्घ्य सद्यो दुर्वारस्तुरगबलः प्रतीतसत्त्वः ।
कल्लोलैरिव जलधिर्युगान्तकाले व्याप्नन्मे पगनतलं बलैरसंख्यैः ॥६६

मञ्जुभाषिणी

प्रतिलोमसमीरकम्पितध्वजां ध्वजिनीं निवेश्य रचितोपकार्यके ।
तृणकाष्ठतोयसुलभे नगे स्थितः प्रतिपालयन्नथ परान्यरैक्षत ॥६७

रुचिरा

इति स्फुटं तुरगगलस्य चेष्टितं निरङ्कुशं सदसि चरेण धीमता ।
उदीरितं ज्वलनजटी निशम्य तत्प्रजापतिं सविनयमित्यवोचत ॥६८

बढ़ता हुआ विजयाभिलाषी राजा, बहुत भारी प्रताप से सहित, अक्षतशरीर, तेजोमय, अगणित तथा समस्त दिशाओं को व्याप्त करनेवाले सहायकों से क्या जगत् को सिद्ध नहीं करता है—अपने अधीन नहीं करता है अर्थात् अवश्य करता है ॥ ६३ ॥ मदजल के सेचन से जिनके कपोलप्रदेश सुगन्धित किये गये हैं, जो चलते-फिरते अञ्जनगिरियों के समान उन्नत शरीर हैं, तथा अजगर के समान जिनकी शुण्डादण्ड हैं ऐसे अनेक हाथियों को बलवान् सिंह किसका उपदेश पाकर नष्ट करता है ? ॥ ६४ ॥ जिस प्रकार मदोन्मत्त गजराज क्रोध से महावत को नष्ट कर अत्यन्त स्वतन्त्रता को प्राप्त होता है उसी प्रकार अश्वग्रीव भी महाज्ञानी, प्रमाणभूत हरिश्मश्रु नामक मन्त्री को पूर्वोक्त वचनों से उल्लंघ कर अत्यन्त स्वतन्त्रता को प्राप्त हो गया ॥६५॥ तदनन्तर जिस प्रकार प्रलयकाल में समुद्र समय—मर्यादा को लांघ कर असंख्य लहरों से आकाशतल को रोकता हुआ ऊपर की ओर उठता है उसी प्रकार दुर्वार तथा प्रसिद्ध पराक्रम को धारण करनेवाला अश्वग्रीव भी समय—आचार का उल्लङ्घन कर असंख्य सेनाओं से नभस्तल को घेरता हुआ उठ खड़ा हुआ ॥ ६६ ॥ तदनन्तर प्रतिकूल वायु से जिसकी ध्वजाएँ कम्पित थीं ऐसी सेना को, बनाये हुए डेरे—तम्बुओं से सहित तथा तृण काष्ठ और पानी की सुलभता से युक्त पर्वत पर ठहरा कर अश्वग्रीव भी वहीं ठहर गया और प्रतीक्षा करता हुआ शत्रुओं की ओर देखने लगा ॥६७॥ इस तरह बुद्धिमान् दूत के द्वारा सभा में कही हुई अश्वग्रीव की स्पष्ट तथा स्वच्छन्द चेष्टा को सुन कर ज्वलनजटी ने राजा प्रजापति से विनयसहित इस प्रकार कहा ॥६८॥ जिसके दिशाओं के विभाग कुबेर के द्वारा सुरक्षित हैं ऐसे

---

१. उत्तस्थावथ म० । २. तुरगबलः म० । ३. आप्नन्मे म० । ४. पगनतलं म० । ५. रचितोपकार्यके म० ।

वसन्ततिलकम्

रौप्ये गिरौ मणिवरविहितविभूतौ नानाविधर्द्धिरमणा नगरी रराज ।
अस्यां बभूव विभवेन मयूरकण्ठीनीलाङ्गनातनुभवोऽश्वगलोऽर्द्धचक्री ॥६९

द्रुतविलम्बित

अथ बलीयसि दुर्निवारोद्यमे संभूमान्यैः खेचरैर्वेष्टितोऽन्यैः ।
यत्कर्तव्यं तद्धितस्वान्तनीतैः सभ्यैः सार्धं कार्यमालोचयामः ॥७०

हरिणी

ज्वलनजटिनः श्रुत्वा वाणीमिति क्षितिनायके सचिवसहितं भूयो भूयो विवृत्य विपश्यति ।
स्वयमुदचलच्चित्तं ज्ञात्वा तदा परिवर्तभोरपतदनुमतिर्नूनं फलं मतिसम्पदः ॥७१

इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचरितेऽश्वग्रीवक्षोभवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ।

●

सप्तमः सर्गः

विद्युन्मती

अथ मन्त्रिवादानुपश्रुत्य गणमाहूय सलोकपरमिवः ।
अभयं विजयेन संगतो निजगादेति वचः प्रजापतिः ॥१

विजयार्धपर्वत पर नाना प्रकार की समृद्धि से सम्पन्न अलका नाम की नगरी सुशोभित है। जिस अलका नगरी में मयूरग्रीव और नीलाञ्जना के शरीर से उत्पन्न अश्वग्रीव नाम का अर्द्धचक्री हुआ है ॥ ६९ ॥ दुर्निवार बहुत भारी पराक्रम से युक्त अश्वग्रीव अन्य राजाओं के साथ मिल कर युद्ध के लिये खड़ा हुआ है। इस स्थिति में जो कार्य करने योग्य है उस पर हम लोग एकान्त में आत्महितकारी सभ्यों के साथ मिल कर विचार करें ॥ ७० ॥ ज्वलनजटी की इस प्रकार की वाणी सुन जब राजा प्रजापति बारबार मुड़ कर मन्त्रिमण्डल की ओर देखने लगे तब स्वामी का अभिप्राय जान कर मन्त्रिमण्डल स्वयं उठ कर खड़ा हो गया—विचार करने के लिये तैयार हो गया सो ठीक ही है; क्योंकि अवसर के अनुकूल कार्य करना ही मनुष्यों की बुद्धिरूपी सम्पदा का फल है ॥ ७१ ॥

इस प्रकार असग कविकृत श्री वर्द्धमानचरित में अश्वग्रीव की सभा के
क्षोभ का वर्णन करनेवाला छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

●

सातवाँ सर्ग

अथानन्तर ज्वलनजटी नामक विद्याधरों के राजा और विजय नामक अपने ओजस्वी पुत्र से सहित राजा प्रजापति ने एकान्त में मन्त्र के ज्ञाता मन्त्रियों के समूह को बुलाकर निर्भयतापूर्वक इस

---

१. मयूरकण्ठीकान्यस्या म० ।

भवतामनुभावतो हि नः सकला संपदुपस्थितेहिता ।
ऋतुभिर्विरहय्य किं स्वयं वनु पुष्पाणि विभावयन्ति किम् ॥ २
निजमुग्धतया सकम्पितानिपुरात्मीयति नः समन्ततः ।
पृथुकान् जननीव वो मतिः कुशला कृत्यविधौ च वत्सला ॥३
गुणिनां भवति प्रसङ्गतो गुणहीनोऽपि गुणी वरातले ।
सुरभीकुरुतेऽम्बु कर्परं सलिलं पाटलपुष्पवासितम् ॥४
अविचिन्तितमप्ययत्नतः स्वयमुत्पादयति प्रयोजनम् ।
विधिरेकपदे निरङ्कुशः कुशलं वाऽकुशलं च देहिनाम् ॥५
बलवानहयग्रीवः परं सहसा चक्रधरः समुत्थितः ।
अपरैः सह खेचरेश्वरैर्वदतास्मानभिति कोऽस्य सन्नयः ॥६
इति कारणमुद्गिरन् भृशं विरते दर्शितपूरिकारणम् ।
सचिवैः परिवीक्षितो मुहुर्वचनं सुश्रुत इत्यवोचत ॥७
अवबोधविधौ विशुद्धतां वयमाप्ता भवतः प्रसादतः ।
अपि नाम जडात्मकाः सदा भुवि पद्मा इव तिग्मदीधितेः ॥८
समुपेत्य नितर्गतः शुचौ वनु यत्किञ्चिदपि प्रकाशते ।
तुहिनद्युतिबिम्बसंश्रिते भवितोऽपि प्रतिभासते भृशम् ॥९

प्रकार के वचन कहे ॥ १ ॥ निश्चय ही आप लोगों के प्रभाव से ही हमारी यह सम्पूर्ण मनोवाञ्छित सम्पत्ति हुई है; क्योंकि ऋतुओं के बिना क्या वृक्ष स्वयं ही पुष्पों की शोभा को धारण करते हैं ? अर्थात् नहीं धारण करते ॥ २ ॥ जिस प्रकार कार्य करने में कुशल तथा स्नेह से परिपूर्ण माता, अपनी अज्ञानता से युक्त बालकों को सब ओर दुःख से रक्षा करती है उसीप्रकार कार्य करने में कुशल और स्नेह से परिपूर्ण आप लोगों की बुद्धि, अपनी अज्ञानता से युक्त हमलोगों की सब ओर दुःख से रक्षा करती है ॥ ३ ॥ पृथ्वीतल पर गुणी मनुष्यों की संगति से निर्गुण मनुष्य भी गुणी हो जाता है सो ठीक ही है; क्योंकि गुलाब के फूल से सुवासित जल मिट्टी के पात्र को भी सुगन्धित कर देता है ॥ ४ ॥ स्वच्छन्द देव, जिसका विचार भी नहीं किया गया ऐसे प्राणियों के अच्छे या बुरे कार्य को स्वयं बिना किसी प्रयत्न के एक साथ उत्पन्न कर देता है ॥ ५ ॥ अत्यन्त बलवान् अश्वग्रीव चक्रवर्ती, अन्य विद्याधर राजाओं के साथ हमलोगों पर अचानक आ चढ़ा है, बतलाइये क्या यह उसका समीचीन नय है ? ॥ ६ ॥ जिसमें अनेक कारण दिखलाये गये हैं ऐसे वचन कहकर जब राजा प्रजापति चुप हो गए तब मन्त्रियों के द्वारा बार-बार देखा गया सुश्रुत मन्त्री इस प्रकार के वचन बोला ॥ ७ ॥ जिस प्रकार पृथ्वी में जलात्मक—जल के आश्रय रहनेवाले कमल, सूर्य के प्रसाद से विकास को प्राप्त होते है उसी प्रकार हम लोग भी जडात्मक—अज्ञानमय होनेपर भी आपके प्रसाद से सम्यग्ज्ञान के विषय में विशुद्धता को प्राप्त हुए हैं ॥ ८ ॥ स्वभाव से पवित्र पुरुषों को प्राप्त कर निश्चय ही साधारण पुरुष भी प्रकाशित होने लगता है सो ठीक ही है; क्योंकि चन्द्रमा

---

१. नन्वु म० । २. वो म० । ३. शुचि म० ।

उपयाति जलोऽपि पात्रतां सहसंसर्गविशेषतः परम् ।
करवालपथः पयोमयः करिणां किं न विदारयिष्यति ॥९
भवतामपि सन्निधौ पुरो वहुं वक्ष्मि यदत्र साध्वसम् ।
अधिकारवतस्य बोधनव्यवहारं प्रथमे सचेतसः ॥११
त्रिभिरेव भवद्भिरर्जितैर्नयविद्यैः प्रतिसंक्रमितैर्वलम् ।
भुवनं सचराचरं यथा सकलैरन्यगुणैरुपास्यते ॥१२
ननु सर्वविदोऽपि शास्त्रतो न यदः पौरुषमीक्षते जडे ।
परिणेतरि नाटकोचिते सचिवैः किं नु कवित्वमिष्यते ॥१३
पुरुषस्य परं विभूषणं परमार्थं सुजनेन सङ्गतम् ।
प्रशमो विनयश्च तत्फलं प्रकटं नीतिविदः प्रचक्षते ॥१४
विनयप्रशमन्वितं सदा स्वयमेवोपनयन्ति साधवः ।
स च साधुसमागमो जगत्यनुरागं विपुलं तनोति वः ॥१५
अनुरागवशेन वर्जितं जगतस्तत्त्वं विपुलश्रियां प्रभोः ।
स्वयमेव महीपतेरतो विनयं च प्रशमं च मन्वते ॥१६
हरिणानपि वेणुवल्गितो वनु मुह्यन्ति खले वनेचराः ।
विवशेष्वनुयोग किं गुणः कुरुते कस्य न कार्यसाधनम् ॥१७

के विन्ध्य का आश्रय लेनेवाला मृग मदिन होनेपर भी प्रकथित होने लगता है ॥ ९ ॥ जड—मूर्ख मनुष्य भी आश्रय की विशेषता से शीघ्र ही उत्कृष्ट सामर्थ्य को प्राप्त हो जाता है सो ठीक ही है; क्योंकि तलवार पर चढ़ा हुआ पानी का कण भी क्या हाथियों के मस्तक को विदीर्ण नहीं कर देता ? ॥ १० ॥ आप जैसे कुशलवक्ताओं के आगे भी जो मैं बोल रहा हूँ वह इस मन्त्रिपद के अधिकार की चपलता है अन्यथा ऐसा कौन सचेतन—समझदार मनुष्य है जो आप लोगों के सामने बोलना प्रारम्भ करे ? ॥ ११ ॥ जिस प्रकार उन्नत और धनता को प्राप्त तीन वातवलयों के द्वारा चराचर सहित यह समस्त लोक धारण किया गया है उसी प्रकार सबल तथा प्रतिभा से युक्त आप तीनों—व्यवसायबुद्धि, प्रज्ञापति और विनय के द्वारा ही नीतिशास्त्र धारण किया गया है ॥ १२ ॥ यदि श्रोता ज्ञान से रहित है तो उसके सामने सर्वज्ञ का भी वचन सुशोभित नहीं होता सो ठीक ही है; क्योंकि अन्धे पति के सामने स्त्री का हावभाव क्या सफल होता है ? अर्थात् नहीं होता ॥१३॥ नीति के ज्ञानकार कहते हैं कि शास्त्रज्ञान ही मनुष्य का उत्कृष्ट और सच्चा आभूषण है तथा प्रशम और विनय ही उस शास्त्रज्ञान का प्रकट फल है ॥ १४ ॥ विनय और प्रशम से युक्त मनुष्य के पास साधु स्वयं आते रहते हैं तथा वह साधुओं का समागम जगत् में अद्वितीय अनुराग को उत्पन्न करता है ॥ १५ ॥ अनुराग से पराजित हुआ समस्त संसार स्वयं ही राजा की विपुलता को प्राप्त होता है इसलिये गुरु विनय और प्रशम को मान लेते हैं ॥ १६ ॥ वन में भील, अपने संगीतगुणों से वेगशाली हरिणों को भी निश्चय ही पकड़ लेते हैं सो ठीक ही है; क्योंकि गुण किस की कार्यसिद्धि नहीं करता ? अर्थात् सभी की करता है ॥ १७ ॥ उपाय के जाननेवाले लोगों ने कहा है कि कठोर

---

१. भूयस् म० । २. सकलः म० । ३. परार्थिनं म० ।

पवनाधमधूतः सुखावहः परिणत्युत्कटमुष्णयत्यहिः ।
परितापयति क्षितिं रविर्नयु निर्वापयति क्षपाकरः ॥१८
सुवशीकरणं जनीरिणां प्रियवाक्यादपरं न विद्यते ।
मधुरं हि रुतं शकोकिलं परपुष्टोऽपि जनस्य वल्लभः ॥१९
अविलम्बितसूचनप्रवेशं निरपेक्षं सकलार्थसाधनम्[1] ।
विजयाय न सामतः परं ननमस्त्रं हृदते क्षमाभृतः ॥२०
कुपितस्य रिपोः प्रशान्तये प्रथमं साम विधीयते बुधैः ।
कतकेन विना प्रसत्तये सलिलं कर्दमितं प्रयाति किम् ॥२१
वचसा पवनेन वर्धते मृदुना शाम्यति कोप उद्धतः ।
पवनेन यथा दवानलो जलमुक्तेन च दूरिवारिणा ॥२२
उपशाम्यति सामनैव यो नहि तस्मै गुरु तत्र पात्यते ।
अहिते वह साधसाध्यके विदुषायैरितरैः प्रयोजनम् ॥२३
उपयाति न विक्रियां परः परिणामेऽपि च साम्यसाधितः ।
सलिलेन तु भस्मसात्कृते ज्वलनः प्रज्वलितुं विमीहते ॥२४
[2]विकृतिं भजते न जातुचित्कुपितस्यापि मनो महात्मनः ।
परितापयितुं न शक्यते सलिलं वारिनिधेस्तृणोल्कया ॥२५

उपाय की अपेक्षा कोमल उपाय अधिक सुखदायक होता है; क्योंकि सूर्य तो पृथ्वी को संतप्त करता है और चन्द्रमा निश्चय ही आह्लादित करता है ॥ १८ ॥ प्रियवचन के सिवाय दूसरा मनुष्यों का वशीकरण नहीं है सो ठीक ही है; क्योंकि यथायोग्य मधुर शब्द करता हुआ कोयल भी तो मनुष्यों को प्रिय होता है ॥ १९ ॥ राजा, विजयप्राप्ति के लिये साम के सिवाय अन्य अभीष्ट शस्त्र को धारण नहीं करते; क्योंकि साम तीक्ष्ण न होनेपर भी हृदय में प्रवेश करता है और निरपेक्ष होकर भी सबके प्रयोजन को सिद्ध करता है ॥ २० ॥ विद्वान् पुरुष, क्रुद्ध शत्रु को शान्त करने के लिये सबसे पहले साम का ही प्रयोग करते हैं सो ठीक ही है; क्योंकि निर्मली के बिना क्या मलिन पानी स्वच्छता को प्राप्त होता है ? अर्थात् नहीं होता ॥ २१ ॥ जिस प्रकार पवन से दावानल बढ़ता है और मेघ के द्वारा छोड़े हुए अत्यधिक जल से शान्त होता हैं उसी प्रकार कठोर वचन से उद्धत क्रोध बढ़ता है और कोमल वचन से शान्त होता है ॥ २२ ॥ जो कोमलता से शान्त हो जाता है उस पर बहुत भारी शस्त्र नहीं गिराया जाता है । तात्पर्य यह है कि जो शत्रु साम उपाय से सिद्ध करने के योग्य है उस पर अन्य उपायों से क्या प्रयोजन है ? ॥ २३ ॥ साम उपाय से सिद्ध किया हुआ शत्रु परिपाककाल में भी विकार को प्राप्त नहीं होता सो ठीक ही है; क्योंकि पानी से बुझाई हुई अग्नि क्या फिर से प्रज्वलित होती है ? अर्थात् नहीं ॥ २४ ॥ कुपित होने पर भी महात्मा का मन कभी भी विकार को प्राप्त नहीं होता सो ठीक ही है; क्योंकि तृण की उल्का से समुद्र का पानी

---

१. रत्नं ब० । २. साधकम् ब० ।

३. साधोः प्रकोपितस्यापि मनो नायाति विक्रियाम् ।
न हि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया ॥ हितोपदेशे ।

नयवर्त्मनि यः सुनिश्चितात्मा भवति शत्रव न विद्यते रिपुः ।
ननु पथ्यभुजं विनायकः प्रभवत्यामयसंक्षयं क्षयम् ॥२६
अयथाभिनिवेशितः कथं क्षितुनाथः कुरुते जनीहितम् ।
घटिनाशयुदीति किं पयः सहसा स्वस्तनयानलज्वले ॥२७
मृदुनैव विनिश्चितं क्रमात्परिपूर्णोऽपि रिपुः पुरःस्थितः ।
प्रतिवस्तरणप्रपातरयः सकलं किं न विभेदति द्रुवरम् ॥२८
मृदुना सहितं सनातनं भुवि तेजोऽपि भवत्यवस्थितम् ।
दशयाऽ विना सतैलया ननु निर्याति न किं प्रदीपकः ॥२९
अत एव च तत्र सामतः प्रतिकर्तव्य इहाऽपि नादरः ।
प्रभविष्यति निश्चयाय सुबुधो विदुरप्रायमतानि वेदितुम् ॥३०
अथ तस्य निशम्य भारतीं कुपितान्तःकरणः परंतपः ।
विजयो विजयश्रियः पतिर्निजगादेति वचो विचक्षणः ॥३१
पठितं न सुकोऽपि किं बहिर्निगदव्याप्तिविवर्जिताक्षरम् ।
नयवित्स बुधैः प्रशस्यते कुपते यस्य वचोऽर्थसाधनम् ॥३२
परिकुप्यति यः सकारणं नितरां सोऽनुनयेन शाम्यति ।
अनिमित्तरुषः प्रतिक्रिया क्रियतां केन नयेन कथ्यताम् ॥३३

संतप्त नहीं किया जा सकता है ॥ २५ ॥ जो सुनिश्चितरूप से नीतिमार्ग में चलता है उसका कोई शत्रु नहीं रहता सो ठीक ही है, क्योंकि पथ्य का सेवन करनेवाले मनुष्य को क्या रोग थोड़ा भी कष्ट पहुँचा सकता है ? अर्थात् नहीं ॥ २६ ॥ जिसका प्रयोग ठीक नहीं किया गया है ऐसा उपाय क्या अभीष्ट कार्य को करता है ? अर्थात् नहीं करता । जिस प्रकार कि कच्चे बर्तन में रक्खा हुआ दूध क्या शीघ्र ही दही पर्याय को प्राप्त होता है ? अर्थात् नहीं होता ॥ २७ ॥ सामने खड़ा हुआ सबल शत्रु भी कोमल उपाय के द्वारा ही क्रम से नष्ट किया जाता है सो ठीक ही है; क्योंकि प्रतिवर्ष आनेवाला नदी का पूर क्या समस्त पर्वत को नहीं भेद देता है ? अर्थात् अवश्य भेद देता है ॥२८॥ इसमें संशय नहीं है कि पृथ्वी पर तेज भी कोमलता से युक्त होकर ही स्थायी होता है; क्योंकि तैलसहित बत्ती के बिना क्या दीपक बुझ नहीं जाता है ? अर्थात् अवश्य बुझ जाता है ॥ २९ ॥ इसलिये उस अवश्यजीव पर साम उपाय से ही प्रतीकार करना चाहिये, मैं अन्य उपाय को निश्चित ही ठीक नहीं समझता हूँ" इस प्रकार कहकर सुबुद्ध मन्त्री अन्य मन्त्रियों का मत जानने के लिये चुप हो गया ॥ ३० ॥ अथानन्तर सुबुद्ध मन्त्री की उपर्युक्त वाणी सुनकर जिसका अन्तःकरण कुपित हो रहा था, जो शत्रुओं को संतप्त करनेवाला था, तथा विजयलक्ष्मी का अधिपति था ऐसा बुद्धिमान् विजय इस प्रकार के वचन बोला ॥ ३१ ॥ जिसके अक्षर पूर्वापर सम्बन्ध से रहित हैं ऐसे पढ़े हुए पाठ को क्या तोता भी नहीं बोल देता है ? परन्तु वही नीतिज्ञ मनुष्य विद्वानों के द्वारा प्रशंसित होता है जिसका वचन प्रयोजन की सिद्धि करता है ॥ ३२ ॥ जो मनुष्य किसी कारण से कुपित होता है वह अनुनय-विनय के द्वारा अवश्य शान्त हो जाता है परन्तु जो निष्कारण ही क्रोध करता है उसका प्रतिकार किस नय से किया जावे ? यह कहो ॥ ३३ ॥ तीव्र क्रोध से युक्त मनुष्य के लिये हितकारी प्रिय वचन कहे जावें तो वे शान्ति के कारण तो नहीं होवें किन्तु क्रोध

[illegible] ॥३४
[illegible] ॥३५
[illegible] ॥३६
[illegible] ॥३७
[illegible] ॥३८
[illegible] ॥३९
[illegible] ॥४०
[illegible] ॥४१

को ही प्रज्वलित करनेवाले होते हैं सो ठीक ही है; क्योंकि अग्नि के द्वारा अत्यन्त तपे हुए घी पर पड़ा हुआ पानी अग्निपने को प्राप्त हो जाता है ॥ ३४ ॥ जिसका चित्त आर्द्र है ऐसे अभिमानी मनुष्य को प्रिय वचन नम्र कर देता है परन्तु जिसकी चेष्टा इससे विपरीत है ऐसा दुष्ट मनुष्य भी क्या साम उपाय के द्वारा अनुकूलता को प्राप्त होता है ? अर्थात् नहीं होता ॥ ३५ ॥ जिसप्रकार लोहा अग्नि के द्वारा कोमलता को प्राप्त होता है और पानी के द्वारा कठोरता को। उसी प्रकार दुष्ट मनुष्य शत्रु के द्वारा पीड़ित होने पर नम्रता को प्राप्त होता है अन्य प्रकार से नहीं ॥३६॥ नीति के ज्ञाता महात्मा के द्वारा दो में दो प्रकार का कार्य किया जाता है। अर्थात् अपने बन्धुस्वरूप महापुरुष के विषय में तो विनय की जाती है और शत्रु के विषय में महान् पराक्रम प्रकट किया जाता है ॥३७॥ पुरुष के लिए दो ही कार्य परम सुखदायक हैं ऐसा सत्पुरुषों का भी अभिमत है। वे दो कार्य ये हैं कि शत्रु के सामने स्थित रहने पर निर्भय रहा जावे और प्रिय स्त्री की भृकुटी चढ़ने पर भयभीत हुआ जावे ॥३८॥ दुर्बल तृण भी विपरीत वायु के सामने नम्रता को प्राप्त नहीं होता अतः वह शत्रु को स्वयं नमस्कार करनेवाले पुरुष की अपेक्षा उत्कृष्ट है ॥३९॥ मरा हुआ मनुष्य जो गुरुता को प्राप्त होता है—भारी वजनदार हो जाता है उसका कारण मैं इस समय समझ गया। निश्चय ही लघुता का कारण याचना है और मरे हुए मनुष्य में वह किञ्चित् भी नहीं रहती। भावार्थ—जीवित मनुष्य की अपेक्षा मृत मनुष्य का शरीर भारी क्यों होता है ? इसका कवि ने अपनी कल्पना से यह उत्तर दिया है कि जीवित मनुष्य के शरीर की लघुता का कारण याचना है, मरने पर वह याचना इञ्चमात्र भी शेष नहीं रहती इसीलिये मृत मनुष्य का शरीर भारी हो जाता है ॥ ४० ॥ जिस प्रकार ऊँचे से ऊँचा भी अगाधर—पर्वत मनुष्य के द्वारा

१. नीतिविदां म० । २. महात्मनाम् म० ।

परमक्षमापुरोधसं क्षमयाऽपि क्षेत्रेषिणं हन्यते ।
अतएव हि धीरः शत्रुरं न सहते क्षमाधरोऽपि ॥४१
उपशाम्यति सामभिः क्षणं महतो नैव निसर्गशत्रवः ।
भवते च स तैः प्रशाम्यतां सलिलैरौर्वहितेव वारिभिः ॥४२
अभिगर्जति तावदुद्धतो नवनिर्घातनगीरनेकपः ।
पुरतः प्रतिगीर्यमाकृतिं न हरिं पश्यति यावदाहवे रिपुम् ॥४४
असृजद्रुचिरांशुपल्लवं भुवि दुर्नामकमारतविद्रुमम् ।
शमयेन्नृपतिर्महाहवं सहसाऽऽक्रम्य नरेण कः ॥४५
स्थिरवं विनिहन्ति केसरी स्वयमन्विष्य च यः समागतः ।
निजवासगुहामुपागतं स च तं मुञ्चति किं मुदुत्तया ॥४६
भवतां प्रविलङ्घ्य भारतीमधिकक्षुद्रवानपि किं नमानुषः ।
न हिनस्ति तमप्रधर्षणं करजैर्दन्तनखायुधो मृगम् ॥४७

सहसा लाँघ लिया जाता है उसी प्रकार बड़े से बड़ा क्षमाधर-क्षमा को धारण करनेवाला भी, मनुष्य के द्वारा लाँघ लिया जाता है—अपमानित कर दिया जाता है सो ठीक ही है क्योंकि इस संसार में किस सत्पुरुष की क्षमा उसके तिरस्कार का कारण नहीं होती है ? ॥४१॥ संध्या के समय तेज का अभाव हो जाने से सूर्य भी अत्यन्त अस्त को प्राप्त हो जाता है इसीलिये उदार-बुद्धि पुरुष क्षणभर के लिये भी देदीप्यमान तेज को नहीं छोड़ता है ॥ ४२ ॥ महान् पुरुष के शान्तिपूर्ण उपायों से स्वाभाविक शत्रु शान्ति को प्राप्त नहीं होता किन्तु उनसे उस प्रकार प्रशान्तता को प्राप्त होता है जिस प्रकार कि समुद्र के जल से बड़वानल ॥ ४३ ॥ जिसकी बुद्धि भय से चेतना-हीन हो रही है ऐसा उद्दण्ड हाथी तभी तक गर्जता है जब तक कि वह सामने खड़े हुए भयंकर आकृति के धारक सिंह रूप शत्रु को नहीं देखता है ॥ ४४ ॥ जो शत्रुता के करने में उद्यत है, तथा अनेक प्रकार के विकारों से युक्त है ऐसे महोदय-बढ़े हुए दुर्नामक-अर्श की बीमारी को छेदनक्रिया-शल्यक्रिया (आप्रेशन) के बिना कौन बुद्धिमान् शान्त कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं। भावार्थ—संस्कृत में दुर्नामक और अर्शस्—ये दो बवासीर रोग के नाम हैं। यह कष्टदायक व भयंकर रोग है। यह रोग जब अधिक बढ़ जाता है तब शत्रु के समान दुख देता है तथा रक्तपात आदि अनेक विकार उत्पन्न करता है। इसके शान्त करने का उपाय छेद करना ही है अर्थात् शस्त्रचिकित्सा के द्वारा मस्से को काट देना ही इसका उपाय है। इसी प्रकार जो शत्रु, शत्रुता करने में उद्यत रहता है—बार-बार शत्रुता करता है तथा अनेक प्रकार के विकार—उपद्रव खड़े करता है उस शक्तिशाली शत्रु को छेदनक्रिया—तलवार आदि के प्रहार से ही शान्त किया जाता है, शान्ति से नहीं ॥ ४५ ॥ जो सिंह स्वयं ढूंढ और खोज कर हाथी को मारता है वह अपने निवास की गुहा में आये हुए उस हाथी को क्या बुद्धि की इच्छा से छोड़ता है ? अर्थात् नहीं छोड़ता ॥४६॥ यद्यपि आप लोगों की वाणी उल्लङ्घन करने योग्य नहीं है तो भी मेरा छोटा भाई विपक्ष उसका उल्लङ्घन कर उस अवस्था को क्या उस प्रकार नहीं मारेगा जिसप्रकार कि

---

१. दुर्नामकं ब० । २. 'दुर्नामकमर्शसी' इत्यमरः । ३. एनं सलिलम् ब० । ४. नखायुधम् ब० ।

अहमेव हि वेद्मि केवलं न विजानाति परोऽत्र कश्चन ।
अतिदैवमनल्पपौरुषं भवतां क्षीणमतो विजृम्भते ॥४८
इति पौरुषसाधनं परं विजये कार्यमुपेक्ष्य दुर्जये ।
विरते मतिसागरे गिरं मतिमानीतिविधिर्विजृम्भते ॥४९
इति कृत्यविधौ विचार्य सम्यग् विजयेनेह परिस्फुटीकृते ।
अपि नैव समाधि धावुते प्रविधातुं जडधीरयं जनः ॥५०
किमिदं कथितं न साम्प्रतः समयं ज्योतिषिकेन नः पुरा ।
अहमस्य तथाप्यनल्पधीं श्रियमिच्छामि परीक्षितुम् ॥५१
सुविचार्य कृतादहि कर्मणः परिणामेऽपि भयं न जायते ।
अतएव विवेकवान् क्रियामविचार्यारभते न जातुचित् ॥५२
समरे ननु चक्रवर्तिनं जयतु जेता भुवि यस्तु साध्यते ।
ग्रह साधयिता स वासरैरव विद्याः सकलाः स केशवः ॥५३
इति ते निगदोपलक्षितं वचनं तस्य विवेयवस्तुनः ।
अवगम्य तथेति मेनिरे करणीयं सुनिरस्तसंशयम् ॥५४
अथ तस्य परीक्षितुं श्रियं विजयस्यापि समाविजन्मिनः ।
उचलनोपपदो जटी परं पुरुषविज्ञानसाधनाविधिम् ॥५५

मदमत्तो हाथी अर्गल—आगल का उल्लङ्घन कर हाथी के बच्चे को मार देता है ॥ ४७ ॥ केवल मैं ही इसके दैविक तथा लोकोत्तर पौरुष को जानता हूँ दूसरा नहीं इसलिये इस विषय में आप लोगों का मौन रहना ही भूषण है । भावार्थ—आप लोग इसके पराक्रम को दैविक तथा लोकोत्तर समझ कर इसे अजेय मानते हैं पर मैं जानता हूँ कि इसका पराक्रम कैसा है अतः आप लोग इस विषय में चुप रहिये ॥ ४८ ॥ इसप्रकार दुर्जेय विजय, 'कार्य का उत्कृष्ट साधन पौरुष ही है' यह कह कर जब चुप हो गया तब नीति को जाननेवाला बुद्धिमान् मतिसागर मन्त्री इस प्रकार बोला ॥ ४९ ॥ यहाँ विद्यमान विद्वान् विजय ने यद्यपि कार्य की विधि को इस प्रकार अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है तथापि हे राजन् ! यह जडबुद्धि जन तदनुसार कार्य करने के लिये दौड़ा करता है ॥५०॥ क्या हम लोगों के सामने ज्योतिषी ने परमार्थ से यह सब नहीं कहा था ? यद्यपि कहा था तो भी मैं इसकी लोकोत्तर उत्कृष्ट लक्ष्मी की परीक्षा करना चाहता हूँ ॥५१॥ क्योंकि अच्छी तरह विचार कर किये हुए कार्य से फलकाल में भी भय नहीं होता है इसलिये विवेकी मनुष्य विचार किये बिना कभी कार्य प्रारम्भ नहीं करता ॥ ५२ ॥ जो पृथिवी पर सात ही दिन में समस्त विद्याओं को सिद्ध कर लेगा वह निश्चय ही युद्ध में चक्रवर्ती अजयजीव को जीतेगा और जीतने के बाद वही नारायण होगा ॥ ५३ ॥ इसप्रकार मतिसागर मन्त्री के वचन को करने योग्य कार्य की कसौटी के समान जान कर सब लोगों ने कार्य को संशय रहित हो उसी प्रकार मान लिया ॥ ५४ ॥ तदनन्तर विजय की

---

१. चक्रवर्तिनः म० । ४ ग प्रतौ ५२–५३ श्लोकयोर्मध्ये किरातार्जुनीयस्य 'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् । वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ।' इति श्लोकोत्तरः । ब प्रतौ च नास्ति । समासार्थकलक्षणं पादटिप्पनेऽङ्कीकृतः स लेखकप्रमादेन मूले समाश्लोकितः इति प्रतिभाति ।

अपरे च ये च [illegible]
महती स्वयमेव रोहिणी महती [illegible]
अपराः पतदीदृगाहिनीप्रमुखाः [illegible]
उपतस्थुरहो महात्मनः [illegible]
विजयस्य च सिंहवाहिनी विजया वेगवती प्रभंकरी ।
इति पञ्चशतं वरा मनुष्यैरविला विद्यासु सप्तसु ॥५८
विबुधैरिति सीमितैर्दिनैर्विदिता [illegible]
पुरि तौ नृपवेश्मरक्षिणौ [illegible]
अथ तस्य विधातुमीप्सतो रिपुसंघातहृतं सखे मनः ।
कथयन्निव रोदसी सपदि [illegible]
निरगादविलम्बमात्मवान् स [illegible]
अथ [illegible]
सदनाङ्गणतोऽभ्युदाजगः [illegible]
परितस्तमयाभिरक्षिणी [illegible]
करिणां कवलीकृतोत्करः [illegible]
अतिदुःसहमन्यभूभिदः [illegible]

लक्ष्मी की परीक्षा करने के लिये ज्वलनजटी ने उसके साथ-साथ विजय को भी महाविद्याओं के सिद्ध करने की विधि बतलाई ॥५५॥ जिस विद्या को दूसरे लोग विधिपूर्वक बारह वर्ष में भी सिद्ध नहीं कर पाते हैं वह रोहिणी नाम की महाविद्या शीघ्र ही उसके सामने प्रकट हो गई ॥ ५६ ॥ गरुड़वाहिनी जिनमें प्रमुख हैं ऐसी अन्य समस्त विद्याएँ भी उस महात्मा के समीप आकर खड़ी हो गईं सो ठीक ही है, क्योंकि बहुत भारी पुण्यसंपत्ति से युक्त मनुष्य के लिये असाध्य क्या है ? ॥ ५७ ॥ विजय के लिये भी सिंहवाहिनी, विजया, वेगवती, और प्रभंकरी आदि पाँच सौ उत्कृष्ट विद्याएँ सात दिन में सिद्ध हो गईं ॥ ५८ ॥ इसप्रकार सीमित दिनों में जिसने विद्याओं को वश कर लिया था ऐसे त्रिपृष्ट को राजा प्रजापति तथा ज्वलनजटी विद्याधर ने सुनिश्चितरूप से संसार के आगे स्थापित कराया अर्थात् सर्वश्रेष्ठ घोषित कराया ॥ ५९ ॥ तदनन्तर ज्योंही उसने शत्रुओं को मारने के लिये गमन करने की इच्छा की त्योंही मृदङ्ग के शब्द ने चारों ओर से एक साथ पृथिवी और आकाश के अन्तराल को व्याप्त कर दिया। मानों वह मृदङ्ग का शब्द युद्ध में उसकी विजयलक्ष्मी को ही सूचित कर रहा था ॥ ६० ॥ विजयमङ्गल को सूचित करनेवाले शुभ शकुनों से जिसने समस्त सैनिकों को संतुष्ट किया था ऐसा वह त्रिपृष्ट हाथी पर सवार हो खड़े किये हुए योद्धाओं और पताकाओं से युक्त हो नगर से बाहर निकला ॥६१॥ महलों के अग्रभाग पर चढ़ी हुई स्त्रियों का समूह अपने नेत्रों के साथ उस पर चारों ओर से धान की बलिमाँ करता रहा था और उसके वह पैदल चलना मानों पृथिवी पर उसकी विजय नीति को ही विस्तृत कर रहा था ॥६२॥ हाथियों

रथवाजिखुराभिघातजः क्षितिरेणुः खररोमभूपटः ।
सकलं न जगन्मलीमसं विदधे किन्तु यशश्च तत्क्षणम् ॥६४
न चचाल धरैव केवलं युधसेनाभरपीडिता तदा ।
उरसः कमलापि विद्विषः पवनोद्धूतलतेव भूरुहः ॥६५
विगलन्मदवारिनिर्झरा अपि दूरीकृतरोषवृत्तयः ।
अभिनेतुरधोन लीलया ललितं गन्धगजाः प्रतस्थिरे ॥६६
तडिदुज्ज्वलकाञ्चनाङ्गदांस्तुरगारूढजवाञ्जनाञ्जनान् ।
द्रुतमध्यविलम्बितानुगानभिपेदुः प्रथमोत्तमक्षितिप्रभुः ॥६७
अभिपेदुरमेयवाहनं पवनाक्षुब्धसितातपत्रताः ।
गमनोचितवेषधारिणः परसाधारणितिपास्तमन्वयुः ॥६८
बलरेणुभयेन भूतलं प्रविहायोत्पतितं विद्यरपि ।
पिदधे रजसा परीत्य तत्क्षणमं खेचरसैन्यमाकुलम् ॥६९
इतरेतररूपभूषणस्थितियानाविधिनिरीक्षणोत्सुकम् ।
नभसस्तलयोर्युगोन्मुखं चिरकालं गमने बलद्वयम् ॥७०
अवनिस्थकलेतनोत्करं वरमास्थाय विमानमुन्नतम् ।
खचराधिपतिर्विलोकयन्सहसैन्यस्तमगाद्विहायसा ॥७१

के ऊपर लगी हुई कदली ध्वजाओं के समूहों ने न केवल आकाश को आच्छादित किया था किन्तु अन्य राजाओं के लिये अत्यन्त असह्य चक्रवर्ती—अश्वग्रीव के समस्त तेज को भी आच्छादित कर दिया था ॥ ६३ ॥ रथों तथा घोड़ों के खुरों के प्रहार से उत्पन्न पृथिवी की रासभरोम के समान मटमैली धूलि ने न केवल समस्त जगत् को मलिन किया था किन्तु शत्रु के यश को भी तत्काल मलिन कर दिया था ॥ ६४ ॥ उस समय सेना के बहुत भारी भार से पीड़ित पृथिवी ही केवल चञ्चल नहीं हुई थी किन्तु पवन से कम्पित लता के समान शत्रु के वक्षःस्थल की लक्ष्मी भी भूल से चञ्चल हो उठी थी ॥ ६५ ॥ मदजल के झरनों के झरते रहने पर भी जिन्होंने क्रोधपूर्ण वृत्ति को दूर कर दिया था ऐसे गन्धगज—मदस्रावी हाथी, महावत के अधीन हो लीलापूर्वक चल रहे थे ॥ ६६ ॥ जिनके सुवर्णमय आभूषण बिजुरी के समान उज्ज्वल थे, जिनके गले में चञ्चल चमर लटक रहे थे तथा जो कभी शीघ्र कभी मध्यम और कभी विलम्ब की चाल से चल रहे थे ऐसे घोड़ों पर सवार होकर घुड़सवारों ने प्रमाण किया ॥ ६७ ॥ सफेद छत्रों से जिनका घाम दूर हो गया था, तथा जो गमन के योग्य वेष को धारण किये हुए थे ऐसे अन्य दल के राजा अपने-अपने इष्ट वाहनों पर सवार होकर उसके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥ ६८ ॥ यद्यपि विद्याधरों की सेना, स्थल सेना की धूलि के भय से पृथिवी तल को छोड़ कर आकाश में उड़ गई थी तो भी उस घबड़ाई हुई विद्याधरों की सेना को धूलि ने सबसे पहले घेर कर आच्छादित कर दिया था ॥ ६९ ॥ परस्पर एक दूसरे के रूप, आभूषण, स्थिति तथा वाहन आदि के देखने में जो उत्सुक थीं ऐसी मनुष्य और विद्याधरों की सेनाएँ गमन करते समय चिरकाल तक अधोमुख और ऊर्ध्वमुख हुई थीं अर्थात् मनुष्यों की सेना ऊर्ध्व-मुख थी और विद्याधरों की सेना अधोमुख थी ॥ ७० ॥ जिसकी पताकाओं का समूह वेग से निश्चल था ऐसे उत्कृष्ट तथा ऊँचे विमान पर बैठ कर विद्याधरों का राजा अश्वग्रीव अपने पुत्रों के साथ

सुतयोः पुरतः [illegible]
[illegible] ॥७१
इयते [illegible]
[illegible] ॥७२
करिणां [illegible]
[illegible] ॥७४
पथि [illegible]
[illegible] ॥७५
अवगाहघटाहकैरिभानवतीर्णः [illegible]
अतिभारविवर्जितः [illegible] ॥७६
[illegible]
पुरतो [illegible] ॥७७
पुरतः [illegible]
पुरतः [illegible] ॥७८
नवकन्चुलिकावधारकं [illegible]
[illegible] ॥७९

सेना को देखता हुआ आकाश मार्ग से चल रहा था ॥ ७१ ॥ और मार्ग में अत्यन्त सौम्य तथा अत्यन्त भयंकर पुत्रों के आगे चलते हुए राजा प्रजापति, नय और विक्रम के आगे चलनेवाले स्वयं श्रेष्ठ विनय के समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ७२ ॥ विद्याधरों ने अपनी स्त्रियों के साथ मन्दमुस्कान से विकसित मुख होकर ऊँट को देखा था सो ठीक ही है क्योंकि वस्तु भले ही कान्ति से रहित हो अपूर्वता—नवीनता उसमें प्रीति करती ही है ॥ ७३ ॥ आकाश मार्ग से जाते हुए हाथियों का जो प्रतिबिम्ब निर्मल पाषाणों के स्थल में पड़ रहा था उसकी ओर झुकता हुआ मत्त हाथी महावत की उपेक्षा कर मार्ग में ही रुक गया। भावार्थ—महावत उसे आगे ले जाना चाहता था पर वह हाथियों के प्रतिबिम्ब को सचमुच का हाथी मान उससे लड़ने के लिये मार्ग में ही रुक गया ॥ ७४ ॥ जो आश्चर्यजनक आभूषण पहिनी हुई थीं, जो पालकी पर आरूढ थीं और जिनके आगे बड़े-बड़े कञ्चुकी पहरेदार चल रहे थे ऐसी राजाओं की स्त्रियों को लोगों ने मार्ग में भय और कुतूहल के साथ देखा था ॥ ७५ ॥ जो हण्डे, कड़ाही, झारी और चरू आदि उपकरणों को धारण कर रहे थे ऐसे काँवर से बोझा ढोनेवाले मजदूर लोग, बहुत भारी भार के रहित हुए के समान जल्दी-जल्दी जा रहे थे ॥ ७६ ॥ जो वसुनन्द (खड्ग विशेष) और तलवारें हाथ में लिये हुए थे, तथा जिन्होंने गड्ढों और झाड़ियों को वेग से उल्लङ्घित कर दिया था ऐसे सुन्दर योधा, अपने स्वामियों के घोड़ों के आगे बड़ी तेजी से दौड़ रहे थे ॥ ७७ ॥ आगे हाथी को देखकर सञ्चर तो शीघ्र ही उछलने लगा परन्तु घोड़ा निःसङ्ग भाव से चलता गया सो ठीक ही है क्योंकि चेष्टा जाति के अनुरूप ही होती है ॥ ७८ ॥ दुष्ट घोड़ा ने बार-बार उछल कर घावों से युक्त शरीरवाले घुड़सवार को नहीं

---

१. [illegible]
२. [illegible]

उपढौकनपूर्वमौकसेयैः पुरुषैः संहितसत्यवादिभिः ।
पथि भूमिपतिः प्रभोर्जनैः प्रभु राजानमिति ब्रुवद्भिरैक्षि ॥८०
अवरोधनगोचरक्षितं तनयानां करिणामिवं पतिः ।
मदमन्थरमुत्पथः प्रभोः करभोऽयं वणिजोऽनुवर्तते ॥८१
पथि राजकलोकवेष्टितः क्षितिपोऽयं सपुतः प्रजापतिः ।
इति तत्पटलं सविस्मयं बहुधूर्जाभवताः समगंसतः ॥८२ (युग्मम्)
धृतनिर्झरवारिसीकरः करिभग्नद्रुमगन्धवाहितः ।
सरलोपल पर्वतो मरुत्पटलं कम्पितकेतनाभिधः ॥८३
बहुभिर्नतसत्तमैर्वृतस्तरुरिभ्रुरुहूकैरपि ।
अटवीपतयो वनान्तरे सपुपेत्यादरतः सिषेविरे ॥८४
दलितार्द्रगन्धसारलोहितो मदलोलोऽथ मधेन मन्थरः ।
प्रतिभूधरमैक्षत क्षणं तिमिरौघानिव जङ्गमान्गजान् ॥८५
अवलोकनमात्रतत्फला दधतीः पीनपयोधरश्रियम् ।
शबरीरपि पर्वतस्थली गिरिसिन्धूरुष सिषेविरे ॥८६
दलयन्महतोऽपि भूरुहः करिपुंसूत्कलितानि वातयन् ।
विधिनापि परं प्रकम्पयन्नरतीः सर्वमयङ्कलक्षितम् ॥८७
रचयन्नवयस्य शीकृतैर्नवगन्धैर्नयनानि देहिनाम् ।
ककुभां विवराणि पूरयन्परितश्छादितवायुवर्त्मना ॥८८

गंध के समान बिलकुल नीचे गिरा दिया सो ठीक ही है क्योंकि खोटी शिक्षा आपत्तियों का ही स्थान होती है ॥ ७९ ॥ जिन्होंने बहुत भारी गोरस भेंट में दिया था, जो कूटकर साफ किये हुए धान्य को साथ में लिये थे तथा जो मधुर शब्द बोल रहे थे ऐसे किसानों ने 'रक्षा कीजिये' यह कहते हुए मार्ग में राजा के दर्शन किये थे ॥ ८० ॥ यह प्रभु का सुन्दर अन्तःपुर है, यह मदोन्मत्त हाथियों की घटा है, यह तेज घोड़ा है, यह ऊँट है, यह देदीप्यमान गणिका है, और यह मार्ग में राजाओं की पंक्ति से घिरा हुआ पुत्र सहित राजा प्रजापति है''''इस प्रकार देशवासी लोगों ने सब ओर से उसके कटक को आश्चर्य के साथ देखा था ॥ ८१–८२ ॥ जिसने झरनों के जलकणों को धारण किया है, जो हाथियों के द्वारा तोड़े हुए अगुरु चन्दन की गन्ध से सुवासित है तथा जिसने पताकाओं के समूह को कम्पित किया है ऐसे पहाड़ी वायु उस कटक की सेवा कर रहा था ॥ ८३ ॥ अटवियों के राजाओं ने वन के मध्य आकर अत्यधिक हाथी दाँत, चमर, तथा पकड़े हुए कस्तूरी मृगों के द्वारा आदरपूर्वक उसकी सेवा की थी ॥ ८४ ॥ मसले हुए अञ्जनपुञ्ज के समान जिनकी कान्ति थी तथा सेना को देखकर जो भय से भाग रहे थे ऐसे हाथियों को उसने प्रत्येक पर्वत पर क्षणभर के लिये ऐसा देखा मानों चलते फिरते अन्धकार के समूह ही हों ॥ ८५ ॥ देखना मात्र ही जिनका उत्तम फल था, जो स्थूल स्तनों की शोभा को (पक्ष में बहुत भारी जल को धारण करनेवाली शोभा को) धारण कर रही थीं तथा पत्र ही जिनके वस्त्र थे (पक्ष में पत्तों से आच्छादित थीं) ऐसी शबरियों और पहाड़ी नदियों को देख कर वह प्रसन्न हुआ था ॥ ८६ ॥ जो बड़े-बड़े पर्वतों को भी चूर-चूर कर रहा था, नदियों के ऊँचे तटों को गिरा रहा था, वनों को अत्यधिक प्रकाश युक्त

[illegible]
[illegible] ॥८९

वंशस्थविलम्

इति भूरिबलं पुरे विजयस्कन्धनिवासिनः पतिवत्निणो प्रयाणजैः ।
प्रतिसेनमविक्षदम्बुदैः स रथावर्तगिरिं क्रमागतम् ॥९०

पुष्पितामा

अथ सरसतृणोत्करव्यपोढक्षितिरजसा रजसाऽपि रञ्जितानाम् ।
जगदपि जलसम्भृतं पुरं तत्परिणतं प्रतिपेदिरे प्रतिष्ठाम् ॥९१
विरचितशबलक्षणेक्षणानां रथवरिवस्यकलाकलापि सर्वतः सा ।
प्रतिबलबलिसम्पदेव तन्वी तुरगखुरोत्थितपुरोधसेव रेजे ॥९२
अपहृतपुरुषाष्टकप्रकाशीविधिवितरणया सविलासमाहृतेन ।
उपकटकमनेकपार्थिवानां पुरमहनीयु नवोत्तमानमितम् ॥९३
अगणितकविभावितस्थितीनां अवनतवत्सलवत्सरूपवर्याः ।
क्षितिरजसि विलोलितस्तनाग्राः शिबिरमुपेयुरिवेतरे वराङ्गनाः ॥९४
परिजनपुटितालवृन्तवातप्रशमितघर्मजलाः सुखं नरेन्द्राः ।
क्षितिनिहितकुथासु शेरते स्म श्रमसलिलेतुमनेतवारणाग्राः ॥९५

कर रहा था, तालाबों की जलरूपलक्ष्मी को कीचड़ से युक्त कर रहा था, रथ के पहियों की चीत्कार से प्राणियों के कर्णपुट को पीड़ित कर रहा था, और आकाश को आच्छादित करनेवाली धूलि से दिशाओं के छिद्रों को भर रहा था ऐसा प्रथम नारायण अचलजीव, अपनी उस सेना को जो कि अश्व रूप संपदा से ऐसी जान पड़ती थी मानों तरङ्गों से युक्त हो, शस्त्रों की कान्ति से ऐसी जान पड़ती थी मानों बिजली के खण्डों से संयुक्त हो, तथा चलते-फिरते पर्वतों के समान ऊँचे-ऊँचे मदवाली हाथियों से ऐसा जान पड़ती थी मानों सकल मेघों से रहित हो, आगे बढ़ाता हुआ कुछ ही प्रयाणों में उस रथावर्त पर्वत के समीप जा पहुँचा जिसकी शिखरों पर शत्रु की सेना ठहरी हुई थी ॥ ८७-९० ॥ तदनन्तर सेना ने नदी के समीप उस भूमि में निवास किया जो कि सरस तृण तथा मलीन घास से व्याप्त थी, सघन वृक्षावली से जिसका अन्तर्भाग सुशोभित था और सेनापति जिसे पहले देख चुका था ॥ ९१ ॥ शीघ्र ही आगे गये हुए सेवकों ने उस भूमि को साफ कर तथा सफेद चित्रित कपड़ों के सामान्य डेरे तथा राजाओं के ठहरने के योग्य बड़े-बड़े तम्बुओं से युक्त कर दिया और प्रत्येक डेरे पर पहिचान के लिये अपने-अपने चिह्न खड़े कर दिये ॥ ९२ ॥ नीति के जाननेवाले महाजनों ने, जिनके मलिन वस्त्र तथा आभरण आदि को अलग कर दिया था ऐसे अन्य सभी वर्गों से संरक्षित हाथियों को पहले जल में अवगाह कराया, तत्पश्चात् स्नानक के समीप ही उनको झूलों में बाँध दिया ॥ ९३ ॥ जिनका समस्त शरीर नदीतट के अवलम्बों से व्याप्त था, जिनका थकावट दूर कर दिया गया था, तथा जो पृथिवी पर लोटने के कारण बड़े हुए थके थे ऐसे घोड़ों को पानी पीकर बाहर खींच लिया तदनन्तर घोड़े वाले पर विश्राम किया ॥ ९४ ॥ सेवकों के द्वारा कम्पित पङ्खों

कुरु करवलयीसंवाहनाभ्यां श्रमहरम् भूतलशयनानन्तु क्षीणम् ।
उपनयितमुपस्थं राजलोकं विसृज्य क्षणमवनिं शयानोऽपि ॥९६
अपनय रथनाभ ध्वस्तेऽध्वो नय विपिनं वृषभांस्तृणाय गच्छ ।
इति भृतकजनो महत्तरोक्तं हुतमकरोन्नहि सेवकः स्वतन्त्रः ॥९७
परिचितपरिचारिकाकरानुद्धतपरिपीडनमष्टवानवेद्याः ।
दिनमिविमलयीदवरैकमात्रीः स्वयमनुतस्युरनुक्रमेण सर्वम् ॥९८
इयमुरगरिपुध्वजेन लक्ष्या नृपवसतिः सुनिखाततोरणश्रीः ।
अयमपि नगनेचरेन्द्रवासो विविधविमानविटङ्कभिन्नमेघः ॥९९
अयमुरुपुरुषव्रजेन पूर्णो विषयिविपणः क्रयविक्रयाकुलेन ।
इयमनुकितवस्थलं निविष्टा ननु वसतिर्वरवारकामिनीनाम् ॥१००
इति कटकनिवासिनः पतिष्यद्वरदण्डधरपुरोहृतः ।
कथमपि च विलोकयाम्बभूवुर्निजवसतिं सुचिरं प्रयुक्तभृत्याः ॥१०१ (त्रिभिर्विशेषकम्)

प्रहर्षिणी

पाश्वद्वारस्थानस्य निजसैनिकप्रधानस्याहोऽन्यप्रहरदैव भेदवद्भिः ।
उत्थानैर्विविधविधि केतमेत्य चिरैरत्सीयाग्रकटकजनो मुहुर्जुहाव ॥१०२

के वायु से जिनका पसीना शान्त हो गया था तथा जिन्होंने कवच उतार कर रख दिये थे ऐसे राजाओं ने श्रम दूर करने के लिये पृथिवी पर बिछी हुई कुथाओं—हाथी की झूलों पर क्षणभर शयन किया ॥ ९५ ॥ ऊँट को लदे हुए मन्त्र के भार से रहित करो, पृथिवी को चिकना करो, ठण्डा पानी लाओ, राजा का तम्बू खड़ा कर उसके चारों ओर कनातें लगाओ, रथ दूर करो, यहाँ घोड़ा बाँधा जाता है और घास के लिये बैलों को जङ्गल ले जाओ,...इस प्रकार अपने प्रधान के द्वारा कहे हुए कार्य को सेवकों ने शीघ्र ही कर दिया सो ठीक ही है क्योंकि सेवक स्वतन्त्र नहीं होता ॥ ९६–९७ ॥ परिचित सेविकाओं के हस्ताग्र भाग से किये हुए मर्दन से जिनकी मार्ग की थकावट नष्ट हो गयी थी ऐसी राजा की प्रधान स्त्रियों ने दिन सम्बन्धी समस्त कार्य को क्रम-क्रम से स्वयं ही संपन्न किया था ॥ ९८ ॥ जो गरुड़ की ध्वजा से पहिचानी जाती है तथा जहाँ बड़े बड़े तोरणों की शोभा फैल रही है ऐसी यह राजा प्रजापति की वसति है और अनेक विमानों के अग्रभाग से मेघ को चीरनेवाला यह विद्याधरों के राजा ज्वलनजटी का निवास स्थान है। यह खरीद और बेचने में व्यग्र बहुत भारी तरुण पुरुषों से भरा हुआ बाजार है और यह विटों की वसति के समीप खड़ी की हुई उत्तम वेश्याओं की वसति है। इस प्रकार जो समस्त कटक को बतला रहे थे तथा जो बड़े बड़े भूद्र बैल के भार को स्वयं उठाये हुए थे, ऐसे कार्यरत सेवक बहुत समय बाद किसी तरह अपनी वसति को देख सके थे ॥९९–१०१॥ तदनन्तर कटक के निवासी लोग, पीछे आनेवाले अपने सैनिक अधिकारियों को चिल्ला-चिल्लाकर जोरदार बातों के शब्दों तथा प्रत्येक दिशा में फहरायी हुई रङ्ग-बिरङ्गी ध्वजाओं के द्वारा बार-बार बुला रहे थे ॥ १०२ ॥ शयन करौंनियों में छपी हुई धूलि के छल से पृथिवी देवी ने जिसका अच्छी तरह चुम्बन किया था ऐसे नृपति ने 'अपने-अपने निवास स्थान पर जाओ' इस प्रकार के शब्द से राजाओं को विदा किया और स्वयं मार्ग सम्बन्धी परिश्रम

शार्दूलविक्रीडितम्

वाक्यालम्बितगण्डशैलेति वचसा पुण्यश्लिष्टवर्णं स्वयं, पूर्णेना वनमण्डलेषु रचनाभावेन संदूषितः।
वाग्वैरव्यपरिवर्जनाभिरतया वर्णं गतैः केवलैरन्योन्यः पुरुषोत्तमः स्वयमसौ सत्संगमं प्राविशत् ॥१०३

इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचरिते सेनानिवेशो नाम सप्तमः सर्गः।

अष्टमः सर्गः

स्वोद्भुता

एकदा सदसि केसरिविष्टरं कविजनेरव विभिः कृतास्पदः।
इत्युवाच वचनं वचोहरः सासनात्सचरचक्रवर्तिनः ॥१
भूष्यतां गुणगणा न केवलं सूचयन्ति विदुषां परोक्ष्यतः।
दिव्यता तव वपुश्च पश्यतां दुर्लभं द्वयमिदं त्वयि स्थितम् ॥२
चेर्यमाकृतिरियं व्यनक्ति नश्चेतसश्च तव सदा समुद्भवम्।
तोयधेरतिमहत्त्वमम्भसः किं वदीति न तरङ्गसंहतिः ॥३

की अधिकता से लँगड़ाते हुए प्रामाणिक सेवकों से अनुमान हो उत्तम विभूति से युक्त अपनी बस्तिका में प्रवेश किया ॥ १०३ ॥

इस प्रकार असग कविकृत श्री वर्द्धमान चरित में सेना निवेश का वर्णन करनेवाला सातवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।

आठवाँ सर्ग

एक दिन विद्याधरों के चक्रवर्ती अशनिवेग को वाणी से प्रसिद्ध तथा नमस्कार करनेवाला कोई दूत सभा में आकर विपक्ष से इस प्रकार कहने लगा ॥ १ ॥ न केवल आपके गुणों के समूह, सुननेवाले विद्वानों के लिये परोक्ष में आपकी दिव्यता को सूचित करते हैं किन्तु आपका शरीर भी देखनेवालों के लिये आपकी दिव्यता को सूचित कर रहा है। आप में ये दोनों दुर्लभ वस्तुएँ—गुण और शरीर स्थित हैं। भावार्थ—किसी में गुण होते हैं तो उसके अनुरूप शरीर नहीं होता और किसी में सुन्दर शरीर होता है तो उसके अनुसार गुण नहीं होते परन्तु आप में दोनों ही विद्यमान हैं और वे आपकी दिव्यता को सूचित करते हैं। गुण परोक्ष में सुननेवालों के लिये और शरीर प्रत्यक्ष में देखनेवालों के लिये आपकी दिव्यता को सूचित करता है ॥ २ ॥ सदा समुद्भव रहनेवाली यह आकृति

१. गुणगणा म० ।

प्रथयतस्तव सुधारसच्छटाशीतलाः कठिनमप्यवान्तरे ।
द्रवयन्ति सुधां किरोपलब्धमयूखकान्तमिव चन्द्ररश्मयः ॥४
त्वयि बहुलति त्वमेव सुधासिक्ते परं चक्रमणिरतिस्पृहणीयः ।
स्वीकरोषि भुवि किं न साधुतां साधवो नेतु परोक्षबान्धवाः ॥५
युक्तमेव भवतोरसंशयं संविधातुमितरेतरक्षमम् ।
सौहृदव्यसनिनश्चरोदयं तोयराशिकुमुदेशयोरिव ॥६
जन्मनः खलु फलं गुणार्जनं प्रीणनं गुणफलं महात्मनाम् ।
इत्युशन्ति कृतबुद्धयः परं तत्फलं सकलसम्पदां पदम् ॥७
पूर्वमेव सुविचार्य कार्यवित्सर्वतो विमलबुद्धिसंपदा ।
ओपते सृजति केवलं क्रियां सा क्रिया विघटते न जातुचित् ॥८
यः प्रतीपमुपयाति वर्त्मनः सोऽधिगच्छति किमीप्सितां दिशम् ।
किं प्रयास्यनुशयं न तन्मनो वीक्ष्य दुर्नयविपाकमग्रतः ॥९
स्वामिनं सुहृदभिष्टसेवकं बन्धुभाग्नुजमात्मजं युवम् ।
मातरं च पितरं च बान्धवं वृष्यन्ति न हि नीतिवेदिनः ॥१०

आपके चित्त की धीरता को प्रकट करती है सो ठीक ही है क्योंकि समुद्र की तरङ्गावली क्या उसके जल की अगाधता को नहीं कहती ? अर्थात् अवश्य कहती है ॥३॥ जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणें अन्तरङ्ग में कठोर चन्द्रकान्तमणि को भी द्रवीभूत कर देती है उसी प्रकार सुधारस की छटा के समान शीतल आपके विनय, अन्तरङ्ग में कठोर पुरुष को भी विशेष रूप से द्रवीभूत कर देते हैं। भावार्थ—चन्द्रकान्तमणि यद्यपि कठोर होता है तो भी अमृतरस की छटा के समान शीतल चन्द्रमा की किरणें जिस प्रकार उसे द्रवीभूत कर देती हैं—उससे पानी झरा देती है उसी प्रकार कोई मनुष्य यद्यपि अन्तरङ्ग में कठोर होता है—अहंकारी होता है तो भी अमृतरस की छटा के समान शीतल आपके विनय उसे द्रवीभूत कर देते हैं अर्थात् स्नेह प्रकट करने के लिये आतुर बना देते हैं ॥ ४ ॥ चूंकि आप गुणों से अधिक हैं—अधिक गुणों से परिपूर्ण हैं अतः चक्रवर्ती आप में अत्यधिक स्नेह करता है। पृथिवी पर समीचीन गुणों से सातिशय प्रेम रखनेवाला पुरुष क्या साधुता—सज्जनता को स्वीकृत नहीं करता ? अर्थात् अवश्य करता है। सचमुच ही साधु परोक्ष बन्धु होते हैं ॥ ५ ॥ जिस प्रकार समुद्र और चन्द्रमा में अविनाशी मित्रता है उसी प्रकार निःसंदेह आप दोनों में भी परस्पर का उपकार करने में समर्थ अविनाशी मित्रता का होना योग्य ही है ॥ ६ ॥ निश्चय ही जन्म का फल गुणों का अर्जन करना है, गुणों का फल महात्माओं को प्रसन्न करना है और महात्माओं के प्रसन्न करने का उत्कृष्ट फल समस्त संपदाओं का स्थान होना है इस तरह बुद्धिमान् पुरुष कहते हैं ॥ ७ ॥ कार्य को जाननेवाला पुरुष, निर्मल बुद्धिरूप सम्पदा के द्वारा पहले ही सब ओर से अच्छी तरह विचार कर मात्र कल्याण प्राप्ति के लिये जिस क्रिया को प्रारम्भ करता है वह क्रिया कभी विघटती नहीं है—नष्ट नहीं होती है ॥ ८ ॥ जो मनुष्य मार्ग के विपरीत जाता है वह क्या इच्छित दिशा को प्राप्त होता है ? और उसका मन आगे अनीति का फल देखकर क्या पश्चात्ताप को प्राप्त नहीं होता है ? ॥ ९ ॥ नीति के जानने वाले पुरुष, स्वामी, मित्र, इष्टसेवक, भ्रा-

---

१. म न ब० ।

[illegible]
[illegible] पुरा स्वयंप्रभया [illegible] ॥११
[illegible]
[illegible] पुरा यः करोति विनयातिक्रमणम् ॥१२
[illegible]
[illegible] ॥१३
[illegible] ॥१४
[illegible] ॥१५
[illegible] ॥१६
[illegible] ॥१७
[illegible] ॥१८

स्त्री, छोटा भाई, पुत्र, गुरु, माता, पिता और भाई को कभी दूषित नहीं करते—इनके साथ वैर नहीं करते ॥ १० ॥ न्यायवान् होकर भी आपने वह कार्य अपने आपके अनुरूप नहीं किया है। निश्चय ही अनन्यचित्त चक्रवर्ती ने स्वयंप्रभा की पहले ही याचना की थी ॥ ११ ॥ जान पड़ता है यह वचन अभी हाल तुम्हारे श्रवण गोचर हुआ है अन्यथा पहले से स्वामी की मनोवृत्ति को जानने वाला कौन मनुष्य विनय का उल्लङ्घन करता है ? ॥ १२ ॥ आपके द्वारा स्वयंप्रभा के स्वीकृत किये जाने बाद भी चक्रवर्ती ने यही कहा है कि वह तो मेरा परोक्ष बन्धु है मेरी स्थिति को न जानते हुए उसने उसे स्वीकृत किया है, इसमें क्या दोष है ? इस तरह चक्रवर्ती का कहना मात्सर्य से रहित है ॥ १३ ॥ जो स्नेहीजनों के बीच अपने जीवन को भी प्रिय नहीं मानता है अर्थात् स्नेहीजनों की भलाई के लिये अपना जीवन भी देने के लिये तत्पर है उसके चित्त में बाह्यवस्तु विषयक लोभ की कणिका भी कैसे उत्पन्न हो सकती है ? ॥ १४ ॥ अथवा आप बुद्धिमान् को इस कन्या से ही प्रयोजन था तो आपने पहले ही अवसरोचित से इसकी याचना क्यों नहीं की ? प्रार्थना करने पर क्या वह आपको यह उत्कृष्ट मनचाही कन्या नहीं देता ? ॥ १५ ॥ क्या उसके पास देवाङ्गनाओं के समान बहुत-सी सुन्दर स्त्रियाँ नहीं हैं ? मात्र उसका मन थोड़ा सी अतिक्रम—आज्ञोल्लङ्घन सहन करने के लिये निपुण नहीं है ॥ १६ ॥ आप चक्रवर्ती को प्रसन्न कर जिस अनुपम तथा अविनाशी सुख का उपभोग कर सकते हैं वह सुख आपको स्वयंप्रभा के चञ्चल लोचनों की विभ्रमपूर्ण चितवनों से कैसे प्राप्त हो सकता है ? बताइये ॥ १७ ॥ जो पुरुष अपने पूर्ण बल से विक्रमशील होता है उसका दूसरे से तिरस्कार नहीं होता है। परमार्थ से वही जीवन सज्जनों मनुष्यों के लिये इष्ट होता है जो कि तिरस्कार से रहित होता है ॥ १८ ॥ मनुष्य सभी तरफ चेतना

---

१. वि ब० ।

[illegible]

से सहित होता है, तभी तक क्रम और अक्रम को जानता है और तभी तक उत्कृष्ट मान को धारण करता है जब तक वह इन्द्रियों की अधीनता को प्राप्त नहीं होता है ॥१९॥ जो पुरुष स्त्री-रूपी पाश से वेष्टित है वह अत्यन्त उन्नत होने पर भी दूसरों के द्वारा विलक्षित हो जाता है—अपमानित किया जाता है सो ठीक ही है क्योंकि लताओं से वेष्टित बड़े वृक्ष पर क्या बालक शीघ्र ही नहीं चढ़ जाता है ? ॥ २० ॥ अथवा 'इन्द्रियविषय-सम्बन्धी प्रीति किस प्राणी के लिये आपत्तियों का स्थान नहीं होती' बुद्धिमानों के कान में यह कहता हुआ ही मानों हाथी पर रखे हुए नगाड़े का शब्द वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ २१ ॥ तुम अल्प सुख के कारण विद्याधरों के अधिपति की प्रीति को नष्ट मत करो क्योंकि तुम्हें ऐसी स्त्री तो फिर भी मिल सकती है परन्तु वैसा बलवान् मित्र दूसरा नहीं मिल सकता ॥ २२ ॥ तुम्हारे विवाह को जान कर तुम्हें शीघ्र ही मारने के लिये उठकर खड़े हुए दुर्जेय—शक्तिशाली विद्याधरों को स्वयं अश्वग्रीव ने रोका था सो ठीक ही है क्योंकि महात्माओं की संगति का वही फल है ॥ २३ ॥ प्रीति बनाये रखने के लिये तुम स्वयंप्रभा को अपने मन्त्रियों के द्वारा मेरे साथ उसके समीप पहुंचा दो। अन्य स्त्रियों में सदा निःस्पृह रहनेवाला वह अश्वग्रीव क्या स्वयं ही तुम्हारी प्रिया को तुम्हारे लिये नहीं देवेगा ? ॥२४॥ तदनन्तर इस प्रकार के तेज पूर्ण वचन कहकर जब शत्रु का दूत चुप बैठ रहा तब नारायण द्वारा नेत्र के संकेत से प्रेरित बलभद्र-विजय विनय सहित इस प्रकार की वाणी बोले ॥ २५ ॥ जो अर्थ-शास्त्र में बतलाये हुए मार्ग से इष्ट कार्य को सिद्ध करने वाला है, जो दूसरों के द्वारा नहीं रोका जा सकता तथा जो युक्तियों से सबल है ऐसे इस वचन को सभा में कहने के लिये तुम्हारे सिवाय

---

१. दुर्जयं ब० । २. संगतफलं ब० । ३. सत्कृतं ब० ।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

दूसरा कौन समर्थ हो सकता है ॥ २६ ॥ आश्चर्य को छोड़कर दूसरा कौन उत्पन्नों के लिये प्रिय तथा नीति में तत्पर कहा जाता है ? परन्तु आश्चर्य तो यह है कि वह वैसा होकर भी लोक-सम्बन्धी क्रिया को नहीं जानता है सो ठीक ही है; क्योंकि संसार में सबको जानने वाला कौन है ? ॥ २७ ॥ पृथ्वी पर जो मनुष्य कन्या को वरता है निश्चय से वही उसका पति क्यों होता है ? परमार्थ से इसमें दैव ही कारण माना जाता है । उस देव को कोई भी बलिष्ठ नहीं लांघता है ॥२८॥ इस प्रकार तुम्हारा स्वामी युक्तिहीन कार्य करने के लिये उद्यत है, तुम साधु तथा बुद्धिमान हो अतः तुमने उसे रोका क्यों नहीं? आश्चर्य है कि विद्वान् पुरुष भी स्वामी के असत् कार्य का समर्थन करते हैं ॥ २९ ॥ अथवा पूर्वकृत पुण्य से किसके नाना प्रकार की सुन्दर वस्तुएँ नहीं होती ? अर्थात् सभी को होती है, फिर तुम्हारे बलवान् स्वामी के द्वारा उसी निकृष्ट से क्यों बार-बार याचना की जाती है ? यह याचना की क्रिया सत्पुरुषों के लिये इष्ट नहीं है ॥ ३० ॥ योग्य समागम को देखकर तुष्ट पुरुष बिना कारण दूसरे से स्वयं क्रोध करता है सो ठीक ही है क्योंकि आकाश में निर्मल चन्द्रमा को देखकर कुत्ते के सिवाय दूसरा कौन भौंकता है ? ॥३१॥ जो विवेकहीन मनुष्य सज्जनों के आचरण मार्ग में स्वेच्छानुसार प्रवृत्ति करता है वह निर्लज्ज निश्चय ही सींग तीक्ष्ण तथा खुरों से रहित पशु है और किनके द्वारा वह दलित नहीं होता ? अर्थात् सभी के द्वारा होता है ॥३२॥ याचना से प्राप्त हुई वस्तुओं से ही जिसके जीवन की स्थिति है ऐसा याचक भी उचित वस्तु की ही याचना करता है परन्तु संसार में ऐसी याचना की विधि को अवश्य ही जानता है दूसरा नहीं ॥ ३३ ॥ 'मेरे पास दूसरों को तिरस्कृत करनेवाली लक्ष्मी है तथा मैं दुर्जय हूँ' इस प्रकार के गर्व

---

१. मन्यते ब० ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

को धारण करता हुआ जो राजा बिना कारण दूसरों का पराभव करता है वह इस संसार में कितनी देर तक जीवित रहता है ॥ ३४ ॥ सत्पुरुषों के लिये दो ही नरोत्तम इष्ट हैं और उन दो का ही जन्म संसार में प्रशंसा को प्राप्त होता है एक तो वह जो कि भय के आगे स्थित होने पर भी मोह को प्राप्त नहीं होता और दूसरा वह जिसका कि मन संपत्ति में गर्वयुक्त नहीं होता ॥ ३५ ॥ साधु पुरुष दर्पण के समान भूमि—संपत्ति के समागम से (पक्ष में भस्म के समागम से) निर्मल होता है तथा सुवृत्तता—सदाचार को (पक्ष में गोल आकृति) को धारण किये रहता परन्तु दुर्जन श्मशान में गड़े हुए शूल के समान भयंकर तथा तीक्ष्ण होता है ॥ ३६ ॥ नेत्रों से निकली हुई विषरूपी अग्नि की प्रभा के स्पर्श से जिसने समीपवर्ती वृक्षों की शोभा को भस्म कर दिया है ऐसे साँप के फन पर स्थित रत्नशलाका को कौन दुर्बुद्धि पुरुष स्वेच्छा से ग्रहण करना चाहता है ? ॥ ३७ ॥ हाथी मद से विचेतन—कृत्य-अकृत्य के विचार से रहित होने पर भी आकाश में अपना पैर नहीं रखता है फिर कल्याणहीन मद-अहंकार से जिसका मन मत्त हो रहा है ऐसा आपका स्वामी भविष्यत् में नीचे आनेवाले अपने पैर को आकाश में क्यों रख रहा है ? भावार्थ—जिस प्रकार लोक में किसी अहंकारी मनुष्य की वृत्ति का वर्णन करते समय कहा जाता है कि अमुक के पैर जमीन पर न पड़कर आकाश में पड़ रहे हैं उसी प्रकार यहाँ विजय बलभद्र, अश्वग्रीव की अहंकार वृत्ति का वर्णन करते हुए उसके दूत से कह रहे हैं कि मद की अधिकता से जिसकी चेतना शक्ति—सत्-असत् के विचार की शक्ति तिरोहित हो गई है ऐसा हाथी भी जब आकाश में पैर नहीं रखता तब तुम्हारा स्वामी मद से मत्तहृदय होकर आकाश में पैर क्यों रख रहा है ? और इस दशा में जब कि उसके पैर भविष्यत् में स्वयं ही नीचे आ जाने वाले हैं ॥ ३८ ॥ मदोन्मत्त हाथी का सिर विदीर्ण करने की क्रीड़ा में निपुण सिंह भले ही नींद से नेत्र बंद किये हो उसकी अवज्ञा—गर्जन की सटा क्या भृंगावली के द्वारा विलुप्त की जाती है ? अर्थात् नहीं । भावार्थ—हरि-

---

१. म० प्रतिके ३५–३८ श्लोकयोः क्रमभेदो वर्तते ।

२. जायति म० । ३. पुष्करं करिहस्ताग्रे नागनागफणे जले ।
व्योम्नि चन्द्रफले पद्मे तीर्थोपधिविशेषयोः ॥ —इत्यमरः

४. किं न चापयति तं भवत्पतिः म० ।

न्यायहीनमिदं कार्यं कुर्वाणो वेत्ति खेचरः स इति कथ्यते कथम् ।
वातिनाकाशगमनमात्रेणोः किं न जायते भवति न जायते ॥४०
इत्युक्तीर्थं विरते बलः परं तेजसान्वितमुदारं वचो ।
पीठिकामभिमुखं जगौ हरेर्मौर्यं वाक्यमिति वीरसंसदि ॥४१
तेन किमिह बुद्धिदुर्विधो जगतीश्चर्यमत्र यदसौ स्वयम् ।
एतदद्भुतमहो विशेषतो यत्परोक्तमपि नार्थिनत्यति ॥४२
वीरमेव रहसाऽवलोकतः पातुमिच्छति विदंशवक्त्रतः ।
नेक्षते हरविषुः सहं वसं दण्डपातनवशोन्मुखं यमम् ॥४३
स स्वयं कथमिवात्मनोऽहितं कर्म पश्यतु मतिर्न यस्य तम् ।
यो न जातु विकरालिनाहवे विक्षते विपुलवक्षसं क्षुरम् ॥४४

विपृष्ठ नारायण, मदोन्मत्त हाथियों का शिर विदारण करनेवाले भयंकर सिंह के साथ भी क्रीड़ा करने में निपुण है—इसने भयंकर सिंह को अनायास ही नष्ट कर दिया है। इस समय यह निद्रा—उपेक्षा भाव से भले ही नेत्र बंद किये हो तो भी इसकी सटा—इसके बाल क्या शृंखला के समान कामर अश्वग्रीव खींच सकता है ? अर्थात् नहीं ॥ ३९ ॥ इस जगत् में जिसकी अभिलाषा न्याय से रहित है वह गगनचर—विद्याधर कैसे कहा जा सकता है ? मात्र जाति उन्नति का निमित्त नहीं है क्योंकि आकाश में क्या कौआ भी नहीं चलता है ? भावार्थ—तुम्हारा स्वामी दूसरे की विवाहित स्त्री को चाह रहा है इसलिये उसका यह कार्य न्यायहीन है, इस न्यायहीन कार्य को करता हुआ भी वह अपने आपको विद्याधर—ज्ञानी क्यों मान रहा है ? केवल आकाश में चलने से अपने को विद्याधर मानता है तो वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि आकाश में तो कौवा भी चल लेता है ॥४०॥ इस प्रकार तेजपूर्ण, उत्कृष्ट वचन कहकर जब बलभद्र—विजय चुप हो गए तब सिंहासन की ओर अपना मुखकर धूत धीरतापूर्वक निम्न वचन बोला ॥ ४१ ॥ जगत् में वह आश्चर्य की बात नहीं मानी जाती कि बुद्धि का निर्धन—बुद्धिहीन मनुष्य स्वयं आत्महितकारी कार्य को नहीं जानता, किन्तु आश्चर्य तो यह है कि वह मूर्ख दूसरे के द्वारा कहे हुए भी हितकारीकार्य का अभिनन्दन नहीं करता है—हित की बात सुनकर भी प्रसन्न नहीं होता ॥ ४२ ॥ जिह्वा इन्द्रिय के वश हुआ शिशु का बच्चा मात्र दूध पीना चाहता है परन्तु फल काल में दुःसह और मृत्यु के करने में समर्थ भयंकर दण्डपात की ओर नहीं देखता है ॥ ४३ ॥ यह मनुष्य, महात्माओं के आगे अपने अनुचित पराक्रम का निरूपण स्वयं कैसे कर सकता है जो कि कभी युद्ध में देदीप्यमान तलवार को कम्पित करनेवाले शत्रु को देखता नहीं है। भावार्थ—युद्ध-विजयी पुरुष ही अपने पौरुष की प्रशंसा कर सकता है, इसके विपरीत जिसने आज तक युद्ध में चमकती हुई तलवार के चलानेवाले शत्रु को देखा ही नहीं वह कैसे स्वयं अपनी वीरता को प्रकट कर सकता है ? यह तो अयुक्त नहीं किन्तु रणविजयी महात्माओं के आगे ॥ ४४ ॥ अपनी स्त्रियों के अन्तःपुर में रण की कथा

---

१. विनिन्दितं न बुद्धिदुर्विधः स्वयमेव स्वहितं पृच्छतः ।
अनुचीर्तितवचः परैर्न विद्यानाति तदद्भुतं महत् ॥३९॥ —शिशुपालवध सर्ग १४.

२. स्वापमत्यनुचितं म० ।

अन्यथा भिन्नप्रकारो भवति रणकला संमुखस्थानमेव ॥
किं वाचोयुक्तिभाजः परमिह भवते सर्वथा सर्वथैव
किं वा गर्जन्ति मेघा न हि भवति कथं गर्जितं तस्य तादृक् ॥४६
किं वा भग्नैर्गजेन्द्रैः सह किमु सहसा संगरः संप्रयाति ॥४६
किं वा यान्ति प्रयोगं प्रति सह सुहृदा सर्वसंपत्तयः प्राणसंत्राणमेकं प्रथमयति पुनः ॥४७
किं वा मूलात्कलन्ति किं न मरुतः पातयं तटद्रुमं तटीरयः ।
तेनैवः प्रणयस्तदीयसचिवे चातुरेव कुरुते हि जीवितम् ॥४८
भूभृत्सामुपरि येन शासनः स्थापितः सुहृदपि स्वतेजसा ।
तादृक्चक्रधरविक्रियानुकरणः कश्चिन्न तादृक् परः ॥४९
यस्य चापरवशात्कृपा रिपुस्त्रस्तधीः किमधुनापि मुह्यति ।
मिथ्युरं ध्वनति नूतने घने सो वने हरिणशावकैः समम् ॥५०

इच्छानुसार अन्य प्रकार की कही जाती है और युद्ध के मैदान में उत्कृष्ट वीर शत्रुओं के सामने सचमुच ही दूसरे प्रकार से खड़ा हुआ जाता है। भावार्थ—अपनी स्त्रियों के सामने रणकौशल की चर्चा करना सरल है पर रणाङ्गण में शत्रुओं के सामने खड़ा रहना सरल नहीं है ॥ ४५ ॥ क्या महायुद्ध में अपने वचनों के अनुरूप पराक्रम किया जा सकता है ? अर्थात् नहीं किया जा सकता क्योंकि मेघ जिस प्रकार कानों में भय उत्पन्न करनेवाली गर्जना करता है उसी प्रकार क्या वह बरसता है ? अर्थात् नहीं बरसता ॥४६॥ मदोन्मत्त हाथियों की घटाओं से व्याप्त युद्ध में कौन किसका मित्र होता है ? अर्थात् कोई किसी का नहीं, सो ठीक ही है; क्योंकि संसार में सबकी संगति देखी जाती है परन्तु उसमें एक प्राणों की संगति आश्चर्यकारक होती है। भावार्थ—युद्ध में सब अपनी प्राणरक्षा में व्यग्र रहते हैं कोई किसी का साथी नहीं होता है ॥ ४७ ॥ क्या न झुकनेवाले तटवृक्ष को नदी का वेग जड़ से नहीं उखाड़ देता है ? अवश्य उखाड़ देता है। इसके विपरीत बेंत झुक जाने से वृद्धि को प्राप्त होता है, सो ठीक ही है; क्योंकि चाटुकारी—चापलूसी ही जीवन को सुरक्षित रखती है ॥ ४८ ॥ जिसने अपने तेज से राजाओं के ऊपर शत्रु और मित्र दोनों को स्थापित किया है तथा दोनों को साधुता के पद पर अधिष्ठित किया है उस चक्रवर्ती के समान सचमुच ही कोई दूसरा नहीं है ॥४९॥ वन में नूतन मेघ के कठोर गर्जना करने पर जिसने धनुष के शब्द की आशङ्का से भयभीत बुद्धिवाला शत्रु क्या इस समय भी हरिण के बच्चों के साथ मूर्छित नहीं होता है ? अर्थात् अवश्य होता है ॥५०॥ आभ की अनी से खण्डित अङ्गुलियों से झरते हुए रुधिररूपी महावर से जिनके पैर सुशोभित हैं, जिनके नेत्र आँसुओं से परिपूर्ण हैं, जो भयाकुल—भय से आकुल है (पक्ष में भा शब्द के सप्तम्यन्त प्रयोग में कान्ति से युक्त हैं) और जिनका बायाँ हाथ पति के हाथ के द्वारा पकड़ा गया है ऐसी उसकी शत्रु-स्त्रियाँ दावानल के चारों ओर लड़खड़ाते पैरों से घूमती हैं और उससे ऐसी जान पड़ती हैं मानो विधाता के द्वारा इस समय वन में उनका विवाह फिर से किया जा रहा हो। भावार्थ—विवाह के समय स्त्रियों के पैरों में महावर लगाया जाता है, यज्ञकुण्ड के धूम से उनकी आँखों में

---

१. म० पुस्तके ४५-५६ श्लोकयोः क्रमभेदो विद्यते ।

[illegible]
[illegible] ॥५१
[illegible] [illegible] ॥५२ [युग्मम्]
[illegible]
[illegible] ॥५३
[illegible] ॥५४
[illegible] ॥५५
[illegible] ॥५६
[illegible] ॥५७ [युग्मम्]
[illegible] ॥५८

आँसू आ जाते हैं, उस समय उनकी कान्ति ही निराली होती है, कन्यादान के रूप में पति उनके बाँए हाथ को ग्रहण करता है और लज्जावश लड़खड़ाते पैरों से वे अग्निकुण्ड की प्रदक्षिणा देती हैं। ठीक यही दशा भय से भागकर वन में गई शत्रुस्त्रियों की होती है क्योंकि आग की लपटों से पैरों की अँगुलियाँ खण्डित हो जाने के कारण उनसे महावर के समान लाल-लाल खून निकलने लगता है, दुःख के आँसुओं से उनके नेत्र भरे रहते हैं, वे शत्रु के आने के भय से घबड़ाई रहती हैं, सहयोग के नाते पति अपने हाथ से उनका बायाँ हाथ पकड़ कर उन्हें चलाते हैं तथा इसी दशा में वे दावानल के चारों ओर चक्कर लगाती हैं। इससे ऐसा जान पड़ता है कि विधाता ने फिर से उनका विवाह रचा हो ॥ ५१–५२ ॥ उत्पन्न हुए बाँसों के वन से जो अन्धकार शुरू हो रहा है, जिसके कोट का घेरा चारों ओर से खण्डित हो गया है, जिसके तोरण जङ्गली हाथियों के द्वारा चकनाचूर कर दिये गये हैं, जिसके गोपुर—प्रधान द्वार का आँगन खम्भों से ऊँचा-नीचा हो रहा है, जिसकी पुतलियाँ वस्त्र के समान आचरण करनेवाली सर्प की कांचलियों के टुकड़ों से सुशोभित हैं, जिसमें विनष्ट किये बड़े-बड़े हाथियों के मस्तक सिंह शिशुओं के नख रूपी अङ्कुशों के प्रहार से खुद गये हैं, जो सघनता फलों में पानी की आशङ्का से प्यासे मृग-समूह के द्वारा भक्षित हो रहा है, जहाँ गये हुए फूटे मकानों को बानर निर्भय होकर अपने हाथों से बजाते हैं, जिसके सोने के फाटकों पर मौजूद से मदमाती स्त्रियाँ बनाव करती हैं, और जिसमें मैनाओं के साथ पिंजड़ों से छोड़े गये तोताओं के द्वारा राजा का यशोगान पढ़ा जा रहा है ऐसे उसके वन-भाग को देखता हुआ पथिकों का समूह जब में होता अनुभव किया हो जाता है कि यह वन के कारण परस्पर किसी की प्रतीक्षा किये बिना ही जल्दी से पैर बाँध कर आगे निकल जाता है ॥५६–५७॥ जिसकी सुवर्णमय प्रभा—तेजि—चक्रधारा से निकली हुई अग्नि की ज्वालाओं से आठों दिशाएँ

उत्पन्नां व्यापकारसंभृतां वाग्विलासविभवेन भेदनम् ।
तस्य चक्रमरिचक्रभञ्जनं किं न वेत्ति भुवनत्रयेश्वरः ॥५९ [युग्मम्]
प्राहरत्स निशितं मुखप्रदं तं त्रिधार्थ पुरुषोत्तमः स्वयम् ।
तस्य नोऽपि निकषो रणाहते नान्यथा हि भवेत्पुरुषविक्रियात्मनः ॥६०
तस्य सारथिरथोऽथ दारिणः शार्ङ्गिणेव वचसा प्रचोदितः ।
आज्ञया प्रतिनिनादितद्विपत्सैन्यवारणघटोत्कटोऽस्वनत् ॥६१
केकिनां जलभरानतास्वनप्रत्यनादविधुरासु सुप्तवत् ।
व्याप्तवान् समरपुष्करध्वनिर्विश्वमुत्कटमनोभवत्वम् ॥६२
सर्वतो जयजयेति सैनिकस्तत्क्षणेन समभिष्टवन् बभौ ।
स्तूयमानविजयाभकीर्तयः प्रारभन्त रणभेव दंशितुम् ॥६३
गण्डति प्रथमसन्नहोद्यतस्फीतमद्य वपुषि क्षतात्मनः ।
कश्चिदात्मकवचे न सन्नहो तावतोऽपि मुहुरात्मकिङ्करैः ॥६४
लोहजालमलिनीलमुद्वहन् कल्पयन्नसिलतां स्फुरत्प्रभाम् ।
कश्चिदाप समतां तडिद्वतो धूमतस्य नवधारिवर्हिणः ॥६५
धारणे कलकलाकुलीकृते क्षीयतां द्विषुनमुद्वहत्यपि ।
शारिणासु नवविग्ध्वेलयत्संभ्रमेऽपि कुशलो न मुह्यति ॥६६

व्याप्त हो रही हैं, यक्ष जिसकी रक्षा करते हैं, जो अविनाशी है, जिसका तुम्ब—अरों का आधार है, जो सूर्यबिम्ब के समान देदीप्यमान है, ऊँचा है, एक हजार अरों से युक्त है, जिसने समस्त राजाओं और विद्याधरों को वश में कर लिया है तथा जो शत्रुसमूह का मर्दन करनेवाला है ऐसा उस विशाल पुण्यशाली का चक्ररत्न है, क्या तुम नहीं जानते ? ॥ ५८-५९ ॥ इस प्रकार कहते हुए उस उदण्ड दूत को युद्ध का निश्चय करनेवाले नारायण ने स्वयं रोककर यह कहते हुए विदा किया कि उसको और हमारे बीच युद्ध के सिवाय दूसरी कसौटी नहीं है ॥ ६० ॥ तदनन्तर उसकी आज्ञा से शङ्खाधिकारी के द्वारा फूँका हुआ युद्धसूचक शङ्ख शब्द करने लगा। उस शङ्ख के शब्द ने समस्त राजाओं के कटकरूपी विशालगर्तों को अपनी प्रतिध्वनि से गुञ्जित कर दिया था ॥ ६१ ॥ जल के भार से विनत मेघ गर्जना की शङ्का करनेवाले मनों से युक्त मयूरों को सुख पहुँचाने वाला रणभेरी का शब्द सुभटों को जागृत करता हुआ दिशाओं में व्याप्त हो गया ॥ ६२ ॥ रणभेरी के शब्द का अभिनन्दन करते हुए जो सब ओर 'जय जय' इस प्रकार का शब्द कर रहे थे तथा बन्दीजन जिनके नाम और सुयश की स्तुति कर रहे थे ऐसे सैनिक लोग वेग से कवच धारण करने के लिये तत्पर हो गये ॥ ६३ ॥ किसी सुभट का शरीर उसके चित्त के साथ युद्ध-सम्बन्धी हर्ष का उदय होने से इतना अधिक विस्तृत हो गया था कि अपने किङ्करों के द्वारा बार-बार लाये गये भी अपने कवच में वह नहीं समा सका था ॥ ६४ ॥ भ्रमर के समान काले लोह के कवच को धारण करनेवाला कोई सैनिक, चमकती हुई तलवार को चलाता हुआ बिजली से सहित पृथिवी पर स्थित नवीन मेघ की समानता को प्राप्त हो रहा था ॥ ६५ ॥ कल-कल शब्द से क्षोभ

---

१. इत्यवधार्य निश्चयः क० ।

[illegible]

को प्राप्त हुआ हाथी यद्यपि दुगुनी उन्मत्तता को धारण कर रहा था तो भी नीतिज्ञ महावत ने शीघ्र ही उस पर पलान रख दिया सो ठीक ही है क्योंकि कुशल मनुष्य क्षोभ के समय भी मूढ़ नहीं होता है ॥ ६६ ॥ कोई योद्धा युग विनम्र—डोरी से झुके हुए (पक्ष में दया-दाक्षिण्यादि गुणों से नम्रीभूत) उन्नत—ऊँचे (पक्ष में उदाराशय, अनवनत—विनाश से रहित (पक्ष में पराजय से दूर तथा अनिन्द्यवंशज—उत्तम बाँस से उत्पन्न (पक्ष में उच्चकुलीन, अपने समान धनुष को प्राप्त कर सुशोभित होने लगा सो ठीक ही है क्योंकि समान का संयोग क्या कभी के लिये नहीं होता? अपितु अवश्य होता है ॥ ६७ ॥ जो शीघ्रता से युक्त वेग को प्राप्त तथा हरिणों के समान वेगवाले घोड़ों पर बैठे थे, कवच धारण किये हुए थे, तथा जिनके हाथ भालों से देदीप्यमान थे ऐसे युद्धवीर अपने मनोरथ को सफल मानने लगे ॥ ६८ ॥ जिनमें जुएँ को धारण करनेवाले अच्छे घोड़े जुते हुए थे, जो पताकाओं से संयुक्त थे तथा जिनमें नाना प्रकार के शस्त्र भरे हुए थे ऐसे रथ, कवचों से युक्त सारथियों के द्वारा अपने स्वामियों के विद्यासंग्रह के आंगन की ओर ले जाये गये ॥ ६९ ॥ जिन्होंने नाना प्रकार के कवच पहिन रक्खे थे, धनु ही जिनका धन था, जो अपने इष्ट शस्त्र को धारण किये हुए थे तथा जो युद्ध के रस से उन्मत्त हो रहे थे ऐसे योद्धा शीघ्रता करनेवाले राजाओं के सन्मुख खड़े हो गये ॥ ७० ॥ राजाओं ने पहले ही अपने सेवकों को अपने करकमलों द्वारा अनुराग, पुण्य तथा वस्त्र आदि से सम्मानित किया था सो ठीक ही है क्योंकि यह सम्मान ही उन्हें मरवाता है अर्थात् प्राण न्योछावर करने के लिये तैयार करता है अन्य कुछ नहीं ॥ ७१ ॥ जो अत्यधिक मेद से आर्द्र होने के कारण कान्ता से युक्त मेघों का अनुकरण कर रहे थे तथा जिन पर सवारों को सम्हालनेवाले और योद्धा युक्त वेग से ऐसे हाथी बाहर निकले ॥ ७२ ॥ जो सुन्दर कवचों से युक्त बड़े-बड़े योद्धाओं से घिरे हुए थे तथा जिनके आगे युद्ध का नगाड़ा बज रहा था

१. म युग्मे ७०-७१ श्लोकयोः क्रमभेदो वर्तते ।

[illegible]

सार्वभौमाभिधाह्वो निर्भयाग्रतः स्थितिमतीं मदस्रावी ॥७४
दर्शितं विपुलवंशपूर्वितं विजयया पृथुमतीयुतम् ।
अर्ककीर्तिरजयत्तनः सर्वं वंशितो व्यवसायशालिनम् ॥७५
वज्रसारमिदमेव मद्वपुर्यत्नमेव किमिति प्रतिक्षणम् ।
वर्म नीतमपि सत्पुरोधसा निर्भयेन विजयेन नाददे ॥७६
कुन्दचीरसदृशद्युतिर्यथा कालमेघमधिरुह्य पूर्णचन्द्रमाः ।
राजति स्म सितरामविष्टितः कालमेघमिव पूर्वचन्द्रमाः ॥७७
रक्षितुर्भुवनमण्डलस्य मे रक्षणे सति वर्मं तु कीदृशम् ।
इत्यभीरुरभिमानगौरवात्पौरुषत्वमवलम्बिवानिव ॥७८
शारदाम्बरसमद्युतिर्महावारणं हिमगिरिं हिमत्विषम् ।
अभ्यतिष्ठदुरगारिकेतनो राजताद्रिमिव नीलगौरवः ॥७९
तं परीत्य सकलाः समन्ततो देवता, विपुलचित्रहेतयः ।
तस्थुरम्बरतले परंतपं प्रातरर्कमिव दीप्तिसंपदः ॥८०

ऐसे राजा प्रजापति, शीघ्र ही तैयार किये गये सर्वमङ्गलमय हाथी पर सवार हुए ॥ ७३ ॥ जो कवच से युक्त तथा शस्त्रों को धारण करनेवाले विद्याधरों से अनुगत था, और धारण किये हुए कवच से देदीप्यमान था ऐसा ज्वलनजटी सार्वभौम नामक मदस्रावी हाथी पर सवार हो सबसे आगे निकला ॥ ७४ ॥ युद्ध का अभिलाषी अर्ककीर्ति कवच से युक्त हो अपने ही समान हाथी पर अधिष्ठित हुआ। क्योंकि जिस प्रकार अर्ककीर्ति दानी त्याग करने वाला था उसी प्रकार हाथी दानी-मद से युक्त था, जिस प्रकार अर्ककीर्ति विपुलवंश—उत्कृष्ट कुल सहित था उसी प्रकार वह हाथी भी विपुलवंश—पीठ की लम्बी-चौड़ी हड्डी से युक्त था, जिस प्रकार अर्ककीर्ति अजित बलशाली था उसी प्रकार वह हाथी भी अजित बलशाली था, जिस प्रकार अर्ककीर्ति शिक्षा से समर्थ, भयरहित और उन्नत-उदार था उसी प्रकार वह हाथी भी शिक्षा से समर्थ, भयरहित और ऊँचा था ॥७५॥ मेरा यह शरीर ही वज्र का सार है इसलिये प्रत्येक समय कवच धारण करने से क्या प्रयोजन है ? यह कह कर निर्भय विजय ने पुरोहित के द्वारा दिये हुए भी उत्तम कवच को ग्रहण नहीं किया ॥७६॥ जिसका शरीर कुन्द के फूल के समान शुक्ल था, ऐसा बलभद्र विजय, अञ्जन के समान कान्तिवाले कालमेघ नामक मत्त हाथी पर बैठा हुआ, कृष्ण मेघ पर आरूढ़ पूर्ण चन्द्रमा के समान अत्यधिक सुशोभित हो रहा था ॥७७॥ भुवन-मण्डल का रक्षक होने पर भी मेरी रक्षा के लिये यदि कोई वस्तु अपेक्षित है तो इसमें मेरा पौरुष क्या हुआ ? इस प्रकार निर्भय रहनेवाले प्रथम नारायण त्रिपृष्ठ ने अभिमान के गौरव से कवच को धारण नहीं किया था ॥७८॥ शरद्-ऋतु के आकाश के समान कान्तिवाला त्रिपृष्ठ, वर्षा के समान कान्तिवाले हिमगिरि नामक महागज पर इस प्रकार आरूढ़ हुआ जिस प्रकार कि रजतगिरि पर श्यामल मेघ आरूढ़ होता है ॥७९॥ जिस प्रकार प्रातःकाल के सूर्य को घेर कर आकाश में उसकी

---

१. भवनमण्डलस्य म० । २. वानुचत् म० ।

उपक्रान्ते मरुत्सेना [illegible] [illegible]मुच्चलितोन्मुखम् ।
प्रत्यादिष्टानुयोगैः [illegible] [illegible] क्षितिं तदा ॥८१
प्रेषिता प्रागिवाद्रिं विद्याश्चिन्नं विष्णुना प्रलयेऽम्बुधौ देवता ।
प्राञ्जलिः प्रतिनिवृत्य तत्सैन्यादित्युवाच विद्याधरोकिनी[3] ॥८२

वसन्ततिलकम्

तेनाथ कल्पितसमस्तबलेन वेगादुत्थापितं बलवता हयकन्धरेव ।
अङ्गीकृतप्रतिभटैः खचराधिनाथैरायुक्तरत्नकवचैः सह निर्विशङ्कम् ॥८३

इन्द्रवज्रा

छिन्नाः समस्ता भवतो महिम्ना प्रागेव विद्याः खचरेश्वराणाम् ।
तान् कूनपक्षानिव पक्षिराजान्को वा न गृह्णाति रणे मनुष्यः ॥८४

मालभारिणी

उपकर्णमरातिसैन्यवार्ता विररामेत्यभिधाय तस्य विद्या ।
स्वकरद्वितयेन पुष्पवृष्टिं विकिरन्ती विरतिं भ्रमन्मधालिम् ॥८५

पृथ्वी

अमोघमुखचुम्बितं मुशलमद्भुतं चन्द्रिकां गदां च युधि सिद्धिदां भयविभाविनीं देवताः ।
हलेन सह बिभ्रताऽभजत भूरिविघ्नश्रियं जयाय विजयं स्वयं तमपराजितेनार्जितम् ॥८६

किरणरूपी संपदाएँ स्थित होती हैं उसी प्रकार नाना तरह के शस्त्रों को धारण करनेवाली समस्त विद्यादेवियाँ सब ओर से उस तेजस्वी को घेर कर आकाश में स्थित हो गईं ॥८०॥ तदनन्तर त्रिपृष्ठ की आज्ञा से, पताकाओं के द्वारा मेघ का चुम्बन करनेवाली उस सेना ने प्रयाण किया। उस समय वह सेना ऐसी जान पड़ती थी मानों शत्रु की रणभेरियों के शब्दों ने उसे युद्ध के लिये बुलाया ही था ॥८१॥ शत्रु की सेना को देखने के लिये विष्णु ने पहले ही जिस देवता को भेजा था वह उसी क्षण सबको देखकर लौटी और हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगी ॥८२॥ समस्त सेना को तैयार करनेवाला वह बलवान् अश्वग्रीव, प्रतियोद्धाओं को स्वीकृत करनेवाले रत्नमय कवचों से युक्त विद्याधर राजाओं के साथ निःशङ्क हो बड़े वेग से उठकर खड़ा हुआ है ॥८३॥ आपकी महिमा से विद्याधर राजाओं की समस्त विद्याएं पहले ही नष्ट हो गई हैं अतः पंख कटे गरुड़ों के समान उन्हें युद्ध में कौन मनुष्य नहीं पकड़ लेगा ? ॥८४॥ इस प्रकार कानों के समीप शत्रुसेना का समाचार कह कर वह विद्या चुप हो रही। समाचार कहते समय वह विद्या अपने दोनों हाथों से नारायण के शिर पर मँडराती हुई भ्रमरावली से युक्त पुष्पवृष्टि छोड़ रही थी ॥८५॥ वह विद्या देवता, अस्खलित दिव्य शक्ति को धारण करनेवाले हल रत्न के साथ अमोघमुख नामक उत्तम तथा आश्चर्य कारक मुसलरत्न, चन्द्रिका नामकी रत्नावली, और युद्ध में शत्रुओं को भय

---

१. विष्णुनिसृतानुगम् ब० । २. प्रतिनिवर्तितुं तदा ब० । ३. विद्याधरोकिनी ब० । ४. गर्जितम् ब० ।

[illegible] शार्ङ्गधनुर्निशितशरम्

आनन्दजन्यविपाञ्चजन्यजननं शङ्खं गदां कौमुदीं विद्याम्नोघमुखीं च शक्तिरवरं शार्ङ्गं धनुर्नन्दकः ।
खड्गः कौस्तुभरत्ननामसुघटितं यक्षाधिपैः रक्षितैरेभिः श्रीजयसम्पदां पदमनुद्यद्भिरेरभ्युतः ॥८७

इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचरिते विद्यानुप्रदानगनो नाम अष्टमः सर्गः ।

●

नवमः सर्गः

उपजातिः

अथेयत क्षमारजसा परीतां चक्रीवदङ्गेऽहणूसरेण ।
पताकिनीमव्यपदेशभाजं विष्णुः स्वतेजसा तां मलिनीकृतां वा ॥१
गजा जगर्जुः पटहाः प्रणेदुर्ललम्बरेऽपि जिह्वेपुरश्वाः ।
निवृत्य यातेत्यभिधाय भीतेम्बीरान्रणायेव तवाह्वयन्तः ॥२

उत्पन्न करने वाली गदा लेकर अपराजित मन्त्र से अजेय विजय की, जयप्राप्ति के लिये स्वयं सेवा करने लगी। भावार्थ—विद्या देवता ने विजय के लिये उपर्युक्त चार रत्न भेंट किये ॥८६॥ गम्भीर शब्द से युक्त पाञ्चजन्य नाम का निर्मल शङ्ख, कौमुदी नाम की गदा, अमोघमुखी नाम की दिव्य शक्ति, शार्ङ्गनामका निर्दोष धनुष, नन्दक नाम का खड्ग तथा किरणो से व्याप्त कौस्तुभमणि, यक्षराज के द्वारा रक्षित और आगे आगे चलनेवाले इन रत्नों से नारायण त्रिपृष्ठ लक्ष्मी तथा विजय रूप सम्पदाओं का आश्रय हुआ था ॥८७॥

इस प्रकार असग कविकृत श्री वर्द्धमानचरित में दिव्य शस्त्रों की प्राप्ति का वर्णन करने वाला आठवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

●

नौवाँ सर्ग

अथानन्तर विष्णु-त्रिपृष्ठ नारायण ने गधे के रोमों के समान मटमैली पृथिवी की धूलि से घिरी हुई अश्वग्रीव की उस सेना को ऐसा देखा मानो वह अपने तेज के द्वारा ही मलिन कर दी गई हो ॥१॥ उस समय दोनों सेनाओं के हाथी गरज रहे थे, नगाड़े जोरदार शब्द कर रहे थे और घोड़े हिनहिना रहे थे उससे ऐसा जान पड़ता था 'आओ लौटकर चले जाओ' यह कह कर जो वीर भयभीत हो गये थे उन्हें वे

---

१. वीरान् ब० ।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

युद्ध के लिये बुला ही रहे थे ॥२॥ घोड़ों के खुरों के प्रहार से उत्पन्न तथा नवीन मेघसमूह के समान सान्द्र और बहुत भारी धूलि उन दोनों सेनाओं के आगे विद्यमान थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानों अपने तेज से युद्ध को रोक ही रही हो ॥३॥ हाथी घोड़े और कायर सैनिकों को भयभीत कर देनेवाले परस्पर की प्रत्यञ्चाओं के शब्दों को सुनकर जिनके रोमाञ्च खड़े हो गये थे ऐसे योद्धाओं ने वीररस के बहुत भारी अनुराग को धारण किया था ॥४॥ उस समय पैदल सैनिक पैदल सैनिक को, घोड़ा घोड़े को, रथ पर बैठा हुआ रथ को और मदोन्मत्त हाथी हाथी को मारने के लिये क्रोध के बिना ही उसके सम्मुख पहुँच गया था सो ठीक ही है क्योंकि इसीलिये पाप से डरनेवाला मनुष्य ऐसी सेवा की इच्छा नहीं करता है ॥५॥ काश के नवीन फूल के समान सफेद धूलि के समूह से मूँछों और सिर के केशों में शुक्लता को प्राप्त हुए तरुण भी उस समय ऐसे जान पड़ते थे मानों 'यह अवस्था मृत्यु के योग्य है' यह मानकर ही वृद्धावस्था को प्राप्त हो गये थे ॥६॥ धनुषों से छूटे हुए बाण, दूर खड़े हुए भी सैनिकों के कवचयुक्त शरीरों पर स्थित नहीं हो सके सो ठीक ही है क्योंकि दुर्जनों—डोरी (पक्ष में शूर वीरता आदि गुणों) से छूटा हुआ कौन पुरुष पृथिवीतल में प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥७॥ महापराक्रमी योद्धा, वैर के बिना ही परस्पर एक दूसरे को बुलाकर मारने लगे सो ठीक ही है क्योंकि स्वामी के प्रसाद का बदला चुकाने के लिये कौन वीर मनुष्य प्राण त्याग की इच्छा नहीं करता है ? ॥८॥ आगे आगे दौड़ने वाला कोई योद्धा यद्यपि शत्रु के शस्त्रों से विदीर्ण हो गया था तो भी वह अपने राजा का अन्तरङ्ग—अनुचर विदीर्ण नहीं बन सका इसलिये वह अपनी स्त्रियों के हृदय को जला रहा था—दुःखी कर रहा था ॥९॥ कोई एक शूर-वीर, शत्रु द्वारा तलवार के प्रहारों से दोनों भुजाओं के कट जाने पर भी पीछे नहीं

[illegible]

आकर्णमाकृष्य धनुर्विशालं योधेन यत्नो वसुधाधिपुत्रः ।
विसृष्ट मर्माणि भटं जघान न सायकैस्तेन कथं सुमुक्तैः ॥११
यावन्निषादी मदकारणस्य मुखच्छदं नापनयति नागेन्द्र ।
तावत्सुतीक्ष्णैः प्रतिसन्धि योधास्तमेकपार्श्वेऽतनयन्नराचीभ्यूं ॥१२
मदानिलाय प्रतिसत्तवस्य क्रुध्यन्करेण स्वयमेव नागः ।
अपास्य वक्त्रावरणं प्रयातः प्रोत्क्षिप्य चान्तारमपि प्रचण्डः ॥१३
[1]कुन्देषु मग्नैर्निजबर्हवर्गै गिरेरिवारूढचयैरनेकाः ।
आरावहीनैः शिखिनां समूहैरकण्टका इव गण्डशैलाः ॥१४
स्वेतातपत्राणि नरेश्वराणां नामाक्षराढ्यैर्विशिखैरनेकैः ।
योधप्रवीणा बुबुधुः परे स्वं शिक्षाविशेषं युधि दर्शयन्तः ॥१५
धृत्वा चिरं युद्धधुरां सुतानां तेजस्विनां क्षत्रियपुङ्गवानाम् ।
अश्रावयन्नामकुलं च मग्ना व्यावृत्य शूरैरवलोकितानाम् ॥१६
खड्गप्रहारैर्दलितद्विपानां कुम्भस्थलोच्छलितैः समन्तात् ।
मुक्ताफलौघैर्निचिता बिभापि तारान्वितेवाभवदम्बरश्रीः ॥१७

गिरा था वह घनवंशजातं—सुदृढ़ बाँस से उत्पन्न (पक्ष में उत्कृष्ट कुल में उत्पन्न) अखण्डित धनुष के समान आत्मधैर्य का आलम्बन लेकर खड़ा रहा ॥१०॥ कान तक धनुष को खींचकर योद्धा द्वारा सुदृढ़ मुट्ठी से छोड़े हुए बाण ने कवच को भी भेदकर सुभट को मार डाला सो ठीक ही है क्योंकि जिसका प्रयोग अच्छी तरह किया गया है वह निश्चय से क्या नहीं सिद्ध करता ? अर्थात् सभी कुछ सिद्ध करता है ॥११॥ कोई सवार जब तक मदमाते हाथी के मुख के परदे को दूर नहीं कर पाता है कि तब तक सामने खड़े प्रतिद्वन्द्वी हाथी के योद्धा ने एक साथ छोड़े हुए बाणों से उसे अत्यन्त सी दिया। भावार्थ—शत्रु ने ऐसे बाण चलाये कि वह परदा मुख के साथ एकदम संलग्न हो गया ॥१२॥ विरोधी हाथी के मद से सुवासित वायु के प्रति क्रोध करता हुआ कोई अत्यन्त तीव्र क्रोधी हाथी, स्वयं ही सूंड से मुख के आवरण को दूर कर तथा महावत को उल्लङ्घकर—उसकी जान से बाहर हो भाग खड़ा हुआ ॥१३॥ अपने मयूरपिच्छ को छोड़कर जिनका शेष भाग गण्डस्थलों में निमग्न हो गया है ऐसे बाणों के समूह से गजराज, उन गण्डशैलों—काले पत्थर की गोल-गोल चट्टानों से युक्त पर्वतों के समान सुशोभित हो रहे थे जिनके कि शिखरों पर शब्दहीन मयूर बैठे हुए थे ॥१४॥ युद्ध में अपनी विशिष्ट शिक्षा को दिखलाते हुए कितने ही प्रधान योद्धाओं ने नामाक्षरों से चिह्नित अनेक बाणों के द्वारा राजाओं के सफेद छत्रों को छेद डाला था ॥१५॥ चिरकाल तक युद्ध का भार धारण कर जो मर गये थे तथा शूरवीर मुड़कर जिन्हें देख रहे थे ऐसे तेजस्वी श्रेष्ठ क्षत्रियों के नाम और वंश को चारण लोग सुना रहे थे ॥१६॥ तलवार के प्रहारों से खंडित हाथियों के गंडस्थल से सब ओर उछले हुए मोतियों के समूह से व्याप्त आकाशलक्ष्मी किसी भी ताराओं से चिह्नित के समान हो गई थी ॥१७॥ समीप में खड़े हुए लोग भी जिनके बाण धारण करने और

---

१. उत्तप्तचक्रं म० । २. प्रतिबध्नती म० । ३. योधास्तमेक म० । ४. मर्माण्यम् म० ।

५. मदगन्धी: प्रतिहतिरदमल्लधनुर्विमुक्तै: कुम्भेषु मग्नशिखरैर्मयूरबर्हैर्नागेन्द्रा: आरावहीनशिखिभि:चिह्नितां सपूर्वराजद्युङ्गविचरा इव शैलवर्गा: —श्रीचन्द्रचरितम् सर्ग १० ।

[illegible]
[illegible] ॥१८
[illegible] न जग्मुः ॥१९
[illegible] ॥२०
[illegible] ॥२१
छिन्नं न वामेन शिरः करेण वामेन संधार्य तथा प्रतीक्षः ।
स्वसंभृतं कञ्चिदरिं जघान कोपो हि शौर्यस्य परः सहायः ॥२२
परेण त्यक्तेन विदूषणत्वं धनुर्लतां स्वामिमतां हि कश्चित् ।
सुयोध जायामिव चारुदंतां कृतागसोनां विगुणो हि हेयः ॥२३
[illegible] ॥२४
गृध्रो भुजं कश्चिदविच्छिन्नायुक्तस्थलं गलने गृहीत्वा ।
कृतावधानस्य जवव्यवं वा वीरस्य चक्राम समन्ततोऽपि ॥२५

छोड़ने के अतिशय को नहीं जान पा रहे थे तथा जिनको ऊँचे और सुन्दर धनुष सदा खिचे रहते थे ऐसे मुख्य योद्धा उस समय चित्रलिखित योद्धाओं के समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १८ ॥ शत्रु के हाथी को मारने की इच्छा करने वाला हाथी, सुभट की तलवार के प्रहारों से सूँड के कट जानेपर भी उस प्रकार की विहस्तता-विवशता (पक्ष में सूँड से रहितता) को प्राप्त नहीं हुआ था जिस प्रकार कि अपने दोनों दाँतों के भग्न हो जानेपर दाँतों की चेष्टा नष्ट हो जाने से हुआ था ॥ १९ ॥ भालों के प्रहार से घुड़सवार के गिर जानेपर भी उसके समीप खड़ा हुआ कुन्द के फूल के समान सफेद घोड़ा ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों पराक्रम से इकट्ठा हुआ उसका यश ही हो ॥ २० ॥ अत्यधिक धैर्य से युक्त कोई योद्धा मर्मघाती प्रहार से आकुलित होनेपर भी तब तक प्राणों को धारण किये रहा जब तक कि उसके स्वामी ने दयार्द्रभाव से यह शब्द नहीं कहे कि क्या तुम श्वास ले सकते हो ? ॥ २१ ॥ क्रोध से युक्त कोई योद्धा चक्र से कटे हुए शिर को बायें हाथ से पकड़ कर अपने सामने स्थित शत्रु को मारता रहा सो ठीक ही है क्योंकि क्रोध ही शूर वीरता का परम सहायक है ॥ २२ ॥ जिस प्रकार कोई मनुष्य चारुवंशा—उच्चकुल में उत्पन्न अपनी इष्ट स्त्री को अभियोग—अपराध किये जाने पर छोड़ देता है उसी प्रकार शत्रु द्वारा भाले से जिसकी डोरी कट गई थी ऐसी चारुवंशा—उत्तमबांस से निर्मित अपनी इष्ट धनुर्लता को किसी योद्धा ने छोड़ दिया था सो ठीक ही है क्योंकि गुणरहित पदार्थ छोड़ने के योग्य होता ही है ॥ २३ ॥ जिनके अंग बाणों से विदीर्ण हो गये हैं, झुककर टूटे हुए पैरों से जिनका बल जाता रहा है तथा जिनकी नाक से घुर्घुर शब्द हो रहा है ऐसे घोड़े सघन रुधिररूप नदी कीचड़ में फँसे हुए रथों को किसी तरह बड़ी कठिनाई से खींच रहे थे ॥ २४ ॥ जड़ से कटी हुई किसी की भुजा को दन्ताग्रभाग से उठाकर एक गीध आकाश

---

१. जवव्यवेष्टमिवाग्रधुनी म० ।

वर्णोद्भिन्नतनोर्वपुः करिण गात्रभ्रान्त्य भवेत् य वजिपताकि प्रम् ।
विषाणाग्रात् भटं भटेभः क्रुद्धः पुरस्थं सहसा निपात्य ॥२६
अंघ्रायं हस्तेन भटो भवेन किलोऽपि वे खेलपतिः कृपाण्या ।
तत्पुण्णगण्डं प्रहरन्निरेजे ततः पतन्तंभ्रमहीनचित्तः ॥२७
विधुतहस्तोज्झितशीकरौघैरिभा निरासुः शरदारितानाम् ।
वाधीरणानां श्रमभोहखेदं को निर्दयः संश्रयिणां विपत्तौ ॥२८
योधा विरेजुः शरपूरिताङ्गाः सुनिश्चलानामुपरि द्विपानाम् ।
तापेन विक्लेदितपत्रशोभास्त्यक्तसारद्रुमा इव पर्वतायें ॥२९
आमूलकूलायतहस्तदेशाच्योतत्कषुष्णासृगमहाप्रवाहः ।
रेजे गजस्तुङ्ग इवाञ्जनाद्रिः सानोः पतद्गैरिकनिर्झरोऽम्बु: ॥३०
मूर्च्छाभयात्य श्रमदुःखजातां हन्तुं प्रवृत्ताः पुनरप्यरातीन् ।
महाभटास्तानगृहुः कथंचिन्नसंग्रहं को न करोति वीरः ॥३१

में सब ओर घूमने लगा जिससे वह ऐसा जान पड़ता था मानों पराक्रम दिखानेवाले किसी वीर की विजय पताका लेकर ही घूम रहा था ॥ २५ ॥ किसी क्रुद्ध मदमाते हाथी ने सामने खड़े हुए सुभट को शीघ्र ही गिरा कर सूँड से उसके बाँये पैर को मजबूती से पकड़ लिया और अपने पैर से उसके दाहिने पैर पर चढ़ कर उसे चीर दिया ॥ २६ ॥ हाथी ने किसी सुभट को सूँड़ से पकड़ कर आकाश में फेंक दिया परन्तु वह पक्का खिलाड़ी था इसलिये गिरते समय तलवार से हाथी के गण्डस्थल पर प्रहार करता हुआ ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों उसके चित्त में किसी प्रकार की घबड़ाहट थी ही नहीं ॥ २७ ॥ हाथियों ने घुमाई हुई सूँड़ों द्वारा छोड़े गये जल के छींटों के समूह से बाणों से विदारित महावतों के घावों से उत्पन्न मूर्छा के खेद को दूर किया था सो ठीक ही है क्योंकि अपना आश्रय लेनेवाले मनुष्यों की विपत्ति में निर्दय कौन होता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ २८ ॥ जिनके शरीर बाणों से परिपूर्ण थे ऐसे योद्धा निश्चल खड़े हुए हाथियों के ऊपर उस प्रकार सुशोभित हो रहे थे जिस प्रकार कि पर्वत के अग्रभाग पर गर्मी के कारण पत्तों की शोभा से रहित बाँसों की झाड़ियाँ सुशोभित होती हैं ॥ २९ ॥ जिसके जड़ से कटे हुए लम्बी सूँड़ के स्थान से कुछ-कुछ गर्म खून का बहुत भारी प्रवाह झर रहा था ऐसा उन्नत हाथी उस अञ्जनगिरि के समान सुशोभित हो रहा था जिसकी कि शिखर से गेरू के झरने का जल गिर रहा हो ॥ ३० ॥ घावों के दुःख से उत्पन्न मूर्च्छा को दूर कर जो फिर से शत्रुओं को मारने के लिये प्रवृत्त हुए थे उन्हें महायोद्धाओं ने किसी तरह पकड़ कर रक्खा था सो ठीक ही है क्योंकि घायलों का संग्रह कौन धीर वीर नहीं करता है ? इस श्लोक का एक भाव यह भी हो सकता है कि जो महायोद्धा घावों के दुःख से उत्पन्न मूर्च्छा को दूर कर फिर से शत्रुओं को मारने के लिये उद्यत हुए थे उन्होंने उन शत्रुओं को किसी तरह फिर भी पकड़ लिया सो ठीक ही है क्योंकि कौन धीर मनुष्य शत्रुओं का संग्रह नहीं करता ?

---

१. कश्चिद्गजः प्रतिभटं चरणे गृहीत्वा संभ्रामयन्दिवि यथा पटव प्रचारः ।
विक्षेप दूरतरभूपृष्ठसंस्थं च भागी प्रागेत्य कुम्भयुगलीमसिना विभेद ॥४९॥
२. वेगात् क्षोतत् म० । ३. निर्झराम्बुः म० ।

[illegible]

अर्थात् उन्हें पकड़ कर नहीं रखता ॥ ३१ ॥ कोई तेजस्वी शूर वीर घावों से विह्वल शरीर होकर भी मारने के लिये चेष्टा कर रहा था उसे देख साधुप्रकृति के किसी योद्धा ने दयावश उसे नहीं मारा सो ठीक ही है क्योंकि दुःखी मनुष्य को महानुभाव—सहृदय मनुष्य मारते नहीं हैं ॥ ३२ ॥ गूढ प्रहार से व्याकुल हुआ कोई योद्धा मुख से निरन्तर खून की धारा को उगल रहा था उससे वह ऐसा जान पड़ता था मानों सीखे हुए इन्द्रजाल को युद्ध के बीच राजाओं के सामने प्रकट ही कर रहा था ॥ ३३ ॥ किसी के वक्षःस्थल पर पड़ती हुई असह्य शक्ति—शक्ति नामक शस्त्र ने उसकी शक्ति-सामर्थ्य को नष्ट नहीं किया था सो ठीक ही है क्योंकि वह वस्तु नहीं है जो कि युद्ध की लालसा रखनेवाले तेजस्वी मनुष्यों के गर्वनाश का कारण हो सके ॥ ३४ ॥ जो इन्दीवर—नील कमल के समान श्याम कान्ति वाली थी, दन्तोज्ज्वला—चमकदार तोक से युक्त थी (पक्ष में उज्ज्वल दाँतोंवाली थी) चारुपयोधरोरुः—सुन्दर जल को धारण करनेवाली तथा विशाल थी (पक्ष में सुन्दर स्तन और जांघों से युक्त थी) साथ ही शत्रु के वक्षःस्थल पर पड़ रही थी ऐसी तलवाररूपी लता ने प्रिया के समान उस वीर को सुख से निमीलित नेत्र कर दिया था। भावार्थ—जिस प्रकार प्रिया के आलिङ्गन से मनुष्य निमीलित नेत्र हो जाता है उसी प्रकार तलवार के आलिङ्गन से कोई वीर निमीलित नेत्र हो गया था अर्थात् मर गया था ॥ ३५ ॥ शत्रु ने किसी योद्धा के वक्षःस्थल में भाला से प्रहार किया उससे घायल होकर अपने वंश-कुल का अनुसरण करता हुआ वह क्रुद्ध साँप के समान उसके पीछे दौड़ा और दौड़कर उसने उसके कक्षाप्रभाग में ऐसा काटा कि उसे असह्य हो गया ॥ ३६ ॥ जिसप्रकार धन की मुट्ठी से प्राप्त करने योग्य किसी दुष्ट वेश्या को कोई अन्य मनुष्य अपनी चतुराई से शीघ्र ही अपने अधीन कर लेता है जो वह अपने पूर्वभर्त्ता की मृत्यु का कारण बन जाती है उसी प्रकार युद्ध में किसी की कटार को किसी अन्य योद्धा ने अपनी चतुराई से अपने हाथ में कर लिया तो वह कटार अपने पूर्वस्वामी की मृत्यु का कारण हो गई। भावार्थ—किसी योद्धा ने अपनी चतुराई से किसी की कटार छीन ली और उससे उसी

१. उपजातिछन्दः । २. मालिनीछन्दः । ३. इन्द्रवज्राछन्दः ।

पपात कश्चिद्विवशो न मार्गणैरलोहमैः कीलितरागबन्धनः ।
पुरःप्रयातुत्वतोऽपि सत्वरौ दौरन्त्यं न हि स्वेनमरिष्वुतनताम् ॥३८
छिन्ने परो दक्षिणबाहुदण्डे धृत्वा परेणासिलतां करेण ।
जघान शत्रुं प्रहरन्तमग्रे विपत्तु वामोऽप्युपयोगमेति ॥३९
शरक्षतात्मोऽपि पुरःप्रयातं वाजं न पूर्वं विजहौ न शिक्षाम् ।
वैधाधमाचारतया विमेदतां च सतो हि जातो विधुरे सुखे वा ॥४०
कण्ठे निबद्धारुणचामरौघः शून्यासनः सम्मुखमाशु यायन् ।
विध्वंसयन्वल्गितमटो न नाम्ना हरिस्तदासीत्क्रियया पि वाजी ॥४१
इतस्ततोऽयायत लोहबाणैर्विदारितात्मोऽपि हयो जवेन ।
निजाधिनाथस्य मृतस्य सद्यः प्रकाशयन् सौष्ठवमाजिरङ्गे ॥४२
अरातिना मूर्धनि मुद्गरेण प्रताडितो लोहमयेन कश्चित् ।
मुमोच मूर्नी विवशोऽपि नाजौ महार्यधैर्यप्रसरो हि धीरः ॥४३
अभेद्यमप्यावरणं विभिद्य प्राणान्भटस्याशु जहार बाणः ।
फलेन शातेन विवर्जितोऽपि पूर्णे दिने को न हिनस्ति सत्त्वान् ॥४४

को मार डाला ॥ ३७ ॥ कोई एक घुड़सवार विवश हो लोहे के बाणों से रागबन्ध-पलान में कीलित हो गया था इसीलिये वह उछलते हुए भी घोड़ा से नहीं गिरा था सो ठीक ही है क्योंकि दृढ़ता से युक्त मनुष्यों को कष्ट नहीं होता ॥ ३८ ॥ दाहिने भुजदण्ड के कटजाने पर किसी ने बाँयें हाथ से तलवार लेकर आगे प्रहार करनेवाले शत्रु को मार डाला सो ठीक ही है क्योंकि विपत्ति के समय बाँया हाथ भी उपयोग को प्राप्त होता है अर्थात् काम आता है ॥३९॥ श्रेष्ठ घोड़ा ने बाणों से क्षतशरीर होकर भी न तो पहले का वेग छोड़ा, न शिक्षा छोड़ी और न घुड़सवार की अधीनता को ही छोड़ा सो ठीक ही है क्योंकि उच्चजाति का प्राणी दुःख और सुख में समान ही रहता है ॥४०॥ जिसके कण्ठ में लाल चामरों का समूह बँधा हुआ था, जिसका आसन शून्य था, जो सामने शीघ्रता से दौड़ रहा था तथा जो हाथियों की घटा को भ्रष्ट कर रहा था—इधर-उधर भगा रहा था ऐसा घोड़ा उस समय न केवल नाम से हरि था किन्तु क्रिया से भी हरि-सिंह था ॥ ४१ ॥ लोह के बाणों से खण्डित शरीर होने पर भी घोड़ा वेग से इधर-उधर दौड़ रहा था उससे वह ऐसा जान पड़ता था मानों अपने मरे हुए स्वामी के शौर्य को रण की रङ्गभूमि में शीघ्र ही प्रकाशित कर रहा था ॥ ४२ ॥ शत्रु ने लोहे के मुग्दर से किसी के सिर पर प्रहार किया परन्तु विवश होनेपर भी उसने अपना शरीर भूमि पर नहीं छोड़ा सो ठीक ही है क्योंकि धीर वही कहलाता है जिसके धैर्य का प्रसार अहार्य होता है ॥ ४३ ॥ तीक्ष्ण अनी से रहित होनेपर भी बाण ने अभेद्य आवरण को भेद कर शीघ्र ही सुभट के प्राणों को हर लिया सो ठीक ही है क्योंकि दिन पूर्ण होनेपर कौन पुरुष जीवों को नष्ट नहीं करता है ? ॥ ४४ ॥ जो अपने शरीर के द्वारा बाणों से स्वामी की रक्षा कर रहा था, तथा सभी ओर जिसका बड़ा धैर्य अनुपम था ऐसे किसी योद्धा ने क्षण भर में

---

१. छिन्नेपि दक्षिणभुजे करवालयष्टिं वामे करे विरचयन्विरपुनाथ सादी ।
वीरस्य तस्य रिपुखण्डनकेलिकावानवीनमक्षिरवमस्त हि दक्षिणत्वम् ॥५५॥ —जीवन्धर, लम्भ १०

रणभुवं हतैरश्वैः पतितैस्तत्सवारैः कबन्धसङ्कटसङ्कुलाम् ।
अतीव भीमां रुधिरापगां सुनिश्चितः कि न करोति वीरः ॥४५
कुलाभिमानं विपुलं च साध्वसं स्वसामिसम्भावं विलोकयं च ।
परस्परं वीक्ष्य विलज्जितभ्रुवौ न पेतुरन्योऽन्यवधेच्छया शूराः ॥४६
धनैश्च नागैः करिणां करैश्च विभिन्नदेहैः पतितैर्भयंकरैश्च ।
रथैश्च भग्नाक्षधुरोपकीर्णं बभूव युद्धं समरादिरं तत् ॥४७
प्रपीय रक्तासवमाशु मत्ता मदान्धसङ्काकुलकण्ठदेशाः ।
वरं वरन्तः सह यातुधानाः सम्बाहुयोधं ननृतुर्विवृद्धम् ॥४८
नवच्छिवास्वारविनष्टजन्तुना वहद् वीरान्धरपङ्करक्तम् ।
सुतान्तकस्तान्कृपयेव वह्निः को वा न मुह्यति कृतान्तकाले ॥४९
तयोर्बलिभ्योरतिदर्पमाणिनस्तयोर्बलाद्वरवीरकरम् ।
अन्योऽन्यमुद्दिश्य रणः समस्तसत्वक्षितीशसुरकार्यकरः ॥५०
मन्त्री हरिस्वभूरथैकवीरो बलस्य नेता रणमस्तकः ।
मन्त्री प्रतिहृत्युरसं विभज्य संछादयामास सर्वं शरौघैः ॥५१
कृताय सौवीभिरमा शिरांसि भल्लैर्भटानां करिणां घटानि: ।
महारथव्यूहविशेषबन्धं सर्वं विभेदामघटं यथान्यु ॥५२

अपने शरीर को अस्त्रा—वर्मनिर्मिता बड़ी कर दिया सो ठीक ही है क्योंकि सुनिश्चित वीर क्या नहीं करता है ? ॥ ४५ ॥ शूर वीर, यद्यपि घावों से व्याप्त शरीर थे तो भी वे कुल का अभिमान, विशाल लज्जा, स्वामी का प्रसाद और अपने पौरुष का विचार कर परस्पर एक दूसरे को देख पीछे नहीं फिरे थे ॥ ४६ ॥ वह युद्ध का मैदान कट कर पड़े हुए हाथियों के दाँतों, शरीरों, सूँड़ों, अनेक ध्वजाओं और जिनके भौंरे तथा धुरा टूट गये हैं ऐसे रथों से व्याप्त होकर दुर्गम हो गया था—उसमें चलना कठिन हो गया था ॥ ४७ ॥ खूनरूपी मदिरा को पीकर जो शीघ्र ही मत्त हो गये थे, जिनके कण्ठ-देश मनुष्यों की आँतोंरूपी मालाओं से युक्त थे तथा जो इच्छानुसार भुजों को लिये हुए थे ऐसे राक्षस कबन्धों—शिररहित धड़ों के साथ नाच रहे थे ॥ ४८ ॥ शब्द करनेवाले शृगालों के मुख-रूपी बाँसों से उत्पन्न अग्नि ने दया से ही मानों बाणरूपी पिंजड़ों में स्थित समस्त मृतकों को जला दिया था सो ठीक ही है क्योंकि साहस का काम करनेवाले मनुष्यों को कौन नहीं ग्रहण करता है ? ॥ ४९ ॥ उन दोनों सेनाओं के बहुत भारी घमंडी हाथी-घोड़े, पैदल सैनिक और रथों के समूह का परस्पर एक दूसरे को लक्ष्य कर जो चारों ओर युद्ध हुआ था वह यमराज का उदर भरने के लिये हुआ था। आश्चर्य—उस युद्ध में अनेक जीवों का विघात हुआ था ॥५०॥ तदनन्तर अद्वितीय वीर, सेना नायक और रण के अग्र स्थित, मन्त्रधारी हरिस्वभू नामक मन्त्री ने बाणों के समूह से एक ही साथ शत्रु की सेना और आकाश को आच्छादित कर दिया ॥ ५१ ॥ उसने बाणों के द्वारा धनुष की डोरियों के साथ योद्धाओं के सिर छेद दिये और जिस प्रकार पानी कच्चे घड़े को भेद देता है उसी प्रकार हाथियों की घटाओं के साथ बड़े-बड़े रथसमूह के विशेष बन्ध को भेद दिया

---

१. शूरः ब० । २. मत्तीभकाकुलक ब० । ३. भिन्नेषु ब० ।

[illegible] विमेदुः [illegible] ॥५३
तस्मिन्निरुद्धानुपथाप्यपृच्छं मेदुस्त्रिलोकं जगदेकवीरमित्रम् ॥५३
नितान्तशुद्धैरतिशुद्धवृत्तः शरैरनेकैः स यथानि विष्णोः ।
शरैर्विवेशुः कमलानि नक्तं निनाय संकोचमितस्ततोऽपि ॥५४
तत्पन्नगित्वं निजबाहुवीर्यं तं वीक्ष्य भीमं प्रथयाय भीमः ।
निरस्तभीराजुहुवे शरेण त्रिपृष्ठसेनापतिरुद्धतेन ॥५५
रवेण तत्स्यन्दितपुष्पं स सत्वा चापाधिकाधिज्यकेतनेन ।
अनोऽवधावेण तमाशु बाणैर्निजघ्नाय चापध्वनिताधिताशः ॥५६
छित्वेषुकांडस्य कृताय भीमः शरैर्धनुर्वेदविदग्रराजे ।
अवध्यबाणविनियोगकालः ततार्धचंद्रीकृतचारुबाणैः ॥५७
छित्त्वेद वेगात्तुह वेगयुक्तया छिन्नार्धचन्द्रेण शरासनं सः ।
ततः स मन्त्री कणयेन भीमं हत्वा च वक्षस्यथ जघान ॥५८
चापं विहायासिलतां गृहीत्वा रथात्समुत्प्लुत्य रथं तदीयम् ।
ललाटपट्टेऽसिवरं प्रपात्य जग्राह भीमस्तमुदारसत्त्वः ॥५९

॥ ५२ ॥ जब हरिश्मश्रु मन्त्री बहुत भारी बाणों की वर्षा को छोड़ रहा था तब छत्रों के साथ-साथ ध्वजाएँ गिर गईं, हाथियों के साथ-साथ खाली घोड़े भयभीत हो इधर-उधर भागने लगे, और सूर्य की किरणों के साथ-साथ दिशाएँ नष्ट हो गईं ॥ ५३ ॥ जिस प्रकार अतिशुद्धवृत्त—अत्यन्त शुद्ध और गोल आकार को धारण करनेवाला चन्द्रमा अत्यन्त शुद्ध किरणों के द्वारा रात्रि के समय जहाँ-तहाँ कमलों को संकोच प्राप्त कराता है उसी प्रकार अति शुद्ध वृत्तः—अत्यन्त शुद्ध आचार वाला अथवा शुद्ध आचार का उल्लङ्घन करनेवाला हरिश्मश्रु अनेक बाणों के द्वारा विष्णु-त्रिपृष्ठ की सेनाओं को जहाँ-तहाँ संकोच प्राप्त कराने लगा ॥ ५४ ॥ इस प्रकार अपनी भुजाओं के पराक्रम को विस्तृत करनेवाले उस भयंकर हरिश्मश्रु को देखकर त्रिपृष्ठ के सेनापति भीम ने जो कि सदा निर्भय रहता था, चढ़ाये हुए बाण से युद्ध करने के लिये ललकारा ॥ ५५ ॥ धनुष की टंकार से दिशाओं को शब्दायमान करनेवाले भीम ने, जिसकी ध्वजा वायु से लम्बी हो रही थी तथा जिसके घोड़े मन के समान वेग वाले थे ऐसे रथ से उसके सम्मुख जाकर बाणों से उसे शीघ्र ही रोक दिया ॥ ५६ ॥ जिसके बाण धारण करने और छोड़ने का कुछ काल दिखाई नहीं देता था तथा जिसने सुन्दर डोरी को कान का आभूषण बना रक्खा था ऐसे धनुर्वेद के ज्ञाता भीम ने अपने बाणों से उसके बाणों को बीच में ही छेद डाला था ॥ ५७ ॥ भीम ने अर्द्धचन्द्राकार तीक्ष्ण बाण से ध्वज-दण्ड के साथ उसके धनुष को शीघ्र ही छेद दिया। तदनन्तर उस हरिश्मश्रु मन्त्री ने कणय नामक शस्त्र से भयंकर भीम के वक्षःस्थल पर शक्ति के द्वारा निर्दयतापूर्वक प्रहार किया ॥५८॥ तदनन्तर महापराक्रमी भीम ने धनुष को छोड़ कर तलवार रूपी लता को ग्रहण किया और अपने रथ से उसके रथ पर उछल कर तथा ललाट तट पर श्रेष्ठ तलवार को गिरा कर अर्थात् तलवार से ललाट तट पर प्रहार कर उसे पकड़ लिया ॥ ५९ ॥ शत्रु के सैकड़ों शस्त्रों के समूह से जिसका वक्षःस्थल

१. मोवी म० । २. सितार्द्धचन्द्रेण० म० । ३. प्रपत्य ब० ।

शातायुधः क्षतविदीर्णवपुर्बभासे योद्धा रणे भूतशिवं विजयेऽतिशूरं सुशोभितं हि शौर्येण ॥६०
अनन्यसाधारणबाहुवीर्यं नामेव कुर्वन्नियतेर्वशुत्वम् ।
यस्मार्वलौ शत्रुजिदस्तनामा ज्ञातप्रभावेतुलिते बभञ्ज ॥६१
अवज्ञया कम्पितसर्वसैन्यं विलोक्य चापं जयशब्दपूर्वं ।
तुरङ्गमस्थस्य जयस्य यत्र पुरस्सरं संचलति स्म सैन्यम् ॥६२
चित्वार्ककीर्तेः सचिवं च सेनां पुनः प्रयुक्तं हरिणध्वजेन ।
विमुञ्चतासृष्टशरासनेन शरव्यवृष्टिं निहितामरिष्टाम् ॥६३
तावन्नलोक्य तन्नामकीर्तिरादाय चापं सुदृढप्रणामैः ।
आरोपयामास विना प्रयत्नात् संभ्रान्तयत्नेन हि शूरः ॥६४
संधाय वेगेन शरं प्रभावादाकृष्य चापं सहसा मुमोच ।
एको ह्यवापद्गिरिमुञ्जनेन प्राप्तोऽयसंधानमिवुत्तवाही ॥६५
तस्यातपत्रं सहसावधीद्यद्गुणाक्षरैर्नामसमं तदासीत् ।
आवृण्वतः संततपत्रवर्गैर्वर्णैः स्वनामाक्षरमुद्रितैर्वः ॥६६
क्रुद्धस्तदीये हरिकन्धरोऽपि लोलोपधाने विजयैकलक्ष्म्याः ।
भुजे निशातं निजघान दोर्घं बाणेतरे बाणकलुषवक्त्रम् ॥६७
एकेन तस्यायतमार्गणेन छित्वातपत्रं ध्वजकीर्त्तनं च ।
अन्येन चूडामणिमुन्मयूखमुन्मूलयामास किरीटकूटात् ॥६८

तथा दृश्य शरीर विदीर्ण हो गया था ऐसा शातायुध नामक योद्धा युद्ध में भूतशिव को जीत कर सुशोभित हो रहा था सो ठीक ही है क्योंकि शूरवीरता ही राजाओं का आभूषण है ॥६०॥ प्रतापी शत्रुजित् ने अपने नाम को क्षणभर में सार्थकता प्राप्त कराने के लिये ही मानों असाधारण भुजबल से युक्त भयंकर अजितंजय को युद्ध में जीत लिया था ॥ ६१ ॥ जिसने समस्त सेना को कम्पित कर दिया था तथा जो अजितंजय की विजयपताका के समान युद्ध में विद्याधरों के आगे-आगे चलता था ऐसे अजितंजय नायक राजा को जय नामक राजा ने बाणों के समूह से नीचे गिरा दिया ॥ ६२ ॥ तदनन्तर खिचे हुए धनुष से आकाश को आच्छादित करनेवाली वृष्टि को छोड़नेवाला अजितंजय अर्ककीर्ति की समस्त सेना को जीत कर आगे हुआ ॥ ६३ ॥ निर्भय अर्ककीर्ति ने उसे अनादर के साथ देखकर मजबूत धनुष को उठाया और बिना प्रयत्न के ही चढ़ा दिया सो ठीक ही है क्योंकि शूरवीर मनुष्य रणाङ्गण में संभ्रम को प्राप्त नहीं होता ॥ ६४ ॥ अर्ककीर्ति ने प्रभाव से धनुष खींचा और उस पर वेग से बाण चढ़ा कर इतने बल से छोड़ा कि एक ही बाण, पंक्ति के गुणाक्षर से असंख्यातपने को प्राप्त हो गया ॥ ६५ ॥ जिनके पत्र फैले हुए थे तथा जिनके अक्षर अपने नाम के अक्षरों से अङ्कित थे ऐसे बाणों के द्वारा अर्ककीर्ति ने, अजितंजय के ध्वजदण्ड को उसकी कीर्ति-रूपी लक्ष्मी के साथ जड़ से काट डाला ॥ ६६ ॥ अजितंजय ने भी क्रोधपूर्वक विजयलक्ष्मी की क्रीड़ा की तकिया के समान जिसकी दाहिनी भुजा पर चंचल कटाक्षों से युक्त दीर्घ बाण गाड़ दिया ॥ ६७ ॥ एक लम्बे बाण से उसने उसके छत्र तथा विजय पताका को छेदा और दूसरे बाण के द्वारा मुकुट के अग्रभाग से ऊपर की ओर उठने वाली किरणों से युक्त

तस्यार्ककीर्तेर्धनुषोऽग्रकोटिं चिच्छेद चक्रेण यदोद्धतस्य ।
विहाय सद्योऽपि निरस्तभीतिः शरेण तं प्राहरदाशितोष्णम् ॥६९
विदार्य नाराचवरस्वरान्तिर्भेदेन तं वज्रतनुत्रमुर्वीम् ।
तदार्ककीर्तिः सुतनुर्बभासे हत्वा रिपुं को न विभाति युद्धे ॥७०
अन्यैरजय्यं युधि कामदेवं प्रजापतिर्नीतवतो विजित्य ।
पुरा तपस्यन्नुपि कामदेवं प्रजापतिस्तीर्थकृतां विधाताः ॥७१
बलस्य गर्वं खलितेश्वरस्य स्वबाहुवीर्यातिशयेन युद्धे ।
अवज्ञयाना हयकन्धरस्य विना प्रयत्नेन पितार्ककीर्तेः ॥७२
नमश्चरान्सप्तशतानि[1] जित्वा विद्याभृदाद्यीन्विजयो विराजन् ।
पुरःस्थितं नीलरथं मदान्धमालोक्यायात हरिर्यथेभम् ॥७३
अभीयतुस्तौ प्रबलाय वीरावन्योऽन्यमत्यूर्जितसत्त्वयुक्तौ ।
पूर्वापरौ वारिनिधी यथान्ते कल्पस्य कल्पापरनायकल्पौ ॥७४
बलाधिकस्यापि बलस्य पूर्वं बलो विशालं गदया जघान ।
शिक्षाविशेषं प्रथयन्ननेकं विद्याधरः स्वं करणक्रियाभिः ॥७५
गदाप्रहारेण बलोऽपि तस्य प्रपत्य रन्ध्रं मुकुटं शिरस्थम् ।
निपातयामास रुषा प्रणम्रशिरन्ध्रदेशेन बलोऽद्रिकूटम् ॥७६

चूडामणि को उखाड़ फेंका ॥ ६८ ॥ अश्वग्रीव ने भाला के द्वारा उस गर्वीले अर्ककीर्ति के धनुष के अग्रभाग को छेद डाला तो उसने भी उस खण्डित धनुष को छोड़ कर निर्भय हो भाला से उस रणबांकुरे पर जोरदार प्रहार किया ॥ ६९ ॥ उस समय अर्ककीर्ति बाणों की सन्तति से वेगपूर्वक कवच के साथ अश्वग्रीव को विदीर्ण कर अत्यन्त सुशोभित हो रहा था सो ठीक ही है क्योंकि युद्ध में शत्रु को मार कर कौन सुशोभित नहीं होता ? ॥ ७० ॥ जिसप्रकार पहले पृथिवी पर तपस्या करनेवाले प्रथम तीर्थङ्कर वृषभदेव ने कामदेव को जीता था उसीप्रकार निर्भय राजा प्रजापति ने युद्ध में दूसरे के द्वारा अजेय कामदेव नामक राजा को जीता था ॥ ७१ ॥ अर्ककीर्ति के पिता ज्वलनजटी ने अश्वग्रीव की विजयाभिलाषा के साथ किसी प्रयास के बिना ही अपने बाहुबल की अधिकता से युद्ध में बलशेखर के गर्व को खण्डित कर दिया था ॥ ७२ ॥ विद्याधर आदि सातसौ विद्याधरों को जीतकर सुशोभित होते हुए विजय ने सामने खड़े हुए मदान्ध नीलरथ को इसप्रकार देखा जिसप्रकार कि सिंह हाथी को देखता है ॥ ७३ ॥ इन्द्र के समान अत्यधिक पराक्रम से युक्त दोनों वीर युद्ध के लिये एक दूसरे के सन्मुख उसप्रकार गये जिस प्रकार कि कल्पान्त काल में पूर्व और पश्चिम समुद्र एक दूसरे के सन्मुख जाते हैं ॥ ७४ ॥ बलभद्र विजय यद्यपि बल-पराक्रम से अधिक थे तो भी युद्ध की नाना क्रियाओं के द्वारा अपनी अनेक प्रकार की शिक्षा-सम्बन्धी विशेषता को प्रकट करते हुए उस विद्याधर ने पहले उनके विशाल वक्ष-स्थल पर गदा से प्रहार किया ॥ ७५ ॥ इधर बलभद्र ने भी अवसर प्राप्त कर क्रोध से जोरदार गर्जना की और गदाप्रहार के द्वारा शिर पर स्थित उसके मुकुट को उस प्रकार

---

१. नमश्चरप्तप्तशतानि जित्वा ब० । २. शिरस्तः म० ।

परिच्युतैरस्तमुकुटाग्रनेकैर्मुक्ताकलापैरिव भूमिरत्नैः ।
रराज सा खण्डितराजलक्ष्मी बाष्पाम्बुबिन्दुप्रकरैः समाप्तम् ॥७७
बलद्वयं वीक्ष्य समं परस्परं बलं च धैर्यं युधि कौशलं च ।
कस्यानयोर्जेष्यति नेमि तान्यंतर्विदोलां मनसाधरोह ॥७८
प्रादुर्बभूव स्वसमानसत्त्वे बलस्य तस्यैव बलं च शौर्यम् ।
विजेतुरभ्रंलिहभद्रराजां प्रतिद्विपे वीर इवेभमर्तुः ॥७९
अन्यैरशक्यस्य बलेन युद्धे हलायुधो नीलरथं हलेन ।
निनाय तं गोचरतां मृत्योर्मत्तद्विपं क्रुद्ध इव द्विपारिः ॥८०
इति प्रधानान्यहतानवान्यैर्भग्नद्विषान्वीक्ष्य तुरङ्गकण्ठः ।
करेण सारं धनुराललम्बे बाहुना शौर्यं मनसा च धीरः ॥८१
विहाय सर्वानितरान्नरेन्द्रान् क्व स क्व स प्राग्भवसंनिविष्टः ।
पृच्छन्निति प्राक्तनजन्मकोपात्स्थौ पुरस्तस्य गजाधिरूढः ॥८२
अमानवाकारमुदीक्ष्य तस्मात् योग्यो ममायं रिपुरेव नान्यः ।
अमंस्यतेत्यश्वगलस्त्रिपृष्ठं गुणाधिके कस्य न पक्षपातः ॥८३

गिरा दिया जिस प्रकार कि वज्र के द्वारा मेघ, पर्वत की शिखर को गिरा देता है ॥ ७६ ॥ उसके मुकुट से चारों ओर गिरे हुए अनेक मोतियों से व्याप्त युद्ध की भूमि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों विद्याधर राजलक्ष्मी के अश्रुबिन्दुओं के समूह से ही आधे क्षण के लिये व्याप्त हो गई हो ॥ ७७ ॥ दोनों ओर की सेनाएँ उन दोनों के अचिन्त्य बल, धैर्य और युद्ध के कौशल को देखकर इन दोनों में कोई जीतेगा या नहीं इस प्रकार दुःखी होती हुई सन्देहरूपी झूला पर मन से आरूढ़ हुई थी ॥ ७८ ॥ बलभद्र विजय यद्यपि अन्य अनेक विद्याधरों को जीत चुके थे तो भी उनका बल और शौर्य अपने समान पराक्रम वाले उसी नीलरथ पर उस प्रकार प्रकट हुआ था जिस प्रकार कि किसी गजराज का बल और शौर्य अपने ही समान पराक्रम वाले किसी धैर्यशाली प्रतिद्वन्द्वी गज पर प्रकट होता है ॥ ७९ ॥ युद्ध में दूसरे की सेना से असाध्य नीलरथ को बलभद्र ने हलरत्न के द्वारा शीघ्र ही उस प्रकार मृत्यु की गोचरता को प्राप्त करा दिया जिस प्रकार कि क्रुद्ध सिंह किसी मदमाते हाथी को करा देता है ॥ ८० ॥ तदनन्तर इस प्रकार अन्य लोगों के द्वारा प्रधान विद्याधरों को मरा देख वीर वीर अश्वग्रीव ने बायें हाथ से सुदृढ़ धनुष और मनसे शौर्य का आलम्बन लिया अर्थात् बायें हाथ से धनुष उठाकर हृदय में शूरता का भाव धारण किया ॥८१॥ हाथी पर चढ़ा हुआ अश्वग्रीव बलभद्र आदि अन्य सब योद्धाओं को छोड़ कर यह 'प्रकृष्ट बलवान् त्रिपृष्ठ कहाँ है ? कहाँ है ?' इस प्रकार पूछता हुआ पूर्वजन्म-सम्बन्धी क्रोध से उसके आगे खड़ा हो गया ॥८२॥ लोकोत्तर आकार के धारक त्रिपृष्ठ को देखकर अश्वग्रीव ने माना कि मेरी लक्ष्मी के योग्य यही शत्रु है दूसरा

---

१. स्वदीयमुकुटोद्भेदैरपतन्मौक्तिकैः पातितं
रराज समराजिरं पतित भूमिभृन्मस्तकम्
क्षणिभूतनृपश्रियामभिरराजलक्ष्मीकृतव्य
निधीयमानमिव विस्मृतैर्नयनवाम्बिन्दुभिः ॥७६॥

२. शाम्यम् म० । ३. स्वशाम्य म० ।

सुदुर्निवारान्विविधान्विधित्सो विद्यामयान्बाणगणान्समन्तात् ।
शरासनैकान्विससर्ज चक्री वक्रीकृतोत्सृष्टगुणेन ॥८४
अथान्तराले पुरुषोत्तमेन ते खण्डिताः शार्ङ्गधनुर्विमुक्ताः
शराः शरैः पुष्पमया बभूवुर्गुणाय भङ्गोऽपि सतः परेषाम् ॥८५
एकीकृतेवातलवायुमार्गां विनिर्ममे चक्रभृता तमिस्राम् ।
विच्छेद तां कौस्तुभरत्नदीप्तिर्विष्णोर्जितोष्णांशुकठोररश्मिः ॥८६
समन्ततो दृष्टिविषाग्निरेखाकलङ्कयिताशानसृजस्तु सर्पान् ।
पक्षानिलोन्मूलितपादपेन निराकरोत्ताग्गरुडेन कृष्णः ॥८७
गर्जन्नृपेन्द्रैः स्थिरतुङ्गशृङ्गैः शैलैरसौ व्योम चरोध कृत्स्नम् ।
विभेद वेगेन हरिः क्रुधा तान्वज्रेण वज्रायुधसन्निभश्रीः ॥८८
अनिन्धनेन ज्वलनेन धीरस्तस्तार स व्योम धरातलं च ।
निर्वापयामास तमाशु विष्णुर्विद्यामयाम्भोदविसृष्टतोयैः ॥८९
उल्कासहस्रज्वलितान्तरिक्षां सुदुर्निवारामुचत्स शक्तिम् ।
उरःस्थले सा पुरुषोत्तमस्य स्फुरत्करा हारलता बभूव ॥९०

नहीं सो ठीक ही है क्योंकि अधिक गुणवान् में किसका पक्षपात नहीं होता ? ॥८३॥ विधि को जानने वाले चक्रवर्ती—अश्वग्रीव ने कुटिल किये हुए उन्नत धनुष की डोरी से सब ओर ऐसे अनेक बाण छोड़े जिनका कि रोकना अत्यन्त कठिन था, जो विद्यामय थे और जिनका अग्रभाग वज्र का था ॥८४॥ तदनन्तर पुरुषोत्तम त्रिपृष्ट ने अपने शार्ङ्गनामक धनुष से छोड़े हुए बाणों के द्वारा उन बाणों को बीच में ही खण्डित कर दिया जिससे वे फूलों से निर्मित के समान निःसार हो गये सो ठीक ही है क्योंकि दूसरों का भङ्ग भी सज्जन के लिये गुण का कारण ही होता है। भावार्थ—सज्जन का कोई पराभव करे तो वह पराभव भी उसके गुण के लिये ही होता है ॥ ८५ ॥ चक्रवर्ती ने विद्याबल से ऐसी रात्रि का निर्माण कर दिया जिसमें पृथ्वीतल और आकाश एक हो गये थे परन्तु सूर्य की कठोर किरणों को जीतनेवाले विष्णु के कौस्तुभमणि की दीप्ति ने उसे नष्ट कर दिया ॥८६॥ अश्वग्रीव ने विद्याबल से चारों ओर ऐसे सर्पों की सृष्टि कर दी जिन्होंने कि दृष्टिविषरूपी अग्नि की रेखाओं से दिशाओं को मलिन कर दिया था परन्तु त्रिपृष्ट ने पङ्खों की वायु से वृक्षों को उखाड़नेवाले गरुड के द्वारा उन सर्पों को दूर हटा दिया ॥८७॥ अश्वग्रीव ने जिनपर सिंह गरज रहे थे तथा जिनकी ऊँची चोटियाँ स्थिर थीं ऐसे पर्वतों से समस्त आकाश को व्याप्त कर दिया परन्तु इन्द्र के समान लक्ष्मी के धारक त्रिपृष्ट ने क्रोध से वज्र के द्वारा उन्हें शीघ्र ही चूर-चूर कर डाला ॥८८॥ धीर-वीर अश्वग्रीव ने ईन्धन से रहित अग्नि के द्वारा आकाश और पृथ्वीतल को आच्छादित कर दिया परन्तु विष्णु त्रिपृष्ट ने विद्यामय मेघ के द्वारा छोड़े हुए जल से उस अग्नि को शीघ्र ही बुझा दिया ॥८९॥ उसने हजारों उल्काओं के द्वारा आकाश को प्रज्वलित करने वाली अत्यन्त दुर्निवार शक्ति छोड़ी परन्तु वह त्रिपृष्ट के वक्षःस्थल पर देदीप्यमान किरणों से युक्त हार-लता

---

१. चक्रीकृतो म० । २. जितोष्णांशु म० । ३. रेषा म० । ४. म्विसृजन् स म० ।

प्रहर्षिणी

इत्येवं विफलितसर्वशास्त्रसारो दुर्वारस्तुरगशिराः करेण चक्रम् ।
आदाय ज्वलनशिखापरीतधारं स्मेराक्ष्यो हरिमिति निर्भयं बभाषे ॥९१

पुष्पिताग्रा

विफलयति मनोरथांस्तवेदं कुलिशधरोऽपि सहो न पातुमस्मात् ।
निजमतिमथवा नमः प्रणामे कुरु परमात्मनि वा परत्र हेतौ ॥९२

शार्दूलविक्रीडितम्

भीरोर्भीतिकरं त्वदीयवचनं नैवोन्नतानामिदं
मन्येऽभव्यनिनं परं मृगशिशोः संत्रासकं किं हरेः ।
चक्रं तेन कुलालचक्रसदृशं मन्येत कः सत्त्ववान्
शौर्यं वाचि न कर्मणि स्थितमिति प्रत्याह तं केशवः ॥९३

वसन्ततिलकम्

श्रुत्वा तदीय वचनं सभयावनीशै रालोक्यमानमसुखत्वरसा स चक्रम् ।
तत्प्राय दक्षिणकरं मृगराजशत्रो राक्षापयेति निगदन्मुहुरुज्जवर्चिः ॥९४

स्रग्धरा

एतत्ते चक्ररत्नं प्रथितरिपुशिरश्छेदरक्तावदातं
विद्युन्मस्य प्रतापावलिकमहितले पूर्णकामो ह्यमूल्यम् ।
तत्प्राप्तं मे कराग्रं कृतपटुतवशात्तत्कथं चेह मत्वा
पूज्यं ते मेऽङ्घ्रियुग्मं भटनिभृततया सिद्ध आप्नोऽस्य वैर्यात् ॥९५

बन गई ॥९०॥ इस प्रकार जिसके समस्त श्रेष्ठ शस्त्र निष्फल कर दिये गये थे ऐसे उस दुर्निवार अश्वग्रीव ने अग्नि ज्वालाओं से व्याप्त धारा वाले चक्ररत्न को हाथ से उठाया और स्मेर मुख हो निर्भय त्रिपृष्ठ से इस प्रकार कहा ॥९१॥ यह चक्ररत्न तुम्हारे मनोरथों को अभी निष्फल करता है, इससे रक्षा करने के लिये इन्द्र भी समर्थ नहीं है इस लिये तुम अपनी बुद्धि या तो मेरे लिये प्रणाम करने में लगाओ या परभव के लिये परमात्मा में लगाओ ॥ ९२ ॥ त्रिपृष्ठ ने यह कहते हुए उत्तर दिया कि तुम्हारा यह वचन कायर मनुष्य के लिये भय करने वाला है उन्नत मनुष्यों के लिये नहीं । जंगली हाथी की गर्जना मृग के बच्चे को तो भयभीत कर सकती है पर क्या सिंह को भी भयभीत करती है ? तुम्हारा यह चक्र कुम्हार के चक्र के समान है उसके द्वारा कौन बलवान् माना जाता है ? शूरता वचनों में नहीं किन्तु कार्य में स्थित है ॥ ९३ ॥ त्रिपृष्ठ के वचन सुन, अश्वग्रीव ने भयभीत राजाओं के द्वारा देखे जाने वाले उस चक्र को शीघ्र ही छोड़ दिया परन्तु जिससे किरणें निकल रही थीं ऐसा वह चक्र 'आज्ञा करो आज्ञा करो' इस प्रकार बार-बार कहता हुआ त्रिपृष्ठ के दाहिने हाथ में आ पहुँचा ॥९४॥ त्रिपृष्ठ ने कहा कि हे विद्वन् ! यह तुम्हारा वही भयंकर चक्र है जिसका

---

१. भटनिवहतया ग० ।

शार्दूलविक्रीडितम्

दृष्ट्वा तच्छिरहस्तसंस्थितमुरुज्वालोल्लसत्तेजसं
निर्धूमज्वलनं यथा हयगलं तं विष्णुरूचे पुनः ।
सन्निग्रीव ममाशु पादपतने शिष्यत्वमालम्बय
श्रेयोऽर्थं मुनिपुङ्गवस्य तव नो चेत्तेऽन्यथा जीवितम् ॥९६
ऊचे तं तु विहस्य नीरधिमना जिष्णुं हयग्रीवक-
स्त्वच्चक्रेण त्वमनेन गर्वितमतिर्नालातचक्रेण वा ।
भूतो नालयमायुधैरविधैरं पूर्णं न मे किं महः-
शीघ्रा वाथ न कुर्वते खलु खलं लब्ध्वा धृतिं किं जनाः ॥९७
तिष्ठाग्रे किमु भाषितेन बहुना त्वं यहि मृत्योर्मुखं
ह्यन्यस्त्रीसुरताभिलाषजफलं भुङ्क्ष्वाद्य मूढाहवे ।
किं वा ये परदारसंगमसुखव्यासक्तचित्तास्तु ते
जीवन्ति क्षितिपे प्रसाधितरिपौ सत्येव कालं चिरम् ॥९८

शरीर प्रसिद्ध शत्रुओं के शिरश्छेद से निकले हुए खून से लाल है तथा जिसके प्रताप से तुम समस्त पृथिवीतल पर पूर्णमनोरथ हुए थे। वह चक्र अब पूर्व पुण्य के प्रभाव से मेरे हाथ में आ चुका है। उसका फल यदि तुम्हें इस भव में अभीष्ट है तो हे सुभट! निश्चल रूपसे मेरे चरणयुगल को पूज्य मानो अथवा धैर्यपूर्वक इस चक्र के आगे खडे हो जाओ ॥ ९५ ॥ बड़ी-बड़ी ज्वालाओं से जिसकी चक्रधारा देदीप्यमान हो रही थी और जो निर्धूम अग्नि के समान जान पड़ता था उस चक्ररत्न को अपने हाथ में स्थित देख त्रिपृष्ट ने अश्वग्रीव से फिर कहा कि हे अश्वग्रीव या तो पैर पड़ने में शीघ्र ही मेरी शिष्यता का आलम्बन लो या कल्याण प्राप्ति के लिये मुनिराज की शिष्यता का सहारा लो। 'मैं' अन्य प्रकार से तुम्हारा जीवन नहीं देखता हूँ ॥ ९६ ॥ समुद्र के समान गंभीर अश्वग्रीव ने हँस कर विजयी त्रिपृष्ट से कहा कि क्या तूं अलातचक्र के समान इस चक्र से गर्वित बुद्धि नहीं हो रहा है? और क्या मेरा विशाल घर शस्त्रों के द्वारा निश्छिद्र रूप से नहीं भरा है? अथवा निश्चय से नीच मनुष्य क्या खली को पाकर संतोष नहीं करते? अर्थात् अवश्य करते हैं। भावार्थ—जिस प्रकार नीच मनुष्य खली का टुकड़ा पाकर संतुष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार तूं अलात चक्र के समान निःसार इस चक्र को पाकर गर्वित हो रहा है। तुझे यह निःसार चक्र बहुत बड़ा शस्त्र जान पड़ता है जब कि मेरा विशाल घर शस्त्रों से ऐसा परिपूर्ण है कि उसमें तिल रखने को छिद्र भी खाली नहीं है ॥ ९७ ॥ यह सुन त्रिपृष्ट ने कहा कि मूर्ख! आगे खड़ा हो, बहुत कहने से क्या लाभ है? तूं मृत्यु के मुख को प्राप्त हो, आज युद्ध में परस्त्री के संभोग की अभिलाषा से उत्पन्न होने वाला फल भोग। जिनका चित्त परस्त्रियों के समागम रूप सुख में अत्यन्त आसक्त है वे क्या शत्रुओं को वश करने वाले राजा के विद्यमान रहते हुए चिर काल तक जीवित रहते हैं? ॥ ९८ ॥ इसके उत्तर में अश्वग्रीव ने कहा कि जो मेरी जूँठन है तथा चरण युगल की धूली के

---

१. रविवरै ब० । २. कितनाम् म० । ३. भुक्त्वाद्य म० ब० । ४. मूढान्तरे म० । ६. के ब० ।

शार्दूलविक्रीडितम्

भुक्तोत्सृष्टं भवीयं क्रमणयुगलस्यास्तुल्यमत्यन्तरागात्
प्राप्येदं लोष्टखण्डं खलबलसदृशं गर्वितस्त्वं विमूढः।
क्षुद्राणां वातितुष्टिर्भवति भुवि यदा स्तोकमात्रेऽपि लब्धे
काचिच्चेद्वास्ति शक्तिस्तव हृदयगता मुञ्च मुञ्चैनमेतत्क्षिप त्वम् ॥९९

शार्दूलविक्रीडितम्

चक्रं प्राप्य स विष्णुरेवमवदन्मत्पादयोस्त्वं नमे
प्राग्वत्ते विभवं करोमि कुमतं मुञ्चाशु तूष्णा त्यजतम्।
इत्युक्ते हृयकन्धरेण पदयं निर्भर्त्सितस्तत्क्षणात्
तत्क्षुब्ध्वास्य शिरो गृहाण स इति क्षिप्रं हरिः प्रैक्षिपत् ॥१००

मालभारिणी

अवलम्ब्य हरेस्तदा तदाज्ञां विनिवृत्याशु रणाङ्गणाजिरङ्गे।
समपातयदश्वकन्धरस्य स्फुरदर्चिर्मुकुटं शिरः शिरोधेः ॥१०१

शार्दूलविक्रीडितम्

हत्वैवं हयकन्धरं निजरिपुं चक्रेण धारानलज्वालाजालकपल्लवितेन तेन न तथा रेजे पुरोवर्तिना।
वैराग्संसनसंपदं सह नृपैः पश्यन्भोगद्विषागाढबद्धाञ्जलिभूतां चक्रेण विष्णुर्यथा ॥१०२
इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचरिते महाकाव्ये त्रिपृष्टविजयो नाम नवमः सर्गः

तुल्य अथवा खली के टुकड़े के समान है ऐसे इस पत्थर के खण्ड रूप चक्र को पाकर तूं अत्यन्त राग से गर्वित और विमूढ हो रहा है सो ठीक ही है क्योंकि पृथिवी पर एक सीथ के मिलने पर भी क्षुद्र मनुष्यों को अत्यन्त संतोष होता है। यदि तेरे हृदय में कुछ शक्ति है तो तूं शीघ्र ही इसे छोड़ ॥ ९९ ॥ चक्ररत्न को पाकर विष्णु ने इस प्रकार कहा कि तूं मेरे चरणों में नमस्कार कर और हृदय के भीतर विद्यमान इस मिथ्यागर्व को छोड़ दे तो मैं तेरा पहले जैसा वैभव कर दूंगा। इस प्रकार कहने पर अश्वग्रीव ने तत्काल जिसकी कठोर भर्त्सना की थी ऐसे विष्णु—नारायण पदधारी त्रिपृष्ट ने कुपित होकर 'इसका शिर ग्रहण करो' यह कहते हुए शीघ्र ही चक्र को चला दिया ॥ १०० ॥ उसी समय त्रिपृष्ट की उस आज्ञा का अवलम्बन लेकर वह चक्ररत्न शीघ्र ही युद्धभूमि में लौटा और उसने जिस पर देदीप्यमान किरणों से युक्त मुकुट लगा हुआ था ऐसे अश्वग्रीव के मस्तक को उसके कण्ठ से नीचे गिरा दिया ॥१०१॥ इस प्रकार अपने शत्रु अश्वग्रीव को मारकर सामने खड़े हुए तथा चक्रधारा की अग्नि ज्वालाओं के द्वारा लाल-लाल पल्लवों से युक्त की तरह दिखनेवाले चक्ररत्न से वैर को सुचित करने वाली संपदा को राजाओं के साथ देखने वाला विष्णु उस प्रकार सुशोभित नहीं हुआ था जिस प्रकार कि अभय याचना के लिये अञ्जलि बाँधकर खड़े हुए विद्याधरों के चक्र-समूह से सुशोभित हुआ था ॥ १०२ ॥

इस प्रकार असगकवि कृत श्रीवर्द्धमानचरित नामक महाकाव्य में त्रिपृष्ट की विजय का वर्णन करनेवाला नौवां सर्ग समाप्त हुआ।

---

१. नमः ब० । २. कुमुखं ब० ब० । ३. अञ्जाद्वया ब० । ४. प्रैक्षिपत् ब० ।

दशमः सर्गः

वंशस्थम्

अथाभिषिक्तो विजयेन केशवः समं नरेन्द्रैः सकलैश्च खेचरैः ।
पुरा समभ्यर्च्य जिनं सपर्यया स चक्ररत्नं यथोक्तया पुनः ॥१
प्रणामतुष्टैर्गुरुभिः ससंभ्रमैरवीरिताशीरभिपूज्य राजकम् ।
पुरस्सरीभूतरथाङ्गमङ्गलो हरिः प्रतस्थे दशदिग्जिगीषया ॥२
विशां महेन्द्रस्य महेन्द्रसन्निभः पुरा वशीकृत्य निजेन तेजसा ।
रराज देवं विनमय्य मागधं परार्द्धतद्दत्तविचित्रभूषणैः ॥३
ततो वरतनुमच्युतो नतं सुरं प्रभासं च परानपि क्रमात् ।
उपागतान्द्वीपपतीनुपायनैरतिष्ठिपत्ताञ्जिज एव धामनि ॥४
स भारतार्द्धं परितस्मितैर्दिनैर्विधाय सर्वं करदं यथेच्छया ।
ततः पुरं पोदनमुच्छ्रितध्वजं विवेश पौरैः परिवार्य पूजितः[1] ॥५
हरेरधीनेऽवसरे नायकां प्रसादतः श्रेणिमवाप्य वाञ्छिताम् ।
अभूत्कृतार्थो रथनूपुरेश्वरो न वर्धते कः पुरुषोत्तमाश्रितः ॥६
अयं पतिर्वो विजयार्द्धवासिनां वहध्वमस्यैव निदेशमादरात् ।
इतीरयित्वा सह तेन खेचरान्नुमोच सन्मान्य यथाक्रमं विभुः ॥७

दशम सर्ग

अथानन्तर समस्त राजाओं और विद्याधरों ने विजय बलभद्र के साथ जिसका राज्याभिषेक किया था ऐसे नारायण त्रिपृष्ट ने पहले जिनेन्द्र भगवान् की पूजा कर पश्चात् यथोक्त यथोक्त विधि से चक्ररत्न की पूजा की ॥ १ ॥ तदनन्तर प्रणाम से संतुष्ट और हर्ष से परिपूर्ण गुरुजनों ने जिसे आशीर्वाद दिया था तथा जिसके आगे महामाङ्गलिक चक्ररत्न चल रहा था ऐसे त्रिपृष्ट ने दशों दिशाओं को जीतने की इच्छा से प्रस्थान किया ॥ २ ॥ महेन्द्र की समानता रखने वाला त्रिपृष्ट, सर्वप्रथम अपने तेज से पूर्व दिशा को वश कर तथा मागध देव को नम्रीभूत कर उसके द्वारा दिये हुए नाना प्रकार के श्रेष्ठ आभूषणों से सुशोभित हुआ ॥ ३ ॥ तत्पश्चात् नारायण ने विनत होकर आये हुए वरतनु और प्रभास नामक देव को तथा उपहार लेकर क्रम से आये हुए अन्य द्वीपों के राजाओं को उनके अपने ही स्थान पर प्रतिष्ठित किया । भावार्थ—जो जहाँ का राजा था उसे वहीं का राजा रहने दिया ॥ ४ ॥ उसने सीमित दिनों के द्वारा सम्पूर्ण भरतार्ध क्षेत्र को अर्थात् विजयार्ध पर्वत के दक्षिणदिग्वर्ती अर्धभरत क्षेत्र को स्वेच्छा से करदाता बनाया पश्चात् नागरिक जनों ने घेर कर जिसकी पूजा की थी ऐसे त्रिपृष्ट फहराती हुई पताकाओं से सुशोभित पोदनपुर में प्रवेश किया ॥ ५ ॥ रथनूपुर नगर का राजा ज्वलनजटी हरि के प्रसाद से नायकविहीन, चिरकाङ्क्षित उत्तर श्रेणी को प्राप्त कर कृतकृत्य हो गया सो ठीक ही है क्योंकि पुरुषोत्तम—नारायण अथवा उत्तम पुरुष का आश्रय करने वाला कौन पुरुष वृद्धि को प्राप्त नहीं होता है ॥६॥ विजयार्ध पर्वत पर रहने

---

१. पूरितः म० ।

यथानवापृच्छ्य ततः प्रजापतिं ज्वलज्जटीशस्य पुरैव पादयोः ।
पपात राज्ञाद्य सह सीरपाणिना सतां हि लक्ष्म्या विनयो वितीर्यते ॥८
प्रणामपर्यस्तकिरीटकोटिना निपीडितं चारुनखाग्रमुद्वहत् ।
सुवर्णकीर्तिं परिरभ्य सानुजौ स्वतेजसा तं विससर्जतुः समम् ॥९
ययौ तनूजामनुशिष्य पद्धतिं परां सतीनां सह वायुवेगया ।
प्रपृज्य तच्चक्षुरुदम्बुपाणिना नखप्रभोद्भासिमुखारविन्दवत् ॥१०
नरेश्वरैः षोडशभिः समन्वितो हरिः सहस्रैः कमनीयमूर्तिभिः ।
बभूविरेऽष्टसहस्रसम्मितैः सुरैश्च नित्यं विरराज विष्टपैः ॥११
निरीक्ष्य साम्राज्यमिति प्रजापतिः सुतस्य तस्य स्वमनोऽनुवर्तिनः ।
स्वबन्धुभिः सह विप्रियं परं मनोरथेभ्योऽप्यतिरिक्तभूतिभिः ॥१२
स भूपतीनां च मनोभिलङ्घिनां नखप्रभाकीं मुकुटेषु बाढयोः ।
दिगन्तरेष्विन्दुमरीचिनिर्मलां निधाय कीर्तिं च शशास मेदिनीम् ॥१३
स्वपादनम्रान्तरिपोरवस्थया सपत्नबालानवलोक्य केशवः ।
परानुकम्पामकरोद्दयार्द्रधीर्दयालवो हि प्रणतेषु साधवः ॥१४

वाले आप सब विद्याधरोंका यह ज्वलनजटी स्वामी है, आदर से इसी की आज्ञा धारण करो यह कह कर त्रिपृष्ट ने यथाक्रम से सम्मानित कर ज्वलनजटी के साथ समस्त विद्याधरों को छोड़ाकर—विदा किया ॥ ७ ॥ तदनन्तर राजा प्रजापति से पूछ कर त्रिपृष्ट ने बलभद्र के साथ सर्वप्रथम विद्याधराधिपति ज्वलनजटी के चरणों में प्रमाण किया सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुषों की लक्ष्मी विनय का ही प्रदान करती है ॥ ८ ॥ प्रणाम के लिये झुके हुए मुकुट के अग्रभाग के चरणकमलयुगल को पीड़ित करने वाले अर्ककीर्ति का हर्ष से आलिङ्गन कर बलभद्र और नारायण ने उसे अपने तेज के साथ विदा किया । भावार्थ—ज्वलनजटी के पुत्र अर्ककीर्ति ने जाते समय विजय और त्रिपृष्ट दोनों के चरणों में शिर झुका कर नमस्कार किया तथा दोनों ने हर्षपूर्वक आलिङ्गन कर उसे विदा किया । अर्ककीर्ति के माध्यम से इनका तेज विद्याधरों के निवासक्षेत्र में विस्तृत हुआ था ॥ ९ ॥ विद्याधरों का इन्द्र ज्वलनजटी अपनी पुत्री को सती स्त्रियों की श्रेष्ठपद्धति का उपदेश देकर तथा अपनी स्त्री वायुवेगा के साथ, उसके अश्रुपूर्णनेत्रों को अपने हाथ से बार-बार पोंछ कर चला गया ॥ १० ॥ सोलह हजार राजाओं, आठ हजार सुन्दर स्त्रियों तथा किङ्करता को प्राप्त हुए अनेक देवों से युक्त त्रिपृष्ट नारायण नित्यप्रति सुशोभित होने लगा ॥११॥ इस प्रकार राजा प्रजापति अपने मन के अनुकूल चलने वाले उस पुत्र के साम्राज्य को देख कर मनोरथों से भी अधिक विभूति के धारक अपने बन्धुओं के साथ अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ १२ ॥ वह त्रिपृष्ट, पैरों के नख-सम्बन्धी कान्ति के समूह को राजाओं तथा विद्याधरों के मुकुटों पर और चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल कीर्ति को दिशाओं के बीच स्थापित कर पृथिवी का शासन करने लगा ॥ १३ ॥ दया से आर्द्र बुद्धिवाले नारायण ने सती की शिक्षा से अपने चरणों में झुके हुए शत्रुओं के बच्चों को देख कर उनपर बहुत भारी दया की सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुष नम्रजनों पर दयालु होते ही हैं ॥१४॥ उस समय

---

१. शिरसा पद्धतिं म० । २. स्वचेतसा म० ।

अकालमृत्युर्न बभूव देहिनां मनोरथानामगतिर्न कस्यचित्
अनुप्तपच्यापि च तत्क्षणं क्षितिः सदैव पुण्येन वरापि सा सदा ॥१५
सुखाय सर्वत्र सदा शरीरिणां ववौ तदिच्छा मनुवर्तयन्मरुत् ।
महीरजः क्षालनमात्रमम्बुदाः सुगन्धितोयं ववृषुर्दिने दिने ॥१६
उपास्त सर्वर्तुगणो निरन्तरं निजद्रुमाणां प्रसवैश्च वीरुधाम् ।
समं समन्योन्यविरोधवानपि प्रभुत्वमाश्चर्यकरं हि चक्रिणः ॥१७
सुरक्षिते तस्मिन्परिपाति मेदिनीमनूनवृत्तेषु समुन्नतात्मसु ।
नृपेक्षणानामसुखौवनश्रियां कुचेषु काठिन्यमसूच्य सोष्मता ॥१८
अवाप्तसाधुश्रवणेषु सायतिं वपुस्तु कान्तिं दधतेषु केवलम् ।
परिप्लवत्वं नयनेषु योषितामलक्ष्यतान्तर्मलिनत्वमप्यलम् ॥१९
सदान्तरार्द्रेषु वरासु वर्षणाद्रजो विकारप्रसरापहारिषु ।
अजायताधेषु विचित्ररूपता निरर्थकं गर्जितमप्यकारणम् ॥२०

उसके पुण्य से प्राणियों की अकाल मृत्यु नहीं होती थी, कोई भी मनुष्य मनोरथों का अगति नहीं था तथा पृथिवी भी सदा बिना जोते हुए प्राप्त होने वाली उत्तम धान्य से सुशोभित रहती थी ॥१५॥ सब स्थानों पर सब समय प्राणियों के सुख के लिये त्रिपृष्ट की इच्छा के अनुसार वायु बहती थी और मेघ प्रति दिन मात्र पृथिवी की धूलि को धोने वाले सुगन्धित जल की वर्षा करते थे ॥१६॥ परस्पर के विरोध से युक्त होने पर भी समस्त ऋतुओं का समूह अपने वृक्षों और लताओं के पुष्पों द्वारा एक ही साथ उसकी उपासना करता था सो ठीक ही है क्योंकि चक्रवर्ती का प्रभुत्व आश्चर्य कारी होता ही है ॥१७॥ उस उत्तम राजा के पृथिवी का पालन करने पर काठिन्य—कठोरता और सोष्मता—उष्णता से भरपूर यदि था तो प्रगाढ यौवन से सुशोभित मृगनयनी स्त्रियों के अनून वृत्त—स्थूल और और गोल तथा समुन्नतात्मा—उत्तुङ्गाकार स्तनों में ही था वहाँ के अनून वृक्ष—उत्कृष्ट चारित्र से युक्त तथा उदाराशय मनुष्यों में काठिन्य—निर्दयता और सोष्मता—अहंकार से परिपूर्ण नही था ॥ १८ ॥ जिन्होंने साधुश्रवण—उत्तम कानों को प्राप्त किया था, अर्थात् जो कानों तक लम्बे थे, जो सायति—लम्बाई से सहित कान्ति को धारण करते थे तथा जो धवल—निर्मल थे ऐसे स्त्रियों के नेत्रों में ही है चञ्चलता तथा भीतर की अत्यधिक मलिनता—श्यामलता दिखाई देती थी वहाँ के उन मनुष्यों में जिन्होंने कि समीचीन शास्त्रों का श्रवण प्राप्त किया था अर्थात् जो उत्तम शस्त्र सुना करते थे, जो सायति—उत्तर काल—सुन्दर भविष्य काल से सहित् कान्ति का धारण करते थे, तथा स्वभाव से धवल-निर्मल थे, चञ्चलता और अन्तरङ्ग का कलुषितता नहीं दिखाई देती थी ॥१९॥ जो सदा अन्तरङ्ग से आर्द्र रहते थे तथा पृथिवी पर वर्षा करने से जो धूलिविकार के समूह को दूर करने वाले थे ऐसे मेघों में ही विचित्ररूपता—नाना आकृतियों को धारण करना, तथा कारण के बिना निरर्थक गर्जना भी पाई जाती थी किन्तु वहाँ के उन मनुष्यों में जोकि सदा अन्तरङ्ग से दयालु थे, और धर्मामृत की वर्षा पाप विकार के समूह को दूर करने वाले थे, विचित्ररूपता—नानारूप बनाना और कारण के बिना ही निष्प्रयोजन गर्जना—बहुत बकवाद करना नहीं पाया

---

१. काचन ब० । २. परिप्लुता: ब० ।

अलङ्घनीयेषु महीतलेषु वृक्षेषु सत्सन्धिषु बहुषु वृद्धताम् ।
परापदेशेन सदा विशेषिता बभूव दुर्मार्गगतिश्च निश्चिता ॥२१
बभूवतस्तत्र बहुरत्नशालिनो महाशया धीरतया समन्विताः ।
दुरासदा दुर्विषहेषु सर्वदा प्रविद्धदुर्ग्राहयुतास्तु रत्नयः ॥२२
कलाधरेषु प्रदोषसङ्गमः क्षयो वृद्धिश्च वक्रता च ।
महोत्पले वीतनिवेशिता च विभौ प्रसिद्धा विजृम्भणं च ॥२३
सुनिश्चितस्वल्पफलेषु पत्रिषु बभूव यो नीच-गुणोऽनुवर्तिषु ।
दुरासदोऽभूद्विरहे न भोगिषु स्फुरद्विषो मुक्तमणेर्यथा मणीषिभिः ॥२४

जाता था ॥२०॥ जो पृथिवीतल पर अलङ्घनीय थे—लाँघने योग्य नहीं थे, प्रशस्त बंध थे—जिन पर बाँसों के उत्तम वृक्ष लगे हुए थे तथा जो ऊँचाई को धारण कर रहे थे ऐसे पर्वतों में ही विपक्षिता—पक्षियों का अभाव था तथा निश्चित रूप से दुर्मार्गगति—ऊँचे-नीचे खोटे मार्ग में गमन करना पाया जाता था किन्तु वहाँ के उन अन्य मनुष्यों में जो आदरणीय मर्यादा-सम्पन्न थे, प्रशस्त वंश—उच्च कुलीन थे तथा तुङ्गता—उदारता को धारण करते थे, विपक्षिता विरोध तथा दुर्मार्गगतिता—खोटे मार्ग में चलना—दुराचरण नहीं पाया जाता था ॥२१॥ अनूनसत्त्व जिनमें बड़े-बड़े जीव जन्तु थे, बहुरत्नशाली—जो बहुत रत्नों से सुशोभित थे, अत्यन्त विस्तृत थे और गहराई वाले थे ऐसे समुद्र ही प्रसिद्ध तथा दुष्ट मगरमच्छ आदि ग्राहों से युक्त होने के कारण अभिलाषी मनुष्यों के लिये अत्यधिक कठिनाई से प्रवेश करने के योग्य स्थिति को धारण करते थे किन्तु वहाँ के वे मनुष्य, जो अनूनसत्त्व—प्रबलपराक्रमी थे, बहुरत्नशाली—जो सम्यग्दर्शनादि रत्नों से सुशोभित थे, महाशय—उदार अभिप्राय वाले थे, और धीरता—गम्भीरता से युक्त थे, प्रसिद्धदुर्ग्राहता—वशीकरण की असक्यता के कारण याचकों के लिये अत्यन्त दुःप्रवेश नहीं थे अर्थात् उनके समीप याचकों का प्रवेश करना कठिन नहीं था ॥२२॥ कलाधरों—कला के धारकों में यदि प्रदोषसङ्ग—रात्रि के प्रारम्भ भाग का समागम, क्षय—कृष्ण पक्ष में कलाओं का क्षय होना, वृद्धि—शुक्ल पक्ष में कलाओं की वृद्धि होना और वक्रता—कुटिलता ये सब वस्तुएँ यदि थीं तो चन्द्रमा में ही थीं वहाँ के कलाधारी मनुष्यों में प्रदोषसङ्ग—अत्यन्त दोषी मनुष्यों का संसर्ग, क्षय—सद्गुणों का ह्रास, वृद्धि—असद्गुणों की वृद्धि और वक्रता—मायाचारिता ये सब गुण नहीं थे। इसी प्रकार पृथिवी में यदि अवस्थिति—जल में स्थिति—निवास था तो महोत्पल—कमल में ही था वहाँ के मनुष्यों में अवस्थिति—मूर्खों की स्थिति नहीं थी तथा मित्रबल—सूर्य के बल से यदि विजृम्भण—विकास था तो श्रीनिवास—कमलों में ही था अर्थात् कमल ही सूर्य के बल से विकसित होते थे वहाँ के मनुष्यों में मित्रबल—मित्रों के बल से विजृम्भण—सम्पत्ति आदि का विस्तार नहीं था किन्तु अपने पुरुषार्थ से था ॥२३॥ सुन्दर फल वाले पदार्थों में यदि कोई सुनिश्चित—अधिकों के लिये अत्यन्त प्रिय था तो नीच ही था वहाँ का कोई मनुष्य सुनिश्चित—अत्यन्त प्रिय नहीं था। गुणानुवर्ती—गुणों का अनुसरण करने वालों में यदि कोई दुरासद—

---

१. बभूव स० । २. बभूव स० ।

बभार हारो गुणवत्सु केवलं सुवृत्तमुक्तात्मकतामनारतम् ।
सदा परेषां मणिमेखलासुधः सुजातकेषु कलत्रमग्रहीत् ॥२५
प्रियावियोगव्यथया कृशीकृतो निशासु कोको भुवि कामुकेष्वभूत् ।
ननाम मध्यः कुचभारपीडितो नितम्बिनीनां न च दुर्बलः परः ॥२६
इति प्रजासु प्रतिवासरं परां स्थितिं वितन्वन्विगतोद्यमश्रमः ।
ररक्ष रत्नाकरवारिमेखलां वसुन्धरामेकपुरीमिवाच्युतः ॥२७
असूत कालेन यथाक्रमं सुतौ स्वयंप्रभा कन्यकया सहैकया ।
सुकोशदण्डौ समनामयत्क्रियां धरेव तस्य प्रमदाय बलभा ॥२८
परंतपः श्रीविजयोऽग्रज सुतस्ततः कनीयान्विजयो यशोधनः ।
प्रभोत्तरज्योतिरभिख्यया सती सुता च रेजे मृगशावलोचना ॥२९

मकरन्द का प्रेमी था तो भौंरा ही था वहाँ का कोई मनुष्य सुमनोऽनुवर्ती—विद्वज्जनों का अनुसरण करनेवालों में मधुप्रिय—मदिरा का प्रेमी नहीं था। इसी प्रकार भोगी—फन से युक्त जीवों में यदि कोई विद्वज्जनों के द्वारा दुरासद—कठिनाई से प्राप्त करने के योग्य था तो स्फुरद्द्विजिह्वात्मता—लपलपाती हुई दो जिह्वाओं के कारण साँप ही दुरासद था, किन्तु वहाँ भोगी—भोग विलास से सम्पन्न जीवों में विद्वज्जनों द्वारा स्फुरद्द्विजिह्वात्मता—प्रकट दुर्जनता के कारण कोई अन्य मनुष्य दुरासद नहीं था। वहाँ सब सज्जन थे और सब को सब से मिलना सरल था ॥२४॥ गुणवान् वस्तुओं में यदि कोई निरन्तर सुवृत्तमुक्तात्मकता—उत्तम गोल मोतियों से तन्मयता को धारण करता था तो हार ही करता था, परन्तु वहां कोई मनुष्य सुवृत्तमुक्तात्मकता—सदाचार हीनता को धारण नहीं करता था। इसी प्रकार सुजातरूप—सुन्दर पदार्थों में यदि कोई दूसरों के कलत्र—नितम्ब को ग्रहण करता था तो मणिमय मेखला का सूत्र ही करता था, वहाँ का कोई मनुष्य दूसरों की कलत्र—स्त्री को ग्रहण नहीं करता था ॥२५॥ पृथिवी पर कामीजनो में रात्रि के समय यदि कोई प्रिया के वियोगजनित पीड़ा से कृश किया जाता था तो चकवा ही किया जाता था, वहाँ कोई अन्य मनुष्य रात्रि के समय स्त्री के वियोग जनित दुःख से कृश नहीं था। इसी प्रकार यदि कोई नत होता था—झुकता था तो स्तनों के भार से पीडित हुआ स्त्रियों का मध्य भाग ही नत होता था, वहाँ कोई अन्य दुर्बल मनुष्य नत नहीं होता था ॥२६॥

इस प्रकार जो प्रजा में प्रत्येक वर्ष उत्कृष्ट स्थिति को विस्तृत करता था तथा जिसकी व्यग्रता नष्ट हो चुकी थी ऐसा त्रिपृष्ठ नारायण समुद्रान्त पृथिवी को एक नगरी के समान रक्षा करता था ॥२७॥ तदनन्तर जिस प्रकार पृथिवी ने उसके हर्ष के लिए विस्तृत लक्ष्मी के साथ सुकोश—उत्तम खजाना और दण्ड—सैन्यबल को उत्पन्न किया था उसी प्रकार उसकी प्रियस्त्री स्वयंप्रभा ने उसके हर्ष के लिये समयानुसार क्रम से एक कन्या के साथ दो पुत्रों को उत्पन्न किया ॥२८॥ बड़े पुत्र का नाम श्रीविजय था जो शत्रुओं को संतप्त करने वाला था, और उससे छोटे पुत्र का नाम विजय था जो कीर्ति रूपी धन से सम्पन्न था। पुत्री का नाम ज्योतिःप्रभा था। मृग के बच्चे के समान नेत्रों को धारण करनेवाली ज्योतिःप्रभा अत्यधिक सुशोभित होती थी ॥२९॥ वे दोनों

---

१. मायतिश्रिया ब०

पितुर्गुणैस्तावनुयातुः सुतौ वपुर्विशेषेण समन्ततः ।
विजित्य कान्त्या जननीं स्वमाश्रये बभूव शीलेन समा च केवलम् ॥३०
नरेन्द्रविद्यासु गजाधिरोहणे पुरन्ध्रिपृष्ठे च समस्तहेतिषु ।
अवापतुस्तौ पितरौ च कौशलं कलासु सर्वासु च सापि कन्यका ॥३१
अथैकदा भूतमुखान्मनःप्रभां निशम्य मार्यं तपसि प्रतिष्ठितम् ।
प्रजापतिस्तत्क्षणनिस्पृहान्तरो बुबुद्धि विषयेषु निःस्पृहाम् ॥३२
स एव धन्यो रथनूपुरेश्वरो मतिश्च तस्यैव हितानुबन्धिनी ।
सुखेन तृष्णामयबन्धपञ्जराद् विनिर्ययौ यो दुरतिक्रमादपि ॥३३
अशेषभावाः क्षणभङ्गुरा न किं किमस्ति लेशोऽपि सुखस्य संसृतौ ।
तथापि जीवः स्वहिते न वर्तते करोत्यकार्यं बत मोघदुर्धियः ॥३४
यथा यथायुर्गलति प्रतिक्षणं तथा तथा प्राणितुमेव वाञ्छति ।
अशक्तमात्मा विषयैर्वशीकृतो न जायते तृप्तिरवाप्य तैरपि ॥३५
नदीसहस्रैरिव यादसां पतिस्तनूनपाद्विन्धनसंचयैरिव ।
चिराय संतुष्यति कामवस्मरो न कामभोगैः पुरुषो हि जातुचित् ॥३६

पुत्र शरीर की विशेषता के साथ सब ओर से पिता के गुणों का अनुकरण कर रहे थे तथा पुत्री कान्ति के द्वारा अपनी माता को जीत कर उत्पन्न हुई थी। वह मात्र शील से माता के समान थी ॥३०॥

राजविद्याओं में, हाथी की सवारी में, घोड़े की पीठ पर चढ़ने में तथा समस्त शस्त्रों में वे दोनों पुत्र अत्यन्त कुशलता को प्राप्त हो गये। इसी प्रकार वह कन्या भी समस्त कलाओं में चतुराई को प्राप्त हो गयी ॥३१॥ तदनन्तर राजा प्रजापति ने एक समय भूत के मुख से सुना कि विद्याधरों का राजा ज्वलनजटी तप में प्रतिष्ठित हो गया है अर्थात् उसने मुनि दीक्षा ले ली है, यह सुनते ही वह भी तत्काल बुद्धि को विषयों में निःस्पृह कर इस प्रकार विचार करने लगा ॥३२॥ वह रथनूपुर का राजा ज्वलनजटी ही धन्य है और उसी की बुद्धि हित में लग रही है जो कि इस अत्यन्त कठिन तृष्णा रूपी वज्रमय पिंजड़े से अनायास निकल गया है ॥३३॥ समस्त पदार्थ क्या क्षणभङ्गुर नहीं हैं। संसार से क्या सुख का लेश भी है। फिर भी खेद है कि यह ज्ञान का दरिद्र जीव आत्महित में प्रवृत्ति नहीं करता, किन्तु इसके विपरीत अकार्य करता है ॥३४॥ प्रत्येक समय जैसे जैसे आयु गलती जाती है वैसे वैसे यह जीवित रहने की ही इच्छा करता है। यह जीव असमर्थ हो विषयों के वशीभूत हो रहा है परन्तु उन विषयों से भी इसे तृप्ति नहीं होती ॥३५॥ जिस प्रकार हजारों नदियों से समुद्र, और ईंधन के समूह से अग्नि संतुष्ट नहीं होता उसी प्रकार काम में आसक्त हुआ यह पुरुष चिर काल बाद भी काम भोगों से कभी संतुष्ट नहीं होता ॥३६॥ ये मेरे प्राणतुल्य भाई हैं, यह इष्ट पुत्र है, यह प्रिय मित्र है, यह स्त्री है और यह धन है इस प्रकार चिन्तन करता हुआ यह अज्ञानी

---

१. बहनारतृणमयबन्धपञ्जरैरिव पृथ्वीपतिर्नीतिविदः ।
न तु कामभूतैः पुनरात्मा सक्तः कदाचित् कर्मणः ॥७२॥ —धन्यकुमारचरित सर्ग २

इसे यथा प्राणसमाः समाभयः सुतोऽयमित्यः सुहृदेव बान्धवः ।
इयं च भार्या धनमेतदित्यहो विचेतनस्तप्स्यति चिन्तयन्वृथा ॥३७
शुभाशुभं कर्मफलं समश्नुते ध्रुवं पुमान्प्राक्तनमेक एव हि ।
अतः स्वतोऽन्यः स्वजनः परोऽपि वा न विद्यते कश्चन देहधारिणाम् ॥३८
किमिन्द्रियार्थैः पुरुषो न विस्रसा प्रहीयते कालवशादुपागतः ।
इदं तु चित्रं न जहाति तान्स्वयं समुज्झितोऽपि प्रसभं जरासुरः ॥३९
प्रशस्तमादौ मधुरं मनोहरं विपाककाले बहुदुःखकारणम् ।
उशन्ति सन्तो विषयोद्भवं सुखं सुपक्वपाकोत्पफलाशनं यथा ॥४०
सचेतनः स्वातुमिहोत्सहेत को वृथैव तस्यन्विषयैरुपप्लवे गृहे ।
सुदुस्तरस्यापि जिनेन्द्रशासने भवाम्बुधेस्तरणपफले सति ॥४१
निवृत्तरागप्रसरस्य यत्सुखं शमात्मकं शाश्वतमात्मनि स्थितम् ।
दुरन्तमोहानलतप्तचेतसः किमस्ति तत्स्वल्पकलोऽपि रागिणः ॥४२
जिनोदितं तत्त्वमवेत्य तत्त्वतः समीहते यो विषयान्निषेवितुम् ।
पिबत्यसौ जीविततृष्णया विषं विहाय पाणावमृतं विचेतनः ॥४३
जरागृहीतं नवयौवनं यथा निवर्तते नैव पुनः कदाचन ।
तथायुरारोग्यमपि प्रतिक्षणं विलुप्यमानं नियतेन मृत्युना ॥४४

प्राणी व्यर्थ ही दुखी होता है ॥३६॥ निश्चित ही यह प्राणी पूर्वभव में किये हुए अपने शुभ-अशुभ कर्म के फल को अकेला ही भोगता है इसलिए अपने आप से अतिरिक्त कोई दूसरा प्राणियों का न स्वजन है और न पर जन है ॥३७॥ क्या कालवश मृत्यु को प्राप्त हुआ पुरुष अपने आप इन्द्रियों को विषयों द्वारा नहीं छोड़ दिया जाता ? अवश्य छोड़ दिया जाता है । आश्चर्य तो यह है कि इन्द्रिय विषयों के द्वारा हठपूर्वक छोड़े जाने पर भी यह वृद्ध पुरुष उन्हें स्वयं नहीं छोड़ता है ॥३९॥ सत्पुरुष, विषयों से उत्पन्न होनेवाले सुख को, अच्छी तरह परिपाक को प्राप्त हुए किंपाक फल के भोजन के समान प्रारम्भ में मधुर और मनोहर तथा विपाक काल में अनेक दुःखों का कारण मानते हैं ॥४०॥ अत्यन्त दुस्तर संसार सागर से पार करानेवाली नौका के समान जिनधर्म के रहते हुए भी ऐसा कौन सचेतन प्राणी होगा जो विषयों की इच्छा से दुःखी होता हुआ व्यर्थ ही घर में ठहरने के लिए उत्साहित होगा ॥४१॥ राग के प्रसार से रहित मनुष्य को जो शान्तिमय, स्थायी और आत्मिक सुख प्राप्त होता है क्या उसका एक अंश भी दुःखदायक मोहाग्नि से संतप्त चित्तवाले रागी मनुष्य को प्राप्त होता है ? अर्थात् नहीं होता ॥४२॥ जो मनुष्य परमार्थ रूप से जिनेन्द्र-प्रणीत तत्त्व को जानकर विषय-सेवन की इच्छा करता है वह अज्ञानी हाथ में स्थित अमृत को छोड़ कर जीवित रहने की तृष्णा से विष को पीता है ॥४३॥ जिस प्रकार वृद्धावस्था से ग्रहण किया हुआ नवयौवन फिर कभी लौट कर नहीं आता उसी प्रकार नियमित मृत्यु के द्वारा प्रत्येक क्षण लुप्त होने वाली आयु और आरोग्य भी कभी लौट कर नहीं आता ॥४४॥ पुनर्जन्म का क्लेश नष्ट करने में समर्थ अत्यन्त दुर्लभ सम्यक्त्व को पाकर मेरे समान दूसरा कौन प्रमादी मनुष्य होगा जो तपस्या

अनल्पम् [illegible] दुर्लभं [illegible]
महेत [illegible] प्रजापतेः सुनिश्चितं वच्म सिवा तपस्यया ॥४५
चिरतरमेवमवस्थितौ मनोवपुषी मम न मानसंक्षयं च देहतः ।
करोमि तावत्परिपोषयानुकूलतामहं प्रयतं यशोधनम् ॥४६
चिरं विचिन्त्यैवमुदारधीः[1] सुतौ समाहूय तदा प्रजापतिः ।
मुखावलोकः क इति स्वयाचितोऽनतावुवाचेति रामकेशवौ ॥४७
इदं भवद्भ्यः स्थिरधीरवंचनो पुरःसरैः किं विदितं न गीयताम् ।
जवःसुरेन्द्रायुधमेघविद्युतां विलासरोलाचपलं हि सत्त्वान्तरे ॥४८
समागमाः सापदवा विभूतयो विपत्निमित्तं वपुरामयात्मकम् ।
मुहुःश्वसूलं सुखमायु यौवनं विनश्वरं वाच्च न मृत्युकारणम् ॥४९
अनात्मनीने कुशलः शिवार्थिनौ शिवार्थतोऽयं स्वहिते जडः पुमान् ।
इदं [3]यदीदं विपरीतमात्मनो भवेत्तदा दुस्तिरमाप्यते न कैः ॥५०
अनेकसंक्लेशशतैः कुयोनिषु भ्रमन्ननादिप्रभवं कथमप्यहं चिरात् ।
अयं जनः प्राप्य नृजन्म दुर्लभं प्रधानविश्वाकुकुलं समासदत् ॥५१

के विना जन्म को निष्फल धारण करेगा ॥४५॥ जब तक यह अत्यन्त बलवान् वृद्धावस्था इन्द्रियबल तथा आत्मबल को शरीर से दूर नहीं करती है तबतक मैं आयु के अवशिष्टभाग को यथोक्त तपस्या के द्वारा सफल करता हूँ। भावार्थ—इन्द्रियबल तथा मनोबल के ठीक रहते हुए मैं तपस्या में प्रवृत्त होता हूँ ॥४६॥

तदनन्तर चिर काल तक ऐसा विचार कर राजा प्रजापति ने उसी समय दोनों पुत्रों को बुलाया। क्या आज्ञा है? इस प्रकार हर्ष से अपने चरणों में नमस्कार करते समय उन बलराम और नारायण से राजा ने इस प्रकार कहा ॥४७॥ विद्वानों में अग्रसर रहनेवाले आप लोगों के द्वारा क्या यह संसार की स्थिति अज्ञात है। यह संसार की स्थिति, प्रातःकाल, इन्द्रधनुष, मेघ और बिजली की लक्ष्मी के समान क्षणभर में नष्ट हो जानेवाली है ॥४८॥ संयोगवियोग से युक्त हैं, विभूतियां विपत्ति का निमित्त है, शरीर रोगमय है, सुख दुःख का मूल है, यौवन शीघ्र नष्ट हो जाता है और जन्म मृत्यु का कारण है ॥४९॥ यह पुरुष आत्मा के लिए अहितकारी कार्य करने में स्वभाव से कुशल है और आत्मा का हित करने वाले कार्य में अज्ञानी है। यदि यह दोनों इससे विपरीत हो जावें तो आत्मा को मुक्ति किन पुरुषों के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। अर्थात् सभी के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। भावार्थ—यदि यह जीव आत्महितकारी कार्य में संलग्न हो जावे और आत्म-अहितकारी कार्य से निवृत्त हो जावे तो मुक्ति प्राप्त करना कठिन नहीं है ॥५०॥

अनेक कुयोनियों में अनादि काल से भ्रमण करता हुआ यह चिरकाल बाद किसी तरह इस दुर्लभ मनुष्य जन्म और प्रधान इक्ष्वाकुवंश को प्राप्त हुआ हूँ ॥५१॥ यहां मैं समस्त पञ्चेन्द्रियों

---

१. धीरतः अ० । २. मुखावलोकः अ० । ३. यदीयं अ० ।

समग्रपञ्चेन्द्रियवर्गसंयुतः कुलाग्रणीस्तत्र सुधाप्रधीरहम् ।
हिताहितज्ञः समभूवमीशिता वसुन्धरायाश्च समुद्रवाससः ॥५२
महात्मनां सीरपाणिचारिणां सदा वशौ प्राग्रहरौ च मे सुतौ ।
धुवामभूतां खलु जन्मनः फलं किमस्यतोऽन्यद्भुवि पुण्यशालिनः ॥५३
अपत्यवक्त्राम्बुजवीक्षणावधिश्चिरन्तनानां गृहवासवासिनाम् ।
नवु प्रसिद्धादिजिनेन्द्रसन्ततेः कुलस्थितिः सा विफलीकृता मया ॥५४
अतोऽनु गच्छाम्यधुनापि पावनीं दिगम्बराणां पदवीं यथाक्रमम् ।
विमुक्तिसौख्यस्पृहयैव वामहं निराकरोमि प्रणयं च दुस्त्यजम् ॥५५
निगद्य पुत्राविति पुत्रवत्सलः प्रजापतिस्तन्मुकुटांशुरञ्जुभिः ।
निबद्धपादोऽपि ययौ तपोवनं विबन्धनं नास्ति हि भव्यचेतसाम् ॥५६
प्रणम्य पादौ वशिनामधीशितुर्यथार्थनाम्नः पिहितास्रवस्य सः ।
नरेश्वरैः सप्तशतैः परां दधौ धुरं मुनीनां सह शान्तमानसैः ॥५७
यथोक्तमार्गेण सुदुश्चरं परं तपो विधायाप्रतिमं प्रजापतिः ।
निरस्य कर्माष्टकपाशबन्धनं अगाम सिद्धिं निरुपद्रवश्रियम् ॥५८
अथान्यदा यौवनसंपदा सुतां विगाह्यमानामवलोक्य माधवः ।
ततान कोऽस्याः सदृशो भवेदुवा वरो वरीयानिति चिन्तयन्मुहुः ॥५९

की शक्ति से सम्पन्न, कुलका प्रमुख, तीक्ष्णबुद्धि, हित-अहित का ज्ञाता और समुद्रान्त पृथिवी का स्वामी हुआ ॥५२॥ जो आगे होनेवाले श्रेष्ठ बलभद्र और नारायणोंमें प्रथम हैं तथा सदा आज्ञाकारी रहे हैं ऐसे तुम दोनों मेरे पुत्र हुए, इससे बढ़कर पृथिवी पर पुण्यशाली मनुष्यके जन्म लेनेका फल और क्या हो सकता है ? ॥५३॥ आदि जिनेन्द्र की सन्ततिमें पूर्ववर्ती गृहस्थों की जो कुलस्थिति संतान का मुख कमल देखने तक रही है उसे मैंने निष्फल कर दिया है। भावार्थ—भगवान् वृषभदेव के कुल में होनेवाले पूर्व पुरुषों की यह रीति रही है कि जब तक वे पुत्र का मुखकमल न देख लें तभी तक गृहस्थाश्रम में रहे, पुत्र का मुखकमल देखते ही मुनिदीक्षा ले लेते थे परन्तु मैंने उस रीति को निष्फल किया है अर्थात् आप दोनों के सब प्रकार से शक्तिसंपन्न होने पर भी मैंने अभी तक मुनिदीक्षा नहीं ली है ॥ ५४ ॥ इसलिये अब मैं दिगम्बरों के पवित्र मार्ग का यथाक्रम से अनुसरण करता हूँ। मोक्ष सुख की इच्छा से ही मैं तुम दोनों के कठिनाई से छोड़ने योग्य स्नेह को छोड़ रहा हूँ ॥ ५५ ॥

पुत्रवत्सल राजा प्रजापति पुत्रों से इस प्रकार कह कर उनके मुकुट-सम्बन्धी किरणरूपी रस्सी से बद्धचरण होने पर भी तपोवन को चले गये सो ठीक ही है क्योंकि भव्य जीवों के चित्त बाँधनेवाला कोई नहीं है ॥ ५६ ॥ उन्होंने जितेन्द्रियों के स्वामी, सार्थक नामवाले पिहितास्रव मुनि के चरणों को प्रणाम कर सात सौ शान्तचित्त राजाओं के साथ मुनियों की धुरा धारण कर ली—मुनिदीक्षा ले ली ॥ ५७ ॥ प्रजापति मुनिराज यथोक्तमार्ग से अत्यन्त कठिन, उत्कृष्ट और अनुपम तप करके तथा अष्टकर्मरूपी पाश के बन्धन को नष्ट कर निरुपद्रव लक्ष्मी से युक्त सिद्धि को प्राप्त हुए ॥ ५८ ॥

तदनन्तर किसी अन्य समय पुत्री को यौवनरूपी सम्पत्ति से युक्त देख, 'इसके अनुरूप

स्वयं धरित्रीसमवारणक्षमं अवाप्तवीर्यैः सचिवैः समन्वितः ।
उपस्थरे कृत्यविनिश्चयेच्छया प्रणम्य संकर्षणमित्यभाषत ॥६०
पितुः समक्षेऽपि भवान्धुरन्धरः कुलस्य मत्तोऽधिगते विशेषतः ।
करोति लोकस्य रविप्रभेव ते समीक्षणा धीः सकलार्थदर्शनम् ॥६१
अतः समाचक्ष्व विचिन्त्य तत्त्वतो भवत्सुतायाः सदृशं समार्य तम् ।
कुलेन रूपेण कलागुणादिभिः पतिं नरेष्वेषु नरेषभारेषु च ॥६२
उदीरितायामिति वाचि चक्रिणा ततो हलीत्थं निजगाद भारतीम् ।
नरेन्द्रविद्भिः कुमतिस्तिरोहितान्मनाग् अदृष्टहारद्युतिनिष्प्रभान्वरः ॥६३
पतिः कनीयानपि यः क्रियाविदो महात्मनां नात्र वयः समीक्ष्यते ।
भवादृशानामत एव नो भवान् पतिश्च बन्धुश्च कुलप्रदीपकः ॥६४
यथा न नक्षत्रमुदीक्ष्यते परं गगनतले चन्द्रकलासमाकृति ।
तथापि न क्षत्रसमूहे भारते भवत्सुतायाः न समस्ति कश्चनः ॥६५
चिरं स्वबुद्ध्या परिचिन्त्य यत्नतो यं विशसमो यदि सामनिन्दिताम् ।
नृपेषु कस्मैचिदलोऽपि किं तयोः समोऽनुरूपो भवतीत्यनिश्चयैः ॥६६
न रूपमात्रं न कला न यौवनं भवेन्न सौभाग्यनिमित्तमाकृतिः ।
स्त्रियेषु यत्नेन निबन्धनोचितं गुणान्तरं तत्पुरुषेण योषिताम् ॥६७

कान्ति से उत्कृष्ट वर कौन है' इस प्रकार बार-बार चिन्ता करता हुआ त्रिपृष्ठ नारायण दुःखी हुआ ॥ ५९ ॥ नीतिनिपुण मन्त्रियों से युक्त त्रिपृष्ठ, जब स्वयं निर्णय करने के लिये समर्थ नहीं हो सका तब उसने कार्य के निश्चय की इच्छा से एकान्त में बलभद्र को प्रणाम कर इस प्रकार कहा ॥ ६० ॥ पिता के समक्ष भी आप हमारे कुल के धुरन्धर थे फिर उनके अभाव में तो विशेष कर आप ही धुरन्धर हैं। सूर्य की प्रभा के समान जगत् के अन्धकार (पक्ष में अज्ञान) को नष्ट करनेवाली आपकी बुद्धि समस्त पदार्थों का दर्शन कराती है ॥ ६१ ॥ इसलिये हे आर्य ! आप परमार्थ से विचार कर भूमिगोचरियों अथवा विद्याधरों में कुल, रूप तथा कला आदि गुणों से अपनी पुत्री के अनुरूप पति बतलाइये ॥ ६२ ॥ तदनन्तर चक्रवर्ती के द्वारा इस प्रकार के वचन कहे जाने पर बलभद्र ने, कुन्द के फूल के समान सफेद दाँतों की किरणों से वृद्धि को प्राप्त हुई हार की किरणों से ग्रीवा को युक्त करते हुए यह वचन कहे ॥ ६३ ॥ क्योंकि इस लोक में आप जैसे महात्माओं की अवस्था नहीं देखी जाती इसलिये अवस्था से छोटे होने पर भी लक्ष्मी से सम्पन्न आप ही हम लोगों के स्वामी हैं, गति हैं, चक्षुस्वरूप हैं तथा कुल को प्रदीप्त करनेवाले हैं ॥ ६४ ॥ जिस प्रकार गगनतल में चन्द्रकला के समान आकारवाला कोई दूसरा नक्षत्र नहीं दिखाई देता इसी प्रकार इस भरत क्षेत्र में सौन्दर्य की अपेक्षा आपकी पुत्री के योग्य, कोई क्षत्रिय भी नहीं दिखाई देता है ॥ ६५ ॥ यदि चिरकाल तक यत्नपूर्वक अपनी बुद्धि से विचारकर राजाओं में से किसी के लिए उस प्रशंसनीय कन्या को देते हैं तो उसमें समान प्रेम होगा इसका निश्चय नहीं है ॥ ६६ ॥ स्त्रियों के सौभाग्य का निमित्त न रूप है, न कला है, न यौवन है और न आकृति

---

१. विधा प्रदीर्घः ब० । २. समन्वितम् ब० । ३. दर्शिनी ब० । ४. भवतीति निश्चयः ब० ।

अतोऽनुरूपं स्वबलेन कन्यका वरं वृणीतां स्वधिया स्वयंवरे ।
चिरं प्रवृत्तो नितरामयं विधिर्विधिश्च साफल्यमुपैतु तत्कृतः ॥६८
विचार्य कार्यान्तरमित्युदारधीरुदीर्य रामो विरराम मन्त्रिभिः ।
समं समेति प्रतिपद्य तद्विभुः स्वयंवरं विभु चरैरघोषयत् ॥६९
अथार्ककीर्तिः सहसा निशम्य तत्सुतं गृहीत्वामिततेजसं सतीम् ।
सुतां सुतारां च मनोरमाकृतिं सहायवो पोदनमम्बरेचरैः ॥७०
अवाप्य राज्ञां शिबिरैः समन्ततः प्रवेशवेशेषु परिष्कृतं पुरम् ।
स्वयंवरोद्ग्राहसवुत्सुकैर्ध्वजैः स संकुलं राजकुलं समासदत् ॥७१
ससंभ्रमं प्रत्युदितौ बलाच्युतौ विलोक्य कक्षावलितोरणाद् बहिः ।
ननाम साऽभ्यागतयोः क्रमद्वयं पुरा स ताभ्यां परिरम्भणार्चितः ॥७२
तमर्ककीर्तिस्तनयं निरीक्ष्य तौ स्वपादनम्रां कमनीयतावधिम् ।
सुतां च कान्त्या जितनागकन्यकां बभूवतुर्विस्मयनिश्चलेक्षणौ ॥७३
कुलध्वजः श्रीविजयः स्वमातुलं समं ववन्दे विजयेन तत्क्षणम् ।
विलोक्य तौ सोऽप्यभवन्मुदाकुलः सुखं किमन्यन्निजबन्धुदर्शनात् ॥७४

ही है; किन्तु पतियों के प्रेम-सम्बन्ध का कारण वह एक पृथक् ही दूसरा गुण है ॥ ६७ ॥ इसलिये कन्या स्वयंवर में अपने अनुरूप पति को अपनी बुद्धि से स्वयं ही वर ले। यह स्वयंवर की विधि चिरकाल से अत्यन्त प्रचलित है। उसके द्वारा की हुई यह विधि सफलता को प्राप्त हो ॥ ६८ ॥

उदारबुद्धि बलभद्र ऐसा कहकर तथा मन्त्रियों के साथ अन्य कार्य का विचार कर चुप हो गए। 'आपने जो कहा है वह वैसा ही है' इस तरह स्वीकृत कर त्रिपृष्ठ ने दूतों के द्वारा सब दिशाओं में स्वयंवर की घोषणा करा दी ॥ ६९ ॥ तदनन्तर ज्वलनजटी का पुत्र अर्ककीर्ति उस समाचार को सुन शीघ्र ही अपने अमिततेज नामक पुत्र और सती एवं सुन्दर सुतारा नामक पुत्री को लेकर विद्याधरों के साथ पोदनपुर आ पहुँचा ॥ ७० ॥ चारों ओर गोपुरों के समीप ठहरे हुए राजाओं के शिविरों से परिष्कृत नगर को प्राप्त कर वह स्वयंवर-महोत्सव के कारण फहराई हुई ध्वजाओं से व्याप्त राजद्वार को प्राप्त हुआ ॥ ७१ ॥ महलों के तोरणद्वार के बाहर हर्षपूर्वक अगवानी के लिये आये हुए बलभद्र और नारायण को देखकर उसने उन दोनों के चरणों में नमस्कार के पूर्व बलभद्र और नारायण ने आलिङ्गन के द्वारा उसका सत्कार किया था ॥ ७२ ॥ अपने चरणों में नम्र, सुन्दरता की चरम सीमा स्वरूप अर्ककीर्ति के उस पुत्र तथा अपनी कान्ति से नाग कन्या को जीतनेवाली पुत्री को देखकर बलभद्र और नारायण आश्चर्य से निश्चल नेत्र हो गये। भावार्थ—उन दोनों की सुन्दरता देख नेत्रों के पलक गिराना भी भूल गये ॥ ७३ ॥ कुल की ध्वजारूप श्रीविजय ने छोटे भाई विजय के साथ अपने मामा अर्ककीर्ति को नमस्कार किया। उन्हें देख अर्ककीर्ति भी हर्षविभोर हो गया सो ठीक ही है क्योंकि अपने बन्धुजनों के दर्शन के सिवाय दूसरा सुख क्या है ? ॥ ७४ ॥

---

१. स्वमतं म० । २. ब तम् म० । ३. प्रवेशवेशेषु म० ।

पुरस्सरीभूतबलाच्युतश्रियः प्रविश्य सोऽयोध्यपुरं यशोधनम् ।
स्वयंप्रभा चक्रभृतां च सत्तमौ मनोरथानीर्वचसौ रघूद्वहम् ॥७५
तदा सुतारामितते जसौ सुतं विरादेव सखीजनावृतौ स्वयंप्रभा ।
मनोरथेनाप्यनुसङ्गतेन[1] तौ नियोजयामास विना स्वयंवरम् ॥७६
स्वसात्मसंकल्पवशीकृतेव सा नियद्भवाप्तिततेजसि प्रभुम् ।
अनुत्सुता चक्रधरस्य योषितां मनो विजानाति हि पूर्ववल्लभम् ॥७७
सुतारया श्रीविजयस्य मानसं समाददे तेन तदीयमप्यलम् ।
[2]विनिर्हितापाङ्गनिरीक्षितेनोद्गूर्णसंभ्रान्तरसस्नेहरसो हि तादृशः ॥७८
अथाहिते मुग्धे सुविशुद्धलक्षणा[3] सखीजनैः कल्पितसर्वमङ्गला ।
स्वयंवरस्थानमगादुदग्रभा मनोरथान् व्यर्थयितुं महीभुजाम् ॥७९
अतीत्य सर्वान्विनिवृत्तयत्नया निवेदितान्राजसुतान् क्रमेण सा ।
ह्रिया परावृत्य मुखं व्यसज्जयच्चिराय कण्ठेऽमिततेजसः [4]स्रजम् ॥८०
ततः सुतारा प्रविहाय पार्थिवान्स्वयंकरे श्रीविजयस्य बन्धुरम् ।
बबन्ध गाढं कुसुमस्रजा गलं मनोऽपहारेण मनोभ्यकम्पितम् ॥८१

तदनन्तर बलभद्र और नारायण जिसके आगे-आगे चल रहे थे ऐसे अर्ककीर्ति ने उत्सव से परिपूर्ण राजमहल में प्रवेश किया। वहाँ पुत्रवधूसहित चरणों में नम्रीभूत स्वयंप्रभा को देख उसे यथायोग्य आशीर्वादों से सम्मानित किया ॥ ७५ ॥ साथ ही साथ स्वयंप्रभा ने चरणों में नम्रीभूत सुतारा और अमिततेज को देख स्वयंवर के बिना ही मनोरथरूप हो उन्हें अपने पुत्र और पुत्री के साथ संयुक्त कराया। भावार्थ—स्वयंप्रभा के मन में ऐसा विचार हुआ कि सुतारा का अपने पुत्र के साथ और अमिततेज के साथ अपनी पुत्री का सम्बन्ध हो तो उत्तम होगा ॥७६॥ चक्रवर्ती की पुत्री अपनी माता के संकल्प के वशीभूत होकर ही मानो अमिततेज में अनुराग करने लगी थी सो ठीक ही है, क्योंकि स्त्रियों का मन अपने पूर्वपति को जान लेता है ॥ ७७ ॥ सुतारा ने श्रीविजय का मन ग्रहण कर लिया और श्रीविजय ने भी कुटिल कटाक्षों के अवलोकन से उसका मन हर लिया सो ठीक ही है क्योंकि अन्यभवों का स्नेह रस वैसा ही होता है ॥ ७८ ॥

तदनन्तर जो अत्यन्त विशुद्ध लक्षणों से युक्त थी तथा सखीजनों ने जिसका सर्वमङ्गलाचार किया था ऐसी ज्योतिःप्रभा नामक पुत्री किसी शुभ दिन राजाओं के मनोरथों को व्यर्थ करने के लिये स्वयंवर के स्थान पर गई ॥ ७९ ॥ वहाँ सखी के द्वारा विधिपूर्वक जिनका परिचय दिया गया था ऐसे समस्त राजकुमारों का क्रम से उल्लङ्घन कर उसने चिरकाल बाद अमिततेज के गले में माला डाल दी। माला डालते समय लज्जा से उसने अपना मुख फेर लिया था ॥ ८० ॥ तदनन्तर सुतारा ने स्वयंवर में राजाओं को छोड़कर श्रीविजय के सुन्दरस्कन्ध को फूलों की माला से और दृष्टि अन्यत्र होने पर भी मन को कामबाण से अच्छी तरह बाँध लिया ॥ ८१ ॥

---

१. सुतमे सौ म० । २. विनिर्हिता- ब० । ३. सखीजने म० । ४. स्वयम् म० ।

वसन्ततिलकम्

कृत्वा यथोचितमपात्मजयोर्विवाहमन्योन्यसङ्गतिलब्धबन्धुतयातितुष्टः ।
स्वक्षा बलेन हरिणा च नभश्चरेन्द्रो मुक्तश्चिरादथमपि स्वपुरं जगाम ॥८२
साम्राज्यमित्थमनुभूय चिरं निजेष्टैराकृष्टधीरतितरां विषयैर्मनोज्ञैः ।
ध्यानायुषो निजनिदानवशेन रौद्र-ध्यानेन जीवितविपर्ययमाप सुप्तः ॥८३

मालभारिणी

अथ तत्क्षणमेव पीतवासा नरकं सप्तममभ्युवास पापात् ।
अचिन्त्यदुरन्तघोरदुःखं त्रिगुणैकादशसागरोपमायुः ॥८४
तमुदीक्ष्य यदोऽप्रशेषमात्रं बलदेवः सुचिरं विमुक्तकण्ठः ।
विललाप तथा यथा प्रतेपुर्मुनयोऽपि प्रशमात्मका निशम्य ॥८५

हरिणी

सजलनयनैर्वृद्धज्ञातैर्भवस्थितिदर्शिभिः
स्थविरसचिवैः सार्द्धं कृच्छ्राच्चिरं प्रतिबोधितः ।
कथमपि जहौ शोकं मत्वा स्वयं च हलायुधः
स्थितिमशरणां संसारस्य प्रतिक्षणभङ्गुराम् ॥८६

अतिरुचिरा

स्वयंप्रभामनुमरणार्थमुद्यतां बलस्तदा स्वयमुपसान्त्वनोदितैः ।
इदं पुनर्भवशतहेतुरात्मनो निरर्थकं व्यवसितमित्यवारयत् ॥८७

इस प्रकार अपने पुत्र-पुत्रियों का विवाह कर परस्पर सम्बन्ध को प्राप्त हुई बन्धुता से जो अत्यन्त संतुष्ट था तथा बहिन, बलभद्र, और नारायण ने जिसे चिरकाल बाद किसी तरह छोड़ा था ऐसा विद्याधरों का राजा अर्ककीर्ति अपने नगर को गया ॥ ८२ ॥ इस तरह अपने इष्ट मनोज्ञ विषयों से जिसकी बुद्धि अत्यन्त आकृष्ट रहती थी ऐसा त्रिपृष्ट चिरकाल तक राज्य सुख का अनुभव कर किसी दिन अपने निदान के कारण आर्तध्यान द्वारा सोता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो गया ॥८३॥ तदनन्तर उसी समय त्रिपृष्ट, पाप के कारण अचिन्तनीय बहुत भारी भयंकर दुःखों से युक्त तथा तैंतीस सागर की आयु सहित सातवें नरक में निवास करने लगा ॥ ८४ ॥ त्रिपृष्ट को मृत देख बलदेव ने चिरकाल तक गला फाड़कर वैसा विलाप किया कि जिसे सुनकर शान्त हृदय मुनि भी दुःखी हो उठे ॥ ८५ ॥

तदनन्तर जिनके नेत्र आंसुओं से पूर्ण थे तथा जो संसार की स्थिति का निरूपण कर रहे थे ऐसे वृद्धजनों के समूह ने वृद्ध मन्त्रियों के साथ जिसे बहुत समय बाद बड़ी कठिनाई से समझा पाया था ऐसे बलभद्र ने स्वयं ही संसार की स्थिति को शरणरहित तथा क्षणभङ्गुर मान कर किसी तरह शोक छोड़ा ॥ ८६ ॥ उस समय त्रिपृष्ट की स्त्री स्वयंप्रभा, पति की मृत्यु के

पृथ्वी

प्रसाधनमपश्चिमं कुशलकिल्बिषैर्निर्मितं
प्रभुज्य वसनद्वयं विगतचक्षुषोर्बाष्पतः ।
अशेत हरिरुद्वहन्वहिरवोपनिद्राघनाद्
विनाशयति निद्रया ज्वलनजालजालान्तरे ॥८८

उपजातिः

राज्यश्रियं श्रीविजयाय दत्त्वा हलायुधः संसृतिदुःखभीरुः ।
सुवर्णकुम्भं प्रणिपत्य दीक्षां नृपैः सहस्रैः सहितः प्रपेदे ॥८९

शार्दूलविक्रीडितम्

हत्वा घातिचतुष्टयं हलधरो रत्नत्रयात्त्रश्रिया
पश्यन्केवललोचनेन युगपत् त्रैलोक्यवस्तुस्थितिम् ।
भव्यानामभयप्रदानरसिको भूत्वा पुनर्निश्चितः
सिद्धानां सुखसम्पदामभजत स्थानं पदं शाश्वतम् ॥९०

इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचरिते बलदेवसिद्धिगमनो नाम
दशमः सर्गः ।

पश्चात् मरने के लिये उद्यत थी, उसे बलभद्र ने स्वयं सान्त्वनापूर्ण वचनों द्वारा यह कहकर रोका कि यह आत्मघात की चेष्टा अपने लिये सैकड़ों भवों का कारण है तथा निरर्थक है ॥८७॥ जिनसे आँसुओं के कण झर रहे थे ऐसे दोनों नेत्रों को बार-बार पोंछ कर कुशल कारीगरों के द्वारा निर्मित श्रेष्ठ अलंकरण को धारण करनेवाले त्रिपृष्ट नारायण ने बाह्य पदार्थों का ज्ञान न कराने वाली निद्रा के वश होने से अग्नि ज्वालाओं के समूह रूपी नूतन पल्लवों के विस्तार वश शयन किया। भावार्थ—शरीर को सजावट कर त्रिपृष्ट के शरीर को अग्नि की चिता पर लिटाया गया—दाह-संस्कार किया गया ॥ ८८ ॥ संसार के दुःखों से भयभीत बलभद्र ने त्रिपृष्ट के ज्येष्ठपुत्र श्रीविजय के लिये राज्य-लक्ष्मी देकर तथा सुवर्णकुम्भ नामक गुरु को प्रणाम कर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली ॥ ८९ ॥ बलभद्र मुनि रत्नत्रय रूपी लक्ष्मी के द्वारा चार घातिया कर्मों का क्षयकर केवलज्ञानी बन गये। अब वे केवलज्ञान रूपी नेत्र के द्वारा तीन लोक के पदार्थों की स्थिति को एक साथ देखने लगे। भव्य जीवों को अभय दान देने के रसिक होकर वे योग निरोध से अवस्थित हुए और सिद्धों की सुख-संपदा के स्थानभूत शाश्वत पद को प्राप्त हुए ॥ ९० ॥

इस प्रकार असग कविकृत श्रीवर्द्धमान चरित में बलदेव के मोक्ष गमन का वर्णन करने वाला दशवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

एकादशः सर्गः

पुष्पिताग्रा

अथ नरकभवे विचित्रदुःखं चिरमनुभूय विनिर्गतः कथंचित् ।
पुनरिह भरते रथाङ्गपाणिः [1]प्रविपुल सिंहगिरौ बभूव सिंहः ॥१
शमविरहितमानसो निसर्गात्प्रथमकषायकषायरञ्जनेन ।
यम इव कुपितो विना निमित्तं समदगजानवधीत्सुधा विहीनः ॥२
प्रतिरवपरिपूरिताद्रिरन्ध्रं करिकलभा ध्वनितं निशम्य तस्य ।
विदलितहृदयाः प्रियैरकाण्डे समभसुभिः सु[2]निरासिरे स्वयूथैः ॥३
मृगकुलमपहाय तं नगेन्द्रं सकलमगादपरं वनं विबाधम् ।
करिरिपुनखकोटिलुप्तशेषं व्रजति सदा निरुपद्रवं हि सर्वः ॥४
अविरतदुरिताशयानुबन्धाद्विगतदयो निजजीवितव्यपाये ।
पुनरपि नरकं जगाम सिंहो प्रथममसत्फलमेतदेव जन्तोः ॥५
नरकगतिमुपागतो हरिर्यः स हि मृगनाथ भवानिति प्रतीहि ।
अथ नरकभवे यदुग्रदुःखं शृणु तनुमान्समुपैति तत्प्रवक्ष्ये ॥६

ग्यारहवाँ सर्ग

इसके अनन्तर चक्रवर्ती का जीव नरक के पर्याय में चिरकाल तक नाना प्रकार का दुःख भोग कर किसी तरह वहाँ से निकला और निकल कर फिर से इसी भरत-क्षेत्र के बहुत बड़े सिंहगिरि नामक पर्वत पर सिंह हुआ ॥१॥ उसका मन स्वभाव से ही अशान्त रहता था। अनन्तानुबन्धी कषाय रूपी रङ्ग से रंगा हुआ होने के कारण वह निमित्त के बिना ही यमराज के समान कुपित रहता था और भूख से रहित होने पर मदमाते हाथियों का वध करता था ॥ २ ॥ प्रतिध्वनि से पर्वत की गुफाओं को पूर्ण करनेवाली उसकी गर्जना को सुनकर जिनके हृदय विदीर्ण हो गये थे ऐसे हाथियों के बच्चे असमय में ही प्रिय प्राणों के साथ अपने झुण्डों से पृथक् किये जाते थे। भावार्थ—उसकी गर्जना सुन हाथियों के कितने ही बच्चे भय से मर जाते थे और कितने ही अपने झुण्ड से बिछुड़ कर यहाँ-वहाँ भाग जाते थे ॥ ३ ॥ उस सिंह के नखों के अग्रभाग से लुप्त होने से शेष रहा मृगों का समस्त समूह उस पर्वत को छोड़कर अन्य निर्बाध वन में चला गया सो ठीक ही है क्योंकि सब लोग उपद्रवरहित स्थान पर जाते हैं ॥ ४ ॥ वह दयाहीन सिंह निरन्तर पापपूर्ण अभिप्राय के संस्कार से अपना जीवन समाप्त होने पर फिर से प्रथम नरक गया सो ठीक ही है क्योंकि जीव के असत्कर्म का फल यही है ॥ ५ ॥ मुनिराज ने सिंह से कहा—हे मृगराज ! जो सिंह नरक गति को प्राप्त हुआ था वह आप ही हैं ऐसा निश्चय करो। यह जीव नरक पर्याय में जिस तीव्र दुःख को प्राप्त होता है उसे अब सुनो मैं कहता हूँ ॥ ६ ॥

---

१. सुमहति म० । २. मसुभिश्च निरासिरे म० ।

सपदि वपुरवाप्य दुष्टसंस्थं कृमिकुलसंकुलसंचितं च दुर्गन्धि ।
पतति दुरवसाक्कपालवाक्यवेगात्कृतशयनः स हि वज्रवह्नौ ॥७
असिविधिशितविचित्रहेतिहस्तो भवतरवं प्रविलोक्य नारकौघः ।
वह पच विलपेत्यवाच्य नानाविधविधिति वधि करोत्यरं तथैव ॥८
गतिरियमशुभप्रदा च का वा कुतिलवकारि मया पुरा किमुग्रम् ।
अहमपि क इति सपदं विचिन्त्य क्षणमु विभङ्गवधिं च वेत्ति सर्वम् ॥९
हुतभुजि परितापयन्ति पापा मुखमवदार्य च पाययन्ति धूमम् ।
बहुविधमथ पीलयन्ति यन्त्रैश्चटिति परिस्फुटितास्थिघोररावम् ॥१०
विलपति करुणं कृतार्तनादः करजनिवेशितशातवज्रसूचिः ।
वृकनिवहविलुप्यमानदेहो लभते निर्गतसप्तनेकवारम् ॥११
तटपरिसिकतानिभिन्नपादः सहजतृषा परिशुष्कतालुकण्ठः ।
करिमकरकरासिखण्डितोऽपि प्रविशति वैतरणीं विषाम्बु पातुम् ॥१२
उभयतटनिविष्टनारकौघैर्मुहुरपरुध्य स तत्र प्राह्यमाणः ।
कथमपि समवाप्य रन्ध्रमार्तो गिरिमधिरोहति वज्रबालवीप्तम् ॥१३
हरिकरिमयपुण्डरीककङ्कप्रभृतिभिरेत्य विलुप्यमानदेहः ।
भुशमसुखमवाप्य तत्र चित्रं तदगहनं प्रतियाति विध्वमार्तम् ॥१४

वह नारकी शीघ्र ही हुण्डक संस्थान से युक्त, कीड़ों के समूह से व्याप्त तथा दुर्गन्धित शरीर को प्राप्त कर दुःखमय उपपाद शय्या बाण के समान अधोमुख होता हुआ नीचे वज्राग्नि पर पड़ता है ॥ ७ ॥ नाना प्रकार के तीक्ष्ण शस्त्र जिनके हाथ में थे ऐसे नारकियों का समूह भय से चञ्चल उस नारकी को देख, इसे जला दो, पका दो, मार डालो, और ऊपर बाँध दो, इस प्रकार के वचन कहता है और वैसा ही शीघ्र करने लगता है ॥ ८ ॥ यह अशुभ को देनेवाली गति कौन है? पूर्वभव में मैंने कौन-सा भयंकर पाप किया था, और मैं भी कौन हूँ? इस प्रकार क्षण-भर विचार करने के बाद वह विभङ्गावधि ज्ञान को प्राप्त कर सब कुछ जान लेता है ॥ ९ ॥ अत्यन्त क्रोधी नारकी उस नवीन नारकी को अग्नि में संतप्त करते हैं, मुख फाड़ कर धुएँ का पान कराते हैं और उसके बाद यन्त्रों द्वारा उसे पेरते हैं, पेरते समय उसकी हड्डियाँ टूट कर चट-चट का भयंकर शब्द करती हैं ॥ १० ॥ जिसके नखों में वज्रमय पैनी सूइयाँ चुभाई गई हैं ऐसा वह नारकी आर्तनाद करता हुआ करुण विलाप करता है तथा भेड़ियों के समूह के द्वारा जिसका शरीर लुप्त किया जा रहा है ऐसा वह नारकी अनेक बार मूर्च्छित हो जाता है ॥ ११ ॥ जन्म के साथ ही उत्पन्न प्यास से जिसका तालु और कण्ठ सूख गया है ऐसा वह नारकी विषमय जल पीने के लिये वैतरणी में प्रवेश करता है। उस वैतरणी के तट पर जो वज्रमयी बालू रहती है उससे उसके पैर विदीर्ण हो जाते हैं और हाथियों तथा मगरों के सूंड रूपी तलवार से उसके खण्ड-खण्ड हो जाते हैं ॥ १२ ॥

दोनों तटों पर बैठे हुए नारकियों के समूह उसे बार-बार रोक कर उसी वैतरणी में डुबा देते हैं। वह दुःखी नारकी किसी तरह छिद्र पाकर निकलता है और वज्रमय बालुकामय प्रज्वलित

बहुविधविशिताग्रपत्रमोक्षस्तबलिवहैः प्रविदारितं तवङ्गम् ।
वनशततिवहाचितं वहन्ति भ्रमरगणैः सह दुष्टचण्डकीटाः ॥१५
अतिपरुषरवैः श्रुतिं तुदन्तो बहुनखिलावलिदग्धपक्ष्मनालम् ।
असितबलिभुजः खनन्ति तुण्डैः कुलिशमयैर्नयनद्वयं तदीयम् ॥१६
विवलितवदनं [1]तमुष्मिकान्तेर्धृतविषवारिचये निवेश्य केचित् ।
घनशितबृहदुग्रमुद्गरप्रहारैरतिरवेण पचन्ति चूर्णयन्तः ॥१७
बहुविधपरिवर्तनक्रियाभिः स्थपुटशिलासु निपात्य चूर्णयन्ति ।
प्रतितनु करपत्रकेण यन्त्रे महति निधाय विदारयन्ति केचित् ॥१८
घनबहुनपरीतवज्रभूयाच्युतपरितप्तमयीरसं प्रपाय ।
विगलितरसनो विभिन्नतालु स्मरति स [2]मांसरतेः फलानि तत्र ॥१९
सरभसपरिरम्भजेन भग्नो घनमुरसि स्तनवज्रमुद्गराग्रैः ।
ज्वलदनलमयीभिरङ्गनाभिर्ध्रुवमवगच्छति तत्र कामदोषान् ॥२०

पर्वत पर चढ़ता है ॥ १३ ॥ उस पर्वत पर सिंह, हाथी, अजगर, व्याघ्र तथा कङ्क आदि जन्तु आकर उसके शरीर को लुप्त करते हैं। इस तरह वह नाना प्रकार का तीव्र दुःख पाकर विश्राम के लिये गहन वृक्षों वाले वन की ओर जाता है॥१४॥ वहां, नाना प्रकार के तीक्ष्ण शस्त्र रूपी पत्तों को छोड़नेवाले वृक्षों के समूह से उसका शरीर विदीर्ण हो जाता है। सैकड़ों घावों के समूह से व्याप्त उसके उस शरीर को दुष्ट तीक्ष्ण कीड़े भ्रमर समूह के साथ काटते हैं ॥ १५ ॥ अत्यन्त कठोर शब्दों से कानों को पीड़ा पहुँचानेवाले काले कौए अपनी वज्रमय चोंचों के द्वारा, अग्निज्वालाओं के समूह से जिसकी विरूनियां जल गई थीं ऐसे उसके दोनों नेत्रों को खोदते हैं ॥ १६ ॥ जिसका मुख खुला हुआ है ऐसे उस नारकी को विषमय जल से भरे हुए कड़ाहे में डालकर कितने ही नारकी बहुत भारी और तीक्ष्ण मुखवाले मुद्गरों के प्रहार से चूर्ण करते हुए उसे बहुत तेज अग्नि से पकाते हैं ॥ १७ ॥ घुमाना-फिराना, उछालना आदि की क्रियाओं से उसे ऊँची-नीची शिलाओं पर पछाड़ कर कितने ही नारकी उसको चूर-चूर कर डालते हैं और कोई बहुत बड़े यन्त्र में रखकर अत्यन्त बारीक करौंत (आरा) के द्वारा उसे विदीर्ण कर देते हैं ॥१८॥ कितने ही नारकी उसे प्रचण्ड अग्नि से व्याप्त वज्रमय सांचे से गिरे हुए संतप्त लोहरस को पिलाते हैं, उससे उसकी जीभ बाहर निकल आती है तथा तालु विदीर्ण हो जाता है। इन सब क्रियाओं से वह वहाँ मांस-भक्षण की प्रीति के फल का स्मरण करता है। भावार्थ—उसे स्मरण आता है कि पूर्वभव में मैंने जो मांस खाया था उसी का यह फल है ॥ १९ ॥ स्तन के आकार के वज्रमय मुद्गरों के अग्रभाग से जिसके वक्षःस्थल पर भारी चोट दी गई है ऐसा वह नारकी प्रज्वलित अग्निमय स्त्रियों के सवेग आलिङ्गन से जानता है कि निश्चित ही यह मेरे काम-सम्बन्धी दोषों का फल है। भावार्थ—उस नरक में लोहे की जलती हुई पुतलियों का उसे आलिङ्गन कराया जाता है तथा वक्षःस्थल पर वज्रमय मुद्गरों के अग्रभाग से चोट पहुँचायी जाती है। इन सब बातों से वह नारकी जानता है कि पूर्वभव में मैंने

---

१. तमुष्मिकान्तेर्धृति ब० । २. मसरतेः म० ।

अधिरूढवानसि मुहुः कुचयोः कठिनौ महान्तुरुजसोरुतरान् ।
अवलिप्तवतो बलया बहुशः आलिङ्गितोऽपि स कुरुते प्रणामम् ॥२१
करचरणयुगैर्विवर्जितोऽपि हृदयविदीर्णतया सदा सः ।
विचुरितहृदयोऽम्बरीषमायामयकरतर्जितकायतर्जनीभिः ॥२२
सुखमिदमिति मत्वातिदुष्टधीः स्वजनवधार्थं करोति तत्तदाशु ।
जनयति खलु तस्य दूरि दुःखं च हि कलिकामि सुखस्य मारकाणाम् ॥२३
इति नरकभवाद्विनिःसृतानुनरभवसंश्रयसिंह हिंसारिरेत्य ।
अधिवसति चिरं कुयोनिजन्मं ननु तनुजात् अनवद्यदृष्टिसोहः ॥२४
इति परिकथिता भवावलिस्ते विदितमवस्य मृगेन्द्र सम्प्रयत्नात् ।
प्रकटमथमयाभिधास्यमानं विमलधिया हितमात्मनः शृणु त्वम् ॥२५
अविरतिसहितैः कषाययोगैः रविमलदृष्टिहता प्रमाददोषैः ।
परिणमति निरन्तरं सहात्मा भवति ततः परिणामतोऽस्य बन्धः ॥२६

जो अन्य स्त्रियों का आलिङ्गन किया है तथा उनके स्थूल स्तनों के आघात से अपने वक्षःस्थल को युक्त किया है यह उसी का फल है ॥ २० ॥

क्रोध से जिसके नेत्र लाल-लाल हो रहे हैं ऐसा वह नारकी यद्यपि थकावट से विवश हो जाता है तोभी शीघ्र ही भेड़, भैंसा, मत्त हाथी और मुर्गा का शरीर रखकर ऐसे ही अन्य भेड़ आदि के साथ असुर कुमारों के आगे भारी युद्ध करता है ॥ २१ ॥ अम्बाम्बरीष देवों के मायामय हाथ की तर्जनियों के अग्रभाग की डांट से जिसका हृदय दुःखी हो रहा है ऐसा वह नारकी यद्यपि हाथ और चरणों के युगल से रहित होता है तोभी भय से शीघ्र ही सेमर के वृक्ष पर चढ़ता है। भावार्थ—अम्बाम्बरीष जाति के असुर कुमार उसके हाथ-पैर तोड़ देते हैं ऊपर से विक्रिया निर्मित हाथों की तर्जनी अङ्गुलियां दिखाकर उसे कांटेदार सेमर के वृक्ष पर चढ़ने के लिये बाध्य करते हैं जिससे शक्ति न रहते हुए भी वह उनके भय से सेमर के वृक्ष पर चढ़ता है ॥ २२ ॥ 'यह सुख पहुँचाने वाला है' ऐसा अपनी बुद्धि से विचार कर वह जिस-जिस कार्य को करता है वही-वही कार्य निश्चय से शीघ्र ही उसे बहुत भारी दुःख उत्पन्न करने लगता है सो ठीक ही है क्योंकि नारकियों को सुख का लेश भी नहीं होता है ॥ २३ ॥ इस तरह विविध दुःखों से युक्त नरकभव से आकर तुम यहाँ फिर सिंह हुए हो सो ठीक ही है क्योंकि तीव्र मिथ्यादृष्टि जीव निश्चय से चिरकाल तक कुयोनियों के मध्य निवास करता ही है ॥ २४ ॥ हे मृगराज ! इस प्रकार विस्तार से तुम्हारी भवावली—पूर्वभवों की सन्तति कही गई है। जाति-स्मरण के कारण इस भवावली को तू जानता भी है। अब तेरी आत्मा का हित क्या है ? यह मैं स्पष्ट रूप से कहूँगा सो उसे निर्मल बुद्धि से सुन ॥ २५ ॥

यह आत्मा निरन्तर मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय, योग और प्रमाद के द्वारा कर्म परिणमन करता है उसी परिणमन से इसके बन्ध होता है ॥ २६ ॥ बन्ध के दोष से यह जीव एक गति

[1]गतिषु गतिमुपैति शरीरतोऽक्षाण्यक्षतो विषयप्रीतिमेति तस्मात् ।
तनु विषयरतिविधरात्तो विषयरतेः पुनरेव सर्वदोषैः ॥२७
भवसलिलनिधौ पुनःपुनश्च भ्रमणविधिः पुरुषस्य जायतेऽयम् ।
इति परिकथितो जिनैरनादिर्बन्धरहितोऽयसंयुतोऽस्य बन्धः ॥२८
अपनय मनसः कषायदोषान्प्रशमरतो भव सर्वथा मृगेन्द्र ।
जिनपतिविहिते मते कुरुष्व प्रणयमपास्य च कापथानुबन्धम् ॥२९
स्वसदृशानवगम्य सर्वसत्त्वान् अहिंहि वचोभिरीति त्रिगुप्तिगुप्तः ।
जनयति स कथं परोपतापं प्रभवति यः प्रथमं स्वतोऽभिवेत्तुमात्मनो यः ॥३०
[2]अनियतपथबन्धकारणं त्वं स्वपरभवं विषमं सदा सबाधम् ।
हरिवर समवाप्तमिन्द्रियैर्यत्सुखमवगच्छ तदेव दुःखमुग्रम्[3] ॥३१
नवविधरसमन्वितं निसर्गादशुचि सदार्तवशुक्रसंभवत्वात् ।
विविधमलयुतं क्षयि त्रिदोषं विविधशिरावलिजालकेन नद्धम् ॥३२

से दूसरी गति को प्राप्त होता है। गति से शरीर, शरीर से इन्द्रियों तथा इन्द्रियों से विषयों की प्रीति को प्राप्त होता है और उस विषय-सम्बन्धी प्रीति से पुनः सब दोषों को प्राप्त होता है ॥२७॥ जीव की यह भ्रमण-विधि संसार रूप सागर में बार-बार होती रहती है। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् ने जीव के इस बन्ध का कथन किया है। जीव का यह बन्ध अनादि, अनन्त और अनादिसान्त होता है। भावार्थ—अभव्य जीव का यह कर्मबन्ध अनादि, अनन्त और भव्यजीव का अनादि सान्त होता है ॥ २८ ॥ हे मृगेन्द्र ! तुम मन से कषाय-सम्बन्धी दोषों को दूर करो और सब प्रकार से शान्त स्वभाव में लीन होओ। मिथ्या मार्ग का संस्कार छोड़कर जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्रतिपादित मत में प्रीति करो ॥ २९ ॥ सब जीवों को अपने समान जानकर तुम मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति इन तीनगुप्तियों से सुरक्षित होते हुए हिंसा की प्रीति को छोड़ो। जो अपने आपके दुःख को जानता है वह निश्चित ही दूसरे को संताप कैसे उत्पन्न कर सकता है ? ॥ ३० ॥ हे मृगराज ! इन्द्रिय-सम्बन्धी सुख अनियत है—एक रूप नहीं है, बन्ध का कारण है, आत्मातिरिक्त पदार्थों से उत्पन्न होता है, विषम है तथा सदा बाधाओं से युक्त है। वास्तव में इन्द्रियों से जो सुख प्राप्त होता है उसे तुम भयंकर दुःख ही जानो ॥ ३१ ॥ जो स्वभाव से ही नौ

---

१. जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥ १२९ ॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ।
तेहिं दु विषयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥ १३० ॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥ १३० ॥ पञ्चास्तिकाये ।

२. सपरं बाधासहितं विच्छिन्नं बंधकारणं विषमम् ।
जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेवं तहा ॥ ७६ ॥ प्रवचनसार ।

३. ३१–३७ श्लोकाः व प्रतौ लेखकप्रमादात् भ्रष्टा इति प्रतीयते ।

निखिलमुखरकर्मबन्धपूतं बहुविधदोषसहस्रवासगेहम् ।
कृमिकुलकलितं च पूतिगन्धि स्थिरविकटाष्टिशतैकयन्त्रकल्पम् ॥३३
बहुविधपरितापहेतुभूतं बहुरिभकीडसमाधिबन्धनं तत् ।
अपनय नितरां ममत्वबुद्धिं कथमवबुध्यसि विद्धि यावदस्ति ॥३४
(त्रिकलम्)
शिवसुखमपुनर्भवं विधातुं निरवधिसारसमं निरञ्जनाप्तुम् ।
यदि तव मतिरस्ति सत्पुमारे त्यज सकलं बहिरन्तरं च सङ्गम् ॥३५
गृहधनधनपुरादिकः समग्रो भवति स बाह्यपरिग्रहो दुरन्तः ।
बहुविधसमश्च रागलोभकोपप्रभृतिसमान्तरसङ्गनिश्चयेहि[1] ॥३६
[2]इति कुरु मनसि स्वमक्षयश्रीरवगमसंयमलक्षणोऽहमात्मा ।
मम पुनरितरे च सर्वभावा विविधसमागमलक्षणा विभिन्नाः ॥३७
यदि निवससि संयमोन्नताद्रौ प्रविमलसद्दृष्टिगुहोदरे परिघ्नन् ।
उपशमनखरैः कषायनागांस्त्वमसि तदा खलु सिंह भव्यसिंहः ॥३८
हिततरमिह नास्ति किञ्चिदन्यज्जिनवचनादिति विद्धि निश्चयेन ।
बहुविधवनकर्मपाशमोक्षो भवति यतः पुरुषस्य तेन सर्वः ॥३९

छिद्रों से सहित है, रज और वीर्य से उत्पन्न होने के कारण अपवित्र रहता है, नाना प्रकार के मल से सहित है, क्षय रूप है—विनाशी है, वात, पित्त, कफ इन तीनों दोषों से युक्त है, नाना नसों के समूह से बँधा है, अपने अत्यन्त सूक्ष्म चर्म रूपी कवच से ढका है, नाना प्रकार के हजारों रोगों का निवास गृह है, कीड़ों के समूह से व्याप्त है, दुर्गन्ध युक्त है, सुदृढ तथा विशाल हड्डियों के द्वारा निर्मित यन्त्र के समान है तथा बहुत प्रकार के संताप का कारण है, ऐसा यह शरीर है, इस प्रकार जानकर उस शरीर से ममत्व बुद्धि को बिलकुल दूर करो। तुम जानते हुए भी निज स्वरूप में बुद्धि क्यों नहीं लगाते ? ॥ ३२-३४ ॥ अपुनर्जन्म का कारण, बाधारहित, उपमारहित, आत्मोत्पन्न और अतीन्द्रिय मोक्ष सुख को प्राप्त करने की यदि तुम्हारी इच्छा है तो हे मृगराज ! तुम बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का निश्चय से त्याग करो ॥ ३५ ॥ घर, धन, शरीर आदिक जो समस्त पदार्थ हैं वह नाना प्रकार के दुःखदायक बाह्य परिग्रह है इसके सिवाय जो राग, लोभ, क्रोध आदिक हैं वह आभ्यन्तर परिग्रह हैं ऐसा जानो ॥ ३६ ॥ तुम मन में ऐसा विचार करो कि मैं अविनाशी लक्ष्मी से सहित, ज्ञान दर्शन लक्षण वाला आत्मा हूँ, प्रसिद्ध संयम लक्षण वाले जो अन्य भाव हैं वे सब मुझ से भिन्न हैं। ३७ ॥ यदि तू उपशम भाव रूपी नखों के द्वारा कषाय रूपी हाथियों को नष्ट करता हुआ सम्यग्दर्शन रूपी गुहा के मध्य से सहित संयम रूपी उन्नत पर्वत पर निवास करता है तो हे सिंह ! तू सचमुच ही श्रेष्ठ भव्य है ॥ ३८ ॥ इस संसार में जिनेन्द्र भगवान् के वचनों के सिवाय निश्चय से और कोई पदार्थ अत्यन्त हितकारी नहीं है ऐसा

---

१. अवेहि म० ।

२. एगोमे सासओप्पाणं दंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोयलक्खणा ॥—नियमसार

[1]जिनवचनरसायनं दुरापं श्रुतियुगलाञ्जलिना निपीयमानम्।
विषयविषतृषामपास्य दूरं कमिह करोत्यजरामरं न भव्यम् ॥४०
शमकलया खलु मार्दवेन मानं हरिवर कोपमपि क्षमाबलेन।
प्रतिसमयमथार्जवेन मायां प्रशमय शौचजलेन लोभवह्निम् ॥४१
शमरतहृदयः परैरजय्यादपि न बिभेषि परीषहप्रपञ्चात्।
धवलयति तवा त्वदीयशौर्यं त्रिभुवनमेकपदे[2] यशोमहिम्ना ॥४२
अनुपमसुखसिद्धिहेतुभूतं गुरुषु सदा कुरु पञ्चसु प्रणामम्।
भवसलिलनिधेः सुदुस्तरस्य प्लव इति तं कृतबुद्धयो वदन्ति ॥४३
अपनय नितरां त्रिशल्यबीजान्यलमु परिरक्ष सदा व्रतानि पञ्च।
त्यज वपुषि परां ममत्वबुद्धिं कुरु करुणार्द्रमनारतं स्वचित्तम् ॥४४
अवगमनमपाकरोत्यविद्यां क्षपयति कर्म तपो यमो रुणद्धि।
समुदितमपवर्गहेतुभूतं त्रितयमिति प्रतियाहि दर्शनेन ॥४५
तव भवति यथा परा विशुद्धिर्मनसि तथा नितरां कुरु प्रयत्नम्।
अथ विदितहितैकमासमात्रं स्फुटमवगच्छ निजायुषः स्थितिं च ॥४६

जानो। नाना प्रकार के सुदृढ़ कर्मरूपी पाश से छुटकारा जिससे होता है वही आत्मा के लिये सब कुछ है ॥ ३९ ॥ कर्णयुगल रूपी अञ्जली के द्वारा पिया गया यह दुर्लभ जिन वचन रूपी रसायन, विषय रूपी विष से जनित तृषा को दूर हटाकर इस संसार में किस भव्यजीव को अजर और अमर नहीं कर देता है ? ॥ ४० ॥

हे श्रेष्ठ सिंह ! तुम क्षमा के बल से क्रोध को नष्ट करो, मार्दव के द्वारा मान को खण्ड-खण्ड करो, प्रत्येक समय आर्जव धर्म के द्वारा माया और शौच धर्म रूपी जल के द्वारा लोभ रूपी अग्नि को शान्त करो ॥ ४१ ॥ जिसका हृदय प्रशम गुण में लीन हो रहा है ऐसे तुम यदि दूसरों के द्वारा अजेय परीषहों के समूह से भयभीत नहीं होते हो तो तुम्हारी शूर-वीरता एक ही साथ यश की महिमा से तीनों लोकों को सफेद कर सकती है। भावार्थ—तुम्हारा यश तीनों लोकों में व्याप्त हो जावेगा ॥ ४२ ॥ तुम पञ्च परमेष्ठियों के लिये सदा प्रणाम करो क्योंकि वह प्रणाम अनुपम सुख की प्राप्ति का कारण है तथा अत्यन्त दुस्तर संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिये नौका है ऐसा विद्वज्जन कहते हैं ॥ ४३ ॥ माया मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्यों को सर्वथा हटाओ, पांच व्रतों की सदा रक्षा करो, शरीर में अत्यधिक ममत्व बुद्धि का त्याग करो और अपने चित्त को निरन्तर करुणा से आर्द्र करो ॥ ४४ ॥ सम्यग्ज्ञान अविद्या को दूर करता है, तप कर्मों का क्षय करता है, चारित्र कर्मों का संवर करता है इस प्रकार सम्यग्दर्शन के साथ मिले हुए यह तीनों मोक्षमार्ग के हेतुभूत हैं ऐसी प्रतीति करो—दृढ श्रद्धा करो ॥ ४५ ॥ तुम्हारे मन में जिस प्रकार परम विशुद्धता हो उस प्रकार तुम अच्छी तरह प्रयत्न करो। हे आत्महित के ज्ञाता मृगराज ! अब तुम्हारी

---

१. जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥ १७ ॥—दर्शनप्राभृत.

२. मेकपदं ब०।

त्रिकरणविगलित स्वपापयोगं सकलसमाधिमुपेहि मृगेन्द्र भावयायुः ।
अनशनमुपलब्धबोधिलाभो विगलय सम्प्रति निर्भयोऽसि विद्धि ॥४७
गतभव दशमे भवात्तुरीयेऽस्मिन्नेव भविष्यसि भारते जिनेन्द्रः ।
इति परिकथितं जिनेश्वरेण नः सकलसमयं कमलाकरेण नाम्ना ॥४८
शमरत वयमागता भवन्तं प्रभु परिबोधयितुं तदीयवाक्यात् ।
ननु मुनिहृदयं मुनिः स्पृहं च स्पृहयति भव्यजनप्रबोधनाय ॥४९
इति चिरमनुशिष्य तत्त्वमार्गं मुनिवरगगनगमनाय निश्चितार्थम् ।
स्वचरणविनतं स्पृशत्करात्रैः शिरसि मुहुर्मुहुरादरेण सिंहम् ॥५०
चिरमिभरिपुणा निरीक्षमाणौ प्रणयभवाश्रुकणाविलेक्षणेन ।
जलधरपवनौ समानवेगौ प्रतिपथगौ गमनाय चारणौ तौ ॥५१
अथ मुनियुगले व्यतीत्य तस्मिन्पवनरयेन पथि स्वदृष्टिमार्गम् ।
भृशमरतिमियाय राजसिंहो जनयति सद्विरहो न कस्य बाधिम् ॥५२
मुनिविरहशुचा समं स्वचित्तावनतिविरेण निरस्य सर्वसङ्गम् ।
तदमलचरणाङ्कपावनायामनशनमास्त मृगाधिपः शिलायाम् ॥५३
[1]विनिहितवपुरेकपार्श्ववृत्त्या दृषदि चचाल न दण्डवन्मृगेन्द्रः ।
यतिगुणगणभावनासु सक्तः प्रतिसमयं च बभूव शुद्धलेश्यः ॥५४

आयु की स्थिति मात्र एक माह की रह गई है यह समझ लो ॥४६॥ हे मृगेन्द्र ! तुम्हें बोधि—आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है इसलिये मन वचन काय की विधि से अपने समस्त पाप योग को दूर कर जब तक आयु है तब तक निर्मल समाधि प्राप्ति के लिये अनशन तप करो। भावार्थ—जीवन पर्यन्त के लिये उपवास करो इसी से तुम्हारा समाधिमरण निर्दोष हो सकेगा ॥ ४७ ॥ हे निर्भय ! इस भव से दशवें भव में तुम इसी भरत क्षेत्र में तीर्थंकर होओगे। यह सब समाचार कमलाकर नामक तीर्थंकर ने हम सब से कहा है ॥ ४८ ॥ हे शमरत ! निश्चय से हम लोग उन्हीं तीर्थंकर के कहने से आपको सम्बोधने के लिये आये हैं सो ठीक ही है क्योंकि मुनिमों का हृदय यद्यपि अत्यन्त निःस्पृह रहता है तो भी वह भव्यजनों के संबोधने की इच्छा रखता है ॥ ४९ ॥ जो अपने चरणों में नम्रीभूत सिंह का उसके शिर पर आदर पूर्वक बार-बार हाथ फेरते हुए स्पर्श कर रहे थे ऐसे वे मुनि उसके लिये निर्णीत तत्त्वमार्ग का उपदेश देकर आकाश मार्ग से चले गये ॥ ५० ॥ सिंह, स्नेह से उत्पन्न आंसुओं के कण से मलिन नेत्र के द्वारा जिन्हें चिरकाल तक देखता रहा ऐसे वे दोनों चारण ऋद्धिधारी मुनिराज अपने इष्ट स्थान पर जाने के लिये आकाश में चले गये ॥ ५१ ॥

तदनन्तर जब दोनों मुनिराज अपने दृष्टि मार्ग को उल्लंघ कर पवन के समान तीव्र वेग से चले गये तब वह सिंह अत्यधिक दुःख को प्राप्त हुआ सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुषों का वियोग किसे मानसिक पीड़ा उत्पन्न नहीं करता है ? ॥ ५२ ॥ किन्तु शीघ्र ही वह सिंह मुनि वियोग से होने वाले शोक के साथ समस्त परिग्रह को अपने मन से दूर हटाकर उन मुनिराज के चरण चिह्न से पवित्र शिला पर उपवास का नियम लेकर बैठ गया ॥ ५३ ॥ जिसने उस शिला पर एक करव-

---

१. निहितवपु म० ।

खरतरपवनाभिघातरूक्षं रविकिरणोल्मुकतापतः समन्तात् ।
स्फुटितमपि वपुर्व्यधान्न चक्रे मनसि हरेः खलु तापहो हि धीरः ॥५५
दवनिभमुखदंशमक्षिकौघैर्मशकचयैरपि मर्मसु प्रदष्टः ।
समभृत शमसंवरानुरागं द्विगुणतरं मनसा व्यपेतकम्पः ॥५६
मृतमृगपतिशङ्कया मदान्धैः करिपतिभिः प्रविलुम्पकेशरोऽपि ।
अभृत स हृदये परां तितिक्षां तदवगतेर्ननु सत्फलं मुमुक्षोः ॥५७
क्षणमपि विवशस्तृषा क्षुधा वा द्विरदरिपुर्न बभूव मुक्तदेहः ।
'धृतिकवचितधीरमानसस्य प्रशमरतिर्न सुधायते किमेका ॥५८
प्रतिदिवसमगात्तनुत्वमन्तैः सह बहिरन्तरवस्थितैः कषायैः ।
हृदि निहितजिनेन्द्रभक्तिभारादिव नितरां शिथिलीकृतप्रमादः ॥५९
रजनिषु हिममारुतो बबाधे शमविवरोदरवर्तिनं न चण्डः ।
निरुपमघनसंवरस्य शीतं न हि विबाधति तनीयसी च पीडाम् ॥६०
खरनखदशनैः शिवाशृगालैर्मृतकधिया परिभक्षितो निशासु ।
क्षणमपि न जहौ परं समाधिं न हि विधुरै[2]रपि मुह्यते क्षमावान् ॥६१

वट से अपना शरीर रख छोड़ा था ऐसा वह सिंह दण्ड के समान चलायमान नहीं होता था। वह प्रत्येक समय मुनिराज के गुण समूह की भावना में लीन रहता था, क्षण-क्षण में उसकी लेश्याएं विशुद्ध होती जाती थीं ॥ ५४ ॥ उसका शरीर यद्यपि तीक्ष्ण वायु के आघात से रूक्ष हो गया था और सूर्य की किरण रूप उल्मुक के ताप से सब ओर फट गया था तो भी सिंह के मन में पीड़ा उत्पन्न नहीं कर रहा था सो ठीक ही है क्योंकि सचमुच धीर प्राणी वैसे ही होते हैं ॥ ५५ ॥ दावानल के समान मुख वाले डांस और मक्खियों के समूह तथा मच्छरों के निचय यद्यपि उसे मर्म स्थानों में काटते थे तो भी वह मन से निर्भय रहता हुआ प्रशम और संवर में दूना अनुराग धारण करता था ॥ ५६ ॥ 'यह मरा हुआ सिंह है' इस शंका से मदान्ध हाथी यद्यपि उसके गर्दन के बालों को खींचते थे तो भी वह हृदय में उत्कृष्ट क्षमा को धारण करता था सो ठीक ही है क्योंकि मोक्षाभिलाषी जीव के सम्यग्ज्ञान का यही वास्तविक फल है ॥ ५७ ॥ शरीर से स्नेह का त्याग करने वाला वह सिंह क्षणभर के लिये भी भूख और प्यास से विवश नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि जिसका धीर मन धैर्यरूपी कवच से युक्त है उसके लिये क्या एक प्रशमगुण की प्रीति ही अमृत के समान आचरण नहीं करती है? ॥ ५८ ॥ हृदय में स्थित जिनेन्द्र भक्ति के भार से ही मानो जिसका प्रमाद अत्यन्त शिथिल हो गया था ऐसा वह सिंह, भीतर स्थित रहने वाली कषायों के साथ बाहर शरीर से प्रतिदिन कृशता को प्राप्त होता जाता था। भावार्थ—उसके कषाय और शरीर दोनों ही प्रतिदिन क्षीण होते जाते थे ॥ ५९ ॥ शान्ति रूपी गुहा के भीतर रहने वाले उस सिंह को रात्रि के समय अत्यन्त तीक्ष्ण ठण्डी वायु पीड़ित नहीं करती थी सो ठीक ही है क्योंकि अनुपम और सान्द्र ओढनी से सहित मनुष्य को ठण्ड थोड़ा भी कष्ट नहीं पहुँचाती है ॥ ६० ॥ रात्रियों में पैने नख और दांतों वाले शृगाली और शृगाल उसे मृत समझ यद्यपि

---

१. धृत म० । २. विधुरेऽपि विमुह्यति म० ।

दिनकरकरजालतापयोगक्षणविलयं हिमपिण्डवन्महीयान् ।
शशिकरसमवर्ती विलीयतेस्म द्विरदरिपुः प्रशमे निधाय चित्तम् ॥६२

आर्यागीतिः

इति मासमेकमनशनविधया समुपोषितो भवभयाकुलितः ।
जिनशासनानुगतधीर्विजहौ दुरितैः स दूरमनुमितश्च हरिः ॥६३

वसन्ततिलकम्

सौधर्मकल्पमथ धर्मफलेन यत्वा सद्यो मनोहरवपुः स मनोहरेऽभूत् ।
देवो हरिध्वज इति प्रथितो विमाने सम्यक्त्वशुद्धिरथवा न सुखाय केषाम् ॥६४
प्रत्युत्थितो जय जयेति वदद्भिरुच्चैरानम्रबाहुकुशलैः परिवारदेवैः ।
विभ्राजनाभिरभिमङ्गलधारिणीभिः कोऽहं किमेतदिति चिन्तयति स्म धीरः ॥६५
ज्ञात्वा क्षणादवधिना सकलं स्ववृत्तं तत्सार्धतन्मुनियुगं सह तैः समेत्य ।
अभ्यर्च्य हेमकमलैश्च मुहुः प्रणामैरित्यस्तवीत् प्रमदनिर्भरचित्तवृत्तिः ॥६६
योऽभ्युद्यतो दुरितखण्डनतो भवद्भ्यां धर्मं हितप्रथनतत्परचित्तकाभिः ।
सोऽहं हरिः सुरवरोऽस्मि सुरेन्द्रकल्पः कस्योन्नतिं न कुरुते भुवि साधुवाक्यम् ॥६७

चारों ओर से चीखते थे तो भी वह क्षण भर के लिये भी उत्कृष्ट समाधि को नहीं छोड़ता था सो ठीक ही है क्योंकि क्षमावान् मनुष्य कष्ट के समय भी विमूढ़ नहीं होता है—भूल नहीं करता है ॥ ६१ ॥ जिस प्रकार सूर्यकिरणों के संताप से बर्फ का पिण्ड प्रतिदिन विलीन होता जाता है—पिघलता जाता है उसी प्रकार चन्द्रमा के समान सफेद वह बड़ा भारी सिंह प्रशमगुण में अपना चित्त लगा कर प्रतिदिन विलीन होता जाता था—क्षीण होता जाता था ॥ ६२ ॥

इस प्रकार अचल रहकर जिसने एक माह तक उपवास किया था, जो संसार के भय से आकुल था, तथा जिनधर्म में जिसकी बुद्धि लग रही थी ऐसा वह सिंह पाप और प्राणों के द्वारा दूर छोड़ दिया गया। भावार्थ—उसका मरण हो गया ॥ ६३ ॥ तदनन्तर धर्म के फल से शीघ्र ही सौधर्म स्वर्ग को प्राप्त कर मनोहर विमान में मनोहर शरीर का धारक हरिध्वज नाम से प्रसिद्ध देव हुआ सो ठीक ही है क्योंकि सम्यक्त्व की शुद्धि किन के सुख के लिये नहीं होती ? ॥ ६४ ॥ 'जय हो जय हो' इस प्रकार ऊँचे से उच्चारण करने वाले तथा हर्ष के बाजे बजाने में कुशल परिवार के देवों और मङ्गल द्रव्यों को धारण करने वाली देवाङ्गनाओं ने जिसकी अगवानी की थी ऐसा वह धीर वीर देव विचार करने लगा कि मैं कौन हूँ और यह क्या है ॥ ६५ ॥ क्षण भर में अवधिज्ञान से अपना सब समाचार जान कर वह उन परिवार के देवों के साथ उस स्वर्ग से चलकर पूर्वोक्त दोनों मुनिराजों के समीप गया और स्वर्ण कमलों तथा प्रणामों के द्वारा बारम्बार उनकी पूजा कर हर्ष-विभोर होता हुआ इस प्रकार बोला ॥ ६६ ॥

आप लोगों ने हित कथा रूपी सजल रस्सियों से जिसे अच्छी तरह बाँधकर पाप रूपी

---

१. हेमकमलैश्च म० ।

उपजातिः

अनाप्तपूर्वं भवतां प्रसादात्सम्यक्त्वमासाद्य यथावदेतत् ।
त्रैलोक्यचूडामणिशेखरत्वं प्रयातवान्संप्रति निर्वृतोऽस्मि ॥ ६८

शिखरिणी

जरावीचीभङ्गे जननसलिलो मृत्युमकरो
महामोहावर्तो गदनिवहफेनैः शबलितः ।
मया संसाराब्धिर्भवदमलवाक्यप्लवभृता
समुत्तीर्णः किञ्चित्प्रभवतटीशेषमधिरात् ॥६९

वसन्ततिलकम्

इत्थं निगद्य विबुधः स पुनः पुनश्च संपूज्य तौ यतिवृषौ प्रययौ स्वधाम ।
विन्यस्य [1]मूर्ध्नि चिराय तदङ्घ्रिधूलिं रक्षार्थभूतिमिव संसृतियातुधान्याः ॥७०

मालिनी

शरदृतुपतिरश्मिश्रीमुषा हारयष्ट्या सह हृदयविभागे बद्धसम्यक्त्वसम्पत् ।
अभिमतसुरसौख्यं निर्विशन्नप्रमत्तो जिनपतिपदपूजां तत्र कुर्वन्नुवास ॥७१

इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचरिते सिंहप्रायोप[2]गमनो नामै-
एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

कीचड़ से निकाला था वही मैं सिंह इन्द्र के समान श्रेष्ठ देव हुआ हूँ सो ठीक ही है क्योंकि साधु-जनों के वचन पृथिवी में किसकी उन्नति नहीं करते हैं ? ॥ ६७ ॥ आपके प्रसाद से अप्राप्तपूर्व सम्यक्त्व को यथार्थरूप से प्राप्त कर इस समय मैं इतना सुखी हुआ हूँ मानो तीन लोक की चूड़ा-मणि का सेहरा ही मुझे प्राप्त हुआ हो ॥६८॥ आपके निर्मल वचनरूपी भाव को धारण करने वाले मैंने उस संसार रूपी सागर को शीघ्र ही पार कर लिया है जिसमें वृद्धावस्थारूप लहरें उठती रहती हैं, जन्म रूप पानी भरा है, मृत्युरूप मगर रहते हैं, मोहरूप बड़े-बड़े भँवर उठा करते हैं तथा जो रोगसमूह रूप फेनों से चित्रित है। कुछ भवरूप तट ही उसके शेष रहा है ॥ ६९ ॥ इस प्रकार कह कर और बार-बार उन दोनों मुनिराजों की पूजा कर वह देव अपने स्थान पर चला गया। जाते समय वह संसार रूपी राक्षसी से रक्षा करने वाली भस्म के समान उनकी चरण रज को चिरकाल तक अपने मस्तक पर धारण कर गया था ॥ ७० ॥ शरद् ऋतु के चन्द्रमा की किरणों की शोभा को अपहरण करने वाली हारयष्टि के साथ जिसने अपने हृदय भाग में सम्यक्त्व-रूपी संपत्ति को धारण किया था तथा जो प्रमादरहित होकर जिनेन्द्रभगवान् के चरणों की पूजा करता था ऐसा वह देव वहां मनोवाञ्छित देवों के सुख का उपभोग करता हुआ निवास करने लगा ॥ ७१ ॥

इस प्रकार असग कविकृत श्री वर्द्धमानचरित में सिंह के संन्यास का वर्णन करने वाला ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

---

१. मूर्ध्नि सुचिराय म० । २. गमनं म०

द्वादशः सर्गः

उपजातिः

अथास्ति कच्छाविषयः प्रतीतो द्वीपे द्वितीये कुरुभूमिकल्पः ।
प्राच्यां दिशि प्राच्यसुरालयस्य सीतानदीवस्त्रटमागतस्य: ॥१
रौप्यो गिरिस्तत्र नगेश्वराणां मानं स्वमानस्य विडम्बयन्नीवः ।
पञ्चाशिका विंशतिरुच्छ्रयेण सार्धं च विस्तारयोजनानाम् ॥२
यः काशशुभ्रैः शिखरैरदभ्रैरभ्रंलिहैर्हसतीव मानम् ।
वाग्गोचरातीतसुरम्यरम्यविद्याधरावासमवाप्तवन्तः ॥३
यत्रासतीतासिमयूखरेखाव्याप्तेव लोकैकचरीरशोभाः ।
इतस्ततो व्योम्न्यभिसारिकाः वे विभा तमिस्रा इव मूर्तिमत्यः ॥४
कान्तोऽपि यत्कूटतटो निसर्गं न सेव्यते दिव्यवधूजनेन ।
अनन्यसाम्यामवलोक्य कान्तिं विद्याधरीणामतिलज्जितेन ॥५
विद्यानुभावेन परेण [1]केल्यां तिरोहिराङ्गीरपि यत्र रागाः ।
श्वासानिलामोदहृता स्वनाद्यान्भृङ्गावली सूचयति प्रमूढान् ॥६
न हीयते यत्र सरोवराणां विकाससम्पत्कुमुदोत्करेण ।
तीरस्थयुक्तोपलसान्द्रदीप्तिज्योत्स्नापरीतेन सदा विभापि ॥७

बारहवाँ सर्ग

अथानन्तर द्वितीय धातकी खण्ड द्वीप में मेरु पर्वत की पूर्व दिशा में सीता नदी के उत्तर तट से लगा हुआ कुरु भूमि के समान कच्छा नाम का प्रसिद्ध देश है ॥ १ ॥ वहां अपनी दीप्ति से अन्य पर्वतों को जीतने वाला, विद्याधरों का निवास भूत विजयार्ध पर्वत है। वह पर्वत सवा सौ योजन से पच्चीस योजन ऊंचा और सौ योजन चौड़ा है ॥ २ ॥ वचनागोचर सौन्दर्य सम्पत्ति से युक्त विद्याधरों के निवास से गर्व को प्राप्त हुआ जो पर्वत काश के समान सफेद गगनचुम्बी बड़ी-बड़ी शिखरों से ऐसा जान पड़ता है मानो स्वर्ग की हँसी ही कर रहा हो ॥ ३ ॥ वहां चमक रही उज्ज्वल तलवार की किरणों की रेखा से जिनके शरीर की समस्त शोभा काली पड़ गई है ऐसी अभिसारिकाएं दिन के समय आकाश में जहां-तहां घूमती रहती हैं। वे अभिसारिकाएं ऐसी जान पड़ती हैं मानों शरीरधारिणी रात्रियां ही हों ॥ ४ ॥ जिस पर्वत के कूटों का तट यद्यपि अत्यन्त सुन्दर था तो भी देवाङ्गनाएं उसकी सेवा नहीं करती थीं—वहां नहीं आती थीं। उसका कारण यह था कि वहां विद्याधरियों की असाधारण कान्ति देखकर देवाङ्गनाएं अत्यन्त लज्जित हो जाती थीं ॥ ५ ॥ जिस पर्वत पर विद्या के उत्कृष्ट प्रभाव से स्त्रियां यद्यपि खेल-खेल में छिप जाती थीं तो भी श्वासोच्छ्वास की वायु सम्बन्धी सुगन्ध से खिंची हुई भ्रमरावली उनके विद्यमान स्थितियों को उनकी सूचना दे देती थी ॥ ६ ॥ वहां तालाबों के कुमुदों का समूह तट पर स्थित योषितों के धवल दीप्ति रूपी चांदनी से सदा व्याप्त रहता है, इसलिये यह दिन में भी विकास की शोभा को

---

१. केल्यास्तिरोहिताङ्गी ब० ।

स्वधामभिः कुन्ददलावदातैरुत्सारयन्यः परितस्तमिस्राम् ।
सृजन्निवाभाति सितेतरासु ज्योत्स्नामपूर्वामपि शर्वरीषु ॥८
श्रेण्यामथाध्यास्य तत्र हेमप्राकारहर्म्यार्द्रविराजितत्वात् ।
अन्वर्थनामास्ति पुरं पुराणां ललामकं हेमपुरं पुराणम् ॥९
निसर्गवैमल्यगुणेषु यस्मिन् रत्नोपलेष्वेव परं खरत्वम् ।
संलक्ष्यतेऽन्तर्मलिनत्वमिन्दोः कलावतां पक्षवतां च मध्ये ॥१०
त्यागान्वितो यत्र सदा विरूपः परं बुधानां कुलमप्रमाणम् ।
भवत्यनिष्टो यतिवेव योगक्रियासु दक्षः परलोकभीरुः ॥११

नहीं छोड़ता है। भावार्थ—यद्यपि कुमुदों का समूह रात्रि को विकसित होता है तो भी तट पर लगे हुए मोतियों की सघन कान्ति रूपी चांदनी से वह सदा व्याप्त रहता है इसलिये दिन के समय भी विकसित के समान जान पड़ता है ॥ ७ ॥ कुन्द की कलियों के समान अपनी सफेद कान्ति से अंधेरी रात को चारों ओर से दूर हटाता हुआ जो पर्वत ऐसा जान पड़ता है मानो काली रात्रियों में अपूर्व चांदनी की ही रचना कर रहा हो ॥ ८ ॥

तदनन्तर उस विजयार्ध की दक्षिण श्रेणी में नगरों का आभूषण स्वरूप हेमपुर नाम का एक प्राचीन नगर है जो सुवर्णमय कोट, महल तथा अट्टालिकाओं से सुशोभित होने के कारण सार्थक नाम वाला है ॥ ९ ॥ जहां स्वभाव से निर्मल गुण वालों में यदि अत्यधिक तीक्ष्णता थी तो रत्नमय पाषाण में [ही थी वहां के मनुष्यों में नहीं थी। इसी प्रकार कलावान् और पक्षवान् वस्तुओं के मध्य यदि अन्तरङ्ग में मलिनता थी तो चन्द्रमा में ही थी वहां के मनुष्यों में नहीं थी। भावार्थ—स्वाभाविक निर्मलता को धारण करने वाले पदार्थों के मध्य यदि किसी में अत्यन्त तीक्ष्णता—स्पर्श की कठोरता थी तो रत्नोत्पल-मणियों में ही थी, स्वाभाविक निर्मलता-परिणामों की उज्ज्वलता को धारण करने वाले मनुष्यों में अत्यन्त तीक्ष्णता—अत्यधिक निर्दयता नहीं थी। इसी प्रकार कलावान्—सोलह कलाओं से युक्त और पक्षवान्—शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष से सहित पदार्थों के मध्य यदि अन्तरङ्ग में मलिनता—कालापन था तो चन्द्रमा में ही था, वहां के कलावान्—चौंसठ कलाओं से सहित तथा पक्षवान्—सहायकों से युक्त मनुष्यों में अन्तरंग की मलिनता—कलुषितता नहीं थी ॥ १० ॥ जहां त्याग से सहित मनुष्य ही सदा विरूप—रूपरहित-शरीर रहित होता था अर्थात् त्याग के प्रभाव से मुक्ति प्राप्त कर रूपरहित होता था अथवा 'विशिष्टं रूपं यस्य सः' इस समास के अनुसार त्यागी मनुष्य ही विशिष्ट रूप से युक्त होता था वहां का अन्य मनुष्य विरूप—कुरूप नहीं था। जहां किसी का कुल यदि अत्यधिक अप्रमाण था तो बुधों—बुध ग्रहों का कुल ही अप्रमाण था, वहां के बुधों—विद्वानों का कुल अप्रमाण नहीं था। [ज्योतिष शास्त्र के अनुसार प्रसिद्धि है कि चन्द्र ने गुरु-पत्नी के साथ समागम किया था उससे बुध ग्रह की उत्पत्ति हुई थी इसलिये बुधों—बुधग्रहों का कुल ही अप्रमाण था बुधों—विद्वानों का नहीं] जहां कोई अनिष्ट था—स्त्री-पुत्र आदि इष्ट जनों से रहित था तो यति—मुनि ही था, वहां कोई मनुष्य अनिष्ट—अप्रिय नहीं था। इसी प्रकार जहां यदि कोई परलोकभीरु—नरक आदि परलोक से डरने वाला था तो योगक्रिया में दक्ष—ध्यान में समर्थ मनुष्य ही था वहां का कोई ऐसा मनुष्य जो कि योग क्रिया—

[illegible]

नवीन राजाओं के संभोग जुटाने में समर्थ था, परलोक-भीरु—शत्रु वर्गों से डरने वाला नहीं था ॥ ११ ॥ जहाँ स्त्रियों के मुखारविन्द पर श्वासोच्छ्वास के लोभ से पड़ता हुआ मदोन्मत्त भौंरा यद्यपि हाथ के द्वारा झिड़क दिया जाता था परन्तु वह हाथ को भी लाल कमल समझ कर फिर से लौट आता था ॥ १२ ॥

उस नगर की रक्षा करनेवाला कमलाक्ष नामक राजा था। वह राजा अत्यन्त विनीत था, प्रजापालन के द्वारा कीर्ति को प्राप्त करनेवाला था, वीर था और नीति के ज्ञाता तथा सत्पुरुषों में अग्रसर प्रधान था ॥ १३ ॥ शरद् ऋतु के आकाश के समान धवलल कान्ति वाले जिसके छत्र पर वह प्रसिद्ध विजय लक्ष्मी इस भय से ही मानो निश्चल स्थित थी कि इसको चारों ओर चलती हुई पैनी धारा कहीं मुझे भी विदीर्ण न कर दे ॥ १४ ॥ शूरता का भाण्डार स्वयम् वह राजा युद्ध में भय से मुरझाये हुए पुरुषों के मुखों को नहीं देखता है ऐसा जान कर ही मानो जिसका प्रताप शत्रुओं को सामने से दूर हटा देता था ॥ १५ ॥ जो राजा सूर्य के समान था क्योंकि जिस प्रकार सूर्य नित्योदय—नित्य उदय को प्राप्त होता है उसी प्रकार वह राजा भी नित्योदय था—निरन्तर अभ्युदय—वैभव को प्राप्त होता था जिस प्रकार सूर्य भूमिभृत्—पर्वतों के शिखरों पर विन्यस्त पाद होता है—अपनी किरणें स्थापित करता है उसी प्रकार वह राजा भी भूमिभृत् अन्य राजाओं के मस्तकों पर विन्यस्त पाद था—पैर रखने वाला था, जिस प्रकार सूर्य कमलैकनाथ—कमलों का अद्वितीय स्वामी है उसी प्रकार वह राजा भी कमलैकनाथ—कमला अर्थात् लक्ष्मी का अद्वितीय स्वामी था। इस प्रकार सूर्य के समान होकर भी अतिक्रम करों—अतीक्ष्ण किरणों से (पक्ष में साधारण करों से) पृथिवी को आह्लादित करता था ॥ १६ ॥

उस राजा की उत्कृष्ट शील रूपी आभूषण से विभूषित, सुन्दरता की विश्राम भूमि तथा प्रसिद्ध वंश वाली कमलकलाक्ष नाम की रानी थी ॥ १७ ॥ सिंह का जीव हरिध्वज नाम का देव, सौधर्म स्वर्ग से अवतीर्ण होकर उन दोनों माता-पिता के हर्ष को धारण करता हुआ बहुत भारी

१. भृङ्गीः ब०

तीव्रर्मकल्पावतीर्य पुत्रः क्रियोत्तरयोः संभवमाप्तवानः ।
अनल्पकान्तिद्युतिविक्रमयुक्तो हरिध्वजोऽभूत्कनकध्वजाख्यः ॥१८
अप्यन्तरङ्गारिगणाविषाममनारतं गर्भगतोऽपि मातुः ।
यो दोहदायासपदेन पूजां सम्यक्त्वशुद्धिं प्रथयन्निव स्वाम् ॥१९
यस्मिन्प्रसूते वसुधे कुलश्रीश्चन्द्रोदये प्रत्यहमम्बुराशेः ।
वेलेव चूतद्रुमपुष्पसंपत्पुण्याकरस्येव च संनिधाने ॥२०
विगाह्यमाना युगपच्चतस्रो नरेन्द्रविद्याः सहसा विरेजुः ।
विशुद्धया तस्य धिया निसर्गादिशोऽपि कीर्त्या कमनीयमूर्तेः ॥२१
यो यौवनश्रीनिलयैकपद्मोऽन्यूनधैर्यः स्वयशं निनाय ।
अरातिषड्वर्गमनन्यसाध्यं विद्यागणं च प्रथितप्रभावः ॥२२
यदृच्छया यान्तमुदीक्ष्य पौराः सुनिश्चलाक्षा इति यं प्रवव्युः ।
किं मूर्तिमानेष स चित्तजन्मा किं रूपकान्तेरवधिस्त्रिलोक्याः ॥२३
निषद्य यस्मिन्मुरसुन्दरीणामिन्दीवरश्रीरुचिरा सतृष्णा ।
कटाक्षसन्यन्न बभाज मग्ना सुदुर्बला गौरिव सद्मनान्ते ॥२४

कान्ति, दीप्ति और पराक्रम से सहित कनकध्वज नाम का पुत्र हुआ ॥ १८ ॥ गर्भ स्थित होने पर भी उसका बालक ने दोहला सम्बन्धी कष्ट के बहाने माता से निरन्तर जिनेन्द्र भगवान् की सुन्दर पूजा कराई थी जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वह अपनी सम्यक्त्व की शुद्धि को ही प्रकट कर रहा हो ॥ १९ ॥ जिस प्रकार चन्द्रमा का उदय होने पर समुद्र की बेला और वसन्त ऋतु का सन्निधान प्राप्त होने पर आम्र वृक्ष की पुष्प रूप संपत्ति प्रति-दिन बढ़ने लगती है उसी प्रकार उस पुत्र के उत्पन्न होने पर माता-पिता की कुल-लक्ष्मी—वंश परम्परागत संपत्ति प्रति-दिन बढ़ने लगी ॥ २० ॥ सुन्दरता की मूर्तिस्वरूप उस पुत्र को स्वभाव से ही शुद्ध बुद्धि के द्वारा एक साथ अवगाहन को प्राप्त हुई, आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता और दण्ड नीति नामक चारों राजविद्याएँ तथा कीर्ति के द्वारा अवगाहन को प्राप्त हुई, पूर्व आदि चारों दिशाएँ शीघ्र ही सुशोभित होने लगीं। भावार्थ—उसकी बुद्धि इतनी निर्मल थी कि वह एक ही साथ चारों राजविद्याओं में निपुण हो गया तथा चारों दिशाओं में उसकी कीर्ति फैल गई ॥ २१ ॥ जो यौवन रूपी लक्ष्मी के रहने के लिये अद्वितीय कमल था, जो उत्कृष्ट धैर्य का धारक था, तथा जिसका प्रभाव अत्यन्त प्रसिद्ध था ऐसे उस कनकध्वज ने दूसरे के द्वारा असाध्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छह अन्तरङ्ग शत्रुओं के समूह को तथा अनेक विद्याओं के गण को अपने अधीन कर लिया था ॥२२॥ स्वेच्छा से जाते हुए उस पुत्र को देख कर नगरवासी लोग अत्यन्त निश्चल नेत्र होकर ऐसा विचार करने लगते थे कि क्या यह वही कामदेव है अथवा तीन लोक की सुन्दरता की चरम सीमा है ? ॥ २३ ॥ जिस प्रकार अत्यन्त दुर्बल गाय कीचड़ में मग्न हो अन्यत्र नहीं जाती है उसी प्रकार नगरनिवासी स्त्रियों की नील कमल की लक्ष्मी के समान सुन्दर तथा सतृष्ण—तृष्णा से सहित (गाय के पक्ष में प्यास से सहित) कटाक्ष संपत्ति उस कनकध्वज में निमग्न हो अन्यत्र नहीं जाती थी। भावार्थ—वह इतना सुन्दर था कि नगर की स्त्रियाँ उसे सतृष्ण नेत्रों से देखती ही

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
पितुर्निदेशात्सममप्रजाभ्यां स्फुरत्प्रभाभ्यां. सदृशत्वमीयतुः ।
रराज संतापहरः प्रजानां स विद्युता वा नवकाम्बिवाहः ॥२७
परस्परं तौ स्ववशं विकामं चक्रतुरौ निजयुक्तरागभावौ ।
प्रियेषु भर्त्रेश्वरतामुपेयं सम्भावनायां हि फलं प्रधानम् ॥२८
स्थातुं निमेषार्धमपि प्रतीतावन्योन्यमुच्चुम्ब्य न शेकतुस्तौ ।
अनूनलावण्य विशेषलक्ष्मीं वेलां समुद्राविव धारयन्तौ ॥२९
लतालये नन्दनकाननान्ते प्रवालशय्यामधिशय्य कान्ताम् ।
प्रसादयन्कोपविवर्तिताक्षीं रेमे सभावभ्रुकुटिप्रियोक्त्या ॥३०
जवानिलाकृष्टपयोधरेण गत्वा विमानेन सहा सहेतः ।
आनर्च मार्ल्यादिभिरर्हतस्ता विद्याधरन्यस्तवरस्रगुच्चैः ॥३१

रहती थी ॥ २४ ॥ जिस प्रकार चुम्बक लोहे को खींच लेता है उसी प्रकार अपने शरीर की विशेषता से सुशोभित रहने वाला वह प्रसिद्ध कनकध्वज उनमें आदरयुक्त न होने पर भी विद्याधर कन्याओं के मन को खींचने लगा था। भावार्थ—यद्यपि यह विद्याधर कन्याओं को नहीं चाहता था तो भी इसकी सुन्दरता के कारण उनका मन इसकी ओर आकृष्ट होता रहता था ॥ २५ ॥

जिस प्रकार सन्धि पाकर कोई अद्वितीय चोर अर्ध रात्रि के समय अच्छी तरह जागते हुए धनिक के पास डरता-डरता जाता है उसी प्रकार अपरिचित गाम्भीर्य गुण से युक्त उस कनकध्वज के समीप दूर से ही धनुष चढ़ाये हुए कामदेव डरता-डरता आया था। भावार्थ—वह इतना गम्भीर था कि उसे काम की बाधा सहसा प्रकट नहीं हुई थी ॥ २६ ॥ प्रजाओं के संताप को हरने वाला कनकध्वज, पिता की आज्ञा से देदीप्यमान प्रभा की धारक कनकप्रभा का योग पाकर बिजली से संयुक्त नूतन मेघ के समान सुशोभित होने लगा ॥ २७ ॥ उन वधू वरों ने अपनी कान्ति के द्वारा परस्पर एक दूसरे को अतिशय रूप से अपने वश किया था सो ठीक ही है क्योंकि प्रिय और प्रियाओं के बीच परस्पर प्रेम रस जो प्रवाहित होता है वही सुन्दरता का फल है ॥ २८ ॥ वेला को समुद्र के समान, अत्यधिक सौन्दर्य विशेष रूप लक्ष्मी को धारण करने वाले वे दोनों परस्पर इतने विश्वस्त थे कि एक दूसरे को छोड़ कर आधे निमेष तक भी रहने के लिये समर्थ नहीं थे ॥ २९ ॥ वह नन्दनवन के निकुञ्जों में प्रवाल निर्मित शय्या पर शयन कर, क्रोध से जिसने करवट बदल ली थी जिसका अधरोष्ठ कुछ-कुछ काँप रहा था ऐसी रूपी प्रिया को प्रसन्न करता हुआ रमण करता था ॥ ३० ॥ कभी वह उसके साथ गमन सम्बन्धी वेग से मेघों को खींचने वाले विमान से जाकर मेरु पर्वत को शिखर पर स्थित जिन-मन्दिरों की आदरपूर्वक माला आदि से पूजा करता था ॥ ३१ ॥

---

१. [illegible] ब० ।

अथैकदा संसृतिवासभीतस्तस्मै स राज्यं कनकध्वजाय ।
प्रदाय राजा सुमतेः समीपे जग्राह दीक्षां जितसप्तवृत्तिः ॥३२
अनन्यलभ्यामपि राज्यलक्ष्मीमवाप्य नोद्धृतमभवाय वीरः ।
तथाहि लोके महतां विभूतिर्महोदयेऽपि विकारहेतुः ॥३३
चन्द्रांशुशुभ्रैरपि स प्रजासु तदानुरागं स्वगुणैरचकार ।
निरत्ययं प्रत्यहवर्धितश्रीरचिन्त्यकल्पा महतां हि वृत्तिः ॥३४
स चन्दनस्थासकवत्सुखाय प्रीत्योन्मुखानामभवन्निकामम् ।
दूरस्थितोऽपि प्रबभाह शत्रून् तपे विवस्वानिव सप्रतापः ॥३५
प्रजानुरागं विमलेव कीर्तिः सुयोजिता नीतिरिवेप्सितार्थम् ।
तस्यार्थबोधं विदधेव सूनुमजीजनद्वेमरथं प्रियासौ ॥३६
इत्थं स सांसारिकसौख्यसारं पञ्चेन्द्रियेष्टं भुवि निर्विवेश ।
प्रियाङ्गनोत्तुङ्गपयोधराग्र प्रमृष्टवक्षः स्थलचन्दनश्रीः ॥३७
अथान्यदा मत्तचकोरनेत्रां कान्तां स्वहस्तार्पितचारुभूषाम् ।
आदाय विद्याधरराजसिंहः सुदर्शनोद्यानमियाय रन्तुम् ॥३८
तस्यैकदेशस्थितबाल पिण्डीद्रुमस्य मूले विपुलाश्मपट्टे ।
बालातपश्रीमुषि रागमल्लं निपात्य तस्योपरि वा निषण्णम् ॥३९

अथानन्तर एक समय संसार निवास से भयभीत, जितेन्द्रिय राजा कनकाभ ने कनकध्वज के लिये राज्य देकर सुमति मुनिराज के समीप दीक्षा ग्रहण कर ली ॥ ३२ ॥ धीर-वीर कनकध्वज अन्यजन दुर्लभ लक्ष्मी को पाकर भी गर्व को प्राप्त नहीं हुआ सो ठीक ही है क्योंकि लोक में बड़ी से बड़ी विभूति भी महापुरुषों के विकार का कारण नहीं होती ॥ ३३ ॥ अत्यधिक लक्ष्मी को धारण करने वाले उस कनकध्वज ने चन्द्रमा की किरणों के समान शुक्ल होने पर भी अपने गुणों से प्रजा में सदा स्थायी अनुराग—लालरङ्ग (पक्ष में प्रीति) उत्पन्न किया था सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषों की वृत्ति अचिन्त्य रूप होती है ॥ ३४ ॥ वह प्रीति से सन्मुख मनुष्यों के लिये चन्दन के तिलक के समान अतिशय सुख का कारण हुआ था तथा ग्रीष्म ऋतु के प्रतापी सूर्य के समान दूरवर्ती रह कर भी शत्रुओं को संतप्त करता था ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार निर्मल कीर्ति प्रजा के अनुराग को, अच्छी तरह प्रयोग में लाई हुई नीति अभिलषित अर्थ को और बुद्धि अर्थज्ञान को उत्पन्न करती है उसी प्रकार राजा कनकध्वज की प्रिया ने हेमरथ नामक पुत्र को उत्पन्न किया । ३६ ॥ इस प्रकार प्रिय स्त्रियों के उन्नत स्तनों के अग्रभाग से जिसके वक्षःस्थल पर लगे हुए चन्दन की शोभा पुछ गई थी ऐसा कनकध्वज पृथिवी पर पञ्चेन्द्रियों के लिये इष्ट सांसारिक श्रेष्ठ सुख का उपभोग करता था ॥ ३७ ॥

तदनन्तर किसी समय विद्याधरों का श्रेष्ठ राजा कनकध्वज, मत्तचकोर के समान नेत्रों वाली तथा अपने हाथ से पहिनाये हुए सुन्दर आभूषणों से युक्त कान्ता को लेकर रमण करने के लिये सुदर्शन मेरु के उद्यान में गया ॥ ३८ ॥ वहाँ उसने उद्यान के एक देश में स्थित छोटे से अशोक वृक्ष के नीचे बालातप की शोभा का अपहरण करने वाले विशाल शिला-पट्ट पर विराज-

कृशं निजाङ्गैरकृशं तपोभिः स्थानं शमस्यैकमनीहमानः ।
परीषहाणामजयं जयार्थं यामास्थितं मुक्तिवधूसखायम् ॥४०

मुनेस्य सारार्थविचारसत्यं वचो वचस्यं कृत कायुवाच् ।
पूरावपद्मन्मुनिमाहतात्मा स सूनृतं सूनृतनामधेयम् ॥४१ [युग्मकम्]

निधानलाभाद्यदवा दरिद्रो जात्यन्धचक्षुर्मिथुनस्य लाभात् ।
यतीत तस्मात्क्षणमेव सद्यो निर्वेद्यमानस्तमसिद्धिमाप ॥४२

उपेत्य हृष्टात्मभिः सम्भ्रमात्त पुलिन्दरेखाकरकम्पुरागः ।
पर्यस्त चूडामणिना नमस्ते मूर्ध्ना मुनौ मुक्तिसमुत्सुकः ॥४३

अवञ्चिका शान्तविलोकितेन कर्मक्षयाशीर्वचसा च काचम् ।
अनुग्रहं तस्य चकार साधुर्नमस्ये मुमुक्षोर्हि निःस्पृहा धीः ॥४४

स्थितवानथ तत्तस्य मुनेरदूरे विद्याधरेन्द्रो निरवद्यभावः ।
सप्रश्रयं प्राञ्जलिरादरेण पप्रच्छ धर्मं तनुवाङ्मनस्कम् ॥४५

पृष्टो मुनिस्तेन स इत्युवाच श्रेयो वचो व्यक्तविकारवर्णम् ।
मिथ्यावृशां चित्तमपि प्रसत्तु प्रह्लादयन्दोषमोहनाशम् ॥४६

मान सुव्रत नाम के मुनिराज को बड़े आदर के साथ देखा। लाल वर्ण के शिला-पट्ट पर विराजमान वे मुनिराज ऐसे जान पड़ते थे मानो राग रूपी मल्ल को पछाड़ कर उसी के ऊपर बैठे हों। वे अपने शरीर से कृश थे, तप से अकृश थे, शान्ति के स्थान थे, क्षमा के अद्वितीय पति थे, परीषहों के विजेता थे, इन्द्रियों को वश करने वाले थे, सुन्दर चारित्र रूपी लक्ष्मी के निवास कमल थे, शास्त्र के मानो मूर्तिधारी श्रेष्ठ अर्थ थे, दया के मानो साधुवाद थे तथा उत्तम व्रतों से सहित थे ॥ ३९-४१ । वह उस समय मुनिराज को देख कर, खजाना प्राप्त कर दरिद्र के समान अथवा नेत्र युगल के लाभ से जन्मान्ध मनुष्य की तरह अपने शरीर में भी न समा सकने वाले हर्ष से विवश हो गया ॥ ४२ ॥ सब ओर से प्रकट हुए रोमाञ्चों के द्वारा जिसका हार्दिक अनुराग सूचित हो रहा था तथा जिसके दोनों हाथ कुंडल के आकार थे—जिसने हाथ जोड़ रक्खे थे ऐसे उस राजा ने पास में जाकर लटकते हुए चूडामणि से युक्त मस्तक से उन मुनिराज को नमस्कार किया ॥ ४३ ॥ उन मुनिराज ने पाप को नष्ट करने वाले शान्त अवलोकन तथा 'कर्मों का क्षय हो' इस प्रकार के आशीर्वादात्मक वचन से उस पर बहुत भारी अनुग्रह किया सो ठीक ही है क्योंकि मुमुक्षु मनुष्यों की बुद्धि भव्य के विषय में निःस्पृह नहीं होती है अर्थात् मुमुक्षु मुनि भी भव्य जीव का हित चाहते हैं ॥ ४४ ॥ निर्मल अभिप्राय को धारण करने वाला विद्याधरों का राजा समीप ही उन मुनिराज के आगे खड़ा हो गया और विनय सहित हाथ जोड़ आदरपूर्वक सत्पुरुष धर्म के धारक उन मुनि से धर्म का स्वरूप पूछने लगा ॥ ४५ ॥

उसके द्वारा पूछे गये मुनिराज, दर्शन मोह से युक्त मिथ्या दृष्टि जीवों को भी चित्त को बलपूर्वक हर्षित करते हुए विकारों से रहित को प्रकट करने वाले कल्याणकारी वचन इस प्रकार

धर्मो जिनेन्द्रैः सकलावबोधैरुक्तः परो जीवदयैकमूलः ।
स्वर्गापवर्गौघसुखस्य हेतुः स द्विप्रकारो भवति प्रतीतः ॥४७

सागारिकोऽनुव्रतभेदभिन्नोऽनागारिकः सर्वतपोमहाव्रतश्च ।
आद्यो गृहस्थैः परिपालनीयः परं परः संयमिभिर्विविक्तैः ॥४८

भद्रानयोर्मूलमुदाहरन्ति सद्दर्शनं सर्वविदो जिनेन्द्राः ।
तत्त्वेषु सप्तस्वपि निश्चयेन श्रद्धानमेकं तदिति प्रतीहि ॥४९

हिंसानृतस्तेय वधू व्यवायपरिग्रहेभ्यो विरतिर्यतीनाम् ।
सर्वात्मना तद्व्रतमिष्टमुक्तं स्थूलास्तु निवृत्तिरमूहिनाञ्च ॥५०

अनादिसांसारिक वित्र दुःखप्रवेकदावानलसंक्षयाय ।
नान्योऽस्त्युपायो भितरामनुष्यादलोऽत्र यत्नः पुरुषेण कार्यः ॥५१

मिथ्यात्वयोगाविरतिप्रमादैः कषायवर्गैश्च बहुप्रकारैः ।
बध्नाति कर्माष्टविधं सदात्मा संसार वासस्य हि कर्म हेतुः ॥५२

सद्दृष्टिसज्ज्ञानतपश्चरित्रैरुन्मूल्यते कर्मवनं समूलान् ।
तेषु स्थितं मुक्तिवधूः पुमांसं समुत्सुकेव स्वयमभ्युपैति ॥५३

अज्ञानमूढः स्वपरोपतापापनीन्द्रियार्थान् सुखमित्युपास्ते ।
सुदुःखदुष्टान्स्वात्मविदभ्युपेतुं बिभेति तान्दृष्टिविषानिवाहीन् ॥५४

कहने लगे ॥ ४६ ॥ सर्वज्ञ जिनेन्द्र ने जीव दयामूलक, तथा स्वर्ग और मोक्ष सम्बन्धी विपुल सुख के कारण भूत जिस उत्कृष्ट धर्म का कथन किया है वह दो प्रकार का प्रसिद्ध है ॥ ४७ ॥ अणुव्रतों के भेद से युक्त पहला सागारिक धर्म है जो कि गृहस्थों के द्वारा पालन करने योग्य है और दूसरा प्रसिद्ध महाव्रतों से युक्त अत्यन्त उत्कृष्ट अनागारिक धर्म है जो कि पवित्र मुनियों के द्वारा धारण करने योग्य है ॥ ४८ ॥ हे भद्र ! इन दोनों धर्मों का मूल कारण सम्यग्दर्शन है ऐसा सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं । तथा सातों तत्त्वों का निश्चय से अद्वितीय श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ऐसी प्रतीति करो ॥ ४९ ॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों से मुनियों की जो सर्वथा निवृत्ति है वह व्रत कहा गया है । गृहस्थों की इन पापों से स्थूल निवृत्ति होती है ॥ ५० ॥ अनादि संसार सम्बन्धी नाना दुःखसमूहरूपी दावानल का अच्छी तरह क्षय करने के लिये इस धर्म से बढ़कर दूसरा उपाय नहीं है इसलिये पुरुष को इसमें यत्न करना चाहिये ॥ ५१ ॥ यह जीव सदा मिथ्यात्व, योग, अविरति, प्रमाद और बहुत प्रकार के कषाय सम्बन्धी दोषों से आठ प्रकार का कर्म बाँधता रहता है सो ठीक ही है क्योंकि कर्म ही संसार वास का कारण है ॥ ५२ ॥ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र के द्वारा कर्म रूपी वन जड़ सहित उखाड़ दिया जाता है । उन सम्यग्दर्शनादि में स्थित रहने वाले पुरुष को मुक्ति रूपी स्त्री उत्कण्ठित की तरह स्वयं ही प्राप्त हो जाती है ॥ ५३ ॥ इन्द्रियों के विषय यद्यपि निज और पर को संताप देने वाले हैं तथा अत्यधिक पाप के कारण हैं तो भी अज्ञान से मोह को प्राप्त हुआ पुरुष 'ये सुख है' ऐसा मान कर उनकी उपासना करता है परन्तु स्वात्मज्ञानी जीव उन्हें दृष्टिविष साँप जैसा मान कर

[illegible]

उनके पास जाने में भयभीत होता है ॥ ५४ ॥ जीवों को जन्म से बढ़कर दूसरा दुःख नहीं है, मृत्यु के समान भय नहीं है और वृद्धावस्था के अनुरूप अधिक कष्ट नहीं है ऐसा जान कर सत्पुरुष आत्महित में यत्न करते हैं ॥ ५५ ॥ यह जीव अनादि काल से संसार रूपी सागर में भ्रमण करता हुआ जो कर्म और कर्म को ग्रहण कर रहा है इसलिये निश्चय से सभी जीव और पुद्गल इसके प्रिय और अप्रियपन को प्राप्त हो चुके हैं ॥ ५६ ॥ समस्त तीनों लोकों में वह स्थान नहीं है जहाँ यह जीव अनेक बार न मरा हो न उत्पन्न हुआ हो। इस जीव ने अनेक बार समस्त भावों और समस्त कर्म स्थितियों का भी चिरकाल तक अनुभव किया है ऐसा जानता हुआ ज्ञानी जीव सर्व प्रकार के परिग्रह में राग नहीं करता है किन्तु उसका त्यागी होता हुआ तप से कर्मों को समूल उखाड़ कर सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ५७–५८ ॥ प्रशस्त वचन बोलने वाले मुनि, उसके हित के लिये इस प्रकार के वचन कह कर चुप हो रहे और राजा कनकध्वज ने उन वचनों को 'तथास्तु' कह कर स्वीकृत किया सो ठीक ही है क्योंकि भव्य प्राणी मुमुक्षुजनों के वचनों की श्रद्धा करता ही है ॥ ५९ ॥ इस प्रकार संसार की वृत्ति को दुःख रूप जान कर तथा विषयों की अभिलाषा से चित्त को निवृत्त कर उसने विधिपूर्वक तप करने की इच्छा की सो ठीक ही है क्योंकि मनुष्य के आत्म ज्ञान का फल यही है ॥ ६० ॥ अनुचर के सेवन से जिसका उत्तरीय वस्त्र गीला हो गया था ऐसी स्त्री को राज्य लक्ष्मी के साथ छोड़ कर वह उन्हीं मुनिराज के समीप शीघ्र ही उपोषण हो गया—मुनि दीक्षा लेकर तप करने लगा सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषों के हितकार्य में विलम्ब नहीं होता है ॥ ६१ ॥ वह आलस्य को दूर छोड़ कर समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक क्रियाओं के करने में प्रवृत्त हुआ तथा गुरु की आज्ञा

ग्रीष्मे महोष्णातुलतीव्रतप्ते भूभृद्वृहत्स्थाग्निमुखे खरांशोः ।
शमातपत्रेण निवारितोष्णः सदाभ्युपैतुत्प्रतिमाभियोगः ॥६३
दूरम्भसोद्गारिभिरम्बुवाहैर्धाराभिरापिहितः स्थगिताष्टदिक्कैः ।
विद्युद्दृशा प्रावृषि वीक्ष्यमाणो वनावनैरास्त स वृक्षमूले ॥६४
प्रालेयपातक्षतपद्मखण्डे माघे मासो बहिरेकपार्श्वम् ।
आयामिनीरप्यनयन्निशा बलेन धीरो धृतिकम्बलस्य ॥६५
महोपवासादिविधानशोभात्यकुर्वतस्तस्य यथोक्तमार्गम् ।
यदौ तनुत्वं तनुरेव बाह्यं न धैर्यसौदार्यसमन्वितस्य ॥६६
समुद्धरिष्यामि कथं निमग्नमात्मानमस्मात्कुवनाङ्गनान्तात् ।
संचिन्तयन्नित्यनमत्प्रमादं च जुष्टयोगैः स वशीकृताक्षः ॥६७
व्यपेतशङ्को सुचिरस्तकाङ्क्षो दूरीकृतात्मा विचिकित्सया च ।
सम्यक्त्वशुद्धिं निरवद्यभावः स भावयामास यथोक्तमार्गे ॥६८
ज्ञानं च तस्य क्रियया निकामं यथोक्तया प्रत्यहमाद्रियेत्मा ।
चारित्रमप्यात्मबलानुरूपं द्विषट्प्रकारं च तपोऽन्वतिष्ठत् ॥६९

प्राप्त कर सदा साधु के समस्त उत्तर गुणों की उपासना करने लगा ॥ ६२ ॥ जिसमें तीव्र गर्मी से समस्त प्राणी आकुल रहते हैं ऐसी ग्रीष्म ऋतु में वह पर्वत की शिखर पर सूर्य के सन्मुख प्रशम-भाव रूपी छत्र के द्वारा उष्णता का निवारण करता हुआ प्रतिमा नामक विशाल योग लेकर सदा स्थित रहता था ॥ ६३ ॥ वज्र को उगलने वाले, भयंकर गर्जना से सहित तथा धाराओं के निपात से आठों दिशाओं को आच्छादित करने वाले मेघ बिजली रूपी दृष्टि के द्वारा जिसे देखा करते थे ऐसा वह तपस्वी वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे बैठा करता था ॥ ६४ ॥ वह धीर वीर, धैर्य रूपी कम्बल के बल से हिमपात के कारण जब कमलों का समूह नष्ट हो जाता है ऐसे माघ के महीने में बाहर एक करवट से सोता हुआ बड़ी-बड़ी रात्रियों को व्यतीत करता था ॥ ६५ ॥ नाना प्रकार के समस्त बड़े-बड़े उपवासों को विधिपूर्वक करने वाले उन महत्त्वशाली मुनि का शरीर ही अत्यन्त कृशता को प्राप्त हुआ था धैर्य नहीं ॥ ६६ ॥ प्रीतिपूर्वक धारण किये हुए प्रतिमादि योगों के द्वारा जिनने अपनी इन्द्रियों को वश कर लिया था ऐसे वे मुनि डूबे हुए अपने आपको मैं इस संसार रूप कीचड़ से किस प्रकार निकलूँगा ऐसा विचार करते हुए प्रमाद को प्राप्त नहीं होते थे ॥ ६७ ॥ जिनकी शङ्का नष्ट हो गई थी, आकाङ्क्षा अस्त हो गई थी, विचिकित्सा-ग्लानि से जिनकी आत्मा दूर रहती थी तथा जो यथोक्त मार्ग में निर्दोष भाव रखते थे ऐसे वे मुनि सदा सम्यक्त्व शुद्धि की भावना रखते थे। भावार्थ—निःशङ्कित, निःकाङ्क्षित, निर्विचिकित्सित और अमूढदृष्टि अङ्ग को धारण करते हुए वे सदा इस बात का ध्यान रखते थे कि हमारा सम्यग्दर्शन शुद्ध रहे—उसमें शङ्का, काङ्क्षा आदि दोष न लगें ॥ ६८ ॥ वे प्रतिदिन आदरपूर्वक ज्ञानानुरूप शास्त्रोक्त क्रिया के द्वारा ज्ञान की अच्छी तरह आराधना करते थे, चारित्र का भी पालन करते थे, और अपने बल के अनुरूप बारह प्रकार का तप करते थे ॥ ६९ ॥

---

१. निपातेःस्थगिताष्टदिक्कः म० । २. आवासिनी ब० । ३. दुष्टयोगैः ब० । ४. मार्गे ब० ।

वसन्ततिलकम्

इत्थं चिरं विधुरवर्जितचित्तवृत्त्या धृत्वा चिरं श्रमणतां विधिजीवितान्ते ।
सल्लेखनां विधिवदेत्य मृतोऽथ भूत्वा कापिष्ठनाम्नि स बुधे बुबुधे विमाने ॥७०

मन्दाक्रान्ता

देवानन्दं निजतनुरुचां संपदा साधु सन्वन्
देवानन्दं दधदनुपमं नाम चान्वर्थमित्थम् ।
चक्रे रागं नयनसुभगस्तत्र दिव्याङ्गनानां
चक्रेऽरागं जिनमपि हृदि द्वादशाब्धिप्रमायुः ॥७१

इत्यसगकृते वर्द्धमानचरिते कनकध्वजकापिष्ठगमनो नाम
द्वादशः सर्गः ।

त्रयोदशः सर्गः

स्वागता

श्रीमतामथ सतामधिवासो भारतेऽत्र विततोऽस्ति अनन्तः ।
नाकलोक इव मानवपुण्यैर्गां गतः स्वयमवन्त्यभिधानः ॥१
यत्र सारहिता न धरित्री पाकशान्तिरहितं न च सस्यम् ।
पाकसम्पदपि नास्ति पुलाका सर्वकालरमणीयविशेषात् ॥२

इस प्रकार पापरहित मनोवृत्ति से चिरकाल तक मुनियों का भार धारण कर—मुनिव्रत का पालन कर वे अपनी आयु के अन्त में विधिपूर्वक सल्लेखना को प्राप्त हुए और मर कर कापिष्ठ स्वर्ग के शुभ विमान में विभूति से सुशोभित होने लगे ॥ ७० ॥ इस प्रकार अपने शरीर की कान्ति रूपी संपदा के द्वारा जो देवों के आनन्द को अच्छी तरह विस्तृत कर रहा था, जो 'देवानंद' इस सार्थक नाम को धारण करता था, तथा बारह सागर प्रमाण जिसकी आयु थी ऐसा वह नयन सुभग—नेत्रों को प्रिय लगने वाला देव, वहाँ देवाङ्गनाओं के हृदय में राग उत्पन्न करता था और अपने हृदय में वीतराग जिनेन्द्र को धारण करता था ॥ ७१ ॥

इस प्रकार असगकविकृत वर्द्धमानचरित में कनकध्वज के कापिष्ठ स्वर्ग में
जाने का वर्णन करने वाला बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

तेरहवाँ सर्गः

अथानन्तर इस भरत क्षेत्र में प्रशस्त श्रीमानों का निवासस्थल एक अवन्ती नाम का बहुत बड़ा देश है जो ऐसा जान पड़ता है मानो मनुष्यों के पुण्य से पृथिवी पर आया हुआ स्वर्ग ही हो ॥ १ ॥ जिस देश में ऐसी पृथिवी नहीं थी जो सार रहित हो, ऐसा धान्य नहीं था जो

भूरिसारधनधान्यविहीनो नास्ति कश्चिदपि यत्र मनुष्यः ।
द्रव्यमप्यनुपभुक्तमुपेत्य स्वेच्छया प्रमदिभिर्न निकामम् ॥३
वाक्तयाऽपि रहितस्त्र न पुरन्ध्रिप्रार्थतापि सुभगत्वविहीना ।
यत्र नास्ति सुभगत्वमशीलं शीलमप्यविदितं न धरित्र्याम् ॥४
निर्जला न सरिदस्ति जलं च स्वादुहीनमहिमं न च यत्र ।
पक्षितोयमुदितैः पथिकानामस्तुतं न खलु सज्जन सद्भिः ॥५
पुष्पकान्तिरहितोऽस्ति न वृक्षः पुष्पमप्यनुपलक्षितसौरभहीनम् ।
यत्र सौरभमपि भ्रमरालीरक्षमं वशयितुं न नितान्तम् ॥६
अस्ति तत्र सकलोज्ज्वलवर्णा श्रीर्युवतिरिवोज्जयिनीति ।
विश्रुता भुवि पुरी निजकान्त्या निर्जिताम्बुपुरविभ्रमसंपत् ॥७
या सुधाधवलितैर्वरसौधैराश्रितोज्ज्वलविभूषणरामैः ।
भाति मेघपदवी शरदभ्रैः शारदैरिव [1]चिता सतडित्कैः ॥८
हेमशालखचितामलरत्नज्योतिषामिव [2]जितः पटलेन ।
यत्र च प्रविरलातपलक्ष्मीर्लक्ष्यते ध्वजपटैः स्थगितोऽर्कः ॥९

पाक की कान्ति से रहित हो और ऐसी पाक सम्पत्ति भी नहीं थी जो तुच्छ हो क्योंकि ये सभी वस्तुएँ सदा अत्यन्त सुन्दर रहती थीं ॥ २ ॥ जहाँ ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं था जो बहुत भारी श्रेष्ठ धन-धान्य से रहित हो तथा ऐसा द्रव्य भी नहीं था जो प्रेमी-जनों के द्वारा इच्छानुसार प्राप्त कर अच्छी तरह भोगा न जाता हो ॥ ३ ॥ जहाँ ऐसी स्त्री नहीं थी जो सुन्दरता से रहित हो, ऐसी सुन्दरता भी नहीं थी जो सौभाग्य से रहित हो, ऐसा सौभाग्य भी नहीं था जो शील से रहित हो और ऐसा शील भी नहीं था जो पृथिवी पर प्रसिद्ध न हो ॥ ४ ॥ जहाँ ऐसी नदी नहीं थी जो जल रहित हो, और ऐसा जल भी नहीं था जो स्वाद रहित महिमा वाला हो तथा जल पीकर प्रसन्न हुए पथिकों के समूह जिसकी प्रशंसा न करते हों ॥ ५ ॥ जहाँ ऐसा वृक्ष नहीं था जो फूलों की कान्ति से रहित हो, ऐसा फूल नहीं था जो अनुपम सुगन्ध से रहित हो, और ऐसी सुगन्ध भी नहीं थी जो भ्रमरावली को अत्यधिक वश करने में समर्थ न हो ॥ ६ ॥

उस अवन्ती देश में उज्जयिनी नाम की नगरी थी। वह नगरी समस्त उज्ज्वल वर्णों से सहित थी, ऐसी जान पड़ती थी मानो शरीरधारिणी लक्ष्मी ही हो, पृथिवी में प्रसिद्ध थी तथा अपनी कान्ति से अन्य नगरों की शोभारूप सम्पत्ति को जीतने वाली थी ॥ ७ ॥ चूना से सफेद तथा भीतर स्थित उज्ज्वल आभूषणों वाली स्त्रियों से युक्त उत्कृष्ट भवनों से जो ऐसी सुशोभित होती है जैसी बिजली से सहित शरद ऋतु के सफेद मेघों से व्याप्त मेघसरणि (आकाश) सुशोभित होती है ॥ ८ ॥ जहाँ ध्वजाओं के वस्त्रों से आच्छादित सूर्य ऐसा जान पड़ता है मानो सुवर्णमय प्राकार में संलग्न निर्मल मणियों की किरणों के समूह ने उसे जीत लिया हो और इसीलिए

---

१. चिताश्च तडित्कैः (?) म० । २. चितः म० ।

अल्पतोऽपि मुहुरक्षकरक्षैर्नीयमानि पुरतः प्रणयात्तम् ।
यत्र च प्रियतमो विहितागः स्वप्रसक्तसुरभेरलकस्य बलद्भिः ॥१०
सम्पदं धनपतेरदतां[1] हेलयापि धनिनो भुवि लक्षयन् ।
अर्थिभिः स्वयमुपेत्य समन्तात्पृह्यमाणगुणरत्नसमूहैः ॥११
बालचन्दनलतेव भुजङ्गैर्वेष्टितापि नितरां रमणीया ।
या सदा विबुधवृन्दसमेता राजते सुरपुरीव पुरन्ध्रीः ॥१२
वज्रभूषितकरो भुवि राजा वज्रहेतिरिव यः पुरमिद्धम् ।
वज्रसारतनुरभ्यवसत्तां वज्रसेन इति विश्रुतनामा ॥१३
वसति श्रियमुदीक्ष्य निवण्णामानने च सततं श्रुतदेवीम् ।
यस्य कुन्दविशदा कुपितेव दिग्गता न निरवर्तत कीर्तिः ॥१४
दूरतो विनमिताखिलशत्रुं स्वप्रतापविसरं विनिनिन्द ।
यः कदाचिदपि युद्धमपश्यन्युद्धदोहदवशीकृतचेताः ॥१५

उसकी आतप (घाम) की शोभा अत्यन्त विरल हो गई हो ॥ ९ ॥ जहाँ अपराध करने वाला प्रियपति और श्वास की सुगन्ध के वश हुआ भौंरा हाथ के अग्रभाग से बार-बार ताडित होने पर भी स्त्रियों के आगे से दूर नहीं हटता है ॥ १० ॥ जिस नगरी में पृथिवी पर धनिक लोग, याचकों के द्वारा स्वयं आकर चारों ओर से ग्रहण किये जाने वाले रत्नों के समूह से कुबेर की दान रहित सम्पदा को लज्जित करते रहते हैं। भावार्थ—वहाँ के धनिकों की सम्पदाएँ याचकों को बिना माँगे प्राप्त हो जाती हैं जब कि कुबेर को सम्पदा माँगने पर भी प्राप्त नहीं होती इसलिए याचकों के द्वारा स्वयं ग्रहण किये जाने वाले रत्नों के द्वारा वहाँ के धनिक लोग मानो कुबेर की सम्पत्ति को लज्जित ही करते रहते हैं ॥ ११ ॥ जिस प्रकार चन्दन की छोटी लता भुजङ्गों—सर्पों से वेष्टित होने पर भी अधिक रमणीय होती है उसी प्रकार वह नगरी भी भुजङ्गों—कामी-जनों से वेष्टित होने पर भी अधिक रमणीय थी। नगरों की लक्ष्मी स्वरूप जो उज्जयिनी विबुध वृन्द समेता—विद्वानों के समूह से (पक्ष में देवों के समूह से) सहित होने के कारण स्वर्गपुरी के समान सदा सुशोभित होती है ॥ १२ ॥

जिसका हाथ वज्र—हीरा से भूषित था, जो पृथिवी पर वज्रहेति—वज्रायुध—इन्द्र के समान था, जिसका शरीर वज्र के समान सुदृढ़ था तथा 'वज्रसेन' इस प्रकार जिसका नाम प्रसिद्ध था ऐसा राजा उस देदीप्यमान नगरी में निवास करता था ॥ १३ ॥ वक्षःस्थल पर निरन्तर बैठी हुई लक्ष्मी और मुख में सदा विद्यमान रहने वाली सरस्वती को देखकर जिसकी कुन्द के समान उज्ज्वल कीर्ति कुपित होकर ही मानो दिशाओं में चली गई थी और ऐसी चली गई थी कि आज तक लौटकर नहीं आई ॥ १४ ॥ जिसका चित्त युद्ध की अभिलाषा के वशीभूत था पर जिसे कभी भी युद्ध देखने का अवसर नहीं मिला, ऐसा वह राजा दूर से ही समस्त शत्रुओं को नम्रीभूत करने वाले अपने प्रताप के समूह की निन्दा करता रहता था। भावार्थ—उसके प्रताप के कारण शत्रु

---

१. अपगतं दानं यस्यास्तां दानरहितामिति यावत् ।

तस्य निर्मलकरस्य सुशीला नाम नाम महिषी कमनीया ।
भूपतेरभवदव्यतिरिक्ता कौमुदीव कुमुदाकरबन्धोः ॥१६
तौ विदेशतुरनन्यसमानौ दम्पती भुवि परस्परलाभ्यं ।
सर्वलोकनयनोत्सवहेतू कान्तियौवनगुणाविव मूर्तौ ॥१७
स्वर्गसौख्यमनुभूय स देवः श्रीमतोरथ तयोस्तनयोऽभूत् ।
अन्यथा भुवि सतां हरिषेणो धीरधीरधिपतिः सुमनोज्ञः ॥१८
यं कलाधरमिवाभिनवोत्थं संस्पृशन्नरपतिः सह देव्या ।
वीक्ष्य सम्मदनिधाय निकामं प्रीतये भुवि न कस्य सुपुत्रः ॥१९
लोकजीवनकरस्थितियुक्तं भूरिसारगुणवारिधिमेकम् ।
यं समीयुरवनीश्वरविद्याः सिन्धवः स्वयमनिन्दितसत्त्वम् ॥२०

दूर से ही वशीभूत हो जाते थे इसलिये युद्ध की इच्छा रखने पर भी उसे युद्ध का अवसर नहीं मिलता था ॥ १५ ॥

जिस प्रकार निर्मल कर—उज्ज्वल किरणों वाले कुमुदाकरबन्धु-चन्द्रमा की चांदनी होती है तथा वह उससे अपृथक् रहती है उसी प्रकार निर्मलकर-निर्दोष हाथ अथवा निर्दोष टेक्स से युक्त उस राजा वज्रसेन के स्पष्ट ही सुशीला नाम की सुन्दर रानी थी ॥ १६ ॥ जो किसी अन्य के समान नहीं थे तथा समस्त मनुष्यों के नेत्रों के हर्ष के कारण थे ऐसे वे दोनों दम्पती परस्पर एक दूसरे को प्राप्त कर इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो मूर्तिधारी कान्ति और यौवन नामक गुण ही हों ॥ १७ ॥

अथानन्तर राजा कनकध्वज का जीव 'देवानन्द' नामको धारण करने वाला वह देव, स्वर्ग सुख का उपभोग कर उन दोनों दम्पतियों के पृथिवी पर हरिषेण नाम से प्रसिद्ध, सज्जनों का शिरोमणि, गम्भीर बुद्धि वाला अत्यन्त सुन्दर पुत्र हुआ ॥ १८ ॥ नूतन उदित चन्द्रमा के समान जिस पुत्र को देखकर तथा रानी के साथ जिसका स्पर्श करता हुआ राजा, अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि पृथिवी पर सुपुत्र किसको प्रीति के लिये नहीं होता है ? अर्थात् सभी को प्रीति के लिये होता है ॥ १९ ॥ जो लोक जीवन को करने वाली स्थिति से युक्त था, जो बहुत भारी श्रेष्ठ गुणों का अद्वितीय सागर था, तथा प्रशंसनीय सत्त्व-पराक्रम से सहित था ऐसे उस पुत्र को राजविद्या रूपी नदियाँ स्वयं ही प्राप्त हुई थीं। भावार्थ—वह पुत्र समुद्र के समान था क्योंकि जिस प्रकार समुद्र लोगों के जीवन की रक्षा करने वाली मर्यादा से सहित होता है उसी प्रकार वह पुत्र भी लोगों के जीवन की रक्षा करने वाली मान-मर्यादाओं से सहित था, जिस प्रकार समुद्र वारि-जल को धारण करता है उसी प्रकार वह पुत्र भी बहुत भारी गुण रूपी जल को धारण करता था, जिस प्रकार समुद्र एक—अद्वितीय होता है उसी प्रकार वह पुत्र भी एक अद्वितीय अथवा मुख्य था और जिस प्रकार समुद्र अनिन्दितसत्त्व—उत्तम जन्तुओं से सहित होता है उसी प्रकार वह पुत्र भी अनिन्दित सत्त्व-प्रशंसनीय पराक्रम से सहित था इस प्रकार समुद्र की उपमा धारण करने वाले उस पुत्र के समीप राजविद्या रूपी नदियाँ स्वयं ही आ पहुँची थीं ॥ २० ॥

एकदाथ सपुत्रो नृपिवज्रसेनश्रुतोक्तधर्मेण निशम्य ।
भूपतिः श्रुतसमोनिधिनाम्नो निःस्पृहः समभवद्विषयेषु ॥२१
तं नियुज्य धरणीतलभारे पुत्रमम्बुकणिकाकुलनेत्रम् ।
संयतोऽजनि नृपः स तदन्ते संसृतेर्भुवि बिभेति हि भव्यः ॥२२
पूर्वजन्मनि स भावितसम्यग्दर्शनेन विमलीकृतचित्तः ।
श्रावकव्रतमशेषमुवाह श्रीमतामविनयो हि सुदूरः ॥२३
स्पृश्यते स दुरितेन न राज्ये संस्थितोऽपि खलु पापनिमित्ते ।
[1]सङ्गवर्जितशुचिप्रकृतित्वात्पङ्कजन्तरसि पङ्कलवेन ॥२४
शासतोऽपि चतुरम्बुधिवेलामेखलां वसुमतीं मतिरस्य ।
चित्रमेतदनुवासरमासीन्निःस्पृहेति विषयेऽपि समस्ते ॥२५
बिभ्रतापि नवयौवनलक्ष्मीं शान्तता न खलु तेन निरासे ।
स प्रशाम्यति न किं तरुणोऽपि श्रेयसे जगति यस्य हि बुद्धिः ॥२६
मन्त्रिभिः परिवृतः स तु योगस्थानविद्भिरपि नाभवदुग्रः ।
चन्दनः किमु जहाति हिमत्वं सर्पवक्त्रविषवह्नियुतोऽपि ॥२७

तदनन्तर एक समय पुत्र सहित राजा वज्रसेन ने श्रुतसागर नामक मुनिराज से एकचित्त हो कर धर्म का व्याख्यान सुना जिसने वह विषयों में उदासीन हो गया ॥ २१ ॥ जिसके नेत्र अश्रु-कणों से व्याप्त थे ऐसे पुत्र हरिषेण को पृथिवीतल का भार धारण करने में नियुक्त कर राजा वज्रसेन उन्हीं मुनिराज के समीप साधु हो गया सो ठीक ही है क्योंकि पृथिवी पर भव्यजीव संसार से डरता ही है ॥ २२ ॥ पूर्वजन्म में अभ्यस्त सम्यग्दर्शन से जिसका चित्त निर्मल हो गया था ऐसे हरिषेण ने श्रावक के समस्त व्रत धारण किये सो ठीक ही है क्योंकि श्रीमन्तों से अविनय बहुत दूर रहता है ॥ २३ ॥ जिस प्रकार सङ्गरहित उज्ज्वल प्रकृति होने से कमल, तालाब में रहने पर भी कीचड़ के कण से स्पृष्ट नहीं होता है उसी प्रकार वह राजा सङ्गरहित—आसक्ति रहित निर्मल स्वभाव होने से पाप के निमित्तभूत राज्य में स्थित हो कर भी पाप से स्पृष्ट नहीं हुआ था ॥ २४ ॥ यद्यपि वह चतुःसमुद्रान्त पृथिवी का शासन करता था तो भी उसकी बुद्धि दिन प्रतिदिन समस्त विषयों में निःस्पृह होती जाती थी यह आश्चर्य की बात थी ॥ २५ ॥ यद्यपि वह नवयौवन रूपी लक्ष्मी को धारण करता था तो भी उसने निश्चय से शान्तभाव को नहीं छोड़ा था सो ठीक ही है क्योंकि जगत् में जिसकी बुद्धि कल्याण के लिये प्रयत्नशील है वह क्या तरुण होने पर भी अत्यन्त शान्त नहीं होता ? ॥ २६ ॥ वह यद्यपि योग स्थानों के जानकार मन्त्रियों से घिरा रहता था तो भी उग्र नहीं था कटुक स्वभाव नहीं था सो ठीक ही है क्योंकि सर्पमुख की विषाग्नि से सहित होने पर भी क्या चन्दन शीतलता को छोड़ देता है ? अर्थात् नहीं छोड़ देता है ॥ २७

---

१. सङ्गवर्जित म० ।

त्रिजगन्निरपि सन्मनसश्चलो नो बभूव नयमार्गदीक्षः ।
यस्य रज्यति मनो न कलत्रे सत्यपि स्मरवशे स हि धीरः ॥२८
स त्रिकालमभिपूज्य जिनेन्द्रं गन्धमाल्यबलिधूपविताने: ।
भक्तिशुद्धहृदयेन ववन्दे तत्फलं हि गृहवासरतानाम् ॥२९
आबभौ नभसि लग्नपताका यावदर्णसुखवानुविलिप्ता ।
तेन कारितजिनालयपङ्क्तिः पुण्यसम्पदिव तस्य समूर्तिः ॥३०
सन्नियम्य मनसात्मगुणौघैर्विद्विषोऽपि नयविद्सह मित्रैः ।
राज्यमित्थमकरोज्चिरकालं सर्वदा प्रशमभूषितचेताः ॥३१
एकदा क्षितिभृतलतापं तत्प्रतापमभिवीक्ष्य सुतीक्ष्णम् ।
लज्जयेव निजवृत्तिमयूखैः[1] संजहार रविरातपलक्ष्मीम् ॥३२
तप्तमेव हि मया जगदेतद्वह्निमिस्ततदवानलकल्पैः ।
कष्टमित्यनुशयादिव भास्वांस्तत्क्षणं मुखमधोवदनोऽभूत् ॥३३
मण्डलं दिनकरस्य दिनान्ते कुङ्कुमद्युति निकाममराजत् ।
संहृतात्मकरसंहतिनीताम्भोजिनीहृदयरागमयं वा ॥३४
वारुणीरतमुदीक्ष्य पतङ्गं वारयन्निव तदा दिवसोऽपि ।
तत्समीपमगमन्न निवार्यं कस्य[2] वोत्पथमनो भुवि मित्रम् ॥३५

नीतिमार्ग में निपुण रहने वाला हरिषेण, विवाहित होने पर भी काम के वशीभूत नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि कामाकुलित स्त्री के रहने पर भी जिसका मन राग नहीं करता है वही धीर कहलाता है ॥ २८ ॥ वह तीनों काल चन्दन, माला, नैवेद्य तथा धूप आदि के समूह से जिनेन्द्र भगवान् की पूजा कर भक्ति से शुद्ध हृदय के द्वारा उनकी वन्दना करता था सो ठीक ही है क्योंकि गृहवास में लीन मनुष्यों का यही फल है ॥ २९ ॥ जिस पर लगी पताकाएँ आकाश में फहराती रहती थीं तथा जो सुन्दर वर्ण वाले चूना के द्वारा बार-बार पोती जाती थीं ऐसी उसके द्वारा निर्मापित जिनमन्दिरों की पङ्क्ति उसकी मूर्तिधारिणी पुण्य सम्पत्ति के समान सुशोभित होती थी ॥ ३० ॥ इस प्रकार जिसका चित्त सदा शान्ति से विभूषित रहता था ऐसा नीतिज्ञ हरिषेण, अपने गुणों के समूह से शत्रुओं को अच्छी तरह वश कर मित्रों के साथ चिरकाल तक राज्य करता रहा ॥ ३१ ॥

एक समय पृथिवीतल के संताप को शान्त करने वाले उसके बहुत भारी प्रताप को देख कर सूर्य ने अपनी अनीति पूर्ण वृत्ति की लज्जा से ही मानो आतप की शोभा को संकोचित कर लिया ॥ ३२ ॥ बड़े कष्ट की बात है कि मैंने अब तक विस्तृत दावानल के समान किरणों के द्वारा इस जगत् को संतप्त ही किया है इस पश्चात्ताप के कारण ही मानो सूर्य उस समय अत्यन्त अधोमुख हो गया था ॥ ३३ ॥ दिनान्त काल में केशर के समान कान्ति को धारण करने वाला सूर्य का बिम्ब ऐसा अत्यधिक सुशोभित हो रहा था मानो वह संकोचित अपनी किरणों के समूह के द्वारा लाये हुए कमलिनी के हृदय सम्बन्धी राग से ही तन्मय हो रहा तो ॥ ३४ ॥ उस समय दिन भी,

---

१. वृत्तेः ब० । २. वोत्पथमतो म० ।

अस्तमनो वनमिवोद्य विवस्वतुः वारुणि वलवन् पुनरेहुमाय ।
स्वप्रियेषु निहवो परितस्थे चक्रवाकमिथुनेषु विवस्वान् ॥३६
यान्तमस्तमवहाय दिनेशं दीधितिभिः स्थगितैरकारि गृहान्ते ।
जालमार्गपतिताभिरनार्या रत्नदीपमुषयातुमिवेद्धम् ॥३७
आनतो मुकुलिताग्रकरश्रीर्भानुमान्महुरुरागमयात्मा ।
सादरं प्रिय इव क्षणमानो दृश्यते स्म रमणीभिरभीक्ष्णम् ॥३८
पूर्वसूतिरहितस्य कथं वा जायते जगति सम्मतिरस्मिन् ।
स्वं रविर्वपुरितीव विचिन्त्यास्तोपयद्धिवसुरस्तनगान्ते ॥३९
आशु संगतविहङ्गनिनादैः शाखिनः स्वयमिवानतशाखाः ।
प्रोचितोऽयमिन इत्यनुतेपुः कं न तापयति मित्रवियोगः ॥४०

वारुणीरत—मदिरापान में तत्पर (पक्ष में पश्चिम दिशा में स्थित) सूर्य को रोकता हुआ ही मानो उसके समीप नहीं गया था सो ठीक ही है क्योंकि पृथिवी पर कुमार्गगामी मित्र किसके रोकने योग्य नहीं है ? ॥ ३५ ॥ जिस प्रकार कहीं जाने की इच्छुक कोई मनुष्य फिर से वापिस लेने के लिये अपना श्रेष्ठ धन अपने प्रिय-जनों के पास रख जाता है उसी प्रकार अस्तोन्मुख सूर्य भी अपना संताप अपने प्रिय मित्र चकवा-चकवी के युगल में रख गया था। भावार्थ—सूर्यास्त होने पर चकवा-चकवी परस्पर बिछुड़ जाने से संताप को प्राप्त हो गये ॥ ३६ ॥ अस्तोन्मुख सूर्य को छोड़कर झरोखे के मार्ग से भीतर पड़ती हुई किरणों ने घर के भीतर स्थिति की, उससे ऐसा जान पड़ता था मानो वे अविनाशी देदीप्यमान रत्नदीप को ही प्राप्त करना चाहती थीं। भावार्थ—जिस प्रकार कुलटा स्त्री विपत्तिग्रस्त पति को छोड़ कर अन्य पति के पास चली जाती है उसी प्रकार सूर्य की किरणें अस्तोन्मुख सूर्य को छोड़ कर रत्नमय दीपक को प्राप्त करने के लिये ही मानो झरोखों के मार्ग से घर के भीतर पहुँच गई थीं ॥ ३७ ॥ जो पश्चिम दिशा की ओर झुका हुआ था (पक्ष में चरणों में नमस्कार करने के लिये नम्रीभूत था), जिसके आगे की किरणों की लक्ष्मी संकोचित हो गई थी (पक्ष में जो हाथ जोड़ कर खड़ा हुआ था) और जिसका शरीर अत्यधिक लाल हो रहा था (पक्ष में जिसकी आत्मा तीव्र प्रेम से परिपूर्ण थी) ऐसे सूर्य को स्त्रियों ने निरन्तर विलिखमान पति के समान बड़े आदर से देखा था। भावार्थ—उस समय सूर्य उस पति के समान जान पड़ता था जो अपना मान छोड़ राग से विह्वल होता हुआ हाथ जोड़ कर तथा मस्तक झुकाकर अपनी प्रिया के सामने खड़ा हो ॥ ३८ ॥ पहले की सम्पत्ति से रहित मनुष्य का इस संसार में सम्मान कैसे हो सकता है ? यह विचार कर ही मानो विवस्वान्—निर्धन (पक्ष में किरण रहित) सूर्य ने अपने शरीर को अस्ताचल के अन्त में छिपा रखा था। भावार्थ—जिसकी संपत्ति नष्ट हो जाती है ऐसा मनुष्य जिस प्रकार लज्जा के कारण अपने आपको छिपा कर रखता है उसी प्रकार किरण रहित सूर्य ने भी विचार किया कि जब तक मैं अपनी पूर्व विभूति को—पिछली संपत्ति को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक जगत् में मेरी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती—ऐसा विचार कर ही मानो वह अस्ताचल की ओट में छिप गया। यहाँ वसु शब्द किरण और धन इन दो अर्थों का वाचक है ॥ ३९ ॥ जिनकी शाखाएँ स्वयं ही झुक गई थीं ऐसे वृक्ष, शीघ्र ही आकर बैठे हुए पक्षियों के शब्दों से ऐसे जान पड़ते थे

उज्झतः खलु परस्परमाशु चक्रवाकमिथुनस्य दुरन्ताम् ।
द्रष्टुमक्षममिवेव नलिन्या पद्ममक्षयुरधिकं निमिमीले ॥४१
[1]प्रोज्झ्य बद्धबिसखण्डमशेषं क्रन्दता विपरिवृत्तमुखेन ।
चक्रवाकमिथुनेन नितान्तं मूर्च्छता विजघटे दिवसान्ते ॥४२
आबभौ नवजपाकुसुमकान्तिः पाश्चिनः परिगता दिशि सन्ध्या ।
भास्करानुगतदीप्तिवधूनां पादयावकततेः पदवीव ॥४३
मीलितानि कमलान्यपहातुं[2] नेषुरेव मधुपा मधुलोलाः ।
आपदा परिगतं सुकृतज्ञः स्वोपकारिणमपोज्झति को वा ॥४४
सन्ध्ययाप्यनुपतङ्गमगामि प्रोज्झ्य तत्क्षणमपूर्वदिगन्तम् ।
वल्लभं स्वमपहाय सुरक्ता सक्तिमेति न चिराय परस्मिन् ॥४५
गोखुरोत्थितरजोभिररोधि व्योम रासभतनूरुहधूम्रैः ।
कोकवाहिभवनाग्निसमुत्थत्सान्द्रधूम्रपटलैरिव कृत्स्नम् ॥४६

मानो 'यह सूर्य प्रवास पर चला गया है' इसका संताप ही कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि मित्र-सूर्य (पक्ष में इष्ट जन) का वियोग किसे नहीं संतप्त करता है ? ॥ ४० ॥ निश्चय से परस्पर एक दूसरे को छोड़ते हुए चक्रवाक युगल को बहुत भारी पीड़ा को देखने के लिये असमर्थ होकर ही मानो कमलिनी ने अपना कमल रूपी नेत्र अत्यधिक रूप से बन्द कर लिया था। भावार्थ—सूर्यास्त होने पर कमल बन्द हो जाते हैं यह नैसर्गिक बात है। इस नैसर्गिक बात का कवि ने उत्प्रेक्षालंकार से वर्णन करते हुए कहा है कि मानो कमलिनी परस्पर के वियोग से दुखी होने वाले चकवा-चकवी की भारी पीड़ा को देखने के लिये असमर्थ थी इसीलिये उसने अपना कमल रूपी नेत्र बन्द कर लिया था ॥ ४१ ॥

जो मुख में दबाये हुए मृणाल के टुकड़े को सम्पूर्णरूप से छोड़ कर चिल्ला रहा था, जिसका मुख फिर गया था तथा जो अत्यधिक मूर्च्छित हो रहा था ऐसा चकवा-चकवियों का युगल दिवसान्तकाल में बिछुड़ गया था ॥ ४२ ॥ उस समय पश्चिम दिशा में व्याप्त, जासौन के फूल के समान लाल-लाल कान्ति वाली सन्ध्या ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो सूर्य के पीछे-पीछे चलने वाली दीप्ति रूपी स्त्रियों के पैरों के महावर की पदवी ही हो ॥ ४३ ॥ मधु के लोभी भ्रमरों ने निमीलित कमलों को छोड़ने की बिलकुल ही इच्छा नहीं की थी सो ठीक ही है क्योंकि आपत्ति में पड़े हुए अपने उपकारी को कौन कृतज्ञ छोड़ता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ४४ ॥ पश्चिम दिशा के अन्त को तत्काल छोड़ कर सन्ध्या भी सूर्य के पीछे चली गई सो ठीक ही है क्योंकि सुरक्ता—अत्यन्त लाल (पक्ष में तीव्र अनुराग से सहित) स्त्री अपने प्रिय पति को छोड़कर किसी अन्य पुरुष में चिरकाल तक सक्ति—लगन को प्राप्त नहीं होती है ॥ ४५ ॥ जो गधे के रोमों के समान मटमैले वर्ण की थी, तथा चकवा-चकवी को भस्म करने वाली कामाग्नि के उठते हुए सघन धूम्रपटल के

---

१. संदष्टं बिसमुत्सृज्य चक्रवाकेन मूर्च्छता ।
परिवृत्तमुखाब्जेन तूर्णं विजघटे तदा ॥३॥ —जीवन्धरचम्पू लम्भ ६

२. कमलान्युपहातुं म० ।

आवर्ती सपदि सान्द्रविलिप्तमल्लिकापुटकशीतलगन्धः ।
अन्वयन्मधुकरैः सह वर्त्म मालिनीरपि विनाप्यवधानुः ॥४७
संफलीकथनमात्रसु सरागं लीलया प्रमितमन्युपकर्षम् ।
चूतपल्लवमिवाननशोभां चित्रमातनुत मानवतीनाम् ॥४८
यत्तमोऽह्नि दिननाथभयेन क्ष्माभृतां पृथुगुहासु निलीनम् ।
तेन तद्दिनमतो विजजृम्भे रन्ध्रमेत्य मलिनो हि बलीयान् ॥४९
अन्धकारपटलेन घनेन श्यामरोचिरभवज्जगदाशम् ।
सर्वतो विवलिताञ्जनभासा न स्थिये हि तमसा सह योगः ॥५०
भास्वतामविषयो मलिनात्मा दुर्विभाव्यगतिरुज्झितसीमा ।
अन्धकारविभवोऽभृत वृत्तिं दुर्जनस्य सुसमीकृतसर्वः ॥५१

समान जान पड़ती थी ऐसी गायों के खुरों से उठी धूलि के द्वारा समस्त आकाश अवरुद्ध हो गया था ॥ ४६ ॥ अत्यधिक विकसित मालती के मुकुलों की शीतल गन्ध से युक्त, सन्ध्या काल का वायु, भ्रमरों के साथ मानवती स्त्रियों को भी अन्धा करता हुआ शीघ्र ही मन्द-मन्द बहने लगा ॥ ४७ ॥ लीलापूर्वक कानों के समीप पहुँचाये हुए दूतियों के रागपूर्ण वचन, शीघ्र ही आम के पल्लव के समान मानवती स्त्रियों के मुख की शोभा को विस्तृत करने लगे ॥ भावार्थ—मानवती स्त्रियों को मनाने के लिये दूतियाँ उनके कानों के पास लग कर रागपूर्ण वचन कहने लगीं ॥ ४८ ॥

जो अन्धकार दिन में सूर्य के भय से पर्वतों की बड़ी-बड़ी गुफाओं में छिपा था वह अब सूर्य के अस्त होने से विस्तार को प्राप्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि मलिन मनुष्य छिद्र पाकर अतिशय बलवान् हो जाता है ॥ ४९ ॥ मर्दित अञ्जन के समान कान्तिवाले सघन अन्धकार के द्वारा सब ओर से व्याप्त हुआ यह संसार श्यामवर्ण हो गया सो ठीक ही है क्योंकि अन्धकार के साथ संयोग शोभा के लिये नहीं होता है ॥ ५० ॥ जो देदीप्यमान पदार्थों का विषय नहीं था अर्थात् उनके सामने स्थिर नहीं रह सकता था, जो मलिनात्मा—मलिन स्वरूप था, जिसकी गति दुर्विभाव्य थी—कठिनता से जानी जाती थी, जिसने सीमा को छोड़ दिया था तथा जिसने सबको एक समान कर दिया था ऐसा अन्धकार का वैभव दुर्जन की वृत्तिको धारण कर रहा था। भावार्थ—अन्धकार और दुर्जन की वृत्ति एक समान थी क्योंकि जिस प्रकार दुर्जन भास्वत्—तेजस्वी मनुष्यों के सामने नहीं आता उसी प्रकार अन्धकार भास्वत्—सूर्यादि देदीप्यमान पदार्थों के सामने नहीं आता, जिस प्रकार दुर्जन की आत्मा मलिन—पाप से कलुषित होती है उसी प्रकार अन्धकार की आत्मा भी मलिन—काली थी, जिस प्रकार दुर्जन की गति-विधि सरलता से नहीं जानी जाती उसी प्रकार अन्धकार की गति-विधि भी सरलता से नहीं जानी जाती, जिस प्रकार दुर्जन सीमा—मान-मर्यादा को छोड़ देता है उसी प्रकार अन्धकार भी सीमा—अवधि को छोड़ देता है और जिस प्रकार दुर्जन ऊँच-नीच का भेद समाप्त कर सबको एक बराबर कर देता है उसी

---

१. विलिप्तो म० ।

दूरतोऽध्वतमसं भवनेभ्यो रत्नदीपनिवहो नुवति स्म ।
भानुना निजकराङ्कुरदण्डः प्रेषितस्तम इव प्रणिहन्तुम् ॥५२
रक्तरागविवशीकृतचित्ताः सर्वतोऽपि कुलटा ययुराशु ।
यातुधान्य इव संभवतोऽभिप्रेतवासमभिरूपितरूपाः ॥५३
पाण्डुतामथ शतं मुखमेन्दी लम्बमानतिमिरात्मकमूहे ।
दिग्वधूरिव नितेव विकान्ता निर्यदिन्दुकिरणाङ्कुरलेशैः ॥५४
उद्यतः शशभृतो मृदुपादानुद्वहन्नुदयभूभृदराजत् ।
उन्नतस्य विदधाति हि शोभां प्रश्रयः प्रविमले क्रियमाणः ॥५५
रश्मिजालमुदयान्तरितस्य प्राग्विधोस्तिमिरमाशु बिभेद ।
उद्यतः स्वसमये विजिगीषोरग्रगामिबलवत्प्रतिपक्षम् ॥५६
प्राक्कला हिमरुचेरुदयार्द्धबिम्बमद्युतिरदंशु ततोऽर्द्धम् ।
उज्जयौ तदनु बिम्बमशेषं कः क्रमादथ न याति हि वृद्धिम् ॥५७
अन्धकारशबरेण गृहीतां भामिनीं समवलोक्य निजेष्टाम् ।
कोपपूरितविधेय नवोत्थो लोहितो हिमकरो भृशमासीत् ॥५८

प्रकार अन्धकार भी सबको एक बराबर कर देता है ॥ ५१ ॥ जो अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य के द्वारा भेजे हुए अपने किरण रूप अङ्कुरों के दण्ड के समान जान पड़ता था ऐसे रत्नमय दीपकों के समूह ने गाढ़ अन्धकार को भवनों से दूर हटा दिया था ॥ ५२ ॥ जिनका चित्त प्रेमी के राग से विवश कर दिया गया था तथा अन्धकार के कारण जिनका रूप दिखाई नहीं देता था ऐसी राक्षसियों के समान कुलटा स्त्रियाँ सभी ओर हर्षपूर्वक शीघ्र ही अपने प्रेमी-जनों के घर जाने लगीं ॥ ५३ ॥

जिस प्रकार विधवा स्त्री बिखरे हुए काले-काले बालों से युक्त पाण्डुवर्ण मुख को धारण करती है उसी प्रकार पूर्व दिशा निकलते हुए चन्द्रमा की किरण रूपी अङ्कुरों के लेश से सफेदी को प्राप्त तथा लटकते हुए अन्धकार रूप केशों से युक्त मुख को धारण कर रही थी ऐसा मैं समझता हूँ ॥ ५४ ॥ उदित होते हुए चन्द्रमा के कोमल पादों—किरणों (पक्ष में चरणों) को धारण करता हुआ उदयाचल अत्यधिक सुशोभित हो रहा था सो ठीक ही है क्योंकि अत्यन्त निर्मल पदार्थ के विषय में किया हुआ उत्कृष्ट मनुष्य का विनय शोभा को उत्पन्न करता ही है ॥५५॥ जिस प्रकार अपने सिद्धान्त के विषय में उद्यमशील मनुष्य अर्थात् अपने धर्म का पूर्णज्ञाता मनुष्य, विजयाभिलाषी मनुष्य के अग्रगामी सबल प्रतिपक्ष को शीघ्र ही खण्ड-खण्ड कर देता है उसी प्रकार उदयाचल से तिरोहित चन्द्रमा की किरणों के समूह ने अन्धकार को पहले ही शीघ्रता से खण्ड-खण्ड कर दिया था ॥ ५६ ॥ पहले मूंगा के समान लाल-लाल कान्तिवाली चन्द्रमा की एक कला उदयाचल से उदित हुई। उसके पश्चात् ऊपर की ओर किरणों को बिखेरने वाला अर्द्धबिम्ब उदित हुआ उसके पश्चात् पूर्ण चन्द्रबिम्ब उदित हुआ सो ठीक ही है क्योंकि क्रम से कौन मनुष्य वृद्धि को प्राप्त नहीं होता है ? ॥ ५७ ॥ नवोदित चन्द्रमा अपनी प्रिय स्त्री रात्रि को अन्धकार

रागिणः खलु न सिध्यति कार्यं निश्चिन्वतश्चिरमितं पुरुषस्य ।
इत्यलेख्य तुहिनांशुरिवौ[1] ग्रद्यागमन्मनसतमं विजिहीर्षुम् ॥५९
श्वेतभानुरहृतापि विनाशं संहतस्य तमसोऽपि निकामम् ।
सान्द्रचन्दनसमद्युतिबिम्बः किं न साधयति मण्डलशुद्धः ॥६०
प्राप्य पादहृतिमप्यरुणांशो रागतः कुमुदिनी हसति स्म ।
सन्मुखस्य हि सुखाय न किंवा चेष्टितं प्रियतमस्य वधूनाम् ॥६१
ज्योत्स्नया सरसचन्दनपङ्कोच्छ्रायया जगदराजत पूर्णम् ।
कृत्स्नमक्षतजलस्थितिलक्ष्म्या क्षोभयेव चलदुच्चपयोधेः ॥६२
शीतलैरपि करैस्तुहिनांशोर्निर्ववौ कमलिनी न च कोकः ।
नास्ति वस्तु तदभीष्टवियोगे प्राणिनां भवति यत्प्रणयाय ॥६३
इन्दुरश्मिभिरगाधतयान्तर्वेदितोत्कलिकमम्बु पयोधेः ।
क्षोभमुल्वणमनीयत दूरं मानिनीजनमनश्च निकामम् ॥६४

रूपी भील के द्वारा गृहीत देख कोप से पूरित बुद्धि होने के कारण ही मानो अत्यधिक लाल-लाल हो गया था ॥ ५८ ॥ 'रागी मनुष्य का कोई भी इष्ट कार्य सिद्ध नहीं होता है' यह जानकर ही मानो चन्द्रमा ने गाढ़ अन्धकार को नष्ट करने के लिये राग (पक्ष में लालिमा) को छोड़ दिया था ॥ ५९ ॥ अन्धकार यद्यपि संचय को प्राप्त था तो भी गाढ़ चन्दन के समान कान्तिवाले बिम्ब से युक्त चन्द्रमा ने उसका शीघ्र नाश कर दिया था सो ठीक ही है क्योंकि शुद्ध मण्डलवाला कौन-सा कार्य सिद्ध नहीं करता है ? भावार्थ—मण्डल शब्द के दो अर्थ हैं। पहला घेरा और दूसरा देश। जिसका मण्डल—देश शुद्ध होता है-अपने अधीन होता है वह बड़े से बड़े संगठित शत्रु को नष्ट कर देता है इसी प्रकार जिसका मण्डल—घेरा शुद्ध है—देदीप्यमान है ऐसा चन्द्रबिम्ब आदि भी संचित अन्धकार के समूह को नष्ट कर देता है ॥ ६० ॥ कुमुदिनी चन्द्रमा की पादहृति—चरणों के आघात को (पक्ष में किरणों के प्रहार को) प्राप्त करके भी राग वश हँसती रही सो ठीक ही है क्योंकि सन्मुख स्थित पति की कौन-सी चेष्टा स्त्रियों के सुख के लिये नहीं होती ? अर्थात् सभी चेष्टा सुख के लिये होती है। भावार्थ—यहाँ चन्द्रमा और कुमुदिनी में नायक-नायिका की कल्पना कर उक्त बात कही गई है अर्थात् जिस प्रकार संभोग के लिये सम्मुख स्थित पति की प्रत्येक चेष्टा को स्त्री प्रसन्नतापूर्वक सहन करती है उसी प्रकार कुमुदिनी ने भी सम्मुख स्थित—आकाश में सामने विद्यमान चन्द्रमा के पाद प्रहार—चरण-प्रहार (किरण-प्रहार) को भी सुख से सहन किया था ॥ ६१ ॥ सरस चन्दन-पङ्क—घिसे हुए ताजे चन्दन के समान कान्तिवाली चाँदनी से व्याप्त हुआ समस्त संसार इस प्रकार सुशोभित होने लगा मानो अखण्ड जल की स्थिति से सुशोभित चञ्चल क्षीरसमुद्र की वेला की तरह ही सुशोभित हो रहा हो ॥ ६२ ॥ चन्द्रमा की किरणें यद्यपि शीतल थीं तो भी उनसे न कमलिनी सुख को प्राप्त हुई और न चकवा भी, सो ठीक ही है क्योंकि वह वस्तु नहीं है जो इष्ट वियोग में प्राणियों के सुख के लिए होती हो ॥ ६३ ॥

चन्द्रमा की किरणों के द्वारा अगाधता—गहराई के कारण (पक्ष में धैर्य के कारण)

---

१. रिवीज्ज्वलाग—प० ।

मित्रमेत्य सकलेन्दुमनङ्गोऽप्याशु लोकमखिलं च विजिग्ये ।
नूनमूनमपि वा जयलक्ष्मीरभ्युपैति समये सुसहायम् ॥६५
विक्षिपन्कुमुदकेसररेणून्सान्द्रचन्दनहिमोऽपि बभूव ।
दुःसहः प्रियविमुक्तवधूनां मन्मथानललवानिव वायुः ॥६६
दूरमप्यभिमतस्य निवासं खेदहीनमनयन्मदिराक्षीम् ।
मार्गदेशनविधावतिदक्षा चन्द्रिका प्रियसखीव मनोज्ञा ॥६७
यत्नतोऽपि रचितापि रमण्या मानसंपदचिराद्भ्रकुटी च ।
यूनि दृष्टिपथमीयुषि नग्ने वाससा शिथिलतां सह भेजे ॥६८
काचिदाशु मदिरामदमोहच्छद्मना विहितदोषमपीष्टम् ।
वाच्यवर्जितमियाय सखीषु प्रेम कस्य न करोति हि मायाम् ॥६९
वल्लभं समवलोक्य सदोषं कामिनी प्रकुपितापि पुरैव ।
संभ्रमं न विजहावथ काचिद्योषितां खलु मनो हि निगूढम् ॥७०
अन्यरक्तहृदयापि निकामं वारयोषिदनुरागयुतेव ।
कामुकस्य धनिनोऽजनि वश्या कस्य वस्तु न वशीकरणाय ॥७१

जिसके भीतर उत्कलिकाओं—तरङ्गों की (पक्ष में उत्कण्ठाओं की) वृद्धि हो रही थी ऐसा समुद्र का जल और मानवती स्त्री का मन बहुत दूर तक अत्यधिक क्षोभ को प्राप्त कराया गया था। भावार्थ—चन्द्रमा के उदय होने से समुद्र के जल में लहरें उठने लगीं और रूसी हुई मानवती स्त्रियों का मन पति से मिलने के लिये उत्कण्ठित होने लगा ॥ ६४ ॥ काम ने भी पूर्ण चन्द्रमा रूपी मित्र को प्राप्त कर समस्त संसार को जीत लिया सो ठीक ही है क्योंकि समय पर अच्छे सहायक को प्राप्त कर निर्बल मनुष्य भी निश्चय ही विजयलक्ष्मी को प्राप्त होता है ॥ ६५ ॥ कुमुदों की केशर के कणों को बिखेरने वाला वायु यद्यपि सघन चन्दन के समान ठण्डा था तो भी वह पतिरहित स्त्रियों के लिये ऐसा दुःसह हो रहा था जैसे मानों कामाग्नि के कणों को ही बिखेर रहा हो ॥ ६६ ॥ इष्ट पति का घर यद्यपि दूर था तो भी मार्ग के दिखाने में अत्यन्त चतुर मनोहर चाँदनी प्रिय सखी के समान मादक नेत्रोंवाली स्त्री को खेद के बिना वहाँ तक ले गयी थी ॥ ६७ ॥ यत्नपूर्वक रची गई भी स्त्री को मान-संपदा और भ्रकुटी नग्नीभूत युवा पति के दृष्टिगोचर होते ही वस्त्र के साथ शीघ्र ही शिथिलता को प्राप्त हो गई ॥ ६८ ॥

कोई स्त्री सखियों के सामने मदिरा के मद से उत्पन्न मोह के छल से अपराधी पति के पास भी चुपचाप शीघ्र ही चली गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि किसका प्रेम माया नहीं करता है ? अर्थात् सभी का करता है ॥ ६९ ॥ कोई स्त्री यद्यपि पहले से कुपित थी तो भी उसने सापराध पति को देख कर संभ्रम को नहीं छोड़ा—उसका आदर-सत्कार करने में कमी नहीं की सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियों का मन निश्चय ही अत्यन्त गूढ़ होता है ॥ ७० ॥ कोई वेश्या यद्यपि अन्य पुरुष में अनुरक्त हृदय थी तो भी वह अनुराग से युक्त हुई के समान धनी कामी के वशीभूत हो गई थी सो ठीक ही है क्योंकि धन किसके वशीकरण के लिये नहीं है ? ॥ ७१ ॥

वसन्ततिलकम्

इत्थं मनोभववशीकृतकामिपुग्मैः
सार्धं विनिद्रकुमुदाकरनिर्मलश्रीः ।
राजा शशाङ्ककरनिर्मलरम्यहर्म्ये
कान्तासखः क्षणमिव क्षपदायनेषीत् ॥७२

आलिङ्ग्यपत्यय दिशं सहिनि प्रतीचीं
गत्वा शनैस्तत्करैः प्रविलोकताराम् ।
किञ्चिन्निमील्य कुमुदेक्षणमाशु दूरं
सा यामिनी प्रकुपितेव ययौ विवर्तिम् ॥७३

अभ्यास्य वासभवनाजिरमानतारि
वैबोधिकास्तमथ बोधयितुं क्षपान्ते ।
इत्युज्ज्वलाः श्रुतिसुखस्वरमस्खलद्भिः
पेठुः सदा प्रतिनिनादितसौधकुक्षाः ॥७४

कंदर्पतप्तमनसामिह दम्पतीनां
धैर्यत्रपाविरहितानि विचेष्टितानि ।
ह्रीतेव वीक्ष्य रजनी रजनीकरास्यं
क्वाप्यावमव्य विमुखी सुमुख[2] प्रयाति ॥७५

इस प्रकार विकसित कुमुद वन के समान निर्मल शोभा से सम्पन्न स्त्री से युक्त राजा ने काम के वशीभूत अन्य दम्पतियों के साथ चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल मनोहर भवन में रात्रि को क्षण की तरह व्यतीत किया। भावार्थ—स्त्री सहित राजा की विशाल रात्रि एक क्षण के समान पूर्ण हो गयी ॥ ७२ ॥ तदनन्तर धीरे से आकर जब चन्द्रमा फैलाये हुए किरण रूप हाथों से चञ्चल ताराओं—नक्षत्रों (पक्ष में नेत्र की पुतलियों) से युक्त पश्चिम दिशा रूपी स्त्री का आलिङ्गन करने लगा तब रात्रि कुपित होकर ही मानो शीघ्र ही कुमुद रूपी नेत्र को कुछ निमीलित कर विवृद्धता को प्राप्त हो गयी। भावार्थ—धीरे-धीरे चन्द्रमा पश्चिम दिशा के समीप पहुँचा और रात्रि समाप्त होने के सम्मुख हुई ॥ ७३ ॥

तदनन्तर जो उज्ज्वल वेष-भूषा से युक्त थे, अविकलकण्ठ थे और प्रतिध्वनि से जो भवन के निकुञ्जों को सदा शब्दायमान किया करते थे ऐसे स्तुतिपाठक लोग प्रातःकाल के समय निवास-गृह के आँगन में खड़े होकर उस विलासशत्रु राजा को जगाने के लिये श्रुति-सुखद स्वर में इस प्रकार पढ़ने लगे ॥ ७४ ॥ हे सुमुख ! यहाँ काम से संतप्त हृदय वाले स्त्री-पुरुषों की धैर्य और लज्जा से रहित चेष्टाओं को देख कर रात्रि मानो लज्जित हो गई इसीलिये वह चन्द्रमा रूपी मुख

---

१. प्रतिबोधनारम्भ प० २. सुमुखा प०

प्रालेयबिन्दुभिरमी नवमौक्तिकाभैः
कीर्णा विभान्ति तरवः पतितैर्नभस्तः ।
शीतत्विषो मृदुकरस्य रसार्द्रितानां
स्वेदाम्भसामुत्कणैरिव तारकाणाम् ॥७६
क्षिप्रं विहाय कुमुदानि विकासलक्ष्म्या
त्यक्तानि नाथ मधुपा मधुपानलोलाः ।
यान्त्युच्छ्वसत्कमलसौरभवासितार्शा
पद्माकरं ननु सगन्धमुपैति सर्वः ॥७७
यावन्न पक्षयुगलं विधुनोति कोकः
श्रान्तो निशाविरहजागरखिन्नयापि ।
तावन्मुदा न समगामि न चक्रवाक्या
स्निह्यत्यहो युवतिरेव चिराय पुंसः ॥७८
सद्यो विनिद्रकमलेक्षणयातिरक्तः
पूर्वं प्रसारितकरः शनकैर्निवृत्य ।
आलिङ्गते दिनकरो दिवसश्रियायं
प्रातर्यथैव रिपुमानद मानवत्या ॥७९
इत्थं वचोभिरविराय स मागधानां
निद्रां विहाय शयनादुदगान्नरेन्द्रः ।
कण्ठार्पितं भवनपाशमिवातिकृच्छ्रा—
दुन्मोचयन्भुजलतान्वितयं प्रियायाः ॥८०

को झुकाकर विमुख होती हुई कहीं जा रही है ॥ ७५ ॥ नवीन मोतियों के समान आभावाली, आकाश से पड़ी ओस की बूँदों से व्याप्त ये वृक्ष ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो कोमल किरणों से युक्त चन्द्रमा के रस से आर्द्र ताराओं के स्वेद जल के बड़े-बड़े कणों से ही व्याप्त हो रहे हों ॥ ७६ ॥ हे नाथ ! मधुपान के लोभी भ्रमर, विकास की लक्ष्मी से रहित कुमुदों को शीघ्र ही छोड़ कर खिलते हुए कमलों की सुगन्ध से दिशाओं को सुवासित करनेवाले कमल वन की ओर जा रहे हैं सो ठीक ही है क्योंकि निश्चय ही सभी लोग गन्धवाले के पास ही जाते हैं ॥ ७७ ॥ खेद को प्राप्त हुआ चकवा जब तक पङ्खों के युगल को कम्पित नहीं करता है तब तक रात्रिभर के विरह से उत्पन्न जागरण से खेद को प्राप्त हुई चकवी हर्षपूर्वक आकर उससे मिल गई सो ठीक ही है क्योंकि स्त्री पुरुष से चिरकाल तक स्नेह करती ही है ॥ ७८ ॥ हे शत्रुओं का मान खण्डन करने वाले राजन् ! जिस प्रकार विनिद्र नेत्रोंवाली मानवती स्त्री प्रातःकाल के समय धीरे से करवट बदल कर अनुराग से युक्त तथा आलिङ्गन की आकाङ्क्षा से पहले ही हाथ पसार कर पड़े हुए पति का शीघ्र आलिङ्गन करती है उसी प्रकार विकसित कमल रूप नेत्रोंवाली दिवस लक्ष्मी धीरे से आकर अत्यन्त लाल वर्ण से युक्त तथा पहले से ही किरणों को फैलानेवाले इस सूर्य का आलिङ्गन कर रही है ॥ ७९ ॥ इस प्रकार स्तुतिपाठकों के वचनों से शीघ्र ही निद्रा को छोड़कर वह

मालभारिणी

इति तस्य मुदा नरेन्द्रलक्ष्मीं वहतः श्रावकवृत्तिमप्यखण्डाम् ।
नरनाथपतेरनेकसंख्या ययुरब्दाः स्फटिकाश्मनिर्मलस्य ॥८१
मुनिपतिमवलोक्य सुव्रतिष्ठं प्रमदवने स्थितमन्यदा नरेन्द्रः ।
समजनि स तपोधनस्तपश्च प्रशमरत[1]श्चिरकालमाचचार ॥८२

उपजातिः

स जीवितान्ते विधिवद्विधिज्ञः सल्लेखनामेकधिया विधाय ।
अलंचकार क्षितिमात्मकीर्त्या सूर्त्या महाशुक्रमपि प्रतीतः ॥८३

वसन्ततिलकम्

दिव्याङ्गनाजनमनोहरकल्पसंपत्
स प्रीतिवर्धनविमानमनूनमानम् ।
अध्यास्य षोडशपयोनिधिसम्मितायुः
प्रीतिंकरोऽरमत तत्र विचित्रसौख्यम् ॥८४

इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचरिते हरिषेणमहाशुक्रगमनो नाम
त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

राजा काम-पाश के समान कण्ठ में अर्पित प्रिया के भुजयुगल को बड़ी कठिनाई से छुड़ाता हुआ शय्या से उठा ॥ ८० ॥

इस प्रकार जो हर्षपूर्वक राज्यलक्ष्मी और अखण्ड—निरतिचार श्रावक की वृत्ति को भी धारण कर रहा था तथा जो स्फटिकमणि के समान निर्मल था ऐसे उस राजाधिराज हरिषेण के अनेक वर्ष व्यतीत हो गये ॥ ८१ ॥ किसी अन्य समय राजा प्रमदवन में स्थित सुव्रतिष्ठ मुनि को देखकर तपोधन हो गया और प्रशमगुण में रत होता हुआ तपश्चरण करने लगा ॥ ८२ ॥ आयु के अन्त में विधि के जाननेवाले उन प्रसिद्ध मुनि ने एकाग्र बुद्धि से विधिपूर्वक सल्लेखना कर अपनी कीर्ति से पृथिवी को और शरीर से महाशुक्र स्वर्ग को भी अलंकृत किया ॥ ८३ ॥ जिसकी रूप-संपदा देवाङ्गनाओं के मन को हरण करनेवाली थी तथा जिसकी आयु सोलह सागर प्रमाण थी ऐसा वह प्रीतिंकर देव उस महाशुक्र स्वर्ग में बहुत बड़े प्रीतिवर्धन नामक विमान में रहकर नाना प्रकार के सुखों का उपभोग करने लगा ॥ ८४ ॥

इस प्रकार असग कवि कृत श्री वर्द्धमानचरित में हरिषेण के महाशुक्र स्वर्ग में जाने का वर्णन करनेवाला तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

---

१. प्रशमरतिश्चिरं- ब०

चतुर्दशः सर्गः

प्रहर्षिणी

द्वीपेऽस्मिन्प्रथमपरेतरे विदेहे कच्छाख्यामथ विषयोऽस्ति नित्यरम्यः ।
सीतायाः सुरसरितस्तटीमुदीचीमुद्भासयन्प्रकटमवस्थितः स्वकान्त्या ॥१
उद्भिद्य क्षितितलमुत्थितोऽहिलोकः किं द्रष्टुं भुवमुत नाकिनां निवासः ।
आयातः स्वयमपि यस्य भूरिशोभां पश्यन्तः क्षणममराश्च विस्मयन्ते ॥२
तत्रास्ति त्रिजगदिवैकतामुपेतं क्षेमाद्यद्युतिमभिधां पुरं प्रधानम् ।
'सद्वृत्तप्रकृतियुतं विविक्तवर्णैराकीर्णं तिलकनिभं वसुन्धरायाः ॥३
तस्यासीदथ नृपतिः पुरस्य नाथो नीतिज्ञो विनतरिपुर्धनञ्जयाख्यः ।
येन श्रीरतिवपलाप्यकारि वश्या विद्यन्ते भुवि महतां न दुःकराणि ॥४
कल्याणी सकलकलासु दक्षबुद्धिः स्मेरास्या स्मरविजयैकवैजयन्ती ।
लज्जाया हृदिव बभूव तस्य राज्ञी विख्याता मनुजपतेः प्रभावतीति ॥५
सत्स्वप्नैर्निगदितचक्रवर्तिलक्ष्मीः प्राग्देवः सुरनिलयात्ततोऽवतीर्य ।
पुत्रोऽभूद्भुवि स तयोर्यशो महीयो मूर्तं वा प्रियपदपूर्वमित्रनामा ॥६

चौदहवाँ सर्ग

अथानन्तर इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में कच्छा नाम को धारण करने वाला एक नित्य रमणीय देश है जो अपनी कान्ति से सीता नदी के उत्तर तट को विभूषित कर प्रकट रूप से स्थित है ॥ १ ॥ जिसकी बहुत भारी शोभा को देखते हुए देव, क्षणभर के लिये ऐसा विस्मय करने लगते हैं कि क्या यह पृथिवीतल को भेदकर ऊपर उठा हुआ नागलोक—धरणेन्द्र का निवास है अथवा पृथिवी को देखने के लिये स्वयं आया हुआ स्वर्ग है ? ॥ २ ॥ उस कच्छा देश में हेमद्युति नाम को धारण करनेवाला एक नगर है जो ऐसा जान पड़ता है मानो एकरूपता को प्राप्त हुआ त्रिभुवन ही है, जो सदाचारी प्रजा से युक्त है, पवित्र आचरण करनेवाले वर्णों से व्याप्त है तथा पृथिवी के तिलक के समान है ॥ ३ ॥

तदनन्तर नीति का ज्ञाता और शत्रुओं को वश में करनेवाला धनञ्जय नाम का वह राजा उस नगर का स्वामी था जिसने अत्यन्त चञ्चल लक्ष्मी को भी वश कर लिया था सो ठीक ही है क्योंकि पृथिवी पर महापुरुषों के लिये दुष्कर कोई कार्य नहीं है ॥ ४ ॥ उस राजा की प्रभावती नाम की प्रसिद्ध रानी थी जो कल्याणकारिणी थी, समस्त कलाओं में कुशल बुद्धिवाली थी, हँसमुख थी, कामदेव की एक विजयपताका थी तथा मानो लज्जा का हृदय ही थी ॥ ५ ॥ समीचीन स्वप्नों के द्वारा जिसकी चक्रवर्ती की लक्ष्मी पहले से ही सूचित हो गयी थी ऐसा वह प्रीतिंकर नाम का देव उस महाशुक्र स्वर्ग से अवतीर्ण होकर उन दोनों के प्रियमित्र नामका पुत्र हुआ ।

तं विद्याः प्रथमप्रवालिरे सकलाः अत्यर्थं अतिविभवेन लोभयन्त्यः ।
अन्येतुं झटिति परं समुत्सुकायाः साम्राज्यश्रिय इव दूतिकाः प्रधानाः ॥७
सर्वेषामपि स भावजं पुराणां रत्नानामिव जलधिः सुनिर्मलानाम् ।
लावण्यं दधदपि भूरि तद्धि चित्रं माधुर्यं विदधि विदधि यस्तानि लोके ॥८
'सद्वृत्तः सकलकलाधरो मितज्ञानानन्दं निजमृदुपादसेवकानाम् ।
सम्पूर्णो विधुरिव भूरिरूपशोभासम्पत्तिभिनवयौवनेन भेजे ॥९
संरेजे समदवधूविलोलनेत्रैस्त्यक्तान्यैरधिगतसंमदं पतद्भिः ।
बिभ्राणो नवसमये प्रसूनलक्ष्मीं प्रत्यग्रामभिनिचहैरिवैकपूतः ॥१०
अन्यस्मिन्नहनि धनञ्जयो जिनेन्द्रं स क्षेमङ्करमुपगम्य तत्प्रणीतम् ।
धर्मं च प्रवदमना निशम्य सम्यक् संसाराद्विरतमतिः परं बभूव ॥११
विन्यस्य श्रियमथ तत्र पुत्रमुख्ये तन्मूले सपदि स दीक्षितो विरेजे ।
संसारव्यसननिरासिनी मुमुक्षोःशोभायै भवति न कस्य वा तपस्या ॥१२

वह पुत्र ऐसा जान पड़ता था मानो पृथिवी पर मूर्तिधारी यश ही हो ॥ ६ ॥ जो उसे शीघ्र ही प्राप्त करने के लिये अत्यन्त उत्सुक साम्राज्य लक्ष्मी को प्रधान दूतियों के समान थीं ऐसी समस्त विद्याएँ उसके बुद्धि-वैभव से लुभाई आकर पहले ही प्रत्यक्ष रूप से उसकी उपासना करने लगी थीं ॥ ७ ॥ जिस प्रकार समुद्र अत्यन्त निर्मल रत्नों का पात्र होता है उसी प्रकार वह पुत्र भी समस्त निर्मल गुणों का पात्र था। वह यद्यपि बहुत भारी लावण्य—खारापन (पक्ष में सौन्दर्य) को धारण करता था तो भी लोक में प्रत्येक दिशाओं में माधुर्य—मिठास (पक्ष में हर्ष) को विस्तृत करता था यह आश्चर्य की बात थी ॥ ८ ॥

जो सद्वृत्त—सदाचारी था (पक्ष में प्रशस्त गोल था), सकल कलाओं—चौंसठ कलाओं को धारण करने वाला था (पक्ष में सोलह कलाओं का धारक था) और अपने कोमल पाद—चरणों (पक्ष में किरणों) की सेवा करने वालों के आनन्द को विस्तृत करता था ऐसा वह प्रियमित्र नवयौवन के द्वारा पूर्ण चन्द्रमा के समान बहुत भारी रूप की शोभा सामग्री को प्राप्त हुआ था। भावार्थ—नवयौवन से उसका शरीर पूर्ण चन्द्रमा के समान सुशोभित होने लगा ॥ ९ ॥ जिस प्रकार वसन्त ऋतु में नवीन पुष्पलक्ष्मी को धारण करने वाला आम का प्रमुख वृक्ष, पड़ते हुए भ्रमरों के समूह से सुशोभित होता है उसी प्रकार नूतन तारुण्य लक्ष्मी को धारण करने वाला प्रियमित्र अन्य पदार्थों को छोड़कर हर्षपूर्वक पड़ते हुए मदमाती स्त्रियों के चञ्चल नेत्रों से सुशोभित हो रहा था ॥ १० ॥

किसी अन्य दिन राजा धनञ्जय ने क्षेमङ्कर तीर्थंकर के पास जाकर उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म को एकाग्रचित्त से अच्छी तरह सुना जिससे वह संसार से अत्यन्त विरक्तचित्त हो गया ॥ ११ ॥ तदनन्तर उस मुख्य पुत्र के लिये राज्यलक्ष्मी सौंपकर वह उन्हीं क्षेमङ्कर तीर्थंकर के चरणमूल में

---

१. सद्वृत्तिप्रकृतिवृत्तं म० । २. लवणीताम् ब० ।

[illegible] सकलनृपश्रिरप्रलभ्यां प्राप्यापि प्रथमतरां तथा न भेजे ।
विभ्राणः सकलमणुव्रतं यथावत्सम्यक्त्वं सहजमथोज्ज्वलं च राजा ॥१३
तस्येयुः परमरजोऽपि शत्रवरिभैरारुष्टाः स्वयमुपगम्य किङ्करत्वम् ।
द्योतांशोरिव किरणाः सतां गुणौघा विस्रम्भं विदधति कस्य वा न शुभ्राः ॥१४
एकस्मिन्नथ दिवसे सभागृहस्थं विज्ञप्तो नरपतिमभ्युपेत्य कश्चित् ।
संभ्रान्तो नतिरहितं मुदैवमूचे को विद्वान् भवति सचेतनो महत्या ॥१५
शाकायाममलरुचां वरासुधानामुत्पन्नं विनतनरेन्द्रचक्र चक्रम् ।
दुःप्रेक्ष्यं दिनकरकोटिबिम्बकल्पं यक्षाधानमधिगणेन रक्ष्यमाणम् ॥१६
तत्रैव स्फुरितमणिप्रभापरीतो दण्डोऽभूदसिरपि शारदाम्बराभः ।
प्रत्यक्षं यक्ष इव ते मनोऽभिरामं पूर्णेन्दुद्युतिरुचिरं सितातपत्रम् ॥१७
संसर्पत्करनिचयेन रुद्धदिक्कश्चूलाख्यो मणिरवपादि कोशगेहे ।
काकिण्या समममिरांशुराजिभासा भूपेन्द्र द्युतिवितते चर्मणा च ॥१८
आकृष्टाः सुकृतफलेन रत्नभूता द्वारस्थाः सचिवगृहेशसेनमुख्याः ।
सेनानीकरिपुरगावच कन्ययामा काङ्क्षन्ति क्षितिप भवत्कटाक्षपातम् ॥१९

शीघ्र ही दीक्षित हो सुशोभित होने लगा सो ठीक ही है क्योंकि संसार के कष्ट को दूर करने वाली तपस्या किस मुमुक्षु की शोभा के लिये नहीं होती ? ॥ १२ ॥ राजा प्रथमित्र दुर्लभ साम्राज्य लक्ष्मी को पाकर भी उस प्रकार के हर्ष को प्राप्त नहीं हुआ था जिस प्रकार कि यथोक्त समस्त अणुव्रतों और नैसर्गिक निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करता हुआ हर्ष को प्राप्त हुआ था। भावार्थ—उसने राजलक्ष्मी को पाते ही पूर्व संस्कारवश निर्मल सम्यग्दर्शन और अणुव्रतों को धारण कर लिया था ॥ १३ ॥ उसके सदाचार से आकृष्ट हुए शत्रु भी स्वयं आकर अत्यधिक किङ्करता को प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल सत्पुरुषों के गुणों के समूह किसे विश्वास उत्पन्न नहीं करते ? ॥ १४ ॥

तदनन्तर किसी एक दिन राजा सभागृह में बैठे हुए थे उसी समय संभ्रम में पड़ा हुआ कोई परिचित मनुष्य आया और नमस्कार किये बिना ही हर्ष से इस प्रकार कहने लगा सो ठीक ही है क्योंकि बहुत भारी भाग्योदय होने पर सचेतन—विचाराविचार की शक्ति से सहित कौन होता है ? ॥ १५ ॥ हे राजाओं के समूह को नम्र करने वाले राजन् ! निर्मल कान्ति के धारक उत्कृष्ट शस्त्रों की शाला में वह चक्ररत्न प्रकट हुआ है जिसका देखना भी शक्य नहीं है, जो करोड़ों सूर्य-बिम्बों के समान है तथा यक्षेन्द्रों का समूह जिसकी रक्षा कर रहा है ॥ १६ ॥ उसी शस्त्र-शाला में देदीप्यमान मणियों की प्रभा से व्याप्त दण्ड और शरद् ऋतु के आकाश के समान कान्ति-वाला असि रत्न भी प्रकट हुआ है। पूर्ण चन्द्रमा के समान कान्ति से सुन्दर वह सफेद छत्र प्रकट हुआ है जो तुम्हारे साक्षात् यक्ष के समान मन को आनन्दित करने वाला है ॥ १७ ॥ हे राजेन्द्र ! कोशगृह में बिजलियों के समूह के समान कान्तिवाली काकिणी और कान्ति से व्याप्त चर्मरत्न के साथ ऐसा चूड़ामणि रत्न उत्पन्न हुआ है जिसने चारों ओर फैलती हुई किरणों के समूह से सब दिशाओं को व्याप्त कर रक्खा है ॥ १८ ॥ हे राजन् ! पुण्य के फल से आकृष्ट होकर द्वार पर खड़े

[illegible] ॥१९॥
[illegible] ॥२०॥
[illegible] ॥२१॥

प्रत्यर्च्य जिनपतिमन्वहं च भक्त्या कृत्स्नं सह सकलेन राजकेन ।
संपूज्य प्रथमगती यथोक्तमार्गैस्तत्संज्ञस्तदवितथं विसस्मयात्मा ॥२२
षट्खण्डं[1] कतिपयवासरैरनूनैराकीर्णं नृपवरराजितैश्च देवैः ।
चक्रेण स्वयशसकारि तेन कृत्स्नं दुःसाध्यं न हि भुवि पुण्यभाजाम् ॥२३
द्वात्रिंशत्सकलनरप्रधिराड्सहस्रैर्विंशत्यैरपि विबुधाधिपैस्तदर्हैः ।
स्त्रीभिः षण्णवतिसहस्रसम्मिताभिः कान्ताभिः परिवरितो रराज सम्राट् ॥२४
नैसर्पः समममथ पाण्डुपिङ्गलाभ्यां कालेन स्थितिसमरोज्य पूरिकालः ।
शङ्खस्थो निधिरपि पद्ममाणवाभ्यां कौबेर्यां दिशि नवमश्च सर्वरत्नः ॥२५
प्रासादान्भुवु शयनानि सोपधानान्यासन्दीप्रमुखवरासनप्रपञ्चान् ।
नैसर्पो वितरति सन्ततं जनेभ्यः पर्यङ्कान्बहुविधजातिपट्टकांश्च ॥२६

हुए सचिव, गृहपति, स्थपति, सेनापति, गजराज और अश्वरत्न, कन्या रत्न के साथ आपके कटाक्ष-पात की इच्छा कर रहे हैं ॥ १९ ॥ अपने वैभव से सदा कुबेर की लक्ष्मी का पराभव करनेवाली नौ निधियां भी उत्पन्न हुई हैं सो ठीक ही है क्योंकि पूर्वजन्म में संचित बहुत भारी पुण्य की शक्ति किन सम्पदाओं को उत्पन्न करने वाली नहीं होती ? ॥ २० ॥ इस प्रकार उस पुरुष के द्वारा कही हुई, मनुष्यलोक की सारभूत चक्ररत्न की संपदा को उत्पन्न हुई सुनकर भी राजा प्रियमित्र, साधारण मनुष्य के समान विस्मय को प्राप्त नहीं हुए सो ठीक ही है क्योंकि इस संसार में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो विद्वज्जनों के कुतूहल का कारण है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ २१ ॥ विधि विधान के ज्ञाता राजाधिराज प्रियमित्र ने हर्ष सहित समस्त राजाओं के साथ साक्षात् तीर्थंकर के पास जाकर सबसे पहले भक्तिपूर्वक यथोक्त विधि से उनकी पूजा की पश्चात् चक्ररत्न की पूजा को विस्तृत किया ॥ २२ ॥ उसने समस्त भूमिगोचरी राजाओं, विद्याधर राजाओं और देवों से व्याप्त सम्पूर्ण छह खण्ड को चक्ररत्न के द्वारा कुछ ही दिनों में अपने वश कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि बहुत भारी पुण्य से युक्त मनुष्यों को पृथिवी में कठिन कुछ भी नहीं है ॥ २३ ॥ बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं, सोलह हजार प्रसिद्ध देवों और छियानवे हजार सुन्दर स्त्रियों से सहित चक्रवर्ती प्रियमित्र सुशोभित होने लगा ॥ २४ ॥

तदनन्तर पाण्डु और पिङ्गल के साथ नैसर्प, काल के साथ महाकाल, पद्म और माणव के साथ शङ्खनिधि तथा नौवीं सर्वरत्न निधि ये नौ निधियां उत्तर दिशा में स्थित थीं ॥ २५ ॥ नैसर्प निधि, मनुष्यों के लिये शयन, मद्रा और चकियों से सहित सिंहासन, आरामकुर्सी आदि उत्तमोत्तम

---

१. षट्खण्डः ब० । २. पट्टिकांश्च ब० ।

शालीनां तिलमाषकोद्रवयवां कोद्रूषकाणां वरक्षुद्रक्षिमनुष्यकाणाम् ।
सर्वेषां मनुजवराभिवाञ्छितानां भेदानामतितृप्तिं पाण्डुकः प्रदाता ॥२७

प्रत्युप्तप्रविपुलरत्नराजिरश्मिश्रेणीभिः शबलितसर्वदिङ्मुखानि ।
स्त्रीपुंसं प्रति सदृशानि[1] भूषणानि श्रीमन्ति प्रतिविशति पिङ्गलो जनेभ्यः ॥२८

सर्वर्तुप्रसवफलानि सर्वकालं चित्राणि द्रुमलतिकाकुथोद्भवानि ।
निर्व्याजं विसरति वाञ्छितानि कालः किन्न स्यात्सुकृतफलेन पुण्यभाजाम् ॥२९

सौवर्णं सदनपरिच्छदं विचित्रं ताम्रीयं विविधमुपस्करं च लौहम् ।
लोकेभ्यः समभिमतं ददाति यत्नात्सीरन्ध्रं निधिरचिराय भूरिकालः ॥३०

वाद्यानां ततघनरन्ध्रनद्धभेदैर्भिन्नानां श्रुतिसुखदायिनादभाजाम् ।
संघातं सृजति समीप्सिताय शङ्खो दुःप्रापं न हि जगतां समग्रपुण्यैः ॥३१

चित्राणि क्षणरुचिशक्रचापकान्ति खस्थास्नुं निजमहसा विडम्बयन्ति ।
वासांसि स्वतिशयरत्नकम्बलादिप्रावारैः सह दिशतीप्सितानि पद्मः ॥३२

हेतीनां निवहमनेकभेदभिन्नं दिव्यानामनुगतलक्षणस्थितीनाम् ।
दुर्भेद्यं कवचशिरःसुवर्णजातं प्रख्यातं वितरति माणवो जनेभ्यः ॥३३

आसनों के समूह, पलङ्ग और नाना प्रकार के पाटे प्रदान करती है ॥ २६ ॥ साठी चावल, तिल, जौ, उड़द, कोदों, सामान्य धान, उत्कृष्ट चना तथा प्रियङ्गु आदि जिन अनाज के भेदों की मनुष्य अपने हृदय में इच्छा करते हैं उन सबको संतोष कारक मात्रा में पाण्डुक निधि देती है ॥ २७ ॥ पिंगल निधि मनुष्यों के लिए जड़े हुए बड़े-बड़े रत्नसमूह की किरणावली से जिन्होंने समस्त दिशाओं के अग्रभाग को चित्रित कर दिया है, जो स्त्री-पुरुषों की योग्य अवस्थाओं से सहित हैं तथा जो श्रीशोभा से सम्पन्न हैं ऐसे आभूषण प्रदान करती है ॥ २८ ॥ कालनिधि सदा निश्छल-रूप से वृक्ष, लता और झाड़ियों से उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के सब ऋतुओं के फूल और फल इच्छानुसार प्रदान करती है सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यशाली जीवों के पुण्य-फल से क्या नहीं होता ? ॥ २९ ॥ महानिधि मनुष्यों के लिये उनकी इच्छानुसार सुवर्ण से बने हुए, महलों की सजावट के विविध सामान, तथा तांबे और लोहे के बने हुए नाना प्रकार के बर्तन, यत्नपूर्वक निर्दोष रूप से शीघ्र ही प्रदान करती है ॥ ३० ॥ शङ्खनिधि, इच्छुक मनुष्यों के लिये तत, घन, रन्ध्र और नद्ध के भेद से नानाभेद लिये सुखदायक शब्द से युक्त बाजों के समूह को रचती है सो ठीक ही है क्योंकि सम्पूर्ण पुण्य के द्वारा जीवों के लिये कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है ॥ ३१ ॥ पद्म-निधि अपने तेज से आकाश में स्थित बिजली और इन्द्रधनुष की कान्ति को तिरस्कृत करने वाले नाना प्रकार के मनोवांछित वस्त्र, अत्यन्त श्रेष्ठ रत्नकम्बल आदि ओढ़ने के वस्त्रों के साथ प्रदान करती है ॥ ३२ ॥ माणव निधि, मनुष्यों के लिये अपने-अपने लक्षणों की स्थिति से सहित दिव्य शस्त्रों के विविध समूह तथा कठिनाई से भेदने योग्य प्रसिद्ध कवच और शिर के टोप आदि प्रदान

---

१. सदृशानि ब० ।

रत्नानां किरणैः सुरेन्द्रधनुषश्रीसम्पदोत्पादिभिर्व्याप्तं सर्वधनैः समग्रां[1] समस्तां[2] सम्पदं सर्वरत्नः ॥३४
लोकानामिति स नवैरवाप्तोद्यानुभावो निधिभिश्चिरपुरुषार्थसिद्धिकामम् ।
प्रत्यग्रैर्नवजलदोद्गिभिः समन्तात्प्रावृष्कैरिव शिखिनां तपावसानः ॥३५
औद्धत्यं नवनिधिभिः प्रवीयमानैर्नैर्ग्रन्थ्यैरपरिमितैः स संप्रपेदे ।
लोभोद्भेदैरिव बलधिर्नवोपनीतैर्वीराणां न हि विभवो विकारहेतुः ॥३६
अन्येद्युः समनुभवन्दशाङ्गभोगान्यानैरमरनुतैः सदा परीतः ।
धर्मास्थां शिथिलयति स्म न स्वचित्तान्यायत्ते न हि विभवैर्महानुभावाः ॥३७
आश्लिष्टो धनमपि राजराजलक्ष्म्या राजेन्द्रः प्रशमरतिं सुखाय मेने ।
सद्वृष्टेरधिगतभूरिसंपदोऽपि श्रेयोऽर्थानहि विजहाति निर्मला धीः ॥३८
पूर्वाणि त्रिचरमकान्यशीतिलक्षान्यानन्दं सकलजनस्य चक्रनाथः ।
आतन्वन्निति स निनाय मग्नचित्तो वित्तीर्णे विषयसुखामृताम्बुराशौ ॥३९
अन्येद्युः प्रविमलदर्पणे स्वबिम्बं संपश्यन्नुपतिः स्वकर्णमूले ।
संलग्नं वितिमितुं जरां भवित्रीं दूतं वा नवपलिताङ्कुरं निदध्यौ ॥४०

करती है ॥ ३३ ॥ सर्वरत्ननिधि, समस्त मनुष्यों के लिये उस सामग्री को उत्पन्न करती है जो परस्पर मिली हुई रत्नों की किरणावली से आकाश में इन्द्रधनुष की लक्ष्मी को उत्पन्न करती है और संपत्ति के द्वारा परिपूर्ण है ॥ ३४ ॥ इस तरह जिस प्रकार वर्षाऋतु सब ओर नूतन जल को छोड़ने वाले नवीन मेघों से मयूरों के समस्त मनोरथों को पूर्ण करती है उसी प्रकार वह चक्रवर्ती निधियों के द्वारा मनुष्यों के समस्त मनोरथों को अतिशयरूप से पूर्ण करता था ॥ ३५ ॥ जिस प्रकार समुद्र नदियों द्वारा लाये हुए जल के समूह से गर्व को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार वह नौ निधियों के द्वारा दिये जाने वाले अपरिमित धन से गर्व को प्राप्त नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि वैभव धीर मनुष्यों के विकार का कारण नहीं होता ॥ ३६ ॥ जो नम्रीभूत देव और राजाओं के द्वारा सदा घिरा रहता था ऐसे उस चक्रवर्ती ने इस तरह दशाङ्ग भोगों को भोगते हुए भी अपने मन से धर्म की श्रद्धा को शिथिल नहीं किया था सो ठीक ही है क्योंकि महानुभाव— उत्तम मनुष्य वैभव के द्वारा गर्व को प्राप्त नहीं होते हैं ॥ ३७ ॥ वह चक्रवर्ती, कुबेर की लक्ष्मी से अत्यन्त आलिङ्गित होने पर भी प्रशम गुण की प्रीति को ही सुख के लिये मानता था सो ठीक ही है क्योंकि बहुत भारी संपत्ति को प्राप्त करने वाले भी सम्यग्दृष्टि जीव की निर्मल बुद्धि कल्याणकारी पदार्थों को नहीं छोड़ती है ॥ ३८ ॥ इस प्रकार जो विस्तृत विषय सुख रूपी अमृत के समुद्र में निमग्न चित्त था तथा जो समस्त मनुष्यों के आनन्द को विस्तृत करता रहता था ऐसे उस चक्रवर्ती ने तेरासी लाख पूर्व व्यतीत कर दिये ॥ ३९ ॥

किसी अन्य दिन वह चक्रवर्ती अत्यन्त निर्मल दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देख रहा था, उसी समय उसने अपने कानों के समीप लगा हुआ एक सफ़ेद बाल देखा, वह बाल ऐसा जान पड़ता

---

१. संपदं म० । २. समग्रां म० ।

तं दृष्ट्वा मतिमुकुरं विहाय सद्यो रत्नेन्द्रविरचितेति चिन्तयांबभूव ।
[1]विषयविषमहीव कोऽपरः स्यादेतावान् संसारे विषयविषैर्वशीकृतात्मा ॥४१
भोगार्हैः सुरनृपखेचरोपनीतैः साम्राज्ये न खलु ममापि जातु तृप्तिः[2] ।
संतृप्तिः प्रकृतिजनेषु कैव वार्ता दुःपूरो भवति तथापि लोभभर्तः ॥४२
आकृष्टो विषयसुखैर्बुधोऽपि नूनं संसाराद्भ परिविभेति भूरिदुःखात् ।
आत्मानं बत कुरुते दुराशयार्तं मोहान्धो ननु सकलोऽपि जीवलोकः ॥४३
ते धन्या जगति विदां त एव पुण्याः पर्याप्तं सुकृतफलं च भूरि तेषाम् ।
यैस्तृष्णाविषलतिका समूलतूलं प्रोन्मूल्य प्रतिदिशमुज्झिता सुदूरम् ॥४४
नो भार्या न च तनयो न बन्धुवर्गः संत्रातुं व्यसनमुखावलं हि कश्चित् ।
तेष्वास्थां शिथिलयितुं तथापि नेच्छेत् विद्भूढां प्रकृतिमिमां शरीरभाजाम् ॥४५
संतृप्तिर्न च विषयैर्निषेव्यमाणैरक्षाणां भवति पुनस्तृषैव घोरा ।
तृष्णार्तो हितमहितं न वेत्ति किञ्चित्संसारो व्यसनमयो ह्यनात्मनीनः ॥४६
जानाति स्वयमपि वीक्षते शृणोति प्रत्यक्षं जननजरामृतिस्वभावम् ।
संसारं कुशलविवर्जितं तथापि [3]भ्रान्तात्मा प्रशमरतो न जातु जीवः ॥४७

या मानो आगे आने वाली वृद्धावस्था की सूचना देने के लिये आया हुआ उसका दूत ही हो ॥४०॥ उस बाल को देख कर तथा शीघ्र ही मणिमय दर्पण छोड़ कर चक्रवर्ती चिरकाल तक ऐसा विचार करने लगा कि समस्त संसार में मेरे समान दूसरा कौन प्राणी है जिसकी आत्मा विषयरूपी विष के वशीभूत हो ॥ ४१ ॥ देव राजा तथा विद्याधरों के द्वारा लाये हुए मनोहर भोगोपभोग के पदार्थों से जब साम्राज्य में मुझे भी निश्चय से तृप्ति नहीं है तब प्रजा-जनों की तो बात ही क्या है ? फिर भी लोभरूपी गड्ढा दुःपुर है —कठिनाई से भरने के योग्य है ॥ ४२ ॥ विषय-सुख से आकृष्ट हुआ विद्वान् भी सचमुच बहुत भारी दुःख से युक्त संसार से भयभीत नहीं होता है। खेद है कि वह दुष्ट तृष्णा से अपने आपको दुःखी करता है सो ठीक ही है क्योंकि निश्चय से सभी संसार मोह से अन्धा हो रहा है ॥ ४३ ॥ संसार में वे ही धन्य हैं, वे ही ज्ञानीजनों में मुख्य हैं, और उन्हीं को पुण्य का बहुत भारी फल अच्छी तरह प्राप्त हुआ है जिन्होंने कि तृष्णा रूपी विष-लता के समूलतूल उखाड़ कर प्रत्येक दिशा में बहुत दूर फेंक दी है ॥ ४४ ॥ यद्यपि मृत्यु के मुख से रक्षा करने के लिये न स्त्री समर्थ है, न पुत्र समर्थ है और न कोई बन्धु वर्ग ही समर्थ है तथापि यह प्राणी उनमें आदर बुद्धि को शिथिल करने की इच्छा नहीं करता सो ठीक ही है क्योंकि प्राणियों को इस मूढ़ बुद्धि को धिक्कार है ॥ ४५ ॥ अच्छी तरह सेवन किये हुए विषयों से इन्द्रियों की तृप्ति नहीं होती किन्तु भयंकर तृष्णा ही बढ़ती है। तृष्णा से पीड़ित जीव हित-अहित को कुछ भी नहीं जानता है। वास्तव में दुःखों से भरा हुआ यह संसार आत्मा के लिये हितकारी नहीं है ॥ ४६ ॥ भ्रम में पड़ा हुआ यह जीव यद्यपि जन्म, जरा और मृत्यु रूप स्वभाव से सहित तथा कुशल से रहित संसार को स्वयं जानता है, देखता है और प्रत्यक्ष सुनता भी है तो भी कभी प्रशम

---

१. विषवल्लीव म० । २. तृप्ते म० । ३. प्रकृत म० । ४. भ्रान्त्यात्मा म० ।

अजानन्तो यद्वद्युपनयन्त्यन्तकायैर्जनाः सुप्तव्याघ्रिण्या विधानम् ।
नो चेत्स्वस्वरूपे विविधयतुः को जीवानामहितरतिः परं स्वभावः ॥४८
संपत्तिस्तडिदिव चञ्चला समग्रा तारुण्यं सुचिरतरदावोपमेयम् ।
किं नायुर्जगति पदे पदे गलत्तं निःशेषं क्षणिकघटाम्बुवन्न राजन् ॥४९
बीभत्से प्रकृतिविनश्वरे निवासं दुःपूरे बहुविधदोषवासगेहे ।
विग्मूत्रप्रततमलपूर्णभाण्डे[1] को विद्वान्वपुषि करोति बन्धुबुद्धिम् ॥५०
संसारस्थितिमिति चेतसा विनिन्द्य क्षोणीशः स्वयमभिराम मोक्षमार्गम् ।
जिज्ञासुर्जिगमयिषुर्विधातुं प्रतस्थे प्रत्यासन्नहतपुरप्रसूनवर्षः ॥५१
तेनाग्रे समवसृतिः प्रसन्नभव्यैर्नेमिः परिवरितत्रिलोकी जिनेन्द्रम्[2] ।
आसेदे सुरपवनीव तारतारमध्यस्थायिनिखिलपूर्णचन्द्रकलक्ष्मीः ॥५२

शालिनी

अज्ञानारं ज्ञानचक्षुर्जिनेन्द्रं
चतुरमरनिकायैः सेवितं प्राञ्जलीड्यम् ।
द्विगुणितशमसंपद्भक्तिभोगाभ्युदयः
सकलनरपतीन्द्रस्तं ववन्दे जिनेन्द्रम् ॥५३

इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचरिते प्रियमित्रचक्रवर्तिसंभवो नाम
चतुर्दशः सर्गः

गुण में लीन नहीं होता ॥ ४७ ॥ इन्द्रियों की अधीनता को प्राप्त होकर यह जीव अल्पसुख प्राप्त करने की इच्छा से पाप कार्य में अत्यन्त आसक्त हुआ परभव में प्राप्त होने वाले विचित्र दुःख को नहीं देखता है सो ठीक ही है क्योंकि अहित में प्रीति करना ही जीवों का स्वभाव है ॥ ४८ ॥ समस्त संपत्ति बिजली के समान चञ्चल है, यौवन तृण में लगी हुई दावानल की दीप्ति के समान है, और फूटे घड़े में रखे हुए पानी के समान मनुष्यों की समस्त आयु क्या पद-पद पर नहीं गल रही है ? अर्थात् अवश्य गल रही है ॥ ४९ ॥ जो घृणित है, स्वभाव से नश्वर है, अत्यन्त दुष्पूर है, नाना प्रकार के रोगों का निवास गृह है और मल-मूत्र तथा रुधिर से भरा हुआ जीर्ण बर्तन है ऐसे शरीर में कौन विद्वान् बन्धु की बुद्धि करता है—उसे बन्धु के समान हितकारी मानता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ५० ॥

इस प्रकार राजा स्वयं ही अपने चित्त से संसार स्थिति की निन्दा कर शीघ्र ही मोक्षमार्ग को जानने का इच्छुक हो प्रस्थान के समय ताडित मृदङ्ग से, भव्यजीवों को बुलाता हुआ जिनेन्द्र भगवान् की वन्दना करने के लिये चला ॥ ५१ ॥ तदनन्तर उसने उस समवसरण को प्राप्त किया जो प्रसन्न भव्य जीवों की पङ्क्तियों से सहित था, जिनेन्द्र भगवान् के चारों ओर स्थित था तथा विशाल ताराओं के मध्य में स्थित पूर्ण चन्द्रमा से सुशोभित आकाश के समान था ॥ ५२ ॥ कुबेरी सम्पदा और भक्ति से जिसका शिर नम्रीभूत था, ऐसे चक्रवर्ती ने उस

---

१. भाण्डेऽपि म० । २. जिनेन्द्रः म० ।

पञ्चदशः सर्गः

शालिनी

पप्रच्छाथ प्राञ्जलिर्भक्तिनम्रः क्षोणीनाथो मोक्षमार्गं जिनेन्द्रम् ।
ज्ञात्वा दोःस्थं संसृतेरप्रमेयं भव्यः को वा सिद्धये नोत्सहेत ॥१
सर्वज्ञस्वाभिन्नजातीन्विमुक्तेर्मार्गं भव्यान्बोधयन्नेवमूचे ।
वाचं वाचामीशिता दिव्यनादव्याप्तास्थानं विश्रुताशेषतत्त्वः ॥२
स्यात्सम्यक्त्वं निर्मलं ज्ञानमेकं सच्चारित्रं चापरं चक्रपाणे ।
मोक्षस्यैतान्येव मार्गः परोऽयं न व्यस्तानि प्राणिनः संभुवन्तीः ॥३
तत्त्वार्थानां तद्धि सम्यक्त्वमुक्तं श्रद्धानं यन्निश्चयेनावबोधः ।
तेषामेव ज्ञानमेकं यथावत्स्वाच्चारित्रं सर्वसङ्गेष्वसङ्गः ॥४
जीवाजीवौ पुण्यपापास्रवाश्च प्रोक्ताः सार्वैः[1] संवरो निर्जरा च ।
बन्धो मोक्षश्चेति लोके जिनेन्द्रैरिन्द्राभ्यर्चैः सन्नवैते पदार्थाः ॥५
जीवास्तेषु द्विप्रकारेण भिन्नाः संसारस्था निर्वृताश्चेति तेषाम् ।
स्यात्सामान्यं लक्षणं चोपयोगः सोऽपि द्वयष्टाष्टार्यभेदैर्विभक्तः ॥६

जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार किया जो जन्मरहित थे, मरणरहित थे, अपरिमेय थे, केवलज्ञान रूपी नेत्र से सहित थे, चतुर्णिकाय के देवों से सेवित थे और श्रेष्ठ अञ्जलियों के द्वारा स्तुति करने के योग्य थे ॥ ५३ ॥

इस प्रकार असग कविकृत श्रीवर्द्धमानचरित में प्रियमित्र चक्रवर्ती की उत्पत्ति का वर्णन करने वाला चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ

पन्द्रहवाँ सर्ग

तदनन्तर भक्ति से नम्रीभूत राजा प्रियमित्र ने हाथ जोड़ कर जिनेन्द्र भगवान् से मोक्षमार्ग पूछा सो ठीक ही है क्योंकि संसार के अपरिमित दुःख को जान कर कौन भव्यजीव मुक्ति के लिये उत्साहित नहीं होता है ? ॥ १ ॥ जो वचनों के स्वामी थे तथा समस्त तत्त्वों का जिन्होंने निश्चय कर लिया था ऐसे जिनेन्द्र भगवान् भिन्न-भिन्न जाति के समस्त भव्यजीवों को मुक्ति का मार्ग बतलाते हुए इस प्रकार के वचन बोले। उस समय भगवान् की दिव्यध्वनि से समस्त समवसरण गूँज रहा था ॥ २ ॥ हे चक्रवर्तिन् ! निर्मल सम्यग्दर्शन, अद्वितीय ज्ञान और उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र ये तीन मिलकर ही मोक्षाभिलाषी जीव के लिये मोक्ष का उत्कृष्ट मार्ग हैं पृथक्-पृथक् नहीं ॥ ३ ॥ तत्त्वार्थों की श्रद्धा करना सम्यक्त्व कहा गया है, निश्चय से उनका जानना अद्वितीय ज्ञान है और समस्त परिग्रहों में अनासक्त रहना यथोक्त चारित्र है ॥ ४ ॥ जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ सर्वहितकारी तथा इन्द्रों के द्वारा पूज्य जिनेन्द्र भगवान् ने लोक में कहे हैं ॥ ५ ॥ उन पदार्थों में जीव दो प्रकार के हैं—एक संसारी और

---

१. सार्वः म० ।

[illegible]
उक्तः आगमनुक्रमेण दुरन्ते संसारदावज्वालाविकराले भगवद्भिः ॥७
[illegible] स्थानभेदानुभावात् सौख्यं दुःखं सर्वलोकस्थमेव ।
भाषन्ते जिनाः वीतरागाः प्रत्यक्षतोऽतीत्य व्यवहारमार्गं जिनेन्द्रैः ॥८
भावाः पञ्चैव तत्त्वार्थकाख्याः स्युर्जीवस्यात्मतत्त्वप्राप्तिमद्भिर्जिनेन्द्रैः ।
भेदास्तेषां द्वौ नवाष्टादशापि प्रोक्ताः सैका त्रिंशतिश्च क्रमोऽपि ॥९
सम्यक्त्वं स्यात्तत्त्वरुचिर्यं च चारित्रं भेदस्तस्यौ क्षायिकत्वापि सार्धम् ।
ज्ञानं लाभो दर्शनं भोगवीर्ये क्षेत्रे दानं चोपभोगश्च भेदाः ॥१०
अज्ञानानि त्रीणि चत्वारि सद्भिः संज्ञानानि ज्ञेयभेदो दर्शनानि ।
लिङ्गस्त्रीत्वा लब्धयः पञ्च सार्द्धं सार्धा भेदाः संयतत्वं च लेश्याः ॥११
अज्ञानं च त्रीणि लिङ्गानि लेश्याषट्कं मिथ्यादर्शनासंयतौ च ।
चत्वारश्च स्युः कषायास्तसिद्धोऽष्टाविंशो भव्य तुर्यस्य भेदाः ॥१२

दूसरे मुक्त । उन जीवों का सामान्य लक्षण उपयोग है । वह उपयोग भी दो आठ और चार भेदों से विभक्त है । भावार्थ—मूल में उपयोग के दो भेद हैं एक ज्ञानोपयोग और दूसरा दर्शनोपयोग । इनमें से ज्ञानोपयोग के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, कुमति, कुश्रुत और कुअवधि के भेद से आठ भेद हैं और दर्शनोपयोग के चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधि दर्शन और केवल दर्शन के भेद से चार भेद हैं ॥ ६ ॥ जो नाना योनि स्थान तथा गति आदि के भेद से अनेक प्रकार के हैं तथा नाना दुःख रूपी दावानल से परिपूर्ण इस दुःखदायक संसार रूपी वन में अनादि काल से भ्रमण कर रहे हैं वे संसारी जीव कहे गये हैं ॥ ७ ॥ यह जीव, समस्त तीनों लोकों में इन भावों के द्वारा गति, इन्द्रिय, समस्त स्थानों—जीव समासों के भेद सुख और दुःख को प्राप्त होता है ऐसा वीतराग जिनेन्द्र भगवान् स्पष्ट कथन करते हैं ॥ ८ ॥ क्षायिक आदि पाँच भाव जीव के तत्त्व हैं ऐसा तत्त्व को प्राप्त करने वाले जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं । उन तत्त्वों के दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद कहे गये हैं । भावार्थ—औपशमिक के दो, क्षायिक के नौ, क्षायोपशमिक के अठारह, औदयिक के इक्कीस और पारिणामिक के तीन भेद हैं ॥ ९ ॥ सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र यह पहला भेद है अर्थात् औपशमिक भाव के सम्यग्दर्शन तथा सम्यक् चारित्र ये दो भेद हैं । इन दोनों के साथ ज्ञान, दर्शन, दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य के मिलाने से क्षायिक भाव के नौ भेद होते हैं ॥ १० ॥ उन सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के साथ तीन अज्ञान—कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, चार सम्यग्ज्ञान—सुमति, सुश्रुत, सुअवधि और मनःपर्ययज्ञान, तीन दर्शन—चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शन और अवधि दर्शन, पाँच लब्धियाँ—दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य तथा संयमासंयम इन सोलह के मिलाने से क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद कहे गये हैं ॥ ११ ॥ अज्ञान एक, तीन लिङ्ग—स्त्री, पुरुष और नपुंसक लिंग, छह लेश्याएँ—कृष्ण नील कापोत पीत पद्म और शुक्ल, मिथ्यादर्शन, और असंयत, चार कषाय—क्रोध मान माया और लोभ तथा असिद्धत्व ये सब मिलकर औदयिक भाव

---

१. अत्यन्तानां स्थानभेदेन सौख्यं ब० । २. वीर्यौ ब० ।

जीवत्वं चाभव्यता भव्यता च प्रोक्ताः भेदाः पञ्चमस्य त्रयोऽपि ।
षष्ठस्यान्यः सन्निपातोद्भूतः षट्त्रिंशद्भेदसंदर्शनस्य च प्राधुरार्याः ॥१३
तुल्याः सर्वे निर्वृताः संप्रणीताः सम्यक्त्वाद्यैरक्षयैः सद्गुणैस्ते ।
उत्तीर्याशां दुस्तरं ये भवाब्धिं त्रैलोक्यान्ते निश्चितास्तां प्रतिष्ठाम् ॥१४
धर्माधर्मौ पुद्गलाकाशकालाः सन्त्यजीवाः प्रोक्ता द्रव्यजीवास्तयैते ।
तेषां मध्ये रूपिणः पुद्गलाः स्युः कालं मुक्त्वा तेऽस्तिकायाः सजीवाः ॥१५
कर्ता जीवः षट्सु नान्ये प्रदेशैर्धर्माधर्मैकजीवेन तुल्यौ ।
वासंख्येयैः[1] स्यादनन्तप्रदेशं लोकालोकव्यापकं व्योम नाम ॥१६
धर्माधर्मौ प्राणभृत्पुद्गलानां यानस्थानोपग्रहौ लोकमात्रौ ।
कालो द्रव्यं वर्तनालक्षणश्च स्यादाकाशं सावकाशोपकारि ॥१७
रूपस्पर्शौ वर्णगन्धौ रसश्च स्थौल्यं भेदः सौक्ष्म्यसंस्थानशब्दाः ।
छायोद्योतौ वातपश्चान्धकारः बन्धोऽप्येते पुद्गलानां गुणाः स्युः ॥१८
स्कन्धाः प्रोक्ता द्व्याद्यनन्तप्रदेशैः संयुक्तास्ते स्यादणुश्चाप्रदेशः ।
उत्पद्यन्ते भेदसंघातकाभ्यां स्कन्धाः सर्वे जायतेऽणुश्च भेदात् ॥१९

के इक्कीस भेद हैं ॥१२॥ जीवत्व भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव के भेद कहे गये हैं। इनके सिवाय छठवाँ सान्निपातिक भाव होता है जो कि इन उपर्युक्त भावों के सन्निपात—पारस्परिक सम्बन्ध से होता है। आर्ष पुरुष उसके छत्तीस भेद कहते हैं॥ १३ ॥ जो सम्यक्त्व आदि अविनाशी समीचीन गुणों से सहित हैं तथा दुस्तर संसार सागर को पार कर तीन लोक के अग्रभाग में प्रतिष्ठा—स्थिति को प्राप्त हो चुके हैं, आत्मिक गुणों की अपेक्षा ये सब समान कहे गये हैं॥ १४ ॥

तदनन्तर सत्पुरुषों ने धर्म अधर्म पुद्गल आकाश और काल ये पाँच अजीव पदार्थ कहे हैं। उन पाँचों के बीच पुद्गल रूपी हैं और काल को छोड़कर तथा जीव को मिलाकर पाँच अस्तिकाय हैं॥ १५ ॥ इन छह द्रव्यों में एक जीव द्रव्य कर्ता है अन्य द्रव्य कर्ता नहीं हैं। धर्म, अधर्म और एक जीवद्रव्य असंख्यात प्रदेशों की अपेक्षा तुल्य हैं अर्थात् इन तीनों द्रव्यों में प्रत्येक-द्रव्य के असंख्यात असंख्यात प्रदेश हैं। लोक और अलोक में व्याप्त रहने वाला आकाश द्रव्य अनन्त प्रदेशों से सहित है॥ १६ ॥ धर्म और अधर्म द्रव्य क्रमसे जीव और पुद्गलों के गमन तथा ठहरने में सहायक हैं और लोकाकाश प्रमाण हैं। वर्तनालक्षण वाला कालद्रव्य निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। आकाश द्रव्य, सब द्रव्यों के लिये अवकाश देने रूप उपकार से सहित है॥ १७ ॥ रूप, स्पर्श, वर्ण, गन्ध, रस, स्थौल्य, भेद, सौक्ष्म्य, संस्थान, शब्द, छाया, उद्योत, आतप, अन्धकार और बन्ध ये पुद्गलों के गुण हैं। भावार्थ—इन भेदों में रूप-वर्ण, रस, गन्ध, और स्पर्श से पुद्गल के गुण हैं और शेष पर्याय हैं॥ १८॥ पुद्गलद्रव्य के स्कन्ध और अणु की अपेक्षा दो भेद हैं। जो दो से लेकर अनन्त प्रदेशों से सहित हैं वे स्कन्ध कहे गये हैं और जो अप्रदेश हैं—

---

१. वासंख्येयैः ब०।

[illegible]

द्वितीयादिक प्रदेशों से रहित है वह अणु कहलाता है। समस्त स्कन्ध भेद और संघात से उत्पन्न होते हैं और अणु, मात्र भेद से उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥ स्कन्ध, संसार सागर में गोता लगाने वाले जीव के कर्म, शरीर, मन और वचन की विविध चेष्टायें, प्राण अपान—श्वास उच्छ्वास, जीवन मरण, सुख और दुःख को उत्पन्न करते हैं ॥ २० ॥

काय वचन और मन की क्रिया रूप जो एक योग है उसे सर्वज्ञ भगवान् ने आस्रव कहा है। पुण्य और पाप का साधक होने से आस्रव के दो भेद कहे गये हैं यही शुभास्रव और अशुभास्रव कहलाते हैं ॥ २१ ॥ जिनेन्द्र भगवान् ने आस्रव के दो स्वामी कहे हैं एक कषायों से सहित और दूसरा कषायों से रहित। कषाय सहित स्वामी का आस्रव साम्परय के लिये और कषाय रहित स्वामी का आस्रव ईर्यापथ के लिये है। भावार्थ—आस्रव के दो भेद हैं एक साम्परायिक आस्रव और दूसरा ईर्यापथ आस्रव। संपराय अर्थात् संसार जिसका प्रयोजन है वह सांपरायिक आस्रव कहलाता है। यह कषाय सहित जीवों के होता है और पहले से लेकर दसवें गुण स्थान तक होता है। जिस आस्रव के बाद मात्र प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते हैं स्थिति और अनुभाग बन्ध नहीं होते उसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। यह आस्रव कषाय रहित जीवों के होता है तथा ग्यारहवें उपशान्त से लेकर तेरहवें सयोगस्थान तक ही होता है ॥ २२ ॥ क्रोधादिक कषाय, इन्द्रियाँ, अव्रत और क्रिया ये सांपरायिक आस्रव के भेद विद्वानों के द्वारा जानने योग्य हैं। उनके क्रम से चार, पाँच, पाँच और पच्चीस प्रभेद होते हैं। भावार्थ—सांपरायिक आस्रव के कषाय, इन्द्रिय, अव्रत और क्रिया ये चार मूल भेद हैं। इनमें कषाय के क्रोधादिक चार, इन्द्रियों के स्पर्शनादि पाँच, अव्रत के हिंसादि पाँच और क्रिया के सम्यक्त्ववर्धिनी आदि पच्चीस उत्तर भेद हैं ॥ २३ ॥ तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, द्रव्य—अधिकरण और वीर्य—शक्ति के द्वारा उस आस्रव में विशेषता जानना चाहिये। आस्रव में जो अधिकरण है उसे द्रव्य जानना चाहिये। आस्रव के कारण भूत उसके जीव और अजीव इस तरह दो भेद कहते हैं ॥ २४ ॥ जीवाधिकरण आस्रव के संरम्भ

---

१. संरम्भसमारम्भ आरंभ २. आदि ३. संरम्भ ४. समारम्भ ५. आरम्भ ६.

ज्ञानान्तरायौ मात्सर्यान्तरायप्रदोषौ निह्नवस्यासादनं बोधनात्तः ।
ज्ञानावरणस्यायो देहभाजां ज्ञानस्योक्तो दर्शनस्यापि तेषाम् ॥२६
दुःखं शोकाक्रन्दने देहभाजां तापो हिंसा देवनं चापि तेषाम् ।
एतान्यात्मान्योभयस्थानि चासद्वेद्यस्यास्रवः कारणान्यास्रवस्य ॥२७
भूतेषु भूते चानुकम्पा व्रतादयं दानं सार्धं सरागादिना च ।
योगः शान्तिः शौचमित्येवमादिः सद्वेद्यस्याप्यास्रवस्य प्रभेदाः ॥२८
संघो धर्मः केवली च श्रुतं यत्सर्वज्ञोक्तं शर्मिणस्तस्य तेषाम् ।
सार्वज्ञोक्तोऽवर्णवादो यतीनां हेतुर्वन्तोर्दृष्टिमोहास्रवस्य ॥२९

उपघातिः

तीव्रः परं यः परिणामभेदो भवेत्कषायोदयतः स जातम् ।
चारित्रमोहास्रवहेतुरुक्तो जीवस्य जीवादिपदार्थविद्भिः ॥३०
उत्पादनं स्वस्य परस्य चार्तेः कषायजातं यतिदूषणं वा ।
संक्लिष्टलिङ्गव्रतधारणादिः कषायवेद्यास्रवकारणं स्यात् ॥३१

दिक तथा क्रोधादि कषायों के कारण एक सौ आठ भेद हैं तथा अजीवाधिकरण आस्रव निर्वर्तना आदि भेदों से युक्त कहा गया है। भावार्थ—संरम्भ समारम्भ आरम्भ, मन वचन काय योग, कृत कारित अनुमोदना और क्रोध मान माया लोभ इनका परस्पर गुणा करने से ३ × ३ = ९ × ३ = २७ × ४ = १०८ साम्परायिक आस्रव के एक सौ आठ भेद होते हैं और मूलगुणनिर्वर्तना तथा उत्तर गुण निर्वर्तना के भेद से दो प्रकार की निर्वर्तना, अप्रमृष्टनिक्षेप, दुःप्रमृष्टनिक्षेप, सहसानिक्षेप और अनाभोग निक्षेप के भेद से चार प्रकार का निक्षेप, भक्तपान संयोग और उपकरण संयोग के भेद से दो प्रकार का संयोग तथा मनोनिसर्ग वचननिसर्ग और कायनिसर्ग के भेद से तीन प्रकार का निसर्ग इस तरह ग्यारह प्रकार का अजीवाधिकरण आस्रव है ॥ २५ ॥

मात्सर्य, अन्तराय, प्रदोष, निह्नव, आसादन और उपघात, इस प्रकार आप्तज्ञ आचार्यों ने प्राणियों के लिये ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण का आस्रव कहा है ॥ २६ ॥ दुःख, शोक, आक्रन्दन, ताप, हिंसा और परिदेवन, ये अपने विषय में हों, दूसरे के विषय में हों अथवा दोनों के विषय में हों, प्राणियों के लिये असातावेदनीय के आस्रव कहे गये हैं ॥ २७ ॥ समस्त प्राणियों तथा प्रमुख रूप से व्रतीजनों पर अनुकम्पा, दान सरागसंयमादि योग, शान्ति और शौच इत्यादि कार्य साता-वेदनीय कर्म के आस्रव के प्रभेद हैं ॥ २८ ॥ सङ्घ, धर्म केवली, सर्वज्ञप्रणीत शास्त्र और देव, इनका अवर्णवाद—मिथ्यादोष कथन, सर्वहितकारी आचार्यों के द्वारा जीवों के लिये दर्शन मोह कर्म का आस्रव कहा गया है ॥ २९ ॥ कषाय के उदय से जीव का जो तीव्र या मन्द परिणाम होता है उसे जीवादि पदार्थों को जानने वाले आचार्यों ने अच्छी तरह चारित्र मोह कर्म का आस्रव कहा है ॥ ३० ॥ निज और पर को पीड़ा उत्पन्न करना, कषाय उत्पन्न होना, मुनियों को दोष लगाना, तथा संक्लेश बढ़ाने वाले लिङ्ग और व्रतों का धारण करना यह सब कषाय वेदनीय

[illegible]

[illegible]

[illegible]

द्रुतविलम्बितम्

रतिविनाशनमन्यजनारतिप्रकटनादिकमाकुरुनिन्दिताः ।
अरतिवेद्यघनास्रवकारणं दुरितशोकजनैः सह सङ्गतिम् ॥३४

उपजातिः

यो मूकभावी वचनात्त्व[1]शोकात् परस्य शोकास्तुति[2]निन्दनादिः ।
स शोकवेद्यास्रवकारणं स्यादित्यप्तुरार्या विदितार्थिलार्थाः ॥३५

मालिनी

अथ भयपरिणामः स्वस्य चात्मस्य नित्यं
भयविसरविधायी भीतिवेद्यास्रवस्य ।
भवति खलु निमित्तं कारणस्यानुरूपं
अवति ननु कथञ्चिद् दृश्यते कार्यमार्यैः ॥३६

उपजातिः

साधुक्रियाचारविधौ जुगुप्सा परापवादोद्यतलोकतादिः ।
निखिलसन्मार्गुपंतयो जुगुप्सावेद्यास्रवस्यास्रवदोषहीनाः ॥३७

के आस्रव का कारण है ॥ ३१ ॥ दीन मनुष्यों को हँसी करना, बहुत बकवास करना, निरन्तर हास्य करने का स्वभाव पड़ना, तथा धर्म का उपहास आदि करना, इन सब को उत्तम पुरुष हास्य वेदनीय के आस्रव का कारण कहते हैं ॥ ३२ ॥ नाना प्रकार की क्रीड़ाओं में तत्पर रहना तथा शील और व्रतों में अरुचि आदि का करना, इन सब को सत्पुरुष, प्राणियों के रति वेदनीय कर्म के आस्रव का हेतु कहते है ॥ ३३ ॥ रति—प्रीति को नष्ट करना, अन्य मनुष्यों को अरति उत्पन्न करना तथा पापी जनों के साथ संगति करना, इन सब को प्रशस्त पुरुष अरति वेदनीय कर्म के तीव्र आस्रव का कारण कहते हैं ॥ ३४ ॥ अपने आपके शोक से जो अत्यधिक मूक रहना—किसी से बात भी नहीं करना, दूसरे को शोक उत्पन्न करना, उसकी प्रशंसा नहीं करना तथा निन्दा आदि करना है वह शोक वेदनीय के आस्रव का कारण है ऐसा समस्त पदार्थों को जानने वाले आर्य पुरुष कहते हैं ॥ ३५ ॥ अपने आप को निरन्तर भयभीत रखना तथा दूसरे को भय उत्पन्न करना, भय वेदनीय के आस्रव का निमित्त है सो ठीक ही है क्योंकि जगत् में निश्चय से आर्य पुरुष कथंचित् कारण के अनुरूप कार्य को देखते हैं ॥ ३६ ॥ साधुओं की क्रिया और आचार की

---

१. °शोकात्त्व° ब० । २. शोकस्तुति म० शोकस्तुति ब० ।

अनात्मवित्वरतिं च निजे परनिन्दनादरत्वमेव च ।
प्रबुद्धरागादिमपीरयन्ति स्त्रीवेदनीयास्रवहेतुमार्याः ॥३८
अगर्वता स्तोककषायता च स्वदारसंतोषगुणादिरीतेः ।
सतां परिज्ञाततमस्तत्त्वैः पुंवेदनीयास्रवहेतुरुक्तः ॥३९
सदा कषायाधिकता परेषां गुह्येन्द्रियाणां व्यपरोपणञ्च ।
प्राहुः परस्त्रीगमनादिकञ्च तृतीयवेदास्रवहेतुमार्याः ॥४०

शार्दूलविक्रीडितम्

बह्वारम्भपरिग्रहत्वमसमं हिंसात्मियोत्पादनं
रौद्रध्यानवृतिः परस्वहरणं कृष्णा च लेश्या परा ।
गार्धंत्यं विषयेषु तीव्रमुचितः स्यान्नारकस्यायुषः
सर्वज्ञाक्षवहेतुरित्यविकलज्ञानेक्षणैः प्राणिनाम् ॥४१
मायाप्यास्रवहेतुरित्यभिहिता तिर्यग्गतेरायुष-
स्तद्भेदाः परवञ्चनाय पटुता निःशीलता केवलम् ।
मिथ्यात्वाहितधर्मदेशनरतिर्म्यानं तथार्त्तं मृतौ
लेश्ये द्वे विबुधैर्वरैस्तनुमतां नीला च कापोतकी ॥४२
अल्पारम्भपरिग्रहत्वमुचितं मर्त्यायुषः कारणं
तद्ध्यानोऽल्पकषायता च मरणेऽसंक्लेशतादिः परम् ।
भद्रत्वं प्रगुणक्रियाव्यवहृतिः स्वाभाविकः प्रश्रयः
स्यादन्यापि परा स्वभावमृदुता शीलव्रतैरुन्नता ॥४३

विधि में ग्लानि करना तथा दूसरे की निन्दा करने में तत्पर रहना, आदि जुगुप्सा वेदनीय के आस्रव हैं ऐसा आस्रव के दोष से रहित मुनिराज कहते हैं ॥ ३७ ॥ निरन्तर असत्य बोलने में प्रीति रखना, दूसरे को ठगने में प्रमुख रूप से तत्पर रहना तथा रागादि की अत्यधिक वृद्धि होना, इन सबको आर्यपुरुष स्त्रीवेदनीय कर्म का आस्रव कहते हैं ॥ ३८ ॥ समस्त तत्त्वों के जानने वाले अर्हन्त भगवान् ने सत्पुरुषों के लिये, गर्व नहीं करना, अल्प कषाय का होना तथा स्वस्त्री में संतोष रखना आदि गुणों को पुंवेदनीय के आस्रव का हेतु कहा है ॥ ३९ ॥ सदा कषाय की अधिकता होना, दूसरों की गुह्य इन्द्रियों का छेदन करना तथा परस्त्री गमनादि करना इन सब को आर्य पुरुष नपुंसक वेद का आस्रव कहते हैं ॥ ४० ॥

बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह का होना, उपमारहित हिंसा के कार्यों को उत्पन्न करना, रौद्रध्यान से मरण होना, दूसरे का धन हरण करना, तीव्र कृष्ण लेश्या का होना और विषयों में तीव्र आसक्ति रखना इन सब को पूर्णज्ञान रूपी नेत्रों के धारक सर्वज्ञ भगवान् ने प्राणियों के लिये नरकायु के आस्रव का हेतु कहा है ॥ ४१ ॥ श्रेष्ठ विद्वानों ने प्राणियों के लिये माया को तिर्यञ्च आयु के आस्रव का हेतु कहा है। उस माया के भेद इस प्रकार हैं—दूसरों को ठगने के लिये चतुराई का होना, शील का अभाव होना, मिथ्यात्वपूर्ण धर्म के उपदेश में प्रीति रखना, मृत्यु के समय आर्तध्यान का होना तथा नील और कापोत इन दो लेश्याओं का होना ॥ ४२ ॥ थोड़ा आरम्भ

अनुष्टुप्

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्यायुषः कुतः ।
सरागश्च संयमः संयमासंयमौ बालतपोऽकामनिर्जरा सम्यक्त्वं च सुरायुषः ॥४४

मालभारिणी

निगदन्त्यथ योगवक्रतां प्रवितंसंवादनमाशुभस्य नाम्नः ।
अशुभस्य विपर्ययं शुभस्य प्रणमन्त्यग्र्यगुणस्य संक्षयं च ॥४५

इन्द्रवज्रा

सम्यक्त्वशुद्धिर्विनयाधिकत्वं शीलव्रतेष्वप्यनिचारचर्या ।
ज्ञानोपयोगः सततं च शक्त्या त्यागस्तपस्या च परा निकामम् ॥४६

उपजातिः

संवेगता साधुसमाधिवेद्यावृत्तिक्रियाभ्युद्यतिरावरेच ।
जिनागमाचार्यबहुश्रुतेषु भक्तिश्च वात्सल्यमपि श्रुते च ॥४७
आवश्यकाहानिरुशन्ति मार्गप्रभावना च प्रकटा नितान्तम् ।
एतानि चात्युच्छ्रिततीर्थकृत्कर्मनामाश्रवस्येति निमित्तमार्याः ॥४८
आत्मप्रशंसा च परापनिन्दा सतां गुणाच्छादनमीरयन्ति ।
असद्गुणोद्भावनया च नीचैर्गोत्रास्रवस्यैव समं निमित्तम् ॥४९

और थोड़ा परिग्रह का होना मनुष्यायु का कारण कहा गया है। इसके सिवाय कषाय का मन्द होना, मृत्यु के समय संक्लेश आदि का नहीं होना, अत्यधिक भद्रपरिणामी होना, छल रहित सरल क्रियाओं का व्यवहार करना, स्वाभाविक विनय का होना तथा शील व्रतों से समुज्वल स्वभाव में अत्यधिक कोमलता का होना ये सब उसी के विस्तार हैं ॥ ४३ ॥ सरागसंयम, संयमासंयम, बालतप, अकाम निर्जरा, और उत्कृष्ट सम्यक्त्व इन सब को विद्वान् लोग देवायु का उत्कृष्ट कारण कहते हैं ॥ ४४ ॥

तदनन्तर आगम के ज्ञाता पुरुष योगों की कुटिलता तथा सहधर्मीजनों के साथ होने वाले विसंवाद को अशुभनाम कर्म का आस्रव कहते हैं। शुभनाम का आस्रव उससे विपरीत है ॥ ४५ ॥ सम्यक्त्व की शुद्धि, विनय की अधिकता, शील और व्रतों में अतिचार, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, शक्ति के अनुसार त्याग, शक्ति के अनुसार निष्काम उत्कृष्ट तपस्या, संवेगता, साधु समाधि, वैयावृत्य करने में आदर सहित तत्परता, जिनागम, आचार्य और बहुश्रुत जीवों में भक्ति, प्रवचन में भक्ति, प्रवचन में वात्सल्य, आवश्यकापरिहाणि, और प्रकट रूप से अत्यधिक मार्ग प्रभावना करना इन सब को आर्य पुरुष आत्यर्थंकरत्व तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव का निमित्त कहते हैं ॥ ४६-४८ ॥ अपनी प्रशंसा करना, दूसरों की अत्यधिक निन्दा करना, सत्पुरुषों के गुणों को छिपाना और असत्पुरुषों के गुणों को अथवा अविद्यमान गुणों को प्रकट करना इन सब को नीच

---

१. प्रवितंसंवादना प० ।

विद्योगिनी

नितरामपि तद्विपर्ययो विनयेनावनतिर्गुणाधिकेषु[1] ।
मदमानविरासनं जिनैरितरस्योच्चभवहेतुरीरितः ॥५०

वसन्ततिलकम्

दानादिविघ्नकरणं परमन्तरायः-
कर्मास्रवस्य निगदन्ति निमित्तमार्याः ।
सामान्यतः शुभ इति प्रतिपादितो यः
पुण्यस्य तं शृणु सुविस्तरतोऽभिधास्ये ॥५१

उपजातिः

हिंसानृतस्तेयरतिव्यवायपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं स्यात् ।
सा देशतो भद्र समस्तनश्च प्रकीर्तितागुर्महतीति सद्भिः ॥५२
स्थैर्यार्थमेषामथ भावनाः स्युः सर्वज्ञविष्टाः[2] खलु पञ्च पञ्च ।
सिद्धास्पदं सौधमिवाधिरोक्षोर्निःश्रेणयो भव्यजनस्य नान्याः ॥५३

वंशस्थम्

परां मनोगुप्तिमथैषणादिकं वदन्ति सन्तः समितित्रयं परम् ।
प्रयत्नतश्चीक्षितपानभोजनं व्रतस्य पूर्वस्य हि पञ्च भावनाः ॥५४

गोत्र कर्म के आस्रव का निमित्त कहते हैं ॥ ४९ ॥ इससे बिलकुल विपरीत प्रवृत्ति का होना, गुणाधिक मनुष्यों में विनय से नम्रता का भाव होना और मद तथा मान का निराकरण करना इन सब को जिनेन्द्र भगवान् ने उच्च गोत्र का आस्रव कहा है ॥ ५० ॥ दान आदि में विघ्न करना, इसे आर्य पुरुष अन्तराय कर्म के आस्रव का उत्कृष्ट निमित्त कहते हैं। अब इसके आगे जिसे सामान्य रूप से शुभ कहा गया है उस पुण्य कर्म के आस्रव को विस्तार से कहूँगा, उसे सुनो ॥५१॥

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों से निवृत्ति होना व्रत है। हे भद्र ! वह निवृत्ति एकदेश और सर्वदेश से होती है। सत्पुरुषों ने एकदेश निवृत्ति को अणुव्रत और सर्वदेश निवृत्ति को महाव्रत कहा है ॥ ५२ ॥ इन व्रतों की स्थिरता के लिये सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा कही हुई पाँच पाँच भावनाएँ होती हैं। ये भावनाएँ मोक्षरूपी महल पर चढ़ने के इच्छुक भव्यजीव के लिये मानों नसैनी है अन्य कुछ नहीं ॥ ५३ ॥ उत्कृष्ट मनो गुप्ति, एषणा आदिक तीन उत्कृष्ट समितियाँ तथा प्रयत्नपूर्वक देखे हुए भोजन पान का ग्रहण करना इन पाँच को सत्पुरुष

---

१. द्वितीयपादो मालभारिण्याः । २. सर्वज्ञदृष्टाः म० ।

इन्द्रवंशा[1]

क्रोधस्य[4] लोभस्य च भीरुताया हास्यस्य चाभित्यजनं प्रचक्षते।
सूत्रानुसारेण च भाषणं वुधाः सत्यव्रतस्यापि च पञ्च भावनाः[2] ॥५५

वंशस्थम्

परोपरोधाकरणं विसर्जिते गृहे च शून्ये वसतिः स्वपक्षके।
सदाऽविसंवाद इति प्रचक्षते सुभैक्यशुद्धया सह पञ्च भावनाः ॥५६

शार्दूलविक्रीडितम्

स्त्रीरागादिकथाश्रुतेर्विरमणं तच्चारुतालोकन-
त्यागः पूर्वरतोत्सवस्मृतिपरित्यागो विधाभुक्तमेः।
वृष्येष्टादिरसस्य वर्जनमपि स्वाङ्गप्रसेवक्रिया-
पायः[3] पञ्च च भावना निगदिता ब्रह्मव्रतस्य स्फुटम् ॥५७

उपजातिः[4]

मनोहरेष्वप्यमनोहरेषु सर्वेन्द्रियाणां विषयेषु पञ्चसु।
सुरागविद्वेषविवर्जनं सतामकिञ्चनत्वस्य च पञ्च भावनाः ॥५८

अहिंसा व्रत की भावनाएं कहते हैं ॥ ५४ ॥ क्रोध, लोभ, भीरुत्व और हास्य का त्याग करना तथा आगम के अनुसार वचन बोलना इन सबको सत्पुरुष सत्यव्रत की पांच भावनाएं कहते हैं ॥ ५५ ॥ परोपरोधाकरण—अपने स्थान पर ठहरते हुए मनुष्य को नहीं रोकना, विमोचित गृहावास, शून्य गृहावास, अपने पक्ष में सदा विसंवाद नहीं करना और उत्तम भैक्यशुद्धि इस सबको अचौर्य व्रत की पांच भावनाएं कहते हैं ॥ ५६ ॥ स्त्रियों में रागादि बढ़ाने वाली कथाओं के सुनने का त्याग करना, उनकी सुन्दरता के देखने का त्याग करना, पूर्व काल में भोगे हुए रतोत्सव के स्मरण का त्याग करना, कामोत्तेजक इष्ट रसादि का त्याग करना, और अपने शरीर को प्रसन्न करने वाली क्रियाओं का त्याग करना, उत्तम ज्ञानी जनों के द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत की ये पांच भावनाएँ स्पष्टरूप से कही गई हैं ॥ ५७ ॥ समस्त इन्द्रियों के मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों में राग द्वेष का त्याग करना ये पांच अपरिग्रह व्रत की भावनाएँ हैं ॥ ५८ ॥

---

१. प्रथमपाद इन्द्रवज्रावा। २. इतोऽग्रे म० पुस्तके श्लोकोऽयमधिको दृश्यते परन्तु पुनरुक्तत्वाद्ग्रन्थस्याङ्गं न प्रतिभाति—

शून्याभ्रयोद्वसपुराक्षतिप्रवेशान्यौपरोधकरणं परशक्तिहेतोः।
भिक्षाशुद्धिसहधर्मचरानुवादवेदे च भीरिक्तमहाव्रतपञ्चभेदाः ॥

३. प्रायः म० ब०। ४. अत्र प्रथमः पाद उपेन्द्रवज्रावा द्वितीयः पाद इन्द्रवंशायाः शेषौ द्वौ वंशस्थस्य।

वसन्ततिलकम्

हिंसादिषु स्फुटमिहैव परत्र चापायावद्यदर्शनमनन्यधिया निकामम् ।
संसारवासचकितेन सुभावनीयमन्तर्धनं शमवतामिदमेव सारम् ॥५९

उपजातिः

सर्वेषु सत्त्वेषु च भावनीया मैत्री प्रमोदश्च गुणाधिकेषु ।
कारुण्यमार्तेषु च दुःखितेषु सदाऽविनेयेषु पराम्युपेक्षा ॥६०

कायस्वभावो जगतः स्थितिश्च संवेगवैराग्यनिमित्तमार्यैः ।
संचिन्तनीयं सततं यथावत्समासतो बन्धमुदाहरिष्ये ॥६१

मिथ्यात्वभावाविरतिप्रमादाः कषाययोगाः खलु हेतवः स्युः ।
बन्धस्य मिथ्यात्वमपि प्रतीतं प्रचक्षते सप्तविधं मुनीन्द्राः ॥६२

षडिन्द्रियाणां विषयप्रभेदान्नरेन्द्र षट्कायविकल्पतश्च ।
द्विषड्विधां चाविरतिं प्रतीहि तामेव चासंयममित्युशन्ति ॥६३

संसार वास से भयभीत मनुष्य को एकाग्रचित्त होकर हिंसादि के विषय में ऐसा स्पष्ट विचार करना चाहिये कि ये पाप इसी लोक में अपाय—विघ्न बाधाओं और परलोक में पाप बन्ध के कारण हैं। वास्तव में ऐसा विचार करना ही शान्त मनुष्यों का श्रेष्ठ अन्तर्धन—अन्तरङ्ग सम्पत्ति है ॥ ५९ ॥ समस्त प्राणियों में मैत्रीभाव, गुणाधिक मनुष्यों में प्रमोदभाव, दुःखी तथा पीड़ित मनुष्यों में कारुण्य भाव और अविनेय जीवों में सदा उपेक्षाभाव का चिन्तन करना चाहिये ॥ ६० ॥ आर्यपुरुषों को संवेग और वैराग्य के लिये शरीर का स्वभाव तथा जगत् की स्थिति का निरन्तर चिन्तन करना चाहिये। अब इसके आगे संक्षेप से बन्धतत्त्व का यथार्थ वर्णन करेंगे ॥ ६१ ॥

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच निश्चय से बन्ध के कारण हैं। इनमें प्रसिद्ध मिथ्यात्व को मुनिराज सात प्रकार का कहते हैं। भावार्थ—एकान्त, विपरीत, संशय, अज्ञान, वैनयिक, गृहीत और अगृहीत के भेद से मिथ्यात्व सात प्रकार का कहा है। अन्य ग्रन्थों में मिथ्यात्व के पांच या दो भेद कहे गये हैं पर यहाँ पांच और दो भेदों को मिला कर सात भेदों का निरूपण किया गया है ॥ ६२ ॥ हे राजन्! छह इन्द्रियों के विषयों तथा छह काय के जीवों के विकल्प से विरति—निवृत्ति न होने को बारह प्रकार की अविरति जानो। इसी को मुनिराज असंयम

उपजातिः[1]

शुद्धष्टकस्यागमविद्भिरुक्तप्रमादभावादिकभेदतः[2] ।
तद्भिः प्रमादा नरनाथ कीर्तितास्तत्कर्मैकभेदा इति जैनशासने ॥६४

वंशस्थम्

कषायभेदानथ पञ्चविंशतिं वदन्ति सन्तः सह नोकषायकैः ।
त्रयोदशत्रियोगविकल्पमेकतः परं च विद्यात्पुनरेव पञ्चभिः ॥६५

शार्दूलविक्रीडितम्

एते पञ्च हि हेतवः समुदिता बन्धस्य मिथ्यादृशो
मिथ्यात्वेन विना त एव गदिताः शेषास्त्रयाणामपि ।
मिश्रा चाविरतिश्च देशविरतस्यान्ये विरत्या विना
षष्ठस्य त्रय एव केवलमिति प्राज्ञैः प्रमादाद्वयः ॥६६

कहते हैं ॥ ६३ ॥ हे नरनाथ ! आगम के ज्ञाता सत्पुरुषों ने आठ शुद्धियों तथा उत्तम क्षमादिक धर्मों के विषय भेद से जिनागम में प्रमाद के अनेक भेदों का वर्णन किया है। भावार्थ—भाव, काय, विनय, ईर्यापथ, भैक्ष्य, शयनासन, प्रतिष्ठापन और वाक्य शुद्धि के भेद से शुद्धियों के आठ भेद होते हैं। उत्तम क्षमा, मार्दव आदि धर्म के दश भेद प्रसिद्ध हैं। इन सब विषयों के भेद से प्रमाद अनेक प्रकार का माना गया है ॥ ६४ ॥ सत्पुरुष हास्यादिक के कषायों के साथ मिला कर कषाय के पच्चीस भेद कहते हैं। एक विवक्षा से योग के तेरह और दूसरी विवक्षा से पन्द्रह विकल्प जानना चाहिये। भावार्थ—मन, वचन, काय के निमित्त से आत्म प्रदेशों में जो परिस्पन्द होता है उसे योग कहते हैं। सामान्य रूप से इसके मनोयोग, वचनयोग और काययोग की अपेक्षा तीन भेद होते हैं। इनमें मनोयोग और वचनयोग के सत्य, असत्य, उभय और अनुभय के भेद से चार-चार भेद होते हैं और काय योग के औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र और कार्मणकाय के भेद से सात भेद होते हैं। इन सबको मिलाने से योग के पन्द्रह भेद होते हैं। इनमें आहारक और आहारक मिश्र ये दो योग कदाचित् ही किसी षष्ठगुण स्थानवर्ती मुनि के होते हैं इसलिये उनकी विवक्षा न होने पर योग के तेरह भेद और उनकी विवक्षा होने पर पन्द्रह भेद होते हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ ६५ ॥ मिथ्यादृष्टि जीव के ये पांचों बन्ध के कारण हैं। सासादन, मिश्र और असंयत सम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानवर्ती जीवों के मिथ्यात्व के बिना चार बन्ध के कारण हैं। देश विरत के मिश्र अविरति, तथा कषाय प्रमाद

---

१. इन्द्रवंशावंशस्थयोर्मेलनादुपजातिः ।

२. प्रमादोऽनेकविधः ॥ ३० ॥ भावकायविनयेर्यापथभैक्ष्यशयनासनप्रतिष्ठापनवाक्यशुद्धिलक्षणाष्टविधसंयम-उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्यादिदशविधानुत्तरगुणभेदभावनैकविधः प्रमादोऽवसेयः । राजवार्तिक अ० ८ सू० १ ।

द्वावन्यौ क्रमतः प्रमादरहितस्यक्तौ चतुर्णां पुनः
शान्तक्षीणकषाययोरपि जिनस्यैकः सयोगस्य च ।
योगी योगविवर्जितो जिनपतिर्निर्मुक्तबन्धक्रियो[1]
बन्धो योगनिमित्तको हि विगमे तेषां कथं जायते ॥६७

विषोगिनी

नितरां[2] सकषायभूयतः खलु जीवो नृप कर्मणः क्षमान् ।
परमाणहतीति पुद्गलान्स तु बन्धः परिकीर्तितो जिनैः ॥६८

मालभारिणी

प्रकृतिः स्थितिरप्युदारबोधैरनुभागश्च समासतः प्रदेशः ।
इति तद्विषयः प्रकीर्तिता यैस्तनुमाञ्जन्मवनेषु बम्भ्रमीति ॥६९

उपजातिः

द्वौ[3] योगहेतू प्रकृतिप्रदेशौ बन्धौ भवेतां तनुभृद्गणानाम् ।
सदा परौ द्वौ च कषायहेतू स्थितिश्च राजन्ननुभागबन्धः ॥७०

इन्द्रवज्रा

ज्ञानावृतिर्दृष्टिवृतिश्च वेद्यं मोहायुषी नाम च नामतोऽमी ।
गोत्रान्तरायाविति सम्यगष्टावाद्यस्य बन्धस्य भवन्ति भेदाः ॥७१

और योग ये बन्ध के कारण हैं। षष्ठगुणस्थानवर्ती मुनि के अविरति भी छूट जाती है इसलिये प्रमाद कषाय और योग ये तीन ही बन्ध के कारण हैं ऐसा ज्ञानी जनों ने कहा है ॥ ६६ ॥ उसके आगे सप्तम, अष्टम, नवम और दशम इन चार गुणस्थानवर्ती जीवों के प्रमाद भी छूट जाता है अतः कषाय और योग ये दो बन्ध के कारण कहे गये हैं। उपशान्त मोह, क्षीणमोह और सयोग केवली जिन, इनके एक योग ही बन्ध का कारण है। अयोगकेवली भगवान् बन्ध क्रिया से रहित हैं क्योंकि बन्ध योग के निमित्त से होता है अतः योगों का अभाव होने पर उनके बन्ध कैसे हो सकता है ? ॥ ६७ ॥

हे राजन् ! यह जीव निश्चय से अत्यन्त सकषाय होने के कारण कर्म रूप होने के योग्य पुद्गल परमाणुओं को जो ग्रहण करता है जिनेन्द्र भगवान् ने उसे ही बन्ध कहा है ॥ ६८ ॥ उत्कृष्ट ज्ञान के धारक जीवों ने संक्षेप से बन्ध के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये चार भेद कहे हैं। इन बन्धों के कारण ही यह जीव संसार रूपी वन में निरन्तर भ्रमण करता है ॥ ६९ ॥ हे राजन् ! जीवों के प्रकृति और प्रदेश से ये दो बन्ध योग निमित्तक हैं और शेष दो—स्थिति तथा अनुभाग बन्ध कषाय हेतुक हैं ॥ ७० ॥ नाम की अपेक्षा प्रकृति बन्ध के ज्ञानावरण, दर्शनावरण,

---

१. बन्धत्रयो म० । २. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः—त० सू० ।
३. जोगा पयडिपदेसा ठिदि अणुभागा कसायदो होंति ।
अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधट्ठिदिकारणं णत्थि ॥ —कर्मकाण्ड ।

वसन्ततिलकम्

रिक्तास्तु पञ्च नव च क्रमतस्तथा द्वौ
षड्विंशतिश्च मुनिभूवैरथ विंशतिश्च ।
द्वौ द्वावाहतौ मुखर खाभ्युता च षष्टि-
र्द्वौ चोत्तरप्रकृतिबन्धविधाश्च पञ्च ॥७२

शार्दूलविक्रीडितम्

आद्यानां तिसृणां परा स्थितिरथो त्रिंशत्समुद्रोपमा
कोटीकोटय इति ब्रुवन्ति सुधियो वीरान्तरायस्य च ।
मोहस्यास्य च सप्ततिर्द्विगुणिता षड्विंशतिश्च नाम्नस्तथा
गोत्रस्य त्रिभिरायुषोऽपि सहितास्त्रिंशत्समुद्रोपमाः ॥७३

उपजातिः

द्विषन्मुहूर्ता ह्यपरा स्थितिः स्याद्वेद्यस्य चाष्टावपि नामगोत्रयोः ।
अथेतरेषां कथिता च राजन्नन्तर्मुहूर्तेति समस्तवेदिभिः ॥७४

वेदनीय, मोह, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ भेद अच्छी तरह होते हैं ॥ ७१ ॥ हे नरश्रेष्ठ ! मुनिराजों ने क्रम से पांच, नौ, दो, छब्बीस, चार, सड़सठ, दो और पांच इस प्रकार उत्तर प्रकृति बन्ध के भेद कहे हैं। भावार्थ—ज्ञानावरण के पांच, दर्शनावरण के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के छब्बीस, आयु के चार, नाम के सड़सठ, गोत्र के दो और अन्तराय के पांच उत्तर-भेद हैं। भावार्थ—आगम में मोह कर्म के अट्ठाईस भेद बतलाये गये हैं यहाँ छब्बीस भेद कहने का तात्पर्य यह है कि उन अट्ठाईस में सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन दो का बन्ध नहीं होता उनका मात्र सत्त्व और उदय रहता है। यहाँ बन्ध का प्रकरण होने से उन दो को छोड़ कर शेष छब्बीस भेद ही कहे गये हैं। इसी प्रकार नाम कर्म के अभेद विवक्षा में ब्यालीस और भेद विवक्षा में तेरानवे भेद कहे गये हैं। यहां सड़सठ भेद कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्यों ने कर्मों की बन्ध दशा में पांच बन्धन और पांच संघात को पांच शरीरों में ही गर्भित किया है इसी तरह रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इनके बीस भेदों का ग्रहण न कर बन्धदशा में चार का ही ग्रहण किया है इस तरह दस और सोलह इन छब्बीस प्रकृतियों को तेरानवे प्रकृतियों में से कम करने पर नाम कर्म की सड़सठ प्रकृतियां ही शेष रहती हैं ॥ ७२ ॥ हे वीर ! आदि के तीन तथा अन्तराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा-कोड़ी सागर, मोह की सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर, नाम और गोत्र की बीस कोड़ा-कोड़ी सागर और आयु कर्म की तेतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है ऐसा सुधीजन-ज्ञानीजन कहते हैं ॥ ७३ ॥ हे राजन् ! वेदनीय कर्म की बारह मुहूर्त, नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त तथा शेष कर्मों की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति सर्वज्ञ देव ने कही है ॥ ७४ ॥

भावैरधानन्तगुणं समस्तै[1]रादानकाले रसमात्महेतोः।
स्थानैः समुत्पादयति स्वयोग्यैः कर्मप्रदेशेष्वखिलेषु जीवः ॥७५

शार्दूलविक्रीडितम्[2]

एकद्वित्रिचतुर्भिरित्यभिहितो बन्धोऽनुभागोऽङ्गिनां
घातीनां सकलावबोधनयनैः स्थानैश्चतुर्णां जिनैः।
राजन् द्वित्रिचतुर्भिरेकसमये स्वप्रत्ययेनाहृतः
शेषाणां च भवेच्छुभाशुभफलप्राप्तेः [3]परं कारणम् ॥७६

वसन्ततिलकम्

ज्ञानेक्षणावरणदेशवृतिश्च यान्ति विघ्नैर्नुवेदसहिताश्चरमाः कषायाः।
स्थानैश्चतुर्भिरिति सप्तदश त्रिभिश्च सप्तोत्तरं शतमुपैत्यनुभागबन्धम् ॥७७

जीव, कर्मों के ग्रहण काल में अर्थात् प्रकृति बन्ध के समय ही आत्म निमित्तक अपने योग्य भाव रूप स्थानों के द्वारा समस्त कर्म प्रदेशों में जो अनन्त गुणा रस उत्पन्न करता है वह अनुभाग बन्ध कहलाता है ॥ ७५ ॥ हे राजन् ! पूर्णज्ञान रूपी नेत्रों के धारक जिनेन्द्र भगवान् ने ऐसा कहा है कि प्राणियों के जो चार घातिया कर्मों का अनुभाग बन्ध होता है वह एक, दो, तीन और चार स्थानों से होता है तथा शेष कर्मों का अनुभाग बन्ध अपने कारणों से होता हुआ एक समय में दो, तीन और चार स्थानों से होता है। यह अनुभाग बन्ध जीवों के शुभ-अशुभ फल की प्राप्ति का परम कारण है। भावार्थ—अनुभाग बन्ध के शक्ति की अपेक्षा लता, दारु, अस्थि और शैल ये चार भेद हैं अर्थात् इनमें जिस प्रकार क्रम क्रम से अधिक कठोरपना है उसी प्रकार अनुभाग में भी उत्तरोत्तर कठोरपना है। घातिया कर्मों में लता आदि चारों भेद रूप अनुभाग होता है और शेष कर्मों में लता भेद को छोड़ कर शेष दो, तीन और चार भेद रूप अनुभाग होता है। यह अनुभाग, मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में संभव होने वाले अपने परिणामों के अनुसार होता है। यह अनुभाग ही जीवों के शुभ-अशुभ फल का प्रमुख कारण है। इस तरह मूल प्रकृतियों के अनुभाग बन्ध का वर्णन कर आगे उत्तर प्रकृतियों के अनुभाग बन्ध की चर्चा करते हैं ॥ ७६ ॥ ज्ञानावरण और दर्शनावरण की देशघाति सम्बन्धी सात प्रकृतियां (चार ज्ञानावरण और तीन दर्शनावरण), अन्तराय की पांच प्रकृतियां, पुंवेद एक और संज्वलन कषाय की चार प्रकृतियां ये सत्तरह

---

१. समस्तैः स दानकाले म० । २. चतुर्भिरेव विहितो म० । ३. परः कारणम् म० ।

४. अत्र संदर्भे कर्मकाण्डस्येमा गाथा द्रष्टव्याः

सत्ता य लदादारूअट्ठीसेलोवमाहु घादीणं । दारु अणंतिमभागोत्ति देसघादी तदो सव्वं ॥ १८० ॥
देसोत्ति हवे सम्मं तत्तो दारू अणंतिमे मिस्सं । सेसा अणंतभागा अट्ठिसिला फड्डुया मिच्छे ॥ १८१ ॥
आवरणदेसघादंतरायसंजलणपुरिससत्तरसं । चदुविधभावपरिणदा तिविधा भावा हु सेसाणं ॥ १८२ ॥
अवसेसा पयडीओ अघादिया घादियाण पडिभागा । ता एव पुण्णपावा सेसा पावा मुणेयव्वा ॥ १८३ ॥

आर्यागीतिः छन्दः

नामप्रत्ययसंयुता इति जिनैः प्रोक्ताः सदा सर्वतो
योगानां सुविशेषतः सकुटिता सूक्ष्माः स्थिताः पुद्गलाः।
एकक्षेत्रमनुप्रविश्य सकलेष्वात्मप्रदेशेषु ये-
ऽनन्तानन्तघनप्रदेशसहिताः कर्मत्वमायान्ति ते ॥७८

उपजातिः

सद्वेदनीयं शुभमायुरुक्तमुः शुभान्वितं गोत्र च वदन्ति पुण्यम्।
जिनैस्ततोऽन्यत्खलु पापमुक्तं सत्संवरं व्यक्तमथाभिधास्ये ॥७९
जिनैर्निरोधः परमास्रवाणामुदाहृतः संवर इत्यमोघैः।
स द्रव्यभावद्वितयेन भिन्नः स्याद् द्विप्रकारो मुनिभिः प्रशस्यः ॥८०

वंशस्थम्

मुनीश्वरैः संसृतिकारणक्रियानिवृत्तिरक्तः खलु भावसंवरः।
स तन्निरोधे सति कर्मपुद्गलग्रहैकविच्छित्तिरपीतरो मतः ॥८१

प्रकृतियाँ लता आदि चारों स्थानों से और शेष एक सौ सात प्रकृतियाँ लता भाग को छोड़कर शेष तीन स्थानों से अनुभाग बन्ध को प्राप्त होती हैं॥ ७७ ॥ जिनेन्द्र भगवान् ने ऐसा कहा है कि कर्म प्रकृतियों के कारण से सहित, एक साथ सब पर्यायों में योगों की विशेषता से इकट्ठे हुए, सूक्ष्म, एक क्षेत्रावगाह रूप से समस्त आत्म प्रदेशों में स्थित, अनन्तानन्त घन प्रदेशों से सहित जो पुद्गल परमाणु हैं वे ही कर्मपन को प्राप्त होते हैं, यही प्रदेश बन्ध कहलाता है। भावार्थ— असंख्यात प्रदेशी आत्मा के समस्त प्रदेशों में योग विशेष से संचित जो अनन्तानन्त कार्मण वर्गणारूप पुद्गल परमाणु अवस्थित हैं वे ही रागादि भावों का निमित्त पाकर कर्मरूप परिणत हो जाते हैं। इस जीव के प्रत्येक समय सिद्धों के अनन्तवें भाग और अभव्य राशि से अनन्तगुणें कर्म परमाणुओं के पिण्डरूप समय प्रबद्ध का बन्ध होता है। बन्ध होते ही उस समयप्रबद्ध का ज्ञानावरणादि सात कर्मों और आयुबन्ध के समय आठ कर्मों में विभाग हो जाता है। सबसे अधिक भाग वेदनीय को प्राप्त होता है उससे कम मोहनीय को उससे कम किन्तु परस्पर में समान ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय को, उससे कम किन्तु परस्पर में समान नाम और गोत्र को तथा सबसे कम भाग आयु को प्राप्त होता है। प्रदेश बन्ध का मुख्य कारण योग है ॥ ७८ ॥ साता वेदनीय, शुभ आयु (तिर्यञ्च, मनुष्य और देव), शुभ नाम और शुभ गोत्र को पुण्य कर्म कहते हैं इससे शेष कर्म को जिनेन्द्र भगवान् ने पाप कर्म कहा है। अब इसके आगे स्पष्ट रूप से संवरतत्त्व का कथन करेंगे ॥ ७९ ॥

जीवन को सार्थक करने वाले जिनेन्द्र भगवान् ने आस्रवों के अच्छी तरह रुक जाने को संवर कहा है। यह संवर द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का होता है। यह दोनों ही प्रकार का संवर मुनियों के द्वारा प्रशंसनीय है ॥ ८० ॥ मुनीश्वरों ने संसार के कारणभूत क्रियाओं से

वसन्ततिलकम्

गुप्त्यन्वितैः समितिधर्मनिरन्तरानुप्रेक्षा परीषहजयैः कवितश्चरित्रैः ।
व्यक्तं जिनैः स खलु संवर एष सारः स्यान्निर्जराय तपसेति च विश्वविद्भिः ॥८२

शार्दूलविक्रीडितम्

सम्यग्योगविनिग्रहो निगदितो गुप्तिस्त्रिधासौ बुधैः-
वाग्गुप्तिः खलु कायगुप्तिरनघा गुप्तिस्तथा चेतसः ।
ईर्यायाः समितिः परा च वचसोऽप्यादाननिक्षेपयो-
रुत्सर्गस्य च पञ्चमी च समितिः स्यादेषणाया विधिः ॥८३

मालिनी

क्षान्तिः सत्योक्तिर्मार्दवं चार्जवं च श्रेयः शौचं संयमः सत्तपश्च ।
त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः प्रोक्तो विद्भिः स्याद्दशैतानि लोके ॥८४

उपजातिः

उशन्त्यकालुष्यमथो तितिक्षां सदाप्यमित्रादिषु बाधकेषु ।
सत्सु प्रशस्तेषु च साधुवाक्यं सत्यं यथाज्ञास्थितिसंयुतं वा ॥८५
वदन्ति जात्यादिमदाभिमानप्रहीणतां मार्दवमार्जवञ्च ।
अवक्रतां कायवचोमनोभिः शौचं च लोभाद्विनिवृत्तिरेका ॥८६
प्राणीन्द्रियाणां परिहार एको यः संयमं तं निगदन्ति सन्तः ।
कर्मक्षयार्थं परितप्यते यत्तपश्च तद्द्वादशभेदभिन्नम् ॥८७

निवृत्ति होने को भावसंवर कहा है और भावसंवर के होने पर कर्म पुद्गलों के ग्रहण का छूट जाना द्रव्य संवर माना है ॥ ८१ ॥ सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि वह संवर, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह जय और चारित्र के द्वारा होता है। यह संवर श्रेष्ठ तत्त्व है तप के द्वारा संवर और निर्जरा दोनों होते हैं ॥ ८२ ॥ अच्छी तरह योगों का निग्रह करना गुप्ति कहा गया है। विद्वानों ने गुप्ति के तीन भेद कहे हैं—वचनगुप्ति, कायगुप्ति, और मनोगुप्ति। समिति के पांच भेद हैं—ईर्यासमिति, भाषा समिति, आदाननिक्षेपण समिति, उत्सर्ग समिति और पांचवीं एषणा समिति ॥ ८३ ॥ क्षमा, सत्यवचन, मार्दव, आर्जव, श्रेष्ठ शौच, संयम, सम्यक्तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य, ये दस लोक में विद्वानों के द्वारा धर्म कहे गये हैं ॥ ८४ ॥

बाधा पहुँचाने वाले शत्रु आदि में भी सदा कालुष्यभाव नहीं करने को क्षमा कहते हैं। साधु तथा प्रशस्त जनों के साथ आगम की आज्ञानुसार श्रेष्ठ वचन बोलना सत्य कहलाता है ॥ ८५ ॥ जाति आदि के मद से होने वाले अभिमान को छोड़ना मार्दव धर्म है। मन, वचन, काय की सरलता को आर्जव कहते हैं। लोभ से अद्वितीय विरक्ति होना शौच धर्म है ॥ ८६ ॥ प्राणि हिंसा तथा इन्द्रिय विषयों का जो असाधारण त्याग है उसे सत्पुरुष संयम कहते हैं। कर्मों का क्षय

त्यागः सुशास्त्रादिकदानमिष्टं तथाकिञ्चन्यमिदन्ममेति-
त्यागाभिप्रायस्य सुधीसमीपे वासस्तथा ब्रह्मपदे सुवृत्तता च ॥८८

द्वादशविधीमिदम्

प्राहुः प्रबुद्धनिजतत्त्वपरायणा जनैकता चान्यता
कायस्याशुचिता परा च विविधः कर्मास्रवः संवरः।
सम्यङ्निर्जरणं जगच्च सुदशास्तत्त्वं च धर्मस्थिते-
र्बोधेर्दुर्लभता तथा द्विषडनुप्रेक्षा इमाः शेमुषे ॥८९

रूपं यौवनमायुरक्षनिचयो भोगोपभोगौ वपु-
र्धीर्मं स्नेहसमागमो वसुरतिः सौभाग्यभाग्योदयः।
नो नित्याः स्फुटमात्मनः सदुचिता ज्ञात्वेत्यवान्यामृते
तेषां दृश्यमुचिन्तयन्तु सुधियः सर्वं सदानित्यताम् ॥९०

व्याधिव्याघभयंकरे भववने मोहेद्धदवानले
हन्तुं मृत्युमृगारिणा सरभसं क्रीडीकृतः रक्षितुम्।
आत्मैणोपयुक्तं जिनेन्द्रवचनादन्यत्परे नेशते
निश्राणा इति भावयन्त्वशरणं भव्या भवोत्तस्थुषः ॥९१

संसारः खलु कर्मकारणवशाज्जीवस्य जन्मान्तरा-
दानिर्वन्त्युविषयैर्वहुविधैर्गत्यन्तरोन्यादिभिः।
किं वा सान्द्रतमेव यत्र तनवोऽप्यात्मानमन्ता भाषते
तस्मिन्नीदृशि कीदृशी वत विदां कुर्वन्तु सन्तो रतिम् ॥९२

करने के लिये जो तपा जाता वह बारह प्रकार का तप है ॥ ८७ ॥ समीचीन शास्त्र आदि का देना त्याग है। 'यह मेरा है' इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना आकिञ्चन्य है और गुरुओं के समीप निवास करना तथा उत्तम वैराग्य रूप परिणति का होना ब्रह्मचर्य है ॥ ८८ ॥

ज्ञानी जनों ने अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, शरीर की अत्यधिक अशुचिता, अनेक प्रकार का कर्मास्रव, संवर, सम्यक् निर्जरा, लोक, धर्म स्थिति का स्वाख्यातत्व और बोधि की दुर्लभता इन बारह अनुप्रेक्षाओं का कल्याण के लिये निरूपण किया है ॥ ८९ ॥ रूप यौवन आयु इन्द्रियों का समूह, भोगोपभोग, शरीर की सामर्थ्य, इष्ट समागम, धन की प्रीति, तथा सौभाग्य और भाग्य का उदय इस प्रकार ज्ञान रूपी नेत्र के सिवाय जो अन्य पदार्थ अपने पास एकत्रित हुए हैं वे स्पष्ट ही नित्य नहीं हैं, इस तरह समस्त विद्वज्जन सदा अनित्यता का चिन्तवन करें ॥ ९० ॥ व्याधि रूपी शिकारियों से भयंकर, तथा मोह रूपी प्रचण्ड दावानल से सहित इस संसार रूपी वन में मृत्यु रूपी सिंह के द्वारा मारने के लिये वेग से चपेटे हुए आत्मा रूपी मृग के बचने की रक्षा करने के लिये जिनेन्द्र भगवान् के वचनों के सिवाय शिव आदि अन्य कोई समर्थ नहीं है इस प्रकार संसार का उल्लङ्घन करने वाले—मोक्षाभिलाषी जीव अशरण भावना का चिन्तवन करें ॥ ९१ ॥ कर्म रूप कारणों के वश, गति, इन्द्रिय, योनि आदि नाना शत्रुओं के द्वारा जीव को

---

१. विदां सन्तो रतिं कुर्वते म०

जन्मव्याधिजराधियोगमरणव्यावृत्तिदुःखोदधा-
वामज्जन्महमेक एव नितरां क्लोदामि मे नापरे ।
विद्यन्ते सुहृदो न चापि रिपवो न ज्ञातयः केवलं
धर्मो बन्धुरिहापरत्र च परामित्येकतां चिन्तयेत् ॥९३
अन्योऽहं नितरां शरीरत इतो बन्धं प्रति प्रायशः
सत्यैक्येऽप्यथ लक्षणाहितभिदो भेदो ममास्त्यस्य च ।
आत्मा ज्ञानमयो विनाशरहितोऽप्यज्ञं वपुर्नश्वरं
साकं बाह्यमनक्ष इत्यपघनात्संचिन्तयेदन्यताम् ॥९४
अत्यन्ताशुचि, योनिसंभवतया शश्वन्निसर्गाशुचि
त्वङ्मात्रावृतिपूतिगन्धिकुमलद्वारं कृमिव्याकुलम् ।
विण्मूत्रप्रसवं त्रिदोषसहितं नद्धं शिराजालकै-
र्बीभत्सं वपुरेतदित्यशुचितां मान्य. सतां मन्यताम् ॥९५
उक्तास्त्वास्रवहेतवः सह जिनैरक्षैः कषायादयो
दुःखाम्भोनिधिपातिनो हि विषयास्तेषामिहापुत्र च ।
आत्मा तद्वशगश्चतुर्गतिगुहां मृत्यूरगाध्यासिता-
मध्यास्ते ध्रुवमास्रवस्य सुधियो ध्यायन्तु दोषानिति ॥९६

जो जन्मान्तर—अन्य पर्याय की प्राप्ति होती है निश्चय से वही संसार है । अधिक क्या कहा जावे ? जिस संसार में इस समय भी यह जीव अपने आपके द्वारा अपना पुत्र हो जाता है ऐसे उस संसार में खेद है कि सत्पुरुष कैसे प्रीति का अनुभव करें ? ॥ ९२ ॥ जन्म, रोग, बुढ़ापा, वियोग, मरण तथा तिरस्कार जनित दुःखों के सागर में मैं अकेला ही डूबता हुआ अत्यन्त दुखी हो रहा हूँ न अन्य मित्र मेरे साथ हैं न शत्रु साथ हैं और न कोई जाति के लोग साथ हैं, । एक धर्म ही इस लोक तथा परलोक में मेरा बन्धु है—सहायक है इस प्रकार उत्कृष्ट एकत्व भावना का चिन्तवन करना चाहिये ॥ ९३ ॥ बन्ध की अपेक्षा कथंचित् एकता होने पर भी मैं इस शरीर से अत्यन्त भिन्न हूँ । लक्षणों के द्वारा भेद को धारण करने वाले मुझ में तथा इस शरीर में भेद है । आत्मा, ज्ञान-मय तथा विनाश से रहित है, जब कि शरीर अज्ञानमय तथा नश्वर है । अथवा शरीर इन्द्रियों से सहित है और मैं इन्द्रियों से रहित हूँ इस प्रकार शरीर से अन्यत्व का चिन्तवन करना चाहिये ॥ ९४ ॥ यह शरीर योनि से उत्पन्न होने के कारण अत्यन्त अशुचि—अपवित्र है, निरन्तर स्वभाव से अशुचि है, चर्म मात्र से ढँका हुआ है, अपवित्र गन्ध से सहित है, अत्यन्त कुत्सित नौ द्वारों से युक्त है, कीड़ों के समूह से भरा हुआ है, मल मूत्र को उत्पन्न करने वाला है, वात पित्त कफ इन तीन दोषों से सहित है, नसों के जाल से बँधा हुआ है और घृणित है—ग्लानि का पात्र है इस प्रकार सत्पुरुषों के माननीय पुरुष को अशुचिभावना का विचार करना चाहिये ॥ ९५ ॥ जिनेन्द्र भगवान् ने इन्द्रियों के साथ कषाय आदि को आस्रव का हेतु कहा है । इन्द्रियों के विषय दुःख रूपी सागर में गिराने वाले हैं उनके वशीभूत हुआ जीव इस लोक तथा परलोक में मृत्यु रूपी सांपों से अधिष्ठित चतुर्गति रूप गुफा में निवास करता है इस प्रकार विद्वज्जन निरन्तर आस्रव के दोषों का

पोतो वारिधिमध्यगः क्षति यथैवच्छिद्रे भवेदाशु वै
मग्नस्तत्तु जलप्लवे च पुरुषो ह्यन्यत्यनन्तापदे ।
तस्मादाश्रवरोधनं हितकरैः श्रेयो यतः संवृतो
निर्वाणप्रथिराय संवरमिति ध्यायन्तु सन्तः परम् ॥९७

यत्नेनापि विशोषणादुपचितो दोषो यथा क्षीयते
गाढं कर्म तथैव निर्जरयति ध्यानद्वयभ्याचितम् ।
धीरः[1] कातरदुष्करेण तपसा रत्नत्रयालंकृतो
नान्येनेति विचिन्तु सन्ततमिमां भव्याः परां निर्जराम् ॥९८

लोकस्याथ यथा जिनोदितमधस्तिर्यक्तथोर्ध्वं परं
बाहुल्यं वरवज्रपल्यनिभं संस्था च संचिन्तयेत् ।
सर्वत्रापि च तत्र जन्ममरणैर्भ्राम्यन्ति[2] चिरायात्मनः
सम्यक्त्वामृतमादरादपिबतः स्वप्नान्तरेऽपि क्वचित् ॥९९

स्वाख्यातो जगतां हिताय परमो धर्मो जिनैरञ्जसा
तत्त्वज्ञानविलोचनैर्विरहितो हिंसादिदोषैरयं
संसारार्णवमप्यपारमचिरादुल्लङ्घ्य वा गोष्पदं
ख्यातानन्तसुखास्पदं पदमितं[3] तैरेव केऽस्मिन्मताः ॥१००

विचार करें ॥ ९६ ॥ जिस प्रकार समुद्र के बीच चलने वाला जहाज, छिद्र होने पर जल से परिपूर्ण होता हुआ शीघ्र ही डूब जाता है उसी प्रकार आस्रव के रहते हुए यह जीव अनन्त दुःखों से युक्त संसार में डूब जाता है इसलिये मन वचन काय से आस्रव का रोकना कल्याणकारी है क्योंकि संवर से सहित जीव शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त होता है इस प्रकार सत्पुरुष संवर का अच्छी तरह ध्यान करें ॥ ९७ ॥ जिस प्रकार यत्न पूर्वक शोषण करने से संचित दोष भी जीर्ण हो जाता है उसी प्रकार गाढ रूप से बँधा हुआ संचित कर्म भी यत्न पूर्वक शोषण करने से निर्जीर्ण हो जाता है। रत्नत्रय से अलंकृत मनुष्य कातर जनों के लिये अशक्य तप से धीर कहलाता है अन्य कार्य से नहीं। इस प्रकार भव्य जीव इस उत्कृष्ट निर्जरा का सदा चिन्तन करें ॥९८॥ जिनेन्द्र भगवान् ने उत्तम प्रतिष्ठक—मोंदरा के समान नीचे, बीच में तथा ऊपर लोक की जैसी चौड़ाई तथा आकृति का वर्णन किया है उसका उसी प्रकार चिन्तवन करना चाहिये इसके सिवाय जिसने स्वप्न में भी कहीं आदर पूर्वक सम्यक्त्व रूपी अमृत का पान नहीं किया है। उसे समूचे लोक में जन्म मरण के द्वारा भ्रमण करना पड़ता है ऐसा भी विचार करें ॥९९॥ तत्त्वज्ञान रूपी नेत्रों से सहित जिनेन्द्र भगवान् ने जगत् के जीवों के हित के लिये हिंसादि दोषों से रहित इस वास्तविक धर्म का कथन किया है। जो जीव इस धर्म में श्रद्धालु हैं उन्होंने पार रहित होने पर भी संसार सागर को गोष्पद के समान उल्लङ्घन कर प्रसिद्ध अनन्त सुख के स्थानस्वरूप मुक्ति पद को प्राप्त किया है ॥ १००॥ मनुष्य पर्याय, कर्मभूमि, उचित देश, श्रेष्ठ कुल, नीरोगता, दीर्घ आयु, आत्म हित में प्रीति, धर्म

---

१. धीरः म० । २. भ्राम्यन्ति म० । ३. पदमितं म० ।

मानुष्यं खलु कर्मभूमिरचितो देशः कुले जन्मता
दीर्घायुः स्वहिते रतिश्च करणे धर्मश्रुतिः श्रद्धावत्।
सत्स्वेतेष्वतिदुर्लभेषु नितरां बोधिः परा दुर्लभा
जीवस्येति विचिन्तयन्तु सुकृतो रत्नत्रयालङ्कृताः ॥१०१

प्रहर्षिणी

सन्मार्गाव्यवनविशिष्टनिर्जरार्थं सोढव्याः सकलपरीषहा मुनीन्द्रैः।
कृच्छ्रेषु श्रियमपुनर्भवामुपेतुं वाञ्छन्तः स्वहितरता न हि व्यथन्ते ॥१०२

उपजातिः

क्षुद्वेदनीयोदयबाधितोऽपि लाभादलाभं बहु मन्यमानः।
न्यायेन योऽश्नाति हि पिण्डशुद्धिं प्रशस्यते क्षुद्विजयस्तदीयः ॥१०३

पुष्पिताग्रा

स्वहृदयकरकस्थितेन नित्यं विमलसमाधिजलेन यः पिपासाम्।
प्रशमयति सुदुःसहां च साधुर्जयति स धीरमतिस्तृषोऽभितापम् ॥१०४

वसन्ततिलकम्

प्रालेयवायुहतिमप्यविचिन्त्य माघे यः केवलं प्रतिनिशं बहिरेव शेते।
संज्ञानकम्बलबलेन निरस्तशीतः शीतं वशी विजयते स निसर्गधीरः ॥१०५

कथा को कहने वाला तथा आदर से उसे सुनना इन समस्त दुर्लभ वस्तुओं के मिलने पर भी जीव को बोधि की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है इस प्रकार रत्नत्रय से अलंकृत सत्पुरुष चिन्तवन करें ॥ १०१ ॥

समीचीन मार्ग से च्युत नहीं होने तथा विशिष्ट निर्जरा के लिये मुनिवरों को समस्त परीषह सहन करना चाहिये सो ठीक ही है क्योंकि मुक्ति रूपी लक्ष्मी की इच्छा करने वाले, आत्म हित में लीन मनुष्य कष्टों में पीड़ित नहीं होते हैं ॥ १०२ ॥ क्षुधा वेदनीय के उदय से बाधित होने पर भी जो लाभ की अपेक्षा अलाभ को बहुत मानता हुआ न्याय से शुद्ध भोजन को ग्रहण करता है उसका क्षुधापरिषह को जीतना प्रशंसनीय होता है ॥ १०३ ॥ जो साधु हृदय रूपी मिट्टी के घट में स्थित निर्मल समाधिरूपी जल के द्वारा निरन्तर बहुत भारी तृषा को शान्त करता है वही धीर बुद्धि तृषा के संताप को जीतता है ॥ १०४ ॥ जो मुनि माघ के महीने में हिम मिश्रित वायु के आघात का भी विचार न कर प्रत्येकरात्रि में मात्र बाहर ही सोता है, सम्यग्ज्ञानरूपी कम्बल के बल से शीत को नष्ट करने वाला वही जितेन्द्रिय तथा स्वभाव से धीर साधु शीत परीषह को

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible]

वसन्ततिलकम्

दष्टोऽपि दंशमशकादिगणैश्च गात्रं मर्मप्रदेशमुपयातस्य निरङ्कुशैश्च ।
यो योगतो न चलति क्षणमप्युदारस्तस्येह दंशमशकादिजयोऽवसेयः ॥१०७

शार्दूलविक्रीडितम्

याच्ञाप्राणिवधादिदोषरहितं निःसङ्गतालक्षण-
सम्प्राप्यामरदैः सदुस्सुकयितुं निर्वाणलक्ष्मीं क्षमम् ।
नाग्न्यं कातरदुर्धरं वृतवतोऽप्येतत्तदं योगिनः
पर्याप्तिं समुपैति तद्धि विदुषां तत्त्वैषिणां मङ्गलम् ॥१०८

छन्दः (?)

इन्द्रियेष्टविषयेषु निरुत्सुकमानसः पूर्वभुक्तसुखसंपदमप्यविचिन्तयन् ।
सत्तपश्चरति दुश्चरमेकविमुक्तमोक्षसुखकाङ्क्षिरतिपरीषहजित्स विदां वरः ॥१०९

जीतता है ॥ १०५ ॥ जिसमें दावानल की ज्वालाओं से वन व्याप्त हो रहा है ऐसे ग्रीष्म समय में जो पर्वत पर स्थित है, संमुख पड़ने वाली सूर्य की भयंकर किरणों से जिसका शरीर संतप्त हो गया है तथा इस लोक में जो क्षणभर के लिये भी धैर्य से विचलित नहीं होता है, उष्ण परीषह का सहन करना उन्हीं मुनि की सहनशीलता को प्रसिद्ध करता है ॥ १०६ ॥ डांस मच्छर आदि का समूह किसी रुकावट के बिना मर्मस्थान को प्राप्त होकर जिसे अत्यधिक मात्रा में यद्यपि काटता है तो भी जो क्षणभर के लिये भी ध्यान से विचलित नहीं होता है उसी मुनि के इस लोक में उत्कृष्ट दंश मशकादि परीषह का जीतना जानना चाहिये ॥ १०७ ॥ जो याचना और प्राणिघात आदि दोषों से रहित है, निष्परिग्रहता का लक्षण है, अन्य मनुष्यों के द्वारा अप्राप्य मोक्ष लक्ष्मी को उत्कण्ठित करने के लिये जो समर्थ है तथा कायर मनुष्य जिसे धारण नहीं कर सकते ऐसे आचेलक्यव्रत को धारण करने वाले मुनि का नाग्न्य परीषह पूर्णता को प्राप्त होता है सो ठीक ही है क्योंकि तत्त्व के अभिलाषी ज्ञानी जनों के लिये वही मङ्गल स्वरूप है ॥ १०८ ॥ इन्द्रियों के इष्ट विषयों में जिसका मन निरुत्सुक है, जो पहले भोगी हुई सुख संपदा का विचार भी नहीं कर रहा है तथा विमुक्त बुद्धि निःस्पृह होता हुआ मात्र मुक्ति प्राप्ति के उद्देश्य से कठिन तप करता है वही उत्कृष्ट ज्ञानी मनुष्य अरति परिषह को जीतने वाला है ॥ १०९ ॥

---

१. विमुक्तिमती प०।

उपजातिः

आबाध्यमानासु मिथो जनीषु मनोभवाग्निप्रभवारणीषु ।
यः कूर्मवत्संवृतचित्तमास्ते स्त्रीणां स बाधां सहते महात्मा ॥११०

शार्दूलविक्रीडितम्

नन्तुं चैत्ययतीन्गुरूनभिमतान्देशान्तरस्थानिये-
पन्थानं निजसंयमानुसदृशं काले[1] यतः स्वोचिते ।
भिन्नाङ्घ्रेरपि कण्टकोपलचयैः पूर्वस्वयुग्यादिनो-
यानस्यास्मरतः सतामभिमतस्तस्यैव चर्याजयः ॥१११

वसन्ततिलकम्

भूभृद्गुहादिषु पुरा विधिवल्लिरीक्ष्य वीरासनादिविधिना वसतो निकामम् ।
सर्वोपसर्गसहनस्य मुनेर्निषद्यापीडाजयो दुरितवैरिभिदोऽवसेयः ॥११२
ध्यानागमाध्ययनभूरिपरिश्रमेण निद्रां मनाग् गतवतः स्वपुटोर्वरायाम् ।
कुन्थ्वादिमर्दनभियाऽचलिताङ्गयष्टेः[2] शय्यापरीषहजयो यमिनोऽवगम्यः ११३

शार्दूलविक्रीडितम्

मिथ्यात्वेन सदावलिप्तमनसां क्रोधाग्निसंदीपकं
निःशास्त्यतमाविवाप्यविरसं संभुञ्जतोऽप्यध्वगम् ।
तद्व्यासङ्गविवर्जितेन मनसा शाम्यं परां बिभ्रत-
स्तस्याक्रोशपरीषहप्रसहनं ज्ञेयं यतेः सन्मतेः ॥११४

काम रूपी अग्नि को उत्पन्न करने के लिये अरणि नामक लकड़ी के समान स्त्रियों के परस्पर बाधा करने पर भी जो कछुए के समान गूढ चित्त रहता है वह महात्मा स्त्री परीषह को सहन करता है ॥ ११० ॥ जो प्रतिमा, मुनि अथवा अभीष्ट गुरुओं को नमस्कार करने के लिये अन्य देश का अतिथि हुआ है, जो अपने योग्य काल में स्वकीय संयम के अनुरूप मार्ग को प्राप्त हुआ है तथा कण्टक और पत्थरों के समूह से पैरों के विदीर्ण हो जाने पर भी जो पहले काम में आये हुए अपने अश्व आदि वाहनों को स्मरण नहीं करता है उसी मुनि का चर्या परिषह जय सत्पुरुषों के लिये मान्य है ॥ १११ ॥ जो पहले विधिपूर्वक देख कर पर्वत की गुहा आदि में वीरासन आदि की विधि से अधिकतर निवास करता है, समस्त उपसर्गों को सहन करता है तथा पापरूपी वैरी को नष्ट करता है उसी मुनि के निषद्या परीषह जय जानना चाहिए ॥ ११२ ॥ जो ध्यान तथा आगम के अध्ययन से उत्पन्न बहुत भारी परिश्रम के कारण ऊंची नीची पृथिवी पर थोड़ी निद्रा को प्राप्त हुआ है और कुन्थु आदि जीवों के मर्दन के भय से जो अपने शरीर को विचलित नहीं करता है करता है—करवट भी नहीं बदलता है ऐसे साधु का शय्या परीषह जय जानना चाहिये ॥ ११३ ॥ जिनका मन मिथ्यात्व के द्वारा सदा गर्वित रहता है ऐसे लोगों के

---

१. यतेः म०, यतः गच्छत २. भिया वलिलाङ्गयष्टे व० ।

वसन्ततिलकम्

नानाविधास्त्रहतिपन्त्रनिपीडनाद्यैर्व्याबाध्यमानतनुरप्यरिभिः प्रसह्य ।
ध्यानात्परावचलितः सहते विमोहो मोक्षोद्यतो वधपरीषहमभ्यसह्याम् ॥११५

शालिनी

नानारोगैर्बाधितोऽपि प्रकामं स्वप्नेऽप्यन्यान्याचते नौषधादीन् ।
यः शान्तात्मा ध्यानविध्वंसमोहो यत्नात्तेन ज्ञायते निर्विशेति ॥११६

उपजाति

महोपवासेन कृशीकृतोऽपि लाभादलाभं परमं तपो मे ।
भैक्षस्य योगीत्यपि मन्यते यो जयत्यलाभं स विनीतचेताः ॥११७

वसन्ततिलकम्

प्रस्तब्धिवरं युगपदुत्थितचित्ररोगैर्जल्लौषधादिविविधर्द्धियुतोऽप्युपेक्षाम् ।
काये परां प्रकुरुते खलु निःस्पृहत्वाद्यः सर्वदा गदपरीषहजित्स योगी ॥११८
तीक्ष्णैर्नखैस्तृणकण्टक शर्कराद्यैरत्यन्तरूक्षचरणाङ्घ्रियुगोऽपि हतप्रमादम् ।
धर्मादिषु प्रवहते विविधा क्रियासु तस्य प्रतीहि तृणतोदजयं मुनीशः[1] ॥११९

क्रोधाग्नि को प्रदीप्त करने वाले निन्दनीय तथा सर्वथा असत्य आदि रूक्ष वचनों को सुनता हुआ भी जो बिना सुने के समान उसके विक्षेप से रहित मन से उत्कृष्ट क्षमा को धारण करता है उसी सद्बुद्धि मुनि के आक्रोश परीषह का सहन करना जानना चाहिये ॥ ११४ ॥ नाना शस्त्रों के घात तथा यन्त्र निपीड़न आदि के द्वारा शत्रु जिसके शरीर का हठ पूर्वक व्याघात कर रहे हैं फिर भी जो उत्कृष्ट ध्यान से विचलित नहीं होता वही मोह रहित तथा मोक्ष के लिये उद्यत मुनि असह्यनीय वधपरीषह को भी सहन करता है ॥ ११५ ॥ शान्त चित्त तथा ध्यान के द्वारा मोह को नष्ट करने वाला जो मुनि नाना रोगों से पीड़ित होने पर भी स्वप्न में भी दूसरों से औषध आदि की याचना नहीं करता है उसने याचना परीषह को जीता है ऐसा जाना जाता है ॥ ११६ ॥ महोपवास से दुर्बल होने पर भी जो योगी लाभ की अपेक्षा भिक्षा के अलाभ को 'यह मेरे लिये परम तप है' ऐसा मानता है वह विनीत हृदय अलाभ परीषह को जीतता है ॥ ११७ ॥ जो यद्यपि चिर काल से एक साथ उत्पन्न हुए नाना रोगों से ग्रस्त तथा जल्लौषध आदि अनेक ऋद्धियों से सहित है तो भी निःस्पृह होने से सदा शरीर में परम उपेक्षा करता है वह मुनि रोग परीषह को जीतने वाला कहा जाता है ॥ ११८ ॥ जिसके दोनों पैर यद्यपि कठोर मार्ग में बड़े हुए तृण कण्टक और कंकड़ आदि के द्वारा विदीर्ण हो गये हैं फिर भी जो चर्या आदि क्रियाओं में विधिपूर्वक प्रमाद रहित प्रवृत्ति करता है उसी मुनीश्वर के तृण स्पर्श परीषह का जीतना होता है ऐसा जानो ॥११९॥

---

१. मुनीनामीट् मुनीद् तस्य ।

शार्दूलविक्रीडितम्

अम्भःकायिकसत्त्वहिंसनभिया स्नानक्रियामामृतेः
प्रत्याख्यातबलोऽपि दुःसहतरा कण्डूतिमुद्घाटयत् ।
आरोहन्मलसम्पदा प्रतिदिनं वल्मीकभूतं वपु-
र्बिभ्राणस्य परीषहो मलकृतो निश्चीयते योगिनः ॥१२०

इन्द्रवज्रा

ज्ञाने तपस्यव्यकृताभिमानो[1] निन्दाप्रशंसादिषु यः समानः ।
पूजापुरस्कारपरीषहस्य जेता स धीरो मुनिरप्रमादः ॥१२१

वसन्ततिलकम्

तीर्णाखिलश्रुतमहाम्बुनिधेः पुरस्ताद्गन्ये ममाल्पमतयः पदवो न भान्ति ।
इत्यादिकं मतिमदं जहतोऽवसेयः प्रज्ञापरीषहजयो हतमोहवृत्तेः ॥१२२
किञ्चिन्न वेत्ति पशुरेष विषाणहीनो लोकैरिति प्रतिपदं खलु निन्दितोऽपि ।
शान्तिं न मुञ्चति मनागपि यः क्षमावानज्ञानजां विषहते स परीषहार्तिम् ॥१२३

शार्दूलविक्रीडितम्

वैराग्यातिशयेन शुद्धमनसस्तीर्णागमाम्भोनिधेः
सन्मार्गेण तपस्यतोऽपि सुचिरं लब्धिर्न मे काचन ।
[2]संजातेत्यविनिन्दितः प्रवचनं संक्लेशमुक्तात्मन-
स्तस्यादर्शनपीडनैकविजयो विज्ञायते श्रेयसे ॥१२४

जल कायिक जीवों की हिंसा के भय से जिसने मरण पर्यन्त के लिये स्नान क्रिया का त्याग कर दिया है तथा जो दुःख से सहन करने योग्य खाज को प्रकट करने वाले और प्रतिदिन चढ़ते हुए मैल के कारण बामी के आकार परिणत शरीर को धारण कर रहा है उस योगी के मलकृत परिषह का निश्चय किया जाता है अर्थात् वह मल परीषह को जीतता है ॥ १२० ॥

जो ज्ञान और तप में अभिमान नहीं करता है तथा निन्दा और प्रशंसा आदि में समान—मध्यस्थ रहता है वह प्रमाद रहित धीर वीर मुनि सत्कार पुरस्कार परिषह को जीतने वाला कहा जाता है ॥ १२१ ॥ समस्त शास्त्र रूपी समुद्र को पार करने वाले मेरे आगे अन्य अल्प बुद्धि अज्ञानी सुशोभित नहीं होते हैं इस प्रकार के बुद्धि मद को जिसने छोड़ दिया है तथा जिसकी मोह पूर्ण वृत्ति नष्ट हो चुकी है ऐसे मुनि के प्रज्ञा परीषह जय जानना चाहिये ॥ १२२ ॥ यह सींग रहित पशु कुछ नहीं जानता है। इस प्रकार पद पद पर लोगों के द्वारा निन्दित होने पर भी जो रञ्चमात्र भी क्षमा को नहीं छोड़ता है वह क्षमा का धारक साधु अज्ञान से उत्पन्न होने वाली परीषह की पीड़ा को सहन करता है ॥ १२३ ॥ वैराग्य की प्रकर्षता से मेरा मन शुद्ध है, मैंने आगमरूपी समुद्र को पार किया है, और समीचीन मार्ग से मैं चिरकाल से

---

१. -भिमाने म० । २. संजातेत्यविनिन्दितप्रवचनं म० ।

उपजातिः

चारित्रभावं कथितं जिनेन्द्रैः सामायिकं तद् द्विविधं प्रतीहि ।
कालेन युक्तं नियतेन[1] चैकं तथा परं चानियतेन राजन् ॥१२५

स्रग्धरा

छेदोपस्थापनाख्यं निरुपमसुखदं मुक्तिसोपानभूतं
चारित्रं तद् द्वितीयं दुरितविजयिनां जैनवाक्यं मुनीनाम् ।
प्रत्याख्यानप्रमादस्खलनविगमनं[2] स्वागमेनानुसृत्य
छेदोपस्थापनेति प्रकथितमथवा[3] याऽनिवृत्तिर्विकल्पात् ॥१२६

मालभारिणी

परिहारविशुद्धिनामधेयं नृप चारित्रमथेहि तत्तृतीयम् ।
परिहारविशुद्धिरित्युपेता सकलप्राणिवधात्परा निवृत्तिः ॥१२७

तपस्या कर रहा हूँ फिर भी मुझे कोई लब्धि—ऋद्धि नहीं हुई है' इस प्रकार जो प्रवचन—आगम की निन्दा नहीं करता है तथा जिसकी आत्मा संक्लेश से मुक्त है उस मुनि के कल्याण के लिये अदर्शन परीषह का विजय जाना जाता है ॥ १२४ ॥

हे राजन् ! जिनेन्द्र भगवान् ने जो सामायिक नाम का पहला चारित्र कहा है उसे दो प्रकार का जानो । एक तो नियत काल से सहित है और दूसरा अनियत काल से सहित है अर्थात् एक समय की अवधि लेकर स्वीकृत किया जाता है और दूसरा जीवन पर्यन्त के लिये ॥ १२५ ॥ छेदोपस्थापना नाम का जो दूसरा चारित्र है वह अनुपम सुख को देने वाला है, मुक्ति का सोपान स्वरूप है तथा पाप को जीतने वाले मुनियों का विजयी शस्त्र है । प्रत्याख्यान चारित्र में प्रमाद के कारण लगे हुए दोषों का सम्यक् शास्त्र के अनुसार दूर करना छेदोपस्थापना चारित्र है अथवा अहिंसा सत्य आदि के विकल्प से जो अनिवृत्ति है वह भी छेदोपस्थापना कहा गया है । अथवा विकल्पात् विकल्प पूर्वक जो निवृत्ति पाप का त्याग होता है वह छेदोपस्थापना है । भावार्थ—'छेदे सति उपस्थापना छेदोपस्थापना' अथवा 'छेदेन—विकल्पेन उपस्थापना छेदोपस्थापना' इस प्रकार छेदोपस्थापना शब्द की निरुक्ति दो प्रकार की है । प्रथम निरुक्ति में छेदोपस्थापना का अर्थ है कि गृहीत चारित्र में प्रमाद के कारण यदि कोई दोष लगता है तो उसे आगम में बताये हुए क्रम से दूर करना और दूसरी निरुक्ति में अर्थ है कि चारित्र को अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि के विकल्प पूर्वक धारण करना । सामायिक चारित्र में सामान्यरूप से समस्त सावद्य—पाप सहित कार्यों का त्याग किया जाता है और छेदोपस्थापना में हिंसा का त्याग किया, असत्य का त्याग किया, चौर्य का त्याग किया आदि विकल्प पूर्वक त्याग किया जाता है इसलिये छेदोपस्थापना में विकल्प से अनिवृत्ति रहती है अथवा 'या निवृत्तिर्विकल्पात्' इस पाठ में विकल्प पूर्वक जो हिंसादि पापों से निवृत्ति है वह छेदोपस्थापना है ॥ १२६ ॥ हे राजन् ! परिहारविशुद्धि नाम का

---

१. नियतेन, ब० । २. प्रत्याख्यान ब० भ० । ३. प्रकथ्य ब० ।

उपलक्षय सूक्ष्मसाम्परायं नृप चारित्रमनुत्तरं तुरीयम् ।
अतिसूक्ष्मकषायतस्तदप्यवदन्तीह यथार्थनाम सन्तः ॥१२८

उपजातिः

जिनेर्यथाख्यातमिति प्रतीतं चारित्रमुक्तं खलु पञ्चमं तत् ।
चारित्रमोहोपशमात्क्षयाच्च याथात्म्यमात्मा सकुरुतेति येन ॥१२९
अथावगच्छ द्विविधं तपस्त्वं बाह्यं सदाभ्यन्तरमित्यपीष्टम् ।
प्रत्येकमेकं खलु षड्विधं तद्वक्ष्ये समासेन तयोः प्रभेदान् ॥१३०

शार्दूलविक्रीडितम्

रागस्य प्रशमाय कर्मसमितेर्नाशाय दृष्टे फले
हृद्ये चाप्यनपेक्षणाय विधिवद् ध्यानागमावाप्तये ।
सिद्धयै संयमसंपदोऽप्यनशनं धीरः करोत्यादरात्
तेनैकेन हि नीयते मतिमतां दुष्टं मनो वश्यताम् ॥१३१

जो चारित्र है उसे तृतीय चारित्र जानो। समस्त प्राणियों के वध से जो उत्कृष्ट निवृत्ति है वही परिहार विशुद्धि इन नाम से कही गई है। भावार्थ—जो तीस वर्ष तक घर में सुख से रहकर मुनि-दीक्षा लेते हैं तथा आठ वर्ष तक तीर्थंकर के पाद मूल में रहते हुए प्रत्याख्यान पूर्व का अध्ययन करते हैं उनके शरीर में तपश्चरण के प्रभाव से ऐसी विशेषता उत्पन्न हो जाती है कि उसके द्वारा जीवों का विघात नहीं होता। इस संयम के धारक मुनि वर्षाकाल को छोड़कर शेष समय प्रतिदिन दो कोश प्रमाण गमन करते हैं। यह संयम छठवें और सातवें गुण स्थान में ही होता है॥ १२७॥ हे राजन्! सूक्ष्म साम्पराय नाम का चौथा उत्कृष्ट चारित्र है। इसमें कषाय अत्यन्त सूक्ष्म रह जाती है इसलिये सत्पुरुष इसे सार्थक नाम वाला कहते हैं॥ १२८॥ जिनेन्द्र भगवान् ने जो पञ्चम चारित्र कहा है वह यथाख्यात इस नाम से प्रसिद्ध है। यह चारित्र मोह कर्म के उपशम और क्षय से होता है। इस चारित्र के द्वारा आत्मा अपने यथार्थ रूप को प्राप्त होता है। भावार्थ—यथाख्यात चारित्र के दो भेद हैं एक औपशमिक और दूसरा क्षायिक। चारित्र मोह के उपशम से होनेवाला औपशमिक कहलाता है और क्षय से होनेवाला क्षायिक। औपशमिक यथाख्यात ग्यारहवें गुण स्थान में होता है और क्षायिक यथाख्यात बारहवें आदि गुणस्थानों में होता है॥ १२९॥

हे राजन्! अब तुम दो प्रकार के तप को समझो। यह तप बाह्य और आभ्यन्तर भेद वाला है तथा मोक्ष प्राप्ति के लिये इसके दोनों ही भेद सदा अभीष्ट हैं। इन दोनों भेदों में प्रत्येक के छह-छह भेद हैं आगे संक्षेप से उन्हीं के प्रभेदों को कहूँगा॥ १३०॥ राग का प्रशमन करने के लिये, कर्म समूह को नष्ट करने के लिये प्रत्यक्ष फल मनोहर भी हो तो उसमें उपेक्षा करने के लिये, विधि पूर्वक ध्यान और आगम की प्राप्ति के लिये, तथा संयम रूपी संपदा की सिद्धि के लिये धीर वीर मुनि आदरपूर्वक अनशन तप करते हैं क्योंकि उस एक ही तप के द्वारा बुद्धिमानों का दुष्ट मन अधीनता को प्राप्त हो जाता है। भावार्थ—अन्न पान खाद्य और लेह्य इन चार प्रकार

उपजाति:

प्रशान्तरागेन्द्रियदोषशान्त्यै संयमार्थं च मुनेर्यमस्य ।
स्वाध्यायसंतोषनिमित्तमुक्तं तदावमौदर्यमुदारबोधैः ॥१३२

वसन्ततिलकम्

संकल्प एकभवनादिकगोचरो यश्चित्तस्य वृत्तिपरिसंख्यनमेतदेहि तपस्तृतीयम् ।
तृष्णारजःशमनवारिविरक्तयाया लक्ष्म्यास्तदेव हि वशीकरणैकमन्त्रम् ॥१३३

दुष्टेन्द्रियव्रजमदर्पनिषिद्धहार्दं निद्राप्रमादविजयाय तपश्चतुर्थम् ।
स्वाध्याययोगसुखसिद्धिनिमित्तमुक्तं त्यागो घृतप्रमुखवृष्यरसस्य[1] यत्तत् ॥१३४

उपजाति:

यथायथं शून्यगृहादिकेषु विविक्तशय्यासनमाश्रयन्ति ।
स्वाध्यायवेश्मव्रतयोगसिद्ध्यै मुनेस्तपः पञ्चममन्वितं तत् ॥१३५

के आहारों का त्याग करना अनशन या उपवास तप कहलाता है इस तप के लौकिक प्रयोजन की ओर लक्ष्य न रखकर रागादि शत्रुओं को शान्त करने रूप पारमार्थिक प्रयोजन की ओर लक्ष्य रखना चाहिये। इस अनशन तप से मन वश में हो जाता है ॥ १३१ ॥ उत्कृष्ट ज्ञानी आचार्यों ने अत्यधिक जागरण के लिये, तीव्र दोषों की शान्ति के लिये, सम्यक् संयम की साधना के लिये तथा स्वाध्याय और सन्तोष की प्राप्ति के लिये सदा अवमोदर्य तप करने का उपदेश दिया है। भावार्थ—अपने निश्चित आहार से कम आहार लेने को अवमौदर्य तप कहते हैं। इसके कवल चान्द्रायण आदि अनेक भेद हैं ॥ १३२ ॥ आज मैं एक मकान तक, दो मकान अथवा तीन आदि मकान तक आहार के लिये जाऊँगा, इस प्रकार का जो संकल्प किया जाता है उसे तृतीय वैयावृत्य तप जानो। यह तप चित्त को रोकने वाला है, तृष्णा रूपी धूलि को शान्त करने के लिये जल स्वरूप है तथा अविनाशी मोक्ष लक्ष्मी को वश करने के लिये वशीकरण मन्त्र है। भावार्थ—वृत्ति का अर्थ भोजन और परिसंख्यान का अर्थ नियम है। अपने निवास स्थान से भोजन के लिये निकलते समय नाना प्रकार के नियम ग्रहण करना वृत्ति परिसंख्यान तप कहलाता है इस तप के प्रभाव से चित्त की स्वच्छन्दता का निरोध होता है और आहार विषयक तृष्णा शान्त होती है ॥ १३३ ॥ इन्द्रिय रूपी दुष्ट पशु समूह का दर्प नष्ट करने के लिये, निद्रा और प्रमाद पर विजय प्राप्त करने के लिये तथा स्वाध्याय और योग का सुख पूर्वक सिद्धि के लिये घी वगैरह गरिष्ठ रसों का त्याग होता है वह रस परित्याग नामका चतुर्थ तप कहा गया है ॥ १३४ ॥ स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य तथा ध्यान की सिद्धि के लिये आगम के अनुसार शून्य गृह आदि स्थानों में जो एकान्त शयनासन किया जाता

---

१. घृतप्रमुख म०।

वसन्ततिलकम्

प्रोक्तासनस्थितिवनागमवृक्षमूलयोगादभावविविक्तशयनासनिकं तत् ।
बाह्यं तपः परमदेहि नरेन्द्र कायक्लेशाभिधानमिदमेव तपःसु मुख्यम् ॥१३६

हरिणी

अथ दशविधं [नवविधं] प्रायश्चित्तं प्रमादभवागसां
प्रतिनियमितं सर्वज्ञाज्ञाप्रणीतविधानतः ।
प्रणयसि जने प्रव्रज्याद्यैः स यः परमादरो
भवति विनयो मूलं मुक्तेः सुखस्य चतुर्विधः ॥१३७
निजतनुवचःसाधुद्रव्यान्तरैर्यजनं
ननु दशविधं वैयावृत्यं यथागममीरितम् ।
अविरतमथ ज्ञानाभ्यासो मनःस्थितिशुद्धये
शमसुखमयः स्वाध्यायोऽसौ वदार्थविधो मतः ॥१३८

है उसे मुनि का पञ्चम समीचीन विविक्त शय्यासन तप मानते हैं ॥ १३५ ॥ हे नरेन्द्र ! ग्रीष्म ऋतु में आतप स्थिति—घाम में बैठकर आतापन योग धारण करना, वर्षा ऋतु में वृक्ष मूल वास—वृक्ष के नीचे बैठकर वर्षा योग धारण करना, शीत ऋतु में अभ्रवास—खुले आकाश के नीचे बैठना तथा नाना प्रकार के प्रतिमादि योग धारण करना इसे छठवां कायक्लेश नामका उत्कृष्ट तप जानो। यही तप सब तपों में मुख्य है ॥ १३६ ॥

अब आगे छह अन्तरङ्ग तपों का वर्णन करते हैं। प्रमाद से होने वाले अपराधों का सर्वज्ञ की आज्ञा द्वारा प्रणीत विधि के अनुसार निराकरण करना नव प्रकार का प्रायश्चित्त है। दीक्षा आदि के द्वारा वृद्धजनों में जो परम आदर प्रकट किया जाता है वह विनय तप है। यह विनय तप मुक्ति सुख का मूल कारण है। इसके चार भेद हैं। भावार्थ—अपराध होने पर शास्त्रोक्त विधि से उसकी शुद्धि करने को प्रायश्चित्त तप कहते हैं इसके आलोचना प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापन ये नौ भेद हैं। जो मुनि दीक्षा तथा ज्ञानादि गुणों की अपेक्षा वृद्धसंज्ञा को प्राप्त हैं उनका आदर करना विनय तप है इसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र और उपचार ये चार भेद हैं ॥ १३७ ॥ अपना शरीर, वचन तथा अन्य श्रेष्ठ द्रव्यों के द्वारा आगम के अनुसार दश प्रकार के मुनियों की जो उपासना की जाती है वह दश प्रकार का वैयावृत्य तप कहा गया है। मन की स्थिरता और शुद्धि के लिये जो निरन्तर ज्ञान का अभ्यास किया जाता है वह स्वाध्याय तप है। यह स्वाध्याय शान्ति सुख से तन्मय है तथा पांच प्रकार का माना गया है। भावार्थ—व्यावृत्ति—दुःख निवृत्ति जिसका प्रयोजन है उसे वैयावृत्य कहते हैं। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकार के मुनियों की सेवा की जाती है इसलिये विषय भेद की अपेक्षा वैयावृत्य तप के दश भेद होते हैं। शास्त्र के माध्यम से आत्म स्वरूप का अध्ययन करना स्वाध्याय है इसके वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और

वाक्लिनी

आत्मात्मीयमयः स्वसंकल्पबुद्धेः सम्यक्त्यागो यः प्रणीतो जिनेन्द्रैः ।
स व्युत्सर्गो द्विप्रकारः प्रतीतो ध्यानं चातः सप्रभेदं प्रवक्ष्ये ॥१३९

उपजातिः

अवेहि सत्संहननस्य सूक्तमेकाग्रचिन्तासुनिरोध[1] एव ।
ध्यानं जिनेन्द्रः सकलावबोधैरान्तर्मुहूर्तादिव[2] तच्चतुर्धा ॥१४०
आर्तं च रौद्रं नरनाथ धर्म्यं शुक्लं च[3] तद्भेद इति प्रणीतः ।
संसारहेतू प्रथमे प्रविष्टे स्वर्मोक्षहेतू भवतः परे द्वे ॥१४१

शार्दूलविक्रीडितम्

आर्तं विद्धि चतुर्विधं स्मृतिसमन्वाहार इष्टेतरा-
बाप्तौ तद्विरहार्थ चेष्टविरहे तत्सङ्गमायेति यः ।
अभ्यल्पद्युतवेदनाभिहतये घोरं निदानाय तत्-
प्रादुर्भूतिरथाहृता खलु गुणस्थानेषु षट्स्वाश्रितः ॥१४२

धर्मोपदेश के भेद से पांच भेद हैं ॥ १३८ ॥ आत्मा और आत्मीय पदार्थों में 'ये मेरे हैं' इस प्रकार की संकल्प बुद्धि का जो भले प्रकार त्याग किया जाता है उसे जिनेन्द्र भगवान् के व्युत्सर्ग तप कहा है। यह प्रसिद्ध तप बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि के त्याग की अपेक्षा दो प्रकार का है। अब इसके आगे उत्तर भेदों से सहित ध्यान का निरूपण करूंगा ॥ १३९ ॥

संपूर्ण ज्ञान के धारक जिनेन्द्र भगवान् ने, उत्तम संहनन वाले जीव का अन्तर्मुहूर्त तक के लिये किसी एक पदार्थ में चिन्ता का जो रुकना ही ध्यान कहा है ऐसा जानो। वह ध्यान चार प्रकार का है ॥ १४० ॥ हे नरनाथ ! आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ये ध्यान के भेद कहे गये हैं, इनमें प्रारम्भ के दो ध्यान संसार के हेतु कहे गये हैं और आगे के दो स्वर्ग तथा मोक्ष के कारण हैं ॥१४१॥ अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति होने पर उसके वियोग के लिये बार-बार विचार करना, इष्ट का वियोग होने पर उसके संयोग के लिये बार-बार विचार करना, तीव्र वेदना को दूर करने के लिये तथा भोगाकाङ्क्षा रूप निदान के लिये बार बार विचार करना यह चार प्रकार आर्त्तध्यान है ऐसा जानो। इस आर्त्तध्यान की उत्पत्ति प्रारम्भ के छह गुणस्थानों में होती है। भावार्थ—आर्ति का अर्थ दुःख है उस दुःख के समय जो ध्यान होता है वह आर्त्तध्यान कहलाता है 'आर्तौ भवम् आर्त्तम्' यह उसकी व्युत्पत्ति है। यह आर्ति चार कारणों से होती है अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग, तीव्र रोग जन्य पीड़ा, और भोग प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा। उपर्युक्त चार कारणों की अपेक्षा आर्त्तध्यान के चार भेद माने गये हैं। यह आर्त्तध्यान पहले से प्रारम्भ कर छठवें गुणस्थान तक होता है परन्तु निदान जनित आर्त्तध्यान छठवें गुणस्थान में नहीं होता। वह पांचवें गुण स्थान तक ही होता

---

१. एक : म० । २. रन्तर्मुहूर्तादिव म० । ३. भवेद्भेद इति प्रणीतः ब० । ४. आर्तेस्तद्विरहाय म०

उपजातिः

हिंसानृतस्तेयपरिग्रहैकसंरक्षणेभ्यः खलु रौद्रमुक्तम् ।
तस्य प्रयोक्ताविरतो निकामं स्यात्संयतासंयतलक्षणश्च ॥१४३

शार्दूलविक्रीडितम्

आज्ञापायविपाकसंस्थितिभवं धर्म्यं चतुर्धा मतं
यः सम्यग्विचयाय तत्स्मृतिसमन्वाहार आपादितः ।
भावानामतिसौक्ष्म्यतो जडतया कर्मोदयादात्मनः
स्तत्राज्ञाविचयो यथागमगतं द्रव्यादिसंचिन्तनम् ॥१४४

मिथ्यात्वेन सदा विमूढमनसो जात्यन्धवत्प्राणिनः
सर्वज्ञोक्तमताच्चिराय विमुखा मोक्षार्थिनोऽज्ञानिनः ।
सन्मार्गादवबोधनादभिमताद्दूरं प्रयान्तीति यत्-
मार्गापायविचिन्तनं[1] तदुदितं धर्म्यं द्वितीयं बुधैः ॥१४५

है॥ १४२ ॥ हिंसा, असत्य, चोरी और परिग्रह के अत्यधिक संरक्षण से होने वाला ध्यान रौद्रध्यान कहा गया है। इस रौद्रध्यान का अत्यधिक प्रयोग करने वाला, अविरत अर्थात् प्रारम्भ से लेकर चतुर्थ गुण स्थान तक का जीव, तथा संयतासंयत नामक पञ्चम गुण स्थानवर्ती जीव होता है। भावार्थ—'रुद्रस्येदं रौद्रं' इस व्युत्पत्ति के अनुसार रुद्र जीव का ध्यान रौद्र ध्यान कहलाता है। हिंसा असत्य चोरी और परिग्रह के संरक्षण में अत्यन्त आसक्त रहने वाला प्राणी रुद्र कहलाता है उसका जो ध्यान है वह रौद्र ध्यान कहलाता है कारणों की अपेक्षा रौद्र ध्यान के भी हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी इस प्रकार चार भेद होते हैं। यह रौद्र ध्यान अविरत अर्थात् प्रारम्भ के चार गुणस्थानों में रहने वाले जीव के अत्यधिक मात्रा में होता है और पञ्चम गुणस्थानवर्ती संयतासंयत के साधारण मात्रा में होता है॥ १४३ ॥

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान से होने वाला ध्यान धर्म्यध्यान माना गया है। वह धर्म्यध्यान आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय के भेद से चार प्रकार का है। सम्यग् रूप से पदार्थ का विचार करने के लिये जो मन का व्यापार होता है वह स्मृति समन्वाहार कहलाता है। पदार्थों की अत्यन्त सूक्ष्मता और कर्मोदय से होने वाली अपनी अज्ञानता के कारण जहाँ आगम की आज्ञानुसार द्रव्य आदि का चिन्तन होता है वहाँ आज्ञाविचय नाम का धर्म्यध्यान होता है॥ १४४ ॥ मिथ्यात्व के द्वारा जिनका मन सदा मूढ रहता है ऐसे अज्ञानी प्राणी मोक्ष के इच्छुक होकर भी जन्मान्ध के समान सर्वज्ञ कथित मार्ग से चिर काल से विमुख हैं तथा सम्यग्ज्ञान रूपी अपने इष्ट समीचीन मार्ग से दूर जा रहे हैं इस प्रकार मार्ग के अपाय का जो चिन्तन है वह विद्वानों द्वारा अपायविचय नाम का दूसरा धर्म्यध्यान कहा गया

---

१. मार्गोपाय— म० ।

वृत्तम्

अपायविचयोऽपरा विगलितो जिनैः कर्मणा-
मपायविधिचिन्तनं नियतवाङ्मनः संततम् ।
अपेयुरहितादिमे कथमनादिमिथ्यात्वतः
शरीरिण इतीरिता स्मरणसन्ततिश्चापरा ॥१४६

शार्दूलविक्रीडितम्

यज्ज्ञानावरणादिकर्मसमितेर्द्रव्यादिकारणय[1]-
प्रोद्भिन्नविचित्रपाकफलोच्चयानुभवनं प्रत्येकसंचिन्तनम् ।
सम्यक्तच्चितरां विपाकविचयो लोकस्य संस्थाविधे
र्यत्संस्थाविचयो निरूपणमिति स्याद्यत्प्रमत्तात्मकम् ॥१४७

उपजातिः

चतुर्विकल्पं निगदन्ति शुक्लध्यानं जिना ध्यानविधिप्रमोहाः ।
आद्ये सदा पूर्वविदो भवेतां परे परं केवलिनः प्रणीते ॥१४८
प्रोक्तस्त्रियोगस्य[2] जिनैः पृथक्त्ववितर्क आद्यः स इति प्रतीतम् ।
द्वितीयमेकत्ववितर्क एक योगस्य च ध्यायमनूनबोधैः ॥१४९
सूक्ष्मक्रियासु प्रतिपातिनेन[3] सूक्ष्मक्रियाविप्रतिपातिसंज्ञा ।
सत्काययोगस्य वदन्ति शुक्लं तृतीयमालोकितविश्वलोकाः ॥१५०

है ॥ १४५ ॥ अथवा आत्मा से कर्मों के छूटने की विधि का निरन्तर नियत रूप से चिन्तन करना अर्थात् आत्मा से कर्मों का सम्बन्ध किस प्रकार छूटे ऐसा चिन्तन करना भी जिनेन्द्र भगवान् ने अपाय विचय ध्यान कहा है अथवा ये प्राणी अहितकारी अनादि मिथ्यात्व से कैसे छूटें इस प्रकार की जो दूसरी विचार श्रेणी है वह भी अपायविचय नाम का धर्म्यध्यान है ॥ १४६ ॥ ज्ञानावरणादि कर्म समूह के द्रव्यादि कारणों से उदय में आने वाला विचित्र फल का जो अनुभवन है वह विपाक कहलाता है। इस संदर्भ में प्रत्येक कर्मों के विपाक का जो अच्छी तरह विचार किया जाता है वह विपाकविचय नाम का धर्म्यध्यान है और लोक की आकृति का जो निरूपण है वह संस्थानविचय धर्म्यध्यान है। यह धर्म्यध्यान अप्रमत्तविरत नामक सप्तम गुणस्थान तक होता है ॥ १४७ ॥

ध्यान के द्वारा मोह को नष्ट करने वाले जिनेन्द्र भगवान् शुक्ल ध्यान को चार भेदों से युक्त कहते हैं। उन चार भेदों में प्रारम्भ के दो भेद पूर्वविद्—पूर्वों के ज्ञाता मुनि के होते हैं और शेष दो भेद केवली के कहे गये हैं ॥१४८॥ जो शुक्ल ध्यान कहा है वह पृथक्त्ववितर्क विचार नामका पहला शुक्ल ध्यान है और तीन योगों में से किसी एक योग के धारक के जो शुक्ल ध्यान होता है वह एकत्व वितर्क नामका दूसरा शुक्ल ध्यान है ऐसा पूर्णज्ञान के धारक सर्वज्ञ देव ने कहा है ॥ १४९ ॥ काययोग की सूक्ष्म क्रियाओं के काल में जो होता है वह सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नामका तृतीय शुक्ल

---

१. द्रव्यादिकं प्रत्ययः म० । २. त्रियोगस्य म० । ३. प्रतिपातिनेन म० ।

वंशस्थम्

अथो विपूर्वोपरतक्रियादिका निवृत्तिकाख्या परमस्य कीर्तिता ।
वरेन्द्र शुक्लस्य समस्तदृष्टिभिर्भवत्ययोगस्य तवन्यदुर्लभम् ॥१५१

उपजातिः

एकाश्रये विद्धि कुशाग्रबुद्धे वितर्कवीचारयुते[1] निकामम् ।
पूर्वे द्वितीयं त्रिजगत्प्रदीपैर्जिनैरवीचारमिति प्रणीतम् ॥१५२
बुधा वितर्कं श्रुतमित्युशन्ति वीचार इत्याचरणप्रधानाः[2] ।
अर्थस्य च व्यञ्जनयोगयोश्च संक्रान्तिमाक्रान्तशमैकसौख्याः ॥१५३

शार्दूलविक्रीडितम्

ध्येयं द्रव्यमथार्थमित्यभिमतं तत्पर्ययो वापरो
राजन्व्यञ्जनमित्यवेहि वचनं यो[3] गोऽङ्गवाक्चेतसाम् ।
प्रस्पन्दः परिवर्तनं यदुदितं संक्रान्तिरित्यञ्जसा
स्वालम्ब्यैकतमं क्रमेण विधिना कृत्स्नेषु चार्थादिषु ॥१५४
द्रव्याणुं सुवशीकृताक्षतुरगो भावाणुमभ्याहृतो[4]
ध्यायन्प्राप्तवितर्कशक्तिरनघः सम्यक्पृथक्त्वेन यः ।
अर्थाद्वीन्मनसा क्रमाच्च शमयन् संसर्पतोन्मूलयन्
मोहस्य प्रकृतीरसौ वितनुते ध्यानं सवस्तुं मुनिः ॥१५५

ध्यान है ऐसा समस्त लोक को देखने वाले सर्वज्ञ भगवान् कहते हैं ॥ १५० ॥ हे राजन् ! सर्वदर्शी भगवान् ने उत्कृष्ट शुक्ल ध्यान का व्युपरतक्रियानिवर्ति नाम कहा है। यह ध्यान योग रहित जीव के होता है अन्य जीवों के लिये दुर्लभ है ॥ १५१ ॥ हे कुशाग्रबुद्धे ! आदि के दो ध्यान एक पदार्थ के आश्रय से होते हैं तथा वितर्क और विचार से युक्त होते हैं परन्तु तीनों लोकों के प्रकाशक जिनेन्द्र भगवान् के द्वितीय शुक्ल ध्यान को विचार से रहित कहा है ॥ १५२ ॥ जिनके आचरण की प्रधानता है तथा प्रशम और अद्वितीय सुख जिन्हें प्राप्त हो चुका है ऐसे ज्ञानी पुरुष श्रुत के वितर्क और अर्थ, शब्द तथा योग के परिवर्तन को विचार कहते हैं ॥ १५३ ॥ हे राजन् ! ध्यान करने योग्य जो द्रव्य है वह 'अर्थ' है' ऐसा माना गया है। इसी प्रकार उस द्रव्य की जो वर्तमान पर्याय अथवा अन्य पर्याय है वह भी 'अर्थ है' ऐसा स्वीकृत किया गया है। आगम के वचन को 'व्यञ्जन है' ऐसा जानो। काय, वचन और मन का जो परिस्पन्द है वह योग है। इन सब का जो परिवर्तन है उसे 'संक्रान्ति' इस प्रकार कहा गया है। इन अर्थ आदि समस्त वस्तुओं—अर्थ, व्यञ्जन और योग इन तीनों में से किसी एक का विधि पूर्वक क्रम से आलम्बन लेकर जो आदर-पूर्वक द्रव्याणु अथवा भावाणु का भी ध्यान करता है, जिसने इन्द्रिय रूपी घोड़ों को अच्छी तरह वश कर लिया है, जिसे वितर्क शक्ति—आगम के अर्थ विचार की सामर्थ्य प्राप्त हो चुकी है, जो

---

१. गते म० । २. प्रधानाम् ब० । ३. योगाङ्गवाक्चेतसाम् म० । ४. मभ्यादितो म० ।

प्राग्वत्तन्तुपमेनबुद्धिसहितं योगं विशेषं लभन्-
निष्पन्दोमुहूर्तं अन्तर्गतिरुपशान्तमोहः ।
क्षपयन्नथवापि निर्दहन् सकलम् शुक्लमाद्यं विवक्षुः
स्यादेकत्वविचर्कवीचिरहितः कार्त्स्न्येन मोहं क्षपुं सहः ॥१५६

अर्थव्यञ्जनयोगसंक्रमणतः संक्षीणवृत्तश्रुतः
साधुः साधुरुपयोगसहितो ध्यानक्षमाकारभृत् ।
ध्यायन्क्षीणकषाय इत्यभिहितस्तावान् पुनर्ध्यायिनौ
निर्लेपो न निवर्तते मणिरिव स्वच्छस्वभावः स्फटिकः ॥१५७॥

उपजातिः

निःशेषमेकत्वविचर्कशुक्लध्यानाग्निदग्धाखिलघातिदारुः ।
ज्ञानं परं तीर्थंकरः परो वा स केवली केवलमभ्युपैति ॥१५८

पाप रहित है, जो क्रम से प्रवृत्त होने वाले मन से अर्थ-व्यञ्जन और योगों का पृथक्त्व रूप से ध्यान करता है तथा उनके फलस्वरूप जो मोहनीय कर्म की समस्त प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय कर रहा है ऐसा मुनि पृथक्त्व वितर्क विचार नामक प्रथम शुक्ल ध्यान को सदा विस्तृत करता है। ॥ १५४–१५५ ॥ तदनन्तर अनन्तगुणी अद्वितीय वृद्धि से सहित योग विशेष को प्राप्त कर जो शीघ्र ही मोह कर्म रूपी वृक्ष को जड़सहित नष्ट कर रहा है, निरन्तर ज्ञानावरण के बन्ध को भी रोक रहा है तथा उसकी स्थिति के ह्रास और क्षय को करता हुआ निश्चल रहता है ऐसा मुनि एकत्व वितर्क नामक द्वितीय शुक्ल ध्यान को प्राप्त होता है और वही कर्मों का क्षय करने के लिये समर्थ होता है ॥ १५६ ॥ अर्थ, व्यञ्जन और योगों के संक्रमण–परिवर्तन से जिसका श्रुत शीघ्र ही निवृत्त हो गया है, जो शुद्धोपयोग से सहित है, जो ध्यान के योग्य आकार को धारण कर रहा है, जिसकी कषाय क्षीण हो चुकी है, जिसका मन निश्चल है, जो मणि के समान निर्लेप है है तथा स्फटिक के समान स्वच्छ स्वभाव है ऐसा ध्यान करने वाला साधु अब ध्यान से निवृत्त नहीं होता है—पीछे नहीं हटता है। भावार्थ—पृथक्त्ववितर्क विचार नामक शुक्ल ध्यान आठवें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है तथा उपशम और क्षपक दोनों श्रेणियों में होता है। इस ध्यान को धारण करने वाला मुनि यदि उपशम श्रेणी में स्थित होता है तो वह नियम से पीछे हटता है—उस ध्यान से पतित हो जाता है परन्तु एकत्व वितर्क नाम का शुक्ल ध्यान बारहवें गुणस्थान में होता है अतः इस ध्यान को धारण करने वाला मुनि ध्यान से पीछे नहीं हटता है किन्तु अन्तर्मुहूर्त के भीतर शेष घातिया कर्मों का क्षय कर निश्चय से सर्वज्ञ बन जाता है ॥ १५७ ॥ समस्त वितर्क शुक्ल ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा जिसके घातिया कर्मरूपी लकड़ियों को सम्पूर्ण रूप से भस्म कर दिया है ऐसा तीर्थंकर हो अथवा अन्य केवली हो नियम से उत्कृष्ट केवलज्ञान को प्राप्त होता

स्रग्धरा

चूडारत्नांशुजालैः किसलयितकरैर्वन्द्यमानः सुरेन्द्रैः
स्वात्मज्ञानान्तर्निमग्नत्रिभुवनमुपमातीर्णसंसारसिन्धुः ।
उत्कर्षेणाष्टवर्षोनितो विहरति भवभव्यव्रजैः परीतो
देशानां पूर्वकोटीं त्रुटितविरहयोरात्रिभिः श्वेतिताशः ॥१५९

उपजातिः

अन्तर्मुहूर्तस्थितिकं यदायुस्तत्तुल्यवेद्यान्वितनामगोत्रः ।
विहाय वाङ्मानसयोगमन्यं स्वकाययोगं खलु बादरं च ॥१६०
आलम्ब्य सूक्ष्मीकृतकाययोगमयोगतां ध्यानबलेन यास्यन् ।
सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिनाम ध्यायत्यसौ ध्यानमनन्यकृत्यः ॥१६१
आयुःस्थितेरप्यपरं निकामं कर्मत्रयं यच्च[1]धिकस्थिति स्यात् ।
तदा समुद्घातमुपैति योगी तत्तुल्यतां तत्त्रितयं च नेतुम् ॥१६२

वसन्ततिलकम्

दण्डं कपाटमनघं प्रतरं च कृत्वा स्वं लोकपूरणमसौ समयैश्चतुर्भिः ।
तावद्भिरेव समयैरुपसंहृतात्मा ध्यानं तृतीयमथ पूर्ववद[2]भ्युपैति ॥१६३

है ॥ १५८ ॥ चूड़ामणि की किरणों के समूह से पल्लवाकार हाथों को धारण करने वाले सुरेन्द्र जिन्हें वन्दना करते हैं, जिनके आत्मज्ञान के भीतर तीनों लोक निमग्न हैं, जो उपमा से रहित हैं, जिन्होंने संसाररूपी समुद्र को पार कर लिया है, जो भव्य जीवों के समूह से घिरे हुए हैं तथा जिन्होंने चन्द्रमा के समान निर्मल यश के समूह से समस्त दिशाओं को श्वेत कर दिया है ऐसे वे भगवान्, उत्कृष्ट रूप से देशोन—आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त कम एक करोड़ वर्ष पूर्व तक विहार करते रहते हैं ॥ १५९ ॥ जब उनकी आयु अन्तर्मुहूर्त की रह जाती है तथा वेदनीय नाम और गोत्र कर्म की स्थिति भी उसी के समान अन्तर्मुहूर्त की शेष रहती है तब वे वचनयोग मनोयोग और स्थूल काययोग को छोड़ कर सूक्ष्म काययोग का आलम्बन लेते हैं और ध्यान के बल से आगे अयोग अवस्था को प्राप्त करने वाले होते हैं। उसी समय अनन्य कृत्य होकर वे केवली भगवान् सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति नामक तीसरे शुक्ल ध्यान को ध्याते हैं ॥ १६०–१६१ ॥ यदि शेष तीन कर्म, आयु कर्म की स्थिति से अधिक स्थिति वाले हों तो सयोगकेवली भगवान् उन तीन कर्मों को आयुकर्म की समानता प्राप्त कराने के लिये समुद्घात को प्राप्त होते हैं ॥ १६२ ॥ वे केवली भगवान्, चार समय में अपने आत्मा को निर्दोष दण्डकपाटप्रतर और लोकपूरण रूप करके तथा उतने ही समय में संकोचित कर पहले के समान तृतीय शुक्ल ध्यान को प्राप्त होते हैं। भावार्थ—मूल शरीर को न छोड़ कर आत्मप्रदेशों के बाहर फैलने को समुद्घात कहते हैं। इसके वेदना, मारणान्तिक, कषाय, वैक्रिय,

---

१. यदधिकं स्थितं म० । २. पूर्वविदभ्युपैति म० ।

वंशस्थम्

ततः समुच्छिन्नपदार्थकल्पिका निवर्तिता ध्यानवरेण कर्मणाम् ।
निरस्य शक्तिं सकलामवेदनां प्रयाति निर्वाणमुपैति केवली ॥१६४

पृथ्वी

स्वयूर्वकृतकर्मणां च्युतिरवेदितैः निर्जरा
द्विभेदमुपयात्यसाविति विपाकजा पाकजा ।
पतन्ति भुवि कालतः परतुषादतो वोद्यतो
बलप्रतिफलानि यत्कृतफलान्यपि ॥१६५

शार्दूलविक्रीडितम्

सम्यग्दृष्टिरुपासकश्च विरतः संयोजनोद्दीपको
मोहस्य क्षपकस्तथोपशमको वृद्धश्चरित्रस्य च ।

आहारक, वैक्रियिक और लोकपूरण ये सात भेद हैं। लोकपूरण समुद्घात उन सयोगकेवली भगवान् के होता है जिनके आयु कर्म की स्थिति अल्प और शेष तीन कर्मों की स्थिति अधिक हो। इस समुद्घात के पहले समय में आत्मा के प्रदेश अधोलोक से लेकर लोक के अन्तिम भाग तक दण्ड के आकार होते हैं, दूसरे समय में कपाट के समान चौड़े हो जाते हैं, तीसरे समय में वातवलय को छोड़कर समस्त लोक में फैल जाते हैं और चौथे समय में वातवलयों सहित समस्त लोक में फैल जाते हैं अगले चार समयों में क्रम से संकोचित होकर शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस समुद्घात की क्रिया से शेष तीन कर्मों की स्थिति घटकर आयु के बराबर हो जाती है। जो केवली भगवान् समुद्घात के बाद पहले के समान स्वरूपस्थ हो जाते हैं तब तृतीय शुक्ल ध्यान को धारण करते हैं। यह ध्यान तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में होता है ॥ १६३ ॥ तदनन्तर केवली भगवान् अयोग अवस्था को प्राप्त हो समुच्छिन्न क्रिया निवर्ति नामक उत्कृष्ट ध्यान के द्वारा कर्मों की समस्त शक्ति को नष्ट कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं ॥ १६४ ॥

हे राजन् ! अपने पूर्वकृत कर्मों का छूटना निर्जरा कही गई है। यह निर्जरा विपाकजा और अविपाकजा, इस तरह दो भेदों को प्राप्त होती है। जिस प्रकार पृथिवी पर वृक्षों के फल समयानुसार स्वयं पकते हैं और बाह्य उपाय से असमय में भी पकते हैं उसी प्रकार कर्म भी समयानुसार—उदयावली को प्राप्त निषेक रचना के अनुसार स्वयं निर्जरा को प्राप्त होते हैं और तपश्चरणादि बाह्य उपाय से असमय में भी पकते हैं—निर्जरा को प्राप्त होते हैं। भावार्थ—उदयावली को प्राप्त निषेक रचना के अनुसार जो कर्म परमाणु निर्जीर्ण होते हैं वह सविपाक निर्जरा है और तपश्चरणादि के निमित्त से असमय में भी जो कर्म निर्जीर्ण होते हैं वह अविपाक निर्जरा है ॥ १६५ ॥ सम्यग्दृष्टि,

---

१. निवृत्तिना ब०म०

शान्तोपशमकक्षपकः क्षपकः प्रक्षीणमोहो जिनो
नासंख्येयगुणक्रमात्तनु भवत्येषां परा निर्जरा ॥१६६

मालभारिणी

इति संवरनिर्जरानिमित्तं द्विविधं सत्परिकीर्तितं तपस्त्वम् ।
शृणु संश्रयणीयमेकबुद्ध्या क्रमतो मोक्षमतस्तवाभिधास्ये ॥१६७

उपजातिः

[1]बन्धस्य हेतोर्नितरामभावात्सुसंनिधानादपि निर्जरायाः ।
समस्तकर्मस्थितिविप्रमोक्षो मोक्षो जिनेन्द्रैरिति संप्रणीतः ॥१६८
[2]प्रागेव मोहं सकलं निरस्य गत्वाथ च क्षीणकषायसंज्ञाम् ।
विबोधदृष्टयावरणान्तरायान्हत्वा ततः केवलमभ्युपैति ॥१६९
चतुर्ष्वसंयतपूर्वसम्यग्दृष्टयादिषु प्राक् सुविशुद्धियुक्तः ।
स्थानेषु कस्मिन्नपि क्षिणोति मोहस्य सप्त प्रकृतीरशेषाः ॥१७०
निद्राविनिद्रा प्रचलास्वपूर्वा गृद्धिस्तथा स्यानपदादिपूर्वा ।
श्वभ्रा गतिस्तत्सदृशानुपूर्वी तिर्यग्गतिस्तत्प्रकृतानुपूर्वी ॥१७१

श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाला, दर्शन मोह का क्षपक, तथा चारित्र मोह का उपशमक, क्षपक, शान्तमोह, क्षीणमोह और जिन इन सब के असंख्यात गुण क्रम से उत्कृष्ट निर्जरा होती है ॥ १६६ ॥ इस प्रकार संवर और निर्जरा के निमित्तभूत दो प्रकार में सम्यक् तप का वर्णन किया, अब तूं अच्छी तरह आश्रय करने योग्य मोक्ष तत्त्व को एकाग्र बुद्धि से धारण कर, इसके आगे तेरे लिये मोक्ष का निरूपण करूंगा ॥ १६७ ॥

बन्ध के कारणों का अत्यन्त अभाव तथा निर्जरा का अच्छी तरह सन्निधान प्राप्त होने से समस्त कर्मों की स्थिति का बिलकुल छूट जाना मोक्ष है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ॥ १६८ ॥ सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का पहले ही क्षय कर यह जीव क्षीण कषाय संज्ञा को प्राप्त होता है उसके बाद ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय का क्षय कर केवलज्ञान को प्राप्त होता है ॥ १६९ ॥ असंयत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुण स्थानों में से किसी गुणस्थान में अत्यन्त विशुद्धि से युक्त होता हुआ यह जीव सबसे पहले मोह की सात प्रकृतियों (मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ) का सम्पूर्ण रूप से क्षय करता है ॥ १७० ॥ हे राजन् ! उसके पश्चात् विशुद्धि सहित अनिवृत्तिकरण नामक नवम गुणस्थान में स्थित होता हुआ निद्रा-

---

१. 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' त०सू० अ० १० सू० २ । १ मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् त०सू०अ० १० सू० १ ।

एकेन्द्रियादिजातिनुरिनिद्रानिद्रे प्रचलाप्रचले स्त्यानगृद्धिम् ।
नरकगतिं नरकगत्यानुपूर्वीं तिर्यग्गतिं तिर्यग्गत्यानुपूर्वीम् ॥१७२
निर्णेति सुद्धत्य सहितेनैतानि प्रकृतिसप्तके निधनं नयति योगीशः ।
ततः कषायाष्टकमेकवारं नवमे गुणे हिनस्ति धीरः ॥१७३
नपुंसकं वेदमथ स्त्रीवेदं हास्यादिषट्कमुद्धुनुते ।
ततः परं तत्र च लोभसंज्वलनं च क्षीणे कुरुतेऽन्तरायम् ॥१७४
तत्रैव पुंवेदमथो निहन्ति क्रमेण क्रुधं संज्वलनं च ।
लोभोऽपि सूक्ष्मसाम्परायाख्यायां याति संक्षयं प्रायेण ॥१७५
ततः क्षपकश्रेणीशिरोरुहेऽस्मिन्नुपैति क्षीणकषायम् ।
उपान्तिमे प्राप्य क्षणे निद्रां निद्रां प्रचलां प्रचलां च धत्ते ॥१७६
[1]ज्ञानावृतिः पञ्चविधा च दृगावृतिश्चतुर्विधा च सदा ।
पञ्चप्रकारश्च तथान्तरायो निर्मायमस्मिन् क्षणे प्रयाति ॥१७७
अथ द्वयोरन्यतरश्च वेद्यो वैक्रोगरिस्तत्प्रकृतानुपूर्वी ।
औदारिकं वैक्रियिकं शरीरमाहारकं तैजसकार्मणे च ॥१७८
स्पर्शाष्टकं पञ्च रसाः शरीरसंघाताः पञ्च च पञ्चवर्णाः ।
लघुश्च पूर्वो निहितानुपूर्वश्चोपघातः परघातश्च ॥१७९

निद्रा, प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय को आदि लेकर चतुरिन्द्रिय पर्यन्त चार जातियां, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियों का क्षय करता है। इसके अनन्तर उसी नवम गुणस्थान में मुनिराज के द्वारा अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ सम्बन्धी आठ कषाय एक साथ नष्ट किये जाते हैं ॥ १७१-१७४ ॥ तदनन्तर शुद्ध चारित्र को धारण करता हुआ यह धीर वीर मुनि नपुंसक वेद, स्त्री वेद तथा हास्यादिक छह नोकषायों को उसी नवम गुणस्थान में समस्त रूप से एक साथ नष्ट करता है ॥ १७५ ॥ उसके पश्चात् उसी गुणस्थान में पुंवेद तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया का पृथक्-पृथक् क्षय करता है। इतनी प्रकृतियों का क्षयकर यह मुनि सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशम गुणस्थान को प्राप्त होता है। उसके अन्त में संज्वलन लोभ भी क्षय को प्राप्त होता है ॥ १७६ ॥

तदनन्तर जो क्रम से क्षीण कषाय वीतराग संज्ञा को प्राप्त हुए हैं ऐसे मुनिराज के उस गुणस्थान के उपान्त्य समय में शीघ्र ही एक साथ निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृतियां क्षय को प्राप्त होती हैं ॥ १७७ ॥ और उसी गुणस्थान के अन्त समय में पांच प्रकार का ज्ञानावरण, चार प्रकार का दर्शनावरण और पांच प्रकार का अन्तराय कर्म विनाश को प्राप्त होता है ॥ १७८ ॥ तदनन्तर हे राजन्! वेदनीय कर्म के दो भेदों में से कोई एक वेद्य वेदनीय, देवगत्यानुपूर्वी, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पांच शरीर, आठ स्पर्श, पांच रस, पांच संघात, पांच वर्ण, अगुरुलघु,

---

१. श्लोकोऽयं म प्रतौ नास्ति ।

परा विहायोगतिरप्रशस्ता तथा प्रशस्ता च शुभाशुभौ च ।
स्थिरास्थिरौ सुस्वरदुःस्वरौ च पर्याप्तकोच्छ्वासकदुर्भगाख्ये च ॥१८०
प्रत्येककायोऽप्ययशःपदाभिकीर्तिस्त्वनादेयसनाह्वया च ।
निर्माणकर्मप्रकृतिश्च नीचैर्गोत्रं च पञ्चापि शरीरबन्धाः ॥१८१
संस्थानषट्कं त्रिशरीरकाङ्गोपाङ्गं च षट्संहननं द्विगन्धम् ।
हृत्वेत्युपान्ते समये नृपैता द्वासप्ततिं च प्रकृतीरयोगः ॥१८२
वेद्यद्वयोरन्यतरं नरायानामगुर्गतिपञ्चापि तदानुपूर्वी ।
जातिश्च पञ्चेन्द्रियशब्दपूर्वा पर्याप्तकादेयसयशसावरौ च ॥१८३
सुतीर्थकत्वं सुभगो यशः स्यात्कीर्तिस्तदाख्येयसमुच्चगोत्रे ।
त्रयोदशैताः प्रकृतीः सगं च हिनस्ति सान्त्ये समये जिनेन्द्रः ॥१८४
व्यपेतलेश्यः प्रतिपद्य भावं शैलेशिभावं नितरामयोगः ।
विराजते वारिदरोधमुक्तो निशासु वे किं न शशी समग्रः ॥१८५

शार्दूलविक्रीडितम्

[1]भावानां खलु मुक्तिरोधशमिकादीनामभावात्परं
भव्यत्वस्य च भव्यसत्त्वसमितेरुत्कण्ठमातन्वती ।
सम्यक्त्वादथ केवलावगमनाद् वृद्धेश्च सिद्धत्वतः
स्यादत्यन्तनिरञ्जनं निरुपमं सौख्यं परं बिभ्रती ॥१८६

उपजातिः

[2]आविष्टपान्तादथ याति सौम्या कर्मक्षयानन्तरमूर्ध्वमेव ।
एकेन मुक्तः समयेन मुक्तिश्रियाप्यमूर्तः परिरभ्यमाणः ॥१८७

उपघात, परघात, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति, शुभ, अशुभ, स्थिर, अस्थिर, सुस्वर, दुःस्वर, अपर्याप्तक, श्वासोच्छ्वास, दुर्भग, प्रत्येक वनस्पति, अयशस्कीर्ति, अनादेय, निर्माण, नीचगोत्र, पाँच बन्धन, छह संस्थान, तीन अङ्गोपाङ्ग, छह संहनन और दो गन्ध इन बहत्तर प्रकृतियों को अयोग-केवली उपान्त समय में नष्ट करते हैं ॥ १७८–१८३ ॥ उसके पश्चात् वेदनीय के दो भेदों में से कोई एक भेद, मनुष्यायु, मनुष्य गति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, पञ्चेन्द्रिय जाति, पर्याप्तक, त्रस, बादर, तीर्थंकर, सुभग, यशस्कीर्ति, आदेय और उच्चगोत्र इन तेरह प्रकृतियों को अन्त्य समय में एक ही साथ अयोगी जिनेन्द्र नष्ट करते हैं ॥ १८४–१८५ ॥ इस प्रकार जिनकी समस्त लेश्याएं नष्ट हो चुकी हैं, तथा जो शील के ऐश्वर्य (अठारह हजार शीलभेदों के स्वामित्व) को प्राप्त हुए हैं ऐसे अयोगी जिनेन्द्र अत्यन्त सुशोभित होते हैं सो ठीक ही है क्योंकि मेघों के आवरण से रहित पूर्ण चन्द्रमा रात्रि के समय क्या आकाश में सुशोभित नहीं होता ? ॥ १८६ ॥

अत्यन्त निरञ्जन, निरुपम और उत्कृष्ट सुख को धारण करती तथा भव्यजीवों के समूह को

---

१. औपशमिकादिभव्यत्वानाञ्च ॥३॥ केवल सम्यक्त्वज्ञानदर्शन सिद्धत्वेभ्य : ॥४॥ त०सू०अ० १०

२. तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥५॥

[illegible]

शार्दूलविक्रीडितम्

[illegible]

उपजातिः

[illegible]

उत्कण्ठा को बढ़ाती हुई यह मुक्ति निश्चय से सम्यक्त्व केवलज्ञान केवल दर्शन और सिद्धत्व भाव को छोड़कर शेष औपशमिक आदि भावों तथा भव्यत्वभाव के अभाव से होती है ॥ १८७ ॥ हे सौम्य ! जो अमूर्तिक होने पर भी मुक्ति रूप लक्ष्मी के द्वारा आलिङ्गित हो रहे हैं ऐसे सिद्ध जीव कर्मक्षय के अनन्तर एक ही समय में लोक के अन्त तक ऊपर की ओर हो जाते हैं ॥ १८८ ॥ नियम से प्रकृष्टता को प्राप्त हुए पूर्वप्रयोग, असङ्गत्व, बन्धच्छेद तथा तथाविधगति—स्वभाव के कारण मुक्त जीवों की ऊर्ध्वगति ही होती है ॥ १८९ ॥ हे भद्र ! ऊपर कहे हुए गति के चार कारणों का निश्चय कराने के लिये तत्त्व के अभिलाषी पुरुषों ने घुमाये हुए कुम्भकार के चक्र के समान, निर्लेप तुम्बीफल के समान, एरण्ड के बीज के समान और अग्नि की शिखा के समान ये चार दृष्टान्त कहे हैं। भावार्थ—मुक्त जीव का ऊर्ध्व गमन ही क्यों होता है ? इसके लिये कवि ने पूर्व श्लोक में पूर्व प्रयोगादि चार हेतु बतलाये थे और इस श्लोक में उन हेतुओं के चार दृष्टान्त बतलाये हैं। उनका स्पष्ट भाव यह है कि जिस प्रकार कुम्भकार अपने चक्र को घुमाते घुमाते छोड़ देता है पर कुछ समय तक वह चक्र संस्कार वश अपने आप घूमता रहता है उसी प्रकार यह जीव लोक के अन्त में स्थित मोक्ष को प्राप्त करने के लिये अनादि काल से प्रयत्न करता आ रहा है। अब वह प्रयत्न छूट जाने पर भी उसी संस्कार से यह जीव ऊपरकी ओर ही गमन करता है। पूर्वप्रयोग के लिये एक दृष्टान्त हिंडोलना का भी दिया जाता है। दूसरा दृष्टान्त निर्लेप तुम्बीफल का दिया है। जिस प्रकार मिट्टी के लेप से सहित तुम्बीफल पानी में डूबा रहता है उसी प्रकार कर्म के लेप से सहित जीव संसार सागर में डूबा रहता है परन्तु मिट्टी का लेप छूटने पर जिस प्रकार तुम्बीफल स्वयं ऊपर आ जाता है उसी प्रकार कर्मलेप छूटने पर यह जीव स्वयं ऊपर की ओर गमन करने लगता है। तीसरा दृष्टान्त एरण्ड के बीज का है जिस प्रकार एरण्ड का बीज फली के बन्धन से छूटते ही ऊपर को

१. पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥६॥ २. आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ॥७॥ ३. धर्मास्तिकायाभावात् ॥७॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

शार्दूलविक्रीडितम्

नत्वेशं प्रशमं विधाय सुदृढं विधिना शमु तपश्चचार धीरम् ।
भुवि भव्यजनस्य वत्सलतयाप्तप्रियमित्रः प्रियमित्रसंज्ञः प्रभावः ॥१९५

उपजातिः

अथायुरन्ते तपसा तनुत्वं तनुं स यातां विधिना विहाय ।
कल्पं सहस्रारमनल्पपुण्यैः स्वैरर्जितं वर्जितखेदखेदैः ॥१९६

शार्दूलविक्रीडितम्

तत्राष्टादशसागरायुरमरस्त्रीणां मनोवल्लभो
हंसाङ्के रुचकाह्वये प्रमुदितस्तिष्ठन् विमाने परे ।
बालाभात्मतनूरुचा रुचिरया सूर्यप्रभां ह्रेषयन्
दिव्यामष्टगुणां बभार सुचिरं सूर्यप्रभः संपदम् ॥१९७

इत्यसगकृते वर्द्धमानचरिते सूर्यप्रभसंभवो नाम
पञ्चदशः सर्गः समाप्तः

●

षोडशः सर्गः

उद्गताछन्दः

अथ नाकसौख्यमनुभूय बहुविधमचिन्त्यवैभवम् ।
सङ्गरहितभवतीर्य च स त्वमभूरिह प्रकृतिसौम्यनन्दनः ॥१

देकर तथा भक्ति पूर्वक क्षेमंकर जिनेन्द्र के समीप जाकर आत्मकल्याण के लिये सोलह हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली ॥ १९५ ॥ वात्सल्य गुण के कारण पृथिवी पर भव्यजनों की प्रिय मित्रता को प्राप्त हुए प्रियमित्र मुनि ने मन में विशुद्ध शान्ति को धारण कर विविध प्रकार का कठिन सम्यक् तप किया ॥ १९६ ॥ आयु के अन्त में वे तप से कृशता को प्राप्त हुए शरीर को विधिपूर्वक छोड़ कर अपने तीव्र पुण्य से अर्जित तथा खेद से वर्जित सहस्रार स्वर्ग को प्राप्त हुआ ॥ १९७ ॥ वहाँ, जिसकी अठारह सागर प्रमाण आयु थी, जो देवाङ्गनाओं के हृदय को प्रिय था, जो हंसचिह्न से सहित रुचक नामक उत्कृष्ट विमान में बड़ी प्रसन्नता से स्थित था, तथा अपने शरीर की सुन्दर प्रभा से जो प्रातःकाल के सूर्य की प्रभा को लज्जित कर रहा था ऐसा वह सूर्यप्रभ देव चिरकाल तक अणिमा महिमा आदि आठ गुणों से सहित दिव्य सम्पदा—स्वर्ग की विभूति को धारण करता रहा ॥ १९८ ॥

इस प्रकार असग कवि कृत वर्द्धमान चरित में सूर्यप्रभ देव की उत्पत्ति का वर्णन करने वाला पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

●

सोलहवाँ सर्ग

अथानन्तर तू अचिन्त्यवैभव से युक्त नाना प्रकार के स्वर्ग सम्बन्धी सुख भोग कर किसी आसक्ति के बिना वहाँ से अवतीर्ण हुआ तथा इस श्वेतातपत्रा नगरी में प्रकृति से सौम्य नन्दन

वपुरादधदिह विधमाशु विबहूनपि कर्मपाकतः ।
येन इव त्रिपति वायुवशात् परिवभ्रमीति पुरुषो भवोदधौ ॥२
पुरुषेण दुर्लभमवेहि परमग्र्यविनाशि दर्शनम् ।
येन सहितमचिराय यतस्तमुपैति मुक्तिरपि मुक्तिवर्त्मना ॥३
सफलं च जन्म खलु तस्य जगति स विदां पुरःसरः ।
गुप्तिपिहितदुरितागमनं भवबीजये भवति यस्य चेहितम् ॥४
घनरूढमूलमपि नाम तरुमिव महामतङ्गजः ।
मोहमखिलमचिराय पुमान्स भवति यः प्रशमसंपदा युतः ॥५
अवबोधवारि शमकारि मनसि शुचि यस्य विद्यते ।
क्रान्तजगदपि न तं दहति क्रूरमध्यमग्निरिव मन्मथानलः ॥६
अधिरूढसंयमगजस्य विमलक्षमाहेतिशालिनः ।
शान्तिधनतरतनुत्रभृतो व्रतशीलमौलपरिरक्षितात्मनः ॥७
सुतपोरणे मुनिनृपस्य दुरितरिपुरुद्धतोऽपि सन् ।
स्थातुमपि न सहते पुरतो नहि दुर्जयोऽस्ति [1]सुतपोऽवलम्बिनाम् ॥८

नाम का राजा हुआ ॥ १ ॥ जिस प्रकार वायु के वश से, मेघ आकाश में इधर-उधर परिभ्रमण करता है उसी प्रकार कर्मोदय से यह पुरुष जल्दी-जल्दी नाना प्रकार के शरीर को ग्रहण करता और छोड़ता हुआ संसार रूपी समुद्र में परिभ्रमण कर रहा है ॥२॥ क्योंकि जिस सम्यग्दर्शन से सहित जीव को मुक्ति भी युक्ति के मार्ग से शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है उस उत्कृष्ट अविनाशी सम्यग्दर्शन को तू पुरुष के लिये दुर्लभ समझ । भावार्थ—मोक्ष प्राप्त कराने वाला अविनाशी तथा उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन इस जीव को बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है ॥३॥ निश्चय से संसार में उसी मनुष्य का जन्म सफल है तथा वही ज्ञानियों में अग्रसर है जिसकी कि गुप्तियों के द्वारा पाप के आगमन को रोकने वाली चेष्टा संसार का नाश करने के लिये होती है ॥ ४ ॥ जिसकी जड़ बहुत गहरी जमी है उस वृक्ष को भी जैसे महान् मदमाता हाथी नष्ट कर देता है उसी प्रकार जो मनुष्य प्रशमगुण रूपी संपदा से सहित है वह समस्त मोह को शीघ्र ही नष्ट कर देता है ॥ ५ ॥ जिस प्रकार सरोवर के मध्य में स्थित मनुष्य को अग्नि नहीं जलाती है उसी प्रकार जिसके मन में शान्ति को उत्पन्न करने वाला उज्ज्वल सम्यग्ज्ञान रूपी जल विद्यमान है उसे समस्त जगत् पर आक्रमण करने वाली भी कामाग्नि नहीं जलाती है । भावार्थ—यद्यपि काम रूपी अग्नि समस्त जगत् को संतप्त करने वाली है तो भी सम्यग्ज्ञानी जीव को वह संतप्त नहीं कर पाती ॥ ६ ॥ जो संयमरूपी हाथी पर सवार है, निर्मल शान्ति रूपी शस्त्र से सुशोभित है, क्षमा रूपी अत्यन्त सुदृढ़ कवच को धारण करता है, तथा व्रत—शील रूपी मौल वर्म के द्वारा जिसकी आत्मा सुरक्षित है उस मुनि रूपी राजा के आगे समीचीन तप रूपी रण में पाप रूपी शत्रु उद्दण्ड होने पर भी खड़ा रहने के लिये भी समर्थ नहीं है सो ठीक ही है क्योंकि सुतप का आलम्बन करने वाले मनुष्यों के लिये कोई भी दुर्जय नहीं होता है

---

१. सुतपोऽवलम्बिनाम् म० ।

सुखमीहितानुभवस्य शमविहतमोहसम्पदः ।
हेयरहितचरितस्य सतः किमिहैव मुक्तिरपरा न विद्यते ॥९॥
[1]श्रुतमिन्द्रियमनसोर्वशे विषयविरक्तस्य वेदितं ।
शास्त्रमिव निशितखड्गे मनसिजविजयस्य समवेहि वैफल्यम् ॥१०
अमृतस्रुता मुनिगिरा विबुधनमस्कृतया तमोनुदा ।
यस्य इह शिखिरदशिखरवत् प्रतिबोध्यते भुवि न दूरभव्यकः ॥११
मुनिवाक्यमद्भुतमचिन्त्यबहुविगुणं सुदुर्लभम् ।
रत्नमिव भवति भव्यजनः श्रवणे निधाय सुकृतार्थताम् ॥१२
इति नन्दनाय सकृतीर्थं मुनिपतिरतीतदूषणम् ।
व्यक्तमवधिनयनो व्यरमत्पुरुषार्थतत्त्वमपि तत्त्ववेदिने ॥१३
स वचस्तुदाथ मुनि तस्य मदनभवभार्य नन्दनः ।
चन्द्रमणिरिव रराज गलज्जलबिन्दुरिन्दुकरजालसंगतः ॥१४

॥ ७-८ ॥ जिसने इन्द्रियों और मन को अच्छी तरह वश में कर लिया है, जिसने प्रशमगुण के द्वारा मोह की सम्पदा को नष्ट कर दिया है, तथा जिसका चरित दीनता से रहित है ऐसे सत्पुरुष के लिये क्या दूसरी मुक्ति इसी जगत् में विद्यमान नहीं है ? ॥ ९ ॥ जिस प्रकार रत्न के अग्रभाग में भय से विह्वल मनुष्य का तीक्ष्ण शस्त्र भी निष्फल होता है उसी प्रकार आचरण के विषय में विषयासक्त मनुष्य का देदीप्यमान श्रुतज्ञान भी मात्र निष्फल होता है ऐसा जानो। भावार्थ—जो मनुष्य शास्त्र का बहुत भारी ज्ञान प्राप्त करके भी तदनुसार चेष्टा करने में असमर्थ है उसका वह शास्त्र ज्ञान निष्फल ही है ॥ १० ॥ जिस प्रकार अमृतस्रावी, देवों के द्वारा सम्मानित तथा अन्धकार को नष्ट करने वाली चन्द्र किरण से कमल विकास को प्राप्त नहीं होता है उसी प्रकार अमृत के समान आनन्ददायी अथवा मोक्ष का उपदेश देने वाली, विद्वानों के द्वारा पूजित तथा अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाली मुनिवाणी से पृथिवी पर दूरभव्य जीव प्रतिबोध को प्राप्त नहीं होता ॥ ११ ॥ अद्भुत, अचिन्तनीय नाना प्रकार के गुणों से सहित तथा अत्यन्त दुर्लभ मुनिवचन को रत्न के समान कानों में धारण कर—सुन कर भव्य जीव जगत् में कृतकृत्यता को प्राप्त होता है। भावार्थ—जिस प्रकार आश्चर्यकारक, नाना प्रकार के अचिन्तनीय गुणों से युक्त दुर्लभ रत्न को मनुष्य अपने कानों में पहिन कर संसार में कृतकृत्यता का अनुभव करता है उसी प्रकार मुनियों की दुर्लभ वाणी को सुनकर भव्य जीव संसार में कृतकृत्यता का अनुभव करता है—अपने जीवन को सफल मानता है ॥ १२ ॥ इस प्रकार अवधिज्ञान रूपी नेत्र से सहित मुनिराज, तत्त्वज्ञानी नन्दन के लिये उसके पूर्वभव तथा मोक्ष तत्त्व का भी स्पष्ट कथन कर चुप हो गये ॥ १३ ॥

उन मुनिराज के वचनों का निश्चय कर हर्ष से उज्ज्वल आँसुओं को प्रकट करता हुआ नन्दन राजा, उस चन्द्रकान्त मणि के समान सुशोभित हो रहा था जो चन्द्रमा की किरणावली के

---

१. न मतौ सुखयैकपदयोः श्लोकयोः क्रमभेदोऽस्ति ॥

प्रणिपत्य मौलितट[1]बद्धमुकुलितकराग्रपल्लवः ।
भक्तिविसर[2]परिरुद्धतनुर्मुनिमित्यवोचत वचो महीपतिः ॥१५
विरला भवन्ति मुनयोऽत्र विनतजनताहिताय ये ।
चित्रमणिगणवितानमुचो विरलास्त्व ते जगति वारिवाहिनः ॥१६
विरलाः कियन्त इह सन्ति ललवधिबोधलोचनाः ।
रत्नकिरणपरिभिन्नजलस्थलसंपदः प्रविरला जलाशयाः ॥१७
भवतः करिष्यति वचोऽद्य मम सफलमीश जीवितम् ।
अस्तु नियतमियदेव परैः किमुदीरितैर्विफलमप्रियैस्तव ॥१८
अभिधाय धीरमिति वाचमवनिपतिराविशत्सुतम् ।
वर्महरमतिविनीतमिलामविषुं तमम्बुनिधिवारिवाससम् ॥१९
सह नन्दनः श्रियमपास्य दशशतदशक्षितीश्वरैः ।
प्रोष्ठिलमुनिं नु जगत्प्रथितं तमभिप्रणम्य समुपाददे तपः ॥२०
श्रुतवारिधिं द्वयधिकपङ्क्तिविलसदमलाङ्गवीचिकम् ।
तूर्णमतरदुरुबुद्धिभुजा बलतोऽङ्ग बाह्यविविधभ्रमाकुलम् ॥२१
मनसा श्रुतार्थमसकृत्स विषयविमुखेन भावयन् ।
तप्तुमसुकरमुपाक्रमत क्रमतो द्विषडिधमनुत्तमं तपः ॥२२

संगत है तथा जिससे जल की बूंदें टपक रही हैं ॥१४॥ जिसने मुकुलाकार हस्ताग्र रूपी पल्लवों को मुकुट तट पर लगा रक्खा था तथा जिसका शरीर भक्ति के समूह से व्याप्त था ऐसे राजा ने मुनि को नमस्कार कर इस प्रकार के वचन कहे ॥ १५ ॥

जो नम्र जन समूह के हित के लिये चेष्टा करते हैं वे मुनि विरले हैं और जो नाना प्रकार के रत्नसमूह की वर्षा करते हैं वे मेघ भी जगत् में विरले हैं ॥ १६ ॥ जिनके अवधिज्ञानरूपी नेत्र सुशोभित हो रहे हैं ऐसे मुनि इस संसार में कितने विरल हैं सो ठीक ही है क्योंकि रत्नकिरणों से जल थल की संपदा को व्याप्त करने वाले जलाशय अत्यन्त विरल ही होते हैं ॥ १७ ॥ हे ईश ! आपका वचन आज मेरे जीवन को सफल कर देगा इतना ही कहना पर्याप्त हो, निष्फल कहे हुए आपके असुहाते अन्य वचनों से क्या प्रयोजन है ? भावार्थ—आपको अपनी प्रशंसा के वचन अच्छे नहीं लगते इसलिये उनका कहना निष्फल है इतना कहना ही पर्याप्त है कि आपके वचन सुनकर आज मेरा जीवन सफल हो गया ॥१८॥ इस प्रकार के वचन बड़ी धीरता के साथ कहकर राजा नन्दन ने कवच को धारण करने वाले, अत्यन्त विनीत पुत्र को समुद्रान्त पृथिवी की रक्षा करने की आज्ञा दी ॥ १९ ॥ तदनन्तर दश हजार राजाओं के साथ राजलक्ष्मी का परित्याग कर नन्दन ने उन जगत्प्रसिद्ध प्रोष्ठिल मुनि को प्रणाम कर तप ग्रहण कर लिया—जिनदीक्षा लेली ॥ २० ॥ जिसमें द्वादशाङ्गरूपी निर्मल लहरें सुशोभित हो रही हैं तथा जो अङ्गबाह्यरूपी नाना भँवरों से युक्त है ऐसे श्रुतरूपी सागर को उन्होंने अपनी विशाल बुद्धिरूपी भुजा के बल से शीघ्र ही तैर लिया। भावार्थ—वे शीघ्र ही द्वादशाङ्गश्रुतज्ञान के पारगामी हो गये ॥ २१ ॥ वे विषयों से पराङ्मुख

---

१. नम्र म० । २. परिवद्ध म० ब० ।

अहृदात्मदृष्टि[1] परलौल्यमनर्थनिवर्तनप्रशमने ।
ध्यानपठनसुखसिद्धिकरं प्रयतोऽकरोदनशनं सुनियमितम् ॥२३
विधिवत्प्रजागरपरिचितश्रुतपरिचितसमाधिसिद्धये ।
सत्त्वसमबलमवलम्ब्य मुनिर्निजतनोर्जनं विगलयांचकार सः ॥२४
अथ कृशतनुः क्षतु कृशोऽपि मुनिर्[2]नितरां विसर्पणम् ।
द्वित्रिभवनगमनोचितया विधिवत्त्त वृत्तिपरिसंख्यया परम् ॥२५
प्रविधाय [3]वृष्यरसमोक्षमवजितनिद्रस्वभावपलः ।
क्षोभविसरजनकानि सदा मनसो निरोध क्षतु कारणानि सः ॥२६
स पदेऽजन्तुवधकेषु विहितस्वयमासनस्थितिः ।
ध्यानपरिचितिचतुर्थपरव्रतरक्षणार्थमभवत्समर्थधीः ॥२७
स तपे तपोभिरभिसूर्यमचलधृतिरास्त दुःसहे ।
त्यक्तनिजतनुरुचेर्महतः किमिहास्ति किञ्चिदपि तापकारणम् ॥२८
तरुमूलभावसदवज्रघनबलयमुक्तवारिभिः ।
सिक्ततनुरपि नभस्यचलं क्षमिनामहो चरितमद्भुतास्पदम् ॥२९
शिशिरागमे बहिरशेत निशि शिशिरपातभीषणे ।
भीतिविरहितसमाचरणः किमु दुष्करेऽपि परिमुह्यति प्रभुः ॥३०

उत्कृष्ट तप तपने के लिये तत्पर हुए । ॥ २२ ॥

वे आत्मदृष्टि होकर लौकिक फल की तृष्णा को छोड़ते हुए अनिष्टराग की शान्ति के लिये ध्यान और अध्ययन की सुख से सिद्धि करने वाले नियमित तप को बड़े प्रयत्न से करते थे ॥ २३ ॥ चित्त के द्वारा आगम के अर्थ की बार-बार भावना करते हुए क्रम से बारह प्रकार के कठिन तथा जागरण, श्रुताभ्यास और समाधि की सिद्धि के लिये निर्दोष आत्मबल का अवलम्बन लेकर वे निर्मलबुद्धि मुनि विधिपूर्वक ऊनोदर तप करते थे ॥ २४ ॥ वे मुनि कृश होकर भी दो तीन घर तक जाने से नियम से सहित वृत्तिपरिसंख्यान तप के द्वारा विधिपूर्वक क्षुधा और अत्यधिक प्यास के अधिक विस्तार को निश्चय से रोकते थे ॥ २५ ॥ गरिष्ठ रस का परित्याग कर जिन्होंने निद्रा और इन्द्रियों की चपलता को जीत लिया था ऐसे वे मुनि मन के क्षोभसमूह को उत्पन्न करने वाले कारणों को सदा निश्चय से रोकते थे ॥२६॥ समर्थ बुद्धि को धारण करनेवाले वे मुनि, ध्यान के परिचय तथा ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिये जीव जन्तुओं के वध से रहित स्थानों में शयन, आसन और स्थिति को करते थे ॥ २७ ॥ अचल धैर्य को धारण करनेवाले वे मुनि दुःसह ग्रीष्म ऋतु में तपों के द्वारा सूर्य के सम्मुख बैठते थे सो ठीक ही है क्योंकि जिसने अपने शरीर से राग छोड़ दिया है ऐसे महापुरुष के संताप का कारण इस लोक में क्या कुछ भी है ? अर्थात् नहीं है ॥ २८ ॥ सावन के महीने में बहुत बड़े मेघमण्डल के द्वारा छोड़े हुए जल से यद्यपि उनका शरीर भीग जाता था तो भी वे वृक्ष के नीचे निवास करते थे सो ठीक ही है क्योंकि मुनियों का चरित आश्चर्य का स्थान होता ही है ॥ २९ ॥ जिनका आचरण भय से रहित था ऐसे वे मुनि हिमपात

---

१. आत्मनि दृष्टिर्यथा स्यात्तथा वृत्तफलं म० । २. सुनियमितः ब० । ३. रिति म० । ४. वृक्ष म० ।

परमान्तरं च स चकार निरुपमध्यानशिक्षितस्तपः ।
ध्यानविनयताध्ययनप्रभृति, त्रिगुप्तिगुप्तगूरिसंवरः ॥३१
अथ कारणानि परिबोधविशदतरधीरभावयत् ।
तीर्थंकरत्वपुण्यस्य इति प्रथितानि षोडशविधानि[1] स भावनाः ॥३२
समभावयत्पथि जिनेन्द्र[2]परिविचरिते विशुद्धये ।
जातविपुलधृतिरचलितः स चिराय दर्शनविशुद्धि[3]मिद्धधीः ॥३३
अपवर्गकारणपदार्थपरिघटितभक्तिभूषितः ।
नित्यमपि विनयमप्रतिमं स गुरुष्वतिशिश्रियन्निधानादरम् ॥३४
प्रथयाम्बभूव परिगुप्तिसमग्रकवचविधिं समाधिना ।
शीलवृत्तिपरिवृतेषु सदा स परं व्रतेष्वनतिचारमाचरन् ॥३५
समभावयन्नव पदार्थविधिकथनवाङ्मयं सदा ।
तत्त्वमखिलजगतः सकलं हतशङ्कुमीक्षत पुरःस्थितं यथा ॥३६
त्वमितः कथं व्यपनयामि भवन्महतो दुरन्ततः ।
नित्यमवकलयतोऽस्य मतिर्विमला [4]समाधिमिति वेगमास्थिता ॥३७

से भयंकर शीत ऋतु का आगमन होने पर रात्रि में बाहर सोते थे सो ठीक ही है क्योंकि समर्थ पुरुष क्या कठिन कार्य में भी मोह को प्राप्त होता है ? अर्थात् नहीं होता ॥ ३० ॥ तीन गुप्तियों के द्वारा बहुत भारी संवर को धारण करने वाले वे मुनि आलस्य रहित होकर ध्यान विनय तथा स्वाध्याय आदि उत्कृष्ट तथा अनुपम अन्तरङ्ग तप को करते थे ॥ ३१ ॥

तदनन्तर उत्कृष्ट ज्ञान के द्वारा जिनकी बुद्धि अत्यन्त निर्मल थी ऐसे उन मुनि ने तीर्थंकर प्रकृति नामक उत्कृष्ट नामकर्म के प्रसिद्ध कारण भूत सोलह भावनाओं का चिन्तवन किया ॥३२॥ जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा चले हुए मार्ग में जिन्हें बहुत भारी श्रद्धा उत्पन्न हुई थी, जो कभी विचलित नहीं होते थे तथा जो देदीप्यमान बुद्धि से सहित थे ऐसे उन मुनि ने मोक्ष प्राप्ति के लिये चिरकाल तक दर्शन विशुद्धि भावना का चिन्तवन किया था ॥ ३३ ॥ मोक्ष के कारणभूत पदार्थों में उत्पन्न होने वाली भक्ति से विभूषित वे मुनि सदा ही गुरुओं में अत्यधिक आदर के साथ अनुपम विनय को स्थापित करते थे ॥ ३४ ॥ शीलरूपी बाड़ा से घिरे हुए व्रतों में सदा निरतिचार प्रवृत्ति करते हुए वे मुनि निर्दोष विधि से युक्त समाधि के द्वारा अच्छा तरह गुप्तियों को विस्तृत करते थे ॥ ३५ ॥ वे नव पदार्थों का विधि पूर्वक कथन करने वाले आगम की सदा भावना करते थे और समस्त जगत् के संपूर्ण तत्त्व को निःशङ्कु होकर ऐसा देखते थे मानों उनके सामने ही स्थित हों ॥ ३६ ॥ मैं इस दुरन्त संसार रूपी अटवी से अपने आपको किस तरह दूर हटाऊं इस प्रकार का निरन्तर विचार करने वाले उन मुनि की निर्मल बुद्धि संवेग भाव को प्राप्त हुई थी ॥ ३७ ॥

---

१. भुवनभगाः म० । २. परिविरचिते म० । ३. विशुद्ध म० । ४. समाधि म० । सम् आदौ यस्य सं समाधौ, समादिं वेगस्य विशेषणं संवेगमित्यर्थः ।

स्वमपि स्वकीयमनसोऽनवरतं [1]त्यजत्यजस्रम् ।
कोऽवाप्तमुक्तिपथ एष सुधीरुपैति निर्विसृतिमुक्तिमतिः ॥३८
अनिगूहनं वीर्यस्यागमानुकूल्य आचरणम् ।
आविर्भवत्यनुत्तरसुखया यतिमात् [2]प्रयतते यथाशक्ति कथं न कः ॥३९
स समाधये सममयं भेदकृति सति च कारणे परम् ।
धैर्यमवलम्बते पदार्थगतिविदुपैति कृच्छ्रपतितोऽपि सुधीः ॥४०
धृतिमान् बभार स मनो निपुणतरधीः प्रतिक्रियाम् ।
त्यक्तसकलममतोऽपि सदा कृतौ परोपकृतये हि सज्जनः ॥४१
स बहुश्रुतेऽर्हति जिनेषु गुरुषु च परां सदाभक्तिम् ।
भावविशदबहुवेन ततो विततान प्रवचनेऽपि सुधीः ॥४२
अनपेतकालमथ षट्सु नियमनिधिमुद्धतोऽभवत् ।
ज्ञातविमलसकलागमगमेर्न हि लोकतेरवतितत्वलब्धात्मा ॥४३
वरवाङ्मयेन तपसा च जिनपतिसपर्यया सदा ।
धर्मगगनवरतमुज्ज्वलयन्समवत्य साधुरकरोत्प्रभावनाम् ॥४४

तृष्णा रहित बुद्धिवाले उन मुनिराज ने अपने आपके द्वारा स्वकीय धन का भी निरन्तर त्याग कर दिया था। सो ठीक ही है क्योंकि मुक्तिमार्ग को जानने वाला मनुष्य हृदय में लोभ के कण को भी कैसे कर सकता है? भावार्थ—बाह्य पदार्थों का त्याग तो वे पहले ही कर चुके थे परन्तु अब जिन आभ्यन्तर पदार्थों में उनकी स्वत्व बुद्धि थी उनका भी उन्होंने त्याग कर दिया था इस तरह वे वे शक्तितस्त्याग भावना का सदा चिन्तवन करते थे ॥३८॥ वे तपोधन अपनी शक्ति न छिपाकर अनुपम तप करते थे सो ठीक ही है क्योंकि आगे होने वाले असाधारण सुख की इच्छा से कौन बुद्धिमान् मनुष्य यथाशक्ति उद्योग नहीं करता है? ॥ ३९ ॥ वे भेदक कारण के उपस्थित होने पर अपने आपको सदा अच्छी तरह समाहित रखते थे—समाधि की भावना रखते थे अथवा ठीक ही है क्योंकि पदार्थ की गति को जानने वाला मनुष्य कष्ट में पड़ा हुआ भी धैर्य को नहीं छोड़ता है ॥४०॥ अत्यन्त निपुण बुद्धि को धारण करने वाले वे मुनि गुणीजनों को रोग होने पर उनका प्रतिकार करते थे अर्थात् वैयावृत्य भावना का पालन करते थे सो ठीक ही है क्योंकि जिसने सबसे ममता बुद्धि छोड़ दी है ऐसा सज्जन भी सदा परोपकार के लिये प्रयत्न करता है ॥ ४१ ॥ तदनन्तर निर्दोष चारित्र का पालन करने वाले वे मुनि भाव पूर्ण निर्मल हृदय से बहुश्रुत, अर्हन्त, आचार्य तथा प्रवचन में सदा उत्कृष्ट भक्ति को विस्तृत करते थे ॥ ४२ ॥ उसके पश्चात् वे छह आवश्यक कार्यों में—समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग इन छह अवश्य करने योग्य कार्यों में यथासमय उद्यत रहते थे सो ठीक ही है क्योंकि समस्त पदार्थों का निर्मल ज्ञान प्राप्त करने वाले आत्महित के उद्यमी मनुष्य आलस्य भावको धारण नहीं करते ॥ ४३ ॥ उत्कृष्ट आगम ज्ञान से, तप से तथा जिनेन्द्र भगवान् की पूजा से निरन्तर धर्म को उज्ज्वल करते हुए वे मुनि सदा धर्म

---

१. त्यजन्त्यजस्रम् म० । २. प्रयतेत यथाशक्ति म० ।

अधिजह्वधारमिव ज्ञातमसुकरतरं प्रवागमनम् ।
ज्ञाननिधिरपि चरन्सुतपः सहधर्मसु प्रकृतिवत्सलोऽभवत् ॥४५
कनकावलीं परिसमाप्य विधिवदपि रत्नमालिकाम् ।
सिंहविलसितमुपावसदप्युरुमुक्तये तदनु मौक्तिकावलीम् ॥४६
अथ भव्यचातकगणस्य मुदमविरतं प्रवर्द्धयन् ।
ज्ञानजलशमितपापरजाः शुशुभे सदा मुनि[1]नभस्यवारिदः ॥४७
अपरिग्रहोऽपि स महर्द्धिरभवदमलाङ्गभागपि ।
क्षीणतनुरतनुधीश्च वशी विभयोऽपि गुप्तिसमितिप्रवर्तनः ॥४८
अमितक्षमामृतजलेन मनसि निरवापयत्परम् ।
क्रोधशिखिनमचिन्त्यमहो खलु कौशलं सकलतत्त्ववेदिनाम् ॥४९
[2]मनसो निराकृतं मानविषमुचितमार्दवेन सः ।
ज्ञानफलमिति तदेव परं कृतबुद्धयो हि यमिनां प्रचक्षते ॥५०
अपि जातु न प्रकृतिसौम्यविशद हृदयः स मायया ।
प्रापि विमलशिशिरांशुचयः समवाप्यते किमु तमिस्रया शशी ॥५१

को प्रभावना करते थे ॥ ४४ ॥ तलवार की धार के समान तीक्ष्ण अत्यन्त कठिन सुतप का आगम के अनुसार आचरण करते हुए वे मुनि ज्ञान के भाण्डार होकर भी सहधर्मी जनों में स्वभाव से वत्सल—स्नेह युक्त रहते थे ॥ ४५ ॥

तदनन्तर उत्कृष्ट मुक्ति को प्राप्त करने के लिये उन्होंने कनकावली व्रत को विधिपूर्वक समाप्त कर रत्नावली, सिंहनिष्क्रीडित और मौक्तिकावलीव्रत के भी उपवास किये थे ॥ ४६ ॥ इस प्रकार जो भव्य जीव रूपी चातक समूह के हर्ष को निरन्तर बढ़ा रहे थे तथा ज्ञानरूपी जल के द्वारा जिन्होंने पाप रूपी धूलि को शान्त कर दिया था ऐसे वे मुनि रूपी भाद्रमास के मेघ सदा सुशोभित हो रहे थे ॥ ४७ ॥ वे मुनि परिग्रह से रहित होकर भी महर्द्धि—बहुत सम्पत्ति से सहित (पक्ष में बड़ी बड़ी ऋद्धियों से युक्त) थे, निर्मल शरीर से युक्त होकर भी क्षीणतनु—दुर्बल (पक्ष में तपश्चरण के कारण क्षीण शरीर) थे, विशाल बुद्धि के धारक होकर भी वशी—पराधीन (पक्ष में जितेन्द्रिय) थे, और निर्भय होकर भी गुप्ति समिति प्रवर्तन—रक्षा साधनों के समूह को प्रवर्तने वाले (पक्ष में तीन गुप्तियों और पांच समितियों का पालन करने वाले थे ॥ ४८ ॥ उन्होंने मन में विद्यमान तीव्र क्रोधाग्नि को अपरिमित क्षमा रूपी अमृत जल से बुझा दिया था सो ठीक ही है क्योंकि समस्त तत्त्वज्ञानियों की कुशलता निश्चय से अचिन्त्य होती है ॥ ४९ ॥ उन्होंने उचित मार्दव धर्म के द्वारा मन से मानरूपी विष का निराकरण किया था सो ठीक ही हैं क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य मुनियों के ज्ञान का वही उत्कृष्ट फल कहते हैं। भावार्थ—मान नहीं करना ही मुनियों के ज्ञान का फल है ऐसा बुद्धिमान् पुरुष कहते हैं ॥ ५० ॥ जिनका हृदय स्वभाव से सौम्य और स्वच्छ था ऐसे वे मुनि कभी भी माया के द्वारा प्राप्त नहीं किये गये थे सो ठीक ही है क्योंकि निर्मल और शीतल किरणों के समूह से सहित चन्द्रमा क्या कभी अँधेरी रात के द्वारा प्राप्त किया जाता

---

१. मुनिर्नभसीव वारिदः ब० । २. मनसा ब० ।

निजहृदि निजदेहेऽपि हन्त मनाङ्न निस्पृहः ।
लोभ विजित इति श्लाघ्यस्तु किमु तस्य विस्मयकरं मनीषिणाम् ॥५२
अतिनिर्मलं मुनिगणस्य गुणसमूहमेत्य सुशोभते ।
रेखुरधिकमवदातमः स्फटिकशैलकन्दरमिव इन्दोरंशुसमूहः ॥५३
उद्घाटयन्परमुदारमतिरतिसारं समूलतः ।
सद्वृत्तिरहितसम्भरणो मम्लेऽन्यद्रुमनिव जीर्णवारणम् ॥५४
तपसा बहुधापि स कर्ममलमखिलमात्मनि स्थितम् ।
तापमभजत मनागपि न स्वयमेतदेव हुतभुग्हो न चापरम् ॥५५
न तुतोष भक्तिविनतस्य न च परिचुकोप विद्विषे ।
स्वानुगतयतिजनेऽप्यभवन्न रतः सतां हि समतैव भाव्यते ॥५६
शमसंपदास्थितमुपेत्य तमपि तपसा विशिष्टुते ।
भाति जलधरपटं विमलं रविबिम्बमेत्य किमु नो जनास्पदे ॥५७
अतिदुःसहादपि परीषहान्न स निजधृतेः परीषहत् ।
भीममदवह्निहतोऽपि तटीं समतोत्थ वाति किमु मारुतां पतिः ॥५८
जनताहिताय तमितात्मा शमनिधिमनेकलब्धयः ।
प्रीतश्चिचिम्ब शरत्समये शिशिरः सुधारसपरिप्लुतो यथः ॥५९

है ॥ ५१ ॥ जिनके हृदय में अपने शरीर में भी रञ्चमात्र इच्छा नहीं थी उन्होंने लोभ रूपी शत्रु को जीत लिया इसमें बुद्धिमानों के लिये आश्चर्य का क्या स्थान था ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥५२॥ जिस प्रकार अत्यन्त उज्ज्वल चन्द्रमा की किरणें स्वच्छ स्फटिकाचल को पाकर सुशोभित होती हैं उसी प्रकार अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाले मुनि गुणों के समूह उन अतिशय निर्मल मुनिराज को पाकर सुशोभित हो रहे थे ॥ ५३ ॥ जिस प्रकार थोड़ी जड़वाले जीर्ण वृक्ष को वायु बड़ से उखाड़ डालती है उसी प्रकार परिग्रह रहित सम्यक् आचरण के धारक उन उदार बुद्धि मुनिराज ने मद को जड़ से बिलकुल ही उखाड़ डाला था ॥ ५४ ॥ आत्मा में स्थित समस्त कर्ममल को तप के द्वारा जलाते हुए भी वे मुनि स्वयं रञ्चमात्र भी ताप को प्राप्त नहीं हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि यही एक आश्चर्य है अन्य कुछ नहीं ॥ ५५ ॥ वे भक्ति से नम्रीभूत मनुष्य पर संतोष नहीं करते थे, शत्रु पर क्रोध नहीं करते थे और अपने अनुगामी मुनिजनों पर राग नहीं करते थे सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनों का समभाव ही रहता है ॥ ५६ ॥

शान्ति रूपी संपदा में स्थित उन मुनिराज को पाकर तप भी सुशोभित हो रहा था सो ठीक ही है क्यों कि शरद् ऋतु में निर्मल आकाश को प्राप्त कर क्या सूर्य का बिम्ब सुशोभित नहीं होता ? ॥ ५७ ॥ वे अत्यन्त दुःसह परीषह के कारण भी अपने धैर्य से विचलित नहीं हुए थे सो ठीक ही है क्यों कि प्रलयंकर वायु के द्वारा ताडित होने पर भी समुद्र क्या तट को उल्लङ्घन करके जाता है ? ॥ ५८ ॥ जिस प्रकार शरद् काल में शीतल तथा अमृत रस को बरसने वाली किरणें चन्द्रमा

---

१. मनोभिः ब० । २. विधि दधा समुदयः ब० ।

विमलाशयं तमुपगम्य विरहितधियोऽपि मानवाः ।
धर्ममनुपममुदा जगृहुः शमयेन्मृगानपि न किं दयार्द्रधीः ॥६०
स्वमतार्थसिद्धिमभिवीक्ष्य तमभजत भव्यसंहतिः ।
पुष्पभरविनतचूततरुं परीयते किमु मुदालिमालया ॥६१
इति वासुपूज्यजिनतीर्थमुरुगुणगणैः प्रकाशयन् ।
सम्यगकृत स तपः परमं चिरकालमन्यपतिभिः सुदुश्चरम् ॥६२

उपजातिः

अथायुरन्ते खलु मासमेकं प्रायोपवेशं विधिना प्रपद्य ।
ध्यानेन मर्येधर्म्येण विहाय विन्ध्ये प्राणान्मुनिः प्राणतमाप कल्पम् ॥६३
पुष्पोत्तरे पुष्पसुगन्धिदेहो बभूव देवाधिपतिर्विमाने ।
तस्मिन्नसौ विंशतिसागरायुर्नाप्नोति किं भूरितपःफलेन ॥६४

वसन्ततिलकम्

तं जातमिन्द्रमवगम्य सुराः समस्ताः सिंहासनस्थमभिषिच्य मुदा प्रणेमुः ।
लीलावतंसमिव पादयुगं तदीयं रक्तोत्पलद्युतिहरं मुकुटेषु कृत्वा ॥६५

को प्राप्त होती हैं उसी प्रकार जनहित के लिये अनेक ऋद्धियां शान्ति के खजाने स्वरूप उन मुनिराज को प्राप्त हुई थीं ॥ ५९ ॥ निर्मल अभिप्राय वाले उन मुनिराज के समीप आकर निर्बुद्धि मनुष्य भी अनुपम हर्ष से धर्म ग्रहण करते थे सो ठीक ही है क्योंकि दया से आर्द्रबुद्धिवाला मनुष्य क्या पशुओं को भी शान्त नहीं कर देता ? ॥ ६० ॥ अपने इष्ट प्रयोजन की सिद्धि को देख कर भव्य जीवों की पंक्ति उन मुनिराज की उपासना करती थी सो ठीक ही है क्यों कि फूलों के भार से झुका हुआ आमका वृक्ष भ्रमरपंक्ति के द्वारा हर्ष से प्राप्त नहीं किया जाता ? ॥ ६१ ॥

इस प्रकार विशाल गुणों के समूह से वासुपूज्य तीर्थंकर के तीर्थ को प्रकाशित करते हुए उन मुनिराज ने चिरकाल तक उस उत्कृष्ट तप को अच्छी तरह किया था जो अन्य मुनियों के लिये अत्यन्त कठिन था ॥ ६२ ॥ तदनन्तर आयु के अन्त में विधिपूर्वक एक माह का प्रायोपगमन—संन्यास प्राप्त कर उन मुनि ने धर्म्य ध्यान से विन्ध्यगिरि पर प्राण छोड़े और उसके फलस्वरूप प्राणत स्वर्ग को प्राप्त किया ॥ ६३ ॥ उस प्राणत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में वे फूलों के समान सुगन्धित शरीर से सहित बीस सागर की आयुवाले देवेन्द्र हुए सो ठीक ही है क्योंकि यह जीव बहुत भारी तप के फल से किस वस्तु को नहीं प्राप्त होता है ? ॥ ६४ ॥ 'इन्द्र उत्पन्न हुआ है' ऐसा जानकर समस्त देवों ने सिंहासन पर विराजमान उस इन्द्र का हर्ष पूर्वक अभिषेक किया तथा लाल कमल की कान्ति को हरने वाले उनके चरण युगल को क्रीड़ावतंस—क्रीड़ा भूषण की भांति मुकुटों पर धारण कर नमस्कार किया। भावार्थ—उनके चरण कमलों में मुकुट झुका कर प्रणाम किया ॥ ६५ ॥

भावी तीर्थंकरोऽयमित्यविरतं संपूज्यमानः सुरैः
अव्याक्षेपविरप्सरोवधूतो रेजे स तस्मिन्पुरा ।
औत्सुक्यं गुणसम्पदा चकितयेवालिङ्ग्यमानो गले
नीहारद्युतिहारिहारलतिकाव्याजेन मुक्तिश्रिया ॥६६

इत्यसगकृते वर्द्धमानचरिते नन्दनपुष्पोत्तरगमनो नाम
षोडशः सर्गः समाप्तः

●

सप्तदशः सर्गः

वसन्ततिलकम्

श्रीमानथेह भरते स्वयमस्ति भाव्या पुञ्जीकृतो निज इवाखिलकान्तिसारः ।
नाम्ना विदेह इति विश्वजने समस्ते ख्यातः परंजनपदः प्रथमुत्तमानाम् ॥१
गोमण्डलेन धवलेन सदा परीता स्वेच्छानिषण्णहरिणाङ्कितमध्यदेशा ।
रात्रौ शिरोरपि चिराय विलोकनीया यत्रेन्दुमूर्तिरिव भात्यटवी समग्रा ॥२
क्षेत्रेषु यत्र सरता खलनालकेषु कौटिल्यमम्बुजवने मधुपव्रजानाम् ।
पङ्कस्थितिः कमलशालिषु सर्वकालं संलक्ष्यते शिखिकुलेषु विचित्रभावः ॥३

'यह भावी तीर्थंकर है' ऐसा जानकर जो देवों द्वारा निरन्तर पूजित होता था, जो अविनाशी अवधिज्ञान से सहित था, अप्सराएं जिसे घेरे रहती थीं, और जो गुणरूपी सम्पदा के द्वारा उत्कण्ठा को प्राप्त कराई हुई मुक्तिलक्ष्मी के द्वारा बर्फ की कान्ति को हरने वाली हार लता के बहाने कण्ठ में आलिङ्गित हो रहा था ऐसा वह इन्द्र उस प्राप्त स्वर्ग में हर्ष से क्रीड़ा करने लगा ॥ ६६ ॥

इस प्रकार असग कवि कृत वर्द्धमानचरित में राजा नन्दन के पुष्पोत्तर विमान में गमन करने का वर्णन करने वाला सोलहवां सर्ग समाप्त हुआ ।

●

सत्रहवां सर्ग

अथानन्तर इसी भरत क्षेत्र में एक ऐसा लक्ष्मी संपन्न देश है जो पृथिवी की स्वयं इकट्ठी हुई अपनी समस्त कान्तियों का मानों सार ही है, जो समस्त विद्वानों में विदेह इस नाम से प्रसिद्ध है तथा उत्तम मनुष्यों के रहने का उत्कृष्ट स्थान है ॥ १ ॥ जो सफ़ेद गायों के समूह से घिरी हुई है तथा जिसका मध्यदेश स्वेच्छा से बैठे हुए हरिणों से अङ्कित है ऐसी जिस देश की समस्त अटवी, रात्रि के समय बालकों के लिये भी चिर काल तक देखने के योग्य चन्द्रमा की मूर्ति—चन्द्र मण्डल समान सुशोभित होती है ॥ २ ॥ जिस देश में कलुषता—कलिहारों का समूह क्षेत्रों में ही देखा जाता है वहाँ के मनुष्यों में कलुषता—दुष्टता नहीं देखी जाती है। कौटिल्य—घुंघुराला पन सिवारों के केशों में ही देखा जाता है वहाँ के मनुष्यों में कौटिल्य—मायापूर्ण व्यवहार नहीं देखा जाता। मधुप प्रलाप—भ्रमरों का शब्द कमल वन में ही देखा जाता है वहाँ के मनुष्यों में मधुप प्रलाप—

विमलाशयं तमुपगम्य विरहितधियोऽपि मानवाः ।
धर्ममनुपममुदा जगृहुः शमयेन्मृगानपि न किं दयार्द्रधीः ॥६०
स्वमतार्थसिद्धिमभिवीक्ष्य तमभजत भव्यसंहतिः ।
पुष्पभरविनतचूततरुं परीयते किमु मुदालिमालया ॥६१
इति वासुपूज्यजिनतीर्थसुचरणगणैः प्रकाशयन् ।
सम्यगकृत स तपः परमं चिरकालमन्ययतिभिः सुदुश्चरम् ॥६२

उपजातिः

अथायुरन्ते खलु नासमेकं प्रायोपवेशं विधिना प्रपन्न ।
ध्यानेन मर्म्येधर्म्येण विहाय विन्ध्ये प्राणान्मुनिः प्राणतमाप कल्पम् ॥६३
पुष्पोत्तरे पुष्पसुगन्धिदेहो बभूव देवाधिपतिर्विमाने ।
तस्मिन्नसौ विंशतिसागरायुर्नाप्नोति किं भूरितपःफलेन ॥६४

वसन्ततिलकम्

तं जातमिन्द्रमवगम्य सुराः समस्ताः सिंहासनस्थमभिषिच्य मुदा प्रणेमुः ।
क्रीडावतंसमिव पादयुगं तदीयं रक्तोत्पलद्युतिहरं मुकुटेषु कृत्वा ॥६५

को प्राप्त होती हैं उसी प्रकार जनहित के लिये अनेक ऋद्धियां शान्ति के खजाने स्वरूप उन मुनिराज को प्राप्त हुई थीं ॥ ५९ ॥ निर्मल अभिप्राय वाले उन मुनिराज के समीप आकर निर्बुद्धि मनुष्य भी अनुपम हर्ष से धर्म ग्रहण करते थे सो ठीक ही है क्योंकि दया से आर्द्रबुद्धिवाला मनुष्य क्या पशुओं को भी शान्त नहीं कर देता ? ॥ ६० ॥ अपने इष्ट प्रयोजन की सिद्धि को देख कर भव्य जीवों की पंक्ति उन मुनिराज की उपासना करती थी सो ठीक ही है क्यों कि फूलों के भार से झुका हुआ आमका वृक्ष भ्रमरपंक्ति के द्वारा हर्ष से प्राप्त नहीं किया जाता ? ॥ ६१ ॥

इस प्रकार विशाल गुणों के समूह से वासुपूज्य तीर्थंकर के तीर्थ को प्रकाशित करते हुए उन मुनिराज ने चिरकाल तक उस उत्कृष्ट तप को अच्छी तरह किया था जो अन्य मुनियों के लिये अत्यन्त कठिन था ॥ ६२ ॥ तदनन्तर आयु के अन्त में विधिपूर्वक एक माह का प्रायोपगमन—संन्यास प्राप्त कर उन मुनि ने धर्म्य ध्यान से विन्ध्यगिरि पर प्राण छोड़े और उसके फलस्वरूप प्राणत स्वर्ग को प्राप्त किया ॥ ६३ ॥ उस प्राणत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में वे फूलों के समान सुगन्धित शरीर से सहित बीस सागर की आयुवाले देवेन्द्र हुए सो ठीक ही है क्योंकि यह जीव बहुत भारी तप के फल से किस वस्तु को नहीं प्राप्त होता है ? ॥ ६४ ॥ 'इन्द्र उत्पन्न हुआ है' ऐसा जानकर समस्त देवों ने सिंहासन पर विराजमान उस इन्द्र का हर्ष पूर्वक अभिषेक किया तथा लाल कमल की कान्ति को हरने वाले उनके चरण युगल को क्रीड़ावतंस—क्रीड़ा भूषण की भांति मुकुटों पर धारण कर नमस्कार किया। भावार्थ—उनके चरण कमलों में मुकुट झुका कर प्रणाम किया ॥ ६५ ॥

भावी तीर्थंकरोऽयमित्यभिगतं संपूजमानः सुरैः
अक्षम्याक्षविरम्यरोचनगृहो रेमे स तस्मिन्सुखं ।
औत्सुक्यं गुणसम्पदा पथिकतेवालिङ्गितस्तो गले
नीहारद्युतिहारिहारलतिकाव्याजेन मुक्तिश्रिया ॥६६
इत्यसगकृते वर्द्धमानचरिते नन्दनपुण्योत्तरगमनो नाम
षोडशः सर्गः समाप्तः

●

सप्तदशः सर्गः

वसन्ततिलकम्

श्रीमानथेह भरते स्वयमस्ति धात्र्या पुञ्जीकृतेव निज इवाखिलकान्तिसारः ।
नाम्ना विदेह इति विश्वलये समस्ते ख्यातः परंजनपदः पदमुत्तमानाम् ॥१
गोमण्डलेन धवलेन सदा परीता स्वेच्छानिषण्णहरिणाङ्कितमध्यदेशा ।
रात्रौ शिरोरपि चिराय विलोकनीया यत्रेन्दुमूर्तिरिव भात्यटवी समग्रा ॥२
क्षेत्रेषु यत्र सलता सलनालकेषु कौटिल्यमम्बुजवने मधुपव्रजेषु ।
पङ्क्तिस्थितिः कमलजालिषु सर्वकालं संलक्ष्यते द्विजिह्वकुलेषु विचित्रभावः ॥३

'यह भावी तीर्थंकर है' ऐसा जानकर जो देवों द्वारा निरन्तर पूजित होता था, जो अविनाशी अवधिज्ञान से सहित था, अप्सराएं जिसे घेरे रहती थीं, और जो गुणरूपी सम्पदा के द्वारा उत्कण्ठा को प्राप्त कराई हुई मुक्तिलक्ष्मी के द्वारा बर्फ की कान्ति को हरने वाली हार लता के बहाने कण्ठ में आलिङ्गित हो रहा था ऐसा वह इन्द्र उस प्राप्त स्वर्ग में हर्ष से क्रीड़ा करने लगा ॥ ६६ ॥

इस प्रकार असग कवि कृत वर्द्धमानचरित में राजा नन्दन के पुण्योत्तर विमान में गमन करने का वर्णन करने वाला सोलहवां सर्ग समाप्त हुआ ।

●

सत्रहवां सर्ग

अथानन्तर इसी भरत क्षेत्र में एक ऐसा लक्ष्मी संपन्न देश है जो पृथिवी के स्वयं इकट्ठी हुई अपनी समस्त कान्तियों का मानों सार ही है, जो समस्त दिशाओं में विदेह इस नाम से प्रसिद्ध है तथा उत्तम मनुष्यों के रहने का उत्कृष्ट स्थान है ॥ १ ॥ जो सफ़ेद गायों के समूह से घिरी हुई है तथा जिसका मध्यदेश स्वेच्छा से बैठे हुए हरिणों से अङ्कित है ऐसी जिस देश की समस्त अटवी, रात्रि के समय बालकों के लिये भी चिर काल तक देखने के योग्य चन्द्रमा की मूर्ति—चन्द्र मण्डल समान सुशोभित होती है ॥ २ ॥ जिस देश में सलता—अधिष्ठानों का सद्भाव खेतों में ही देखा जाता है वहाँ के मनुष्यों में सलता—दुष्टता नहीं देखी जाती है। कौटिल्य—घुंघुरालापन स्त्रियों के केशों में ही देखा जाता है वहाँ के मनुष्यों में कौटिल्य—माया पूर्ण व्यवहार नहीं देखा जाता। मधुप प्रकाप—भ्रमरों का शब्द कमल वन में ही देखा जाता है वहाँ के मनुष्यों में मधुप प्रकाप—

पूगद्रुमैः स्वगतरागलतावलाभा[1]भ्रश्यन्नभीकृतनभस्तलसन्निभाभाः परीताः ।
भास्वन्महामरकतोपलकल्पितोच्चप्राकारकोटिकलिता इव यत्र भान्ति ॥४
तृष्णां सदाश्रितजनस्य विनाशयद्भिरन्तःप्रसत्तिसहितैरनपेतपद्मैः ।
तोयाशयैरमलिनद्विजसेवनीयैः सद्भूषय भाति भुवि यः सततोत्तसंस्थैः ॥५
यस्मिन्सदास्ति मुरजेषु कराभिघातो वन्धस्थितिर्वरहयेषु च शब्दशास्त्रे ।
द्वन्द्वोपसर्गगुणलोपविकारदोषो विभ्वाक्षरे मृगदृशामपि विभ्रमश्रीः ॥६
तत्रास्त्यथो निखिलवस्त्ववगाहयुक्तं भास्वत्कलाधरवुधैः सदृशं सतारम् ।[2]
अध्यासितं जिनविव स्वसमानशोभं ख्यातं पुरं जगति कुण्डपुराभिधानम् ॥७

मद्यपायी लोगों का निरर्थक वार्तालाप नहीं देखा जाता है। पङ्क—कीचड़ की स्थिति कमल और धान्य में ही देखी जाती है वहाँ के मनुष्यों में पङ्क—पाप की स्थिति नहीं देखी जाती है तथा विचित्र भाव—नाना वर्णों का सद्भाव सदा मयूरों के समूह में ही देखा जाता है वहाँ के मनुष्यों में विचित्र भाव—असमानता का भाव नहीं देखा जाता है ॥ ३ ॥ अपने आप में लिपटी हुई पान की लताओं के पत्तों की आभा से जिन्होंने आकाशतल को काला-काला कर दिया है ऐसे सुपारी के वृक्षों से घिरे हुए जहाँ के गाँव देदीप्यमान बड़े-बड़े मरकत मणियों से निर्मित ऊंचे कोट की पंक्तियों से वेष्टित के समान सुशोभित होते हैं ॥ ४ ॥ जो देश, आश्रित मनुष्यों की तृष्णा—प्यास (पक्ष में धनस्पृहा) नष्ट करने वाले, अन्तःप्रसत्ति—भीतर की स्वच्छता (पक्ष में हृदय की प्रसन्नता) से सहित, अनपेतपद्म—कमलों से सहित (पक्ष में पद्मालक्ष्मी से सहित) और अमलिन द्विज—श्वेत हंस पक्षियों से (पक्ष में निर्दोष ब्राह्मणों से) सेवनीय असंख्य जलाशयों और सत्पुरुषों से पृथिवी पर अत्यधिक सुशोभित होता है ॥ ५ ॥ जिस देश में सदा कराभिघात—हाथ का प्रहार यदि था तो मृदङ्गों में ही था वहाँ के मनुष्यों में कराभिघात—टैक्स की पीड़ा नहीं थी। बन्धस्थिति—बन्धन का सद्भाव यदि था तो उत्कृष्ट घोड़ों में ही था वहाँ के मनुष्यों में बन्ध स्थिति—कारावास आदि बन्ध स्थिति नहीं थी। द्वन्द्व—द्वन्द्व समास, उपसर्ग—प्र परा आदि उपसर्ग, गुण, अ ए ओ रूप गुण, लोप—वर्ण का अदर्शन, तथा विकार—एक शब्द के स्थान में दूसरे शब्द के आदेश होने रूप विकार इन दोषों का सद्भाव यदि था तो शब्द शास्त्र व्याकरण में ही था वहाँ के मनुष्यों में द्वन्द्वोपसर्ग—सर्दी गर्मी आदि के उपद्रव, गुण लोप—दया दाक्षिण्य आदि गुणों का विनाश और विकार दोष—अन्यापन बहिरापन आदि दोषों का सद्भाव नहीं था। इस प्रकार विभ्रम श्री—मूंगा के समान शोभा यदि थी तो मृगनयनी स्त्रियों के बिम्बोष्ठ में ही थी वहाँ की भूमि पर विभ्रम श्री—वृक्षों की शोभा का अभाव नहीं था अर्थात् सब जगह हरे भरे वृक्ष लगे थे ॥ ६ ॥

तदनन्तर उस विदेह देश में कुण्डपुर नाम का एक जगत्प्रसिद्ध नगर था जो स्वसदृश शोभा से सम्पन्न होता हुआ आकाश के समान सुशोभित हो रहा था, क्योंकि जिस प्रकार आकाश समस्त वस्तुओं के अवगाह से युक्त है उसी प्रकार वह नगर भी समस्त वस्तुओं के अवगाह से युक्त था

---

१. दलाम म० । २. "तारो मुक्तादिसंयुक्तौ तरणे क्षुद्रमौक्तिके । तारं तु रजते तारा सुंसीनयुवतीषितोः" इति विश्वलोचनः ।

[illegible]
[illegible] ॥८
[illegible]
एकीकृतान्यपि सुधीजनता [illegible] ॥९
[illegible]
अप्रावृषेण्यनवनीरदसुप्तसिंह [illegible] ॥१०
अत्युन्नताः शशिकरप्रकरावदाता [illegible] ॥११

तात्पर्य यह है कि 'आकाशस्यावगाहः' इस सूत्रमय वाक्य से जिस प्रकार आकाश, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों को अवगाह देता है उसी प्रकार वह नगर भी संसार के समस्त पदार्थों को अवगाह देता था—उसमें संसार के समस्त पदार्थ पाये जाते थे। जिस प्रकार आकाश भास्वत्—सूर्य, कलाधर—चन्द्रमा और बुध ग्रहों से अध्यासित—अधिष्ठित है उसी प्रकार वह नगर भी भास्वत्कलाधर बुधों—देदीप्यमान कलाओं के धारक विद्वानों से अधिष्ठित था—इन सब का उसमें निवास था। जिस प्रकार आकाश सवृष—वृष राशि से सहित होता है उसी प्रकार वह नगर भी सवृष—धर्म से सहित था व जिस प्रकार आकाश सतार—ताराओं से सहित है उसी प्रकार वह नगर भी सतार—चाँदी, तरुण पुरुष, शुद्ध मोती अथवा मोतियों आदि की वृद्धि से सहित था ॥७॥ जिस नगर में कोट के अग्रभाग में संलग्न लाल रत्नों की कान्ति के प्रतिबिम्ब रूप पदार्थों के द्वारा चारों ओर से व्याप्त जल की परिखा, दिन के समय भी अनेक संध्याओं की शोभा को धारण करती हुई सी अत्यधिक सुशोभित होती है ॥ ८ ॥ जिस नगर में खुले हुए इन्द्रनीलमणि निर्मित फर्शों पर उपहार के रूप में रखे हुए नीलकमल, अत्यन्त नीलवर्ण के कारण यद्यपि एकीकृत हो रहे हैं—फर्शों की कान्ति में छिप रहे हैं तो भी चारों ओर से पड़ते हुए भ्रमरों की हुङ्कार से प्रकटता को प्राप्त होते हैं ॥९॥ जिस नगर में ऐसी स्त्रियाँ सुशोभित हो रही हैं जो कामदेव के विजयी शस्त्र तो हैं परन्तु पुष्प रूप नहीं अर्थात् कामदेव के पुष्पातिरिक्त शस्त्र हैं। जो सूर्य के समान कान्ति से युक्त हैं परन्तु जिन्होंने अम्बुजवन्—कमलों की कान्ति को निस्तेज—फीका कर दिया है तात्पर्य यह है कि सूर्य की कान्ति तो कमलों को सतेज करती है परन्तु उन्होंने निस्तेज कर दिया है (परिहार पक्ष में यह अर्थ है कि उन स्त्रियों ने पद्मराग मणियों की कान्ति को फीका कर दिया है) जो स्त्रियाँ नवपयोधरों-नूतन मेघों की कान्ति से सहित तो हैं परन्तु प्रावृष्—वर्षा ऋतु नहीं है (परिहार पक्ष में नूतन उठते हुए स्तनों की कान्ति से सहित हैं) तथा सरस—सजल तो हैं परन्तु नदी नहीं हैं (परिहार पक्ष में सरस—स्नेह अथवा शृङ्गारादि रसों से सहित हैं) ॥ १० ॥ जिस नगर की इस भूमि में ऐसे वीर—शूरवीर जन और सुबालक—सूता से बने हुए पतले बछड़े सुशोभित हो रहे हैं जो अत्युन्नत—अत्यन्त उदार हैं (बछड़े पक्ष में बहुत ऊँचे हैं), चन्द्रमा की किरणों के समूह के समान अवदात—उज्ज्वल—निष्कलङ्क हैं (बछड़े पक्ष में जो चन्द्रमा की किरणों के

---

१. चन्दनलता ख० । २. वीरेषु सुबालक० । ३. एक: शशलक्ष्म० ।

क्रीडाम्बुजेषूपजनयन्त्य कराग्रलग्नं कर्णोत्पलं च विमलन्मधु यत्र भृङ्गाः ।
निःश्वासगौरवरता वदने पतन्ति स्त्रीणां मुहुर्[1]बृंहितकोमलत्वम् ॥१२
आमुक्तभौक्तिकविभूषणरश्मिजालैः श्वेतीकृताखिलदिशो विहरन्ति यस्मिन् ।
वाराङ्गना, मदसलीलमितस्ततोऽपि द्योत्स्नां दिवापि सुभगामिव दर्शयन्त्यः १३
यस्मिन्विमानं सचितामलचित्ररत्नच्छायाविताननवकीकृतदिग्विधिका[3] ।
अह्नेरुचापरचितांशुकगात्रिकेव संलक्ष्यते प्रतिदिनं नितरां विनश्रीः ॥१४
यस्मिन्महीनवपुरप्यभुजङ्गशीला मित्रानुरागसहितापि कलाधरेच्छा ।
भाति प्रतीतसुवयःस्थितिरप्यपक्षपाता निवासिजनता ४सरसाप्यरोगा ॥१५

समूह से अत्यन्त उज्ज्वल हैं अर्थात् चाँदनी रात में जिनकी सफ़ेदी बढ़ जाती है) जो मस्तक पर स्थित चूडामणि की किरणों से आकाश को पल्लवित करते हैं (भवन पक्ष में शिखरों पर लगे हुए पद्मरागमणियों की कान्ति से जो आकाश को लाल-लाल पल्लवों से संयुक्त जैसा करते हैं) और जिनकी उत्सङ्ग—गोदियों में सुन्दर स्त्रियाँ बैठी हैं (भवन पक्ष में जिनके मध्य में मनोहर स्त्रियाँ निवास करती हैं) ॥ ११ ॥ जिस नगर में भ्रमर, हाथों के अग्र भाग में स्थित क्रीडाकमल तथा मधु को झरानेवाले कर्णोत्पल को छोड़कर श्वासोच्छ्वास की सुगन्धि में आसक्त तथा कोमल हाथों के आघात के इच्छुक होते हुए बारबार स्त्रियों के मुख पर झपटते हैं ॥ १२ ॥ पहने हुए मुक्तामय आभूषणों की किरणावली से जिन्होंने समस्त दिशाओं को शुक्ल कर दिया है तथा जो दिन के समय भी सुन्दर चाँदनी को दिखाती हुई सी जान पड़ती हैं ऐसी वेश्याएँ जिस नगर में मदजनित लीला से सहित इधर-उधर घूमती रहती हैं ॥ १३ ॥ सात खण्डों वाले भवनों में लगे हुए नाना प्रकार के निर्मल रत्नों की कान्ति के विस्तार से जिसने समस्त दिशाओं को चित्र विचित्र कर दिया है ऐसी दिन की लक्ष्मी जहाँ प्रतिदिन इन्द्रधनुष निर्मित वस्त्र की गतियाँ* (ओढ़नी) को अच्छी तरह बाँधी हुई के समान दिखाई देती है ॥ १४ ॥ जिस नगर में निवास करने वाली ऐसी जनता सुशोभित होती है जो अहीन वपु—नागराज के समान शरीर से सहित होकर भी अभुजङ्गशीला—नाग के स्वभाव से रहित है (परिहार पक्ष में उत्कृष्ट शरीर से युक्त होकर भी व्यभिचारी मनुष्यों के स्वभाव से रहित है), मित्रानुराग—सूर्य के अनुराग से सहित होकर भी कलाधरेच्छा—चन्द्रमा की इच्छा से रहित है, अर्थात् चन्द्रमा को चाहती है (परिहार पक्ष में मित्रानुराग—इष्टजनों के प्रेम से सहित होकर कलाधर—चतुर मनुष्यों की इच्छा से सहित है) जिसकी सुवयःस्थिति—उत्तम पक्षियों की स्थिति प्रसिद्ध होने पर भी जो अपक्षपाता—पङ्खों के पात से रहित है अर्थात् पक्षी होकर भी जो पङ्खों से नहीं उड़ती है (परिहार पक्ष में जिनकी सुवयःस्थिति—उत्तम अवस्था की स्थिति प्रसिद्ध होने पर भी जो पक्षपात—विषम व्यवहार से रहित है) और जो सरस—विष से सहित होकर भी अरोगा—रोग से रहित है (परिहार पक्ष में शृङ्गारादि रसों से सहित होकर भी

---

१. मुहुः म० । २. 'विमानो व्योमयानेऽस्त्री सप्तभूमौ गृहेऽपि च' इति विश्वलोचनः । ३. विश्वदिक्काः म० । ४. 'रसः स्वादेऽपि तिक्तादौ शृङ्गारादौ द्रवे रसे ।' इति विश्वलोचनः । * स्त्रियाँ किसी कपड़े की चद्दर को पीठ की ओर ओढ़ कर आगे उसकी गाँठ लगा लेती हैं उसे गात्रिका या गलिवाँ कहते हैं ।

सूर्यांशवो निपतिता भुवनोदरेषु बालातपत्विषिहरिन्मणिरश्मिलिप्ताः ।
तिर्यग्निवेशितनवायतवंशशङ्कामभ्यासतस्य जनयन्ति जनस्य यत्र ॥१६
रागाधिरूढमणिभूषणरश्मिजालविध्वंसितान्धतमसेषु गृहोदरेषु ।
व्यर्थीभवन्ति निशि यत्र परं प्रदीपा मज्जन्तु वक्तु न नेत्रपथ्यम् ॥१७
दोषः स यत्र निशि कामिभिरुद्यतानां संलक्ष्यते शशधरः प्रतिमाच्छलेन ।
आदातुमागत इवाननभूरिशोभां यस्मिन्स्वकान्तिमलिनत्वतिरस्क्रियायै ॥१९
आनम्रराजकशिखारुणरत्नरश्मिबालातपप्रसरचुम्बितपादपद्मः ।
राजा तदात्मगतविक्रमसाधितार्थः सिद्धार्थ इत्यभिहितः पुरमध्युवास ॥२०
यो भ्रातिबंशगगनेन्दुकरावदातः श्रीमान्सदा ध्वज इवापतिमानुदग्रम् ।[1]
निर्व्याजमुत्सवपरम्परया प्रकाश्य पुत्थापितोद्धरितभूरिरलंचकार ॥२१

रोग से रहित है) ॥ १५ ॥ जहाँ भवनों के मध्य में पड़ी हुई, तथा झरोखों में स्थित हरे मणियों की किरणों से लिप्त सूर्य की किरणें आगन्तुक मनुष्य के लिये तिरछे रखे हुए नवीन लम्बे बांसों की शङ्का उत्पन्न करती हैं। भावार्थ—झरोखों में से महलों के भीतर जाने वाली सूर्य की किरणें झरोखों में संलग्न हरे मणियों की किरणों से लिप्त होने के कारण हरी हो जाती हैं इसलिये उन्हें देखकर नवीन अतिथि को ऐसी शङ्का होने लगती है कि क्या ये हरे-हरे नये बांस आड़े रक्खे हैं ॥ १६ ॥ स्त्रियों के आभूषणों में लगे हुए मणि समूह की किरणावली से जिनका गाढ़ अन्धकार नष्ट हो गया है ऐसे भवनों के मध्य भाग में रात्रि के समय जलने वाले दीपक सर्वथा व्यर्थ होते यदि वे नेत्रों के लिये हितकारी अञ्जन को नहीं उगलते। भावार्थ—दीपकों की सार्थकता अञ्जन के उगलने में ही थी अन्धकार के नष्ट करने में नहीं क्योंकि अन्धकार तो स्त्रियों के आभूषणों में लगे हुए मणियों की किरणों से ही नष्ट हो जाता था ॥ १७ ॥ जिस नगर में यही एक दोष है कि रात्रि के समय काम से पीड़ित युवतियां जब अपने पतियों के घर जाती थीं तो अर्ध मार्ग में चन्द्रोदय होने पर भवन समूह के अग्रभाग में संलग्न चन्द्रकान्त मणियों से निर्मित धोर वर्षा से वे भींग जाती हैं ॥ १८ ॥ जिस नगरी में रात्रि के समय स्त्रियों के स्वच्छ कपोल तल में प्रतिबिम्ब के बहाने चन्द्रमा मानों इसलिये आता है कि वह अपनी कान्ति सम्बन्धी मलिनता को दूर करने के उद्देश्य से उनके मुख की शोभा को ग्रहण करने के लिये ही आता हो ॥ १९ ॥

सब ओर से नम्रीभूत राजाओं की चोटी में लगे हुए लालमणि की किरण रूपी बालातप—प्रातःकाल सम्बन्धी घाम के समूह से जिसके चरण कमल चुम्बित हो रहे थे तथा अपनी बुद्धि और पराक्रम से जिसने सब प्रयोजन सिद्ध कर लिये थे ऐसा सिद्धार्थ नाम का राजा उस नगर में निवास करता था ॥ २० ॥ जो चन्द्रमा की निर्मल किरणों के समान उज्ज्वल थी, लक्ष्मीमान् था, ध्वजा के समान आयति-सुन्दर भविष्य (पक्ष में लम्बाई) से सहित था तथा जिसने पृथिवी को उठाकर उद्धृत किया था—समस्त भूमि को समुन्नत किया था ऐसा वह राजा छलरहित उत्सवों की परम्परा

---

१. नृपः म० ।

यं प्राप्य रेजुरमलं[1] नरनाथविद्याः संयोजनप्रणतमण्डितं च फलेन लोकम् ।
सर्वा विभोर्जलधरात्ययमेत्य कालं कान्तिप्रसादसहिता किमु नोद्वहन्ति ॥२२
दोषो बभूव गुणिनोऽप्ययमेक एव यस्य प्रतापमतुलं जगतो वरायम् ।
वक्षःस्थिता प्रियतमापि बलात्पुरस्ताद्भुज्यते सततसिद्धजनेन लक्ष्मीः ॥२३
तस्य प्रिया नरपतेः प्रियकारिणीति नाम्ना बभूव महिषी भुवनैकरत्नम् ।
यां वीक्ष्य कौतुकसहस्रमिवं कृतार्थमन्येत्यमन्यत वृषापि विवाहकाले ॥२४
किं कौमुदी तनुमती नहि साह्नि रम्या विद्याङ्गनेयमुत सा न विलोलनेत्रा ।
वीक्ष्येति विस्मयवशादपि मन्यमाने यामर्थनिश्चयमपूर्वजनो न लेभे ॥२५
रेजे परं सहजरम्यतयान्वितोऽपि तां प्राप्य भूपतिरनन्यसमानकान्तिम् ।
शोभान्तरं व्रजति न प्रतिपद्य हृद्यः किं शारदीं शशधरो भुवि पौर्णमासीम् ॥२६
साप्यात्मनः सदृशमेत्य पतिं मनोज्ञं विद्युते रतिरिव प्रकटं मनोजम् ।
लोके तथाहि नितरामनुरूपयोगः केषां न दीपयति कान्तिमनन्यसाम्यः ॥२७

से सदा स्पष्ट ही ज्ञाति वंश को अलंकृत करता था ॥ २१ ॥ समस्त लोक को फल से युक्त करने वाले जिस निर्मल—निर्दोष राजा को प्राप्त कर समस्त राजविद्याएं सुशोभित होने लगी थीं सो ठीक ही है क्योंकि निर्मल—कीचड़ आदि दोषों से रहित तथा समस्त लोक को नाना प्रकार के धान्य रूप फल से युक्त करने वाले शरत्काल को प्राप्त कर क्या समस्त दिशाएं प्रसाद से सहित—स्वच्छ कांति को धारण नहीं करती हैं ? ॥ २२ ॥ पृथिवी पर अतुल्य प्रताप को धारण करने वाले जिस राजा के गुणवान् होने पर भी यही एक दोष था कि उस के वक्षस्थल पर स्थित लक्ष्मी अत्यन्त प्रिय होने पर भी उसी के सामने बल पूर्वक निरन्तर इष्ट जनों के द्वारा भोगी जाती थी। भावार्थ—जिस प्रकार किसी की प्रिय स्त्री का कोई अन्य मनुष्य उसी के सामने बलपूर्वक उपभोग करता है तो वह उसका बड़ा भारी दोष माना जाता है उसी प्रकार उस दोष को यहाँ कवि ने लक्ष्मी के उपभोग के विषय में प्रकट किया है परन्तु यहाँ वह दोष लागू नहीं होता। तात्पर्य यह है कि उसकी लक्ष्मी सार्वजनिक कार्यों में उपयुक्त होती थी ॥ २३ ॥

उस राजा की प्रियकारिणी नाम की प्रिय रानी थी जो जगत् का अद्वितीय रत्न थी और विवाह के समय जिसे देखकर इन्द्र ने भी ऐसा माना था कि आज मेरे ये हजार नेत्र कृतकृत्य हो गये ॥ २४ ॥ जिसे देखकर अपरिचित मनुष्य, आश्चर्यवश ऐसा मानता हुआ पदार्थ के निश्चय को प्राप्त नहीं होता कि क्या यह शरीरधारिणी चांदनी है ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि वह दिन में रमणीय नहीं होती, अथवा क्या कोई देवी है, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि वह चञ्चला स्त्री नहीं होती ॥ २५ ॥ स्वाभाविक सुन्दरता से सहित होने पर भी राजा, सिद्धार्थ अनन्यतुल्य कान्ति से युक्त उस प्रियकारिणी को प्राप्त कर अत्यधिक सुशोभित होता था सो ठीक ही है क्योंकि सुन्दर चन्द्रमा, पृथिवी पर शरत्पूर्णिमा को प्राप्तकर क्या अन्य शोभा को प्राप्त नहीं होता है ? ॥ २६ ॥ वह प्रियकारिणी भी अपने अनुरूप उस मनोहर पति को पाकर उस तरह सुशोभित हो रही थी जिस तरह कि काम को प्राप्त कर रति स्पष्ट रूप से सुशोभित होती है, सो ठीक ही है

---

१. रमणं म० ।

एकोऽनवद्यं सदनुरूपनिरन्तरौघदोषोऽतएवसुमनः पदयोरभूत्सः ।
इत्थं पदं सुमनसामुपरि प्रकाशं यद्विभ्यतुः प्रतिदिनं कुसुमायुधाच्च ॥२८
वर्मार्थयोः सततमित्यविरोधिनार्थं सार्द्धं तया मृगदृशानुभवन्नरेन्द्रः ।
संरक्षणात्सकलमेदिनिमेदयित्वा स यशोभवकीर्तनातः ॥२९
भक्त्या प्रणेमुरथ तं मनसा सुरेन्द्रं वन्यास्तमेत्यसुरजीवितमेत्य देवाः ।
तस्मादनन्तरभवे वितनिष्यमाणं तीर्थं भवोदधिपरं तरणैकतीर्थम् ॥३०
इन्द्रस्तदा विकसितावधिचक्षुरष्टौ दिक्कन्यका वितनुकुण्डलशैलवासाः ।
यूयं जिनस्य जनयीं त्रिशलासुपार्श्वं प्राग्भाविनीमिति यथोचितमाविशेश ॥३१
चूडामणिद्युतिविराजितपुष्पचूला चूलावती जगति चारुशिखा च कान्ता ।
पर्याप्तपुष्पविनतां वनमालिकेव हृद्या सदा तनुमतां नवमालिका च ॥३२

क्योंकि संसार में अनन्यतुल्य अनुकूल संयोग किनकी कान्ति को सुशोभित नहीं करता ? ॥ २७ ॥ सुन्दर कीर्ति को धारण करने वाले उन दोनों दम्पतियों में पृथिवी पर यही एक बड़ा दोष था कि वे स्पष्ट रूप से सुमनस्—फूलों के ऊपर पैर रखकर काम से प्रतिदिन भयभीत रहते थे। भावार्थ—लोक में कामदेव कुसुमायुध के नाम से प्रसिद्ध है अर्थात् पुष्प उसके शस्त्र हैं। वे दोनों दम्पती सुमनस्—उन फूलों पर जो कि कामदेव के शस्त्र कहे जाते हैं पैर रखकर कामदेव से भयभीत रहते थे यह विरुद्ध बात है। जो जिससे भयभीत रहता है वह उसके शस्त्रों के समीप नहीं जाता परन्तु वे दम्पती काम से भयभीत रहकर भी उसके शस्त्र स्वरूप फूलों पर अपने पैर रखते थे। परिहार पक्ष में सुमनस् का अर्थ विद्वान् और पद का अर्थ स्थान है इसलिये श्लोक का ऐसा अर्थ होता है कि वे दम्पती विद्वानों के ऊपर अपना स्थान बनाये हुए थे और काम से—शीलभङ्ग से निरन्तर भयभीत रहते थे ॥ २८ ॥ जो संरक्षण से समस्त पृथिवी को हर्षित कर रहा था तथा अपने यश से जिसने दिशाओं को धवल कर दिया था ऐसा वह राजा उस मृगनयनी के साथ निरन्तर धर्म और अर्थ पुरुषार्थ से अविरोधी काम का उपभोग करता हुआ समय को व्यतीत करता था ॥ २९ ॥

तदनन्तर जो आगे आने वाले भव में संसार सागर से पार करने के लिये अद्वितीय तीर्थ स्वरूप तीर्थ—धर्म का विस्तार करेगा तथा जिसकी देवायु छह माह की शेष रह गई थी ऐसे उस इन्द्र (प्रिय मित्र चक्रवर्ती के जीव) के पास जाकर देव उसे हृदय से भक्ति पूर्वक नमस्कार करने लगे ॥ ३० ॥ जिसका अवधिज्ञान रूपी नेत्र खुला हुआ था ऐसे सौधर्मेन्द्र ने उस समय अत्यन्त विस्तृत कुण्डल गिरि पर निवास करने वाली आठ दिक्कन्यका देवियों को यह आज्ञा दी कि तुम लोग जिनेन्द्र भगवान् की होनहार माता त्रिशला की यथा योग्य सेवा करो ॥ ३१ ॥ जिसकी फूलों से गुँथी चोटी चूडामणि की कान्ति से सुशोभित थी ऐसी चूलावती, जो जगत् में अत्यन्त सुन्दर थी ऐसी चारुशिखा, जो अत्यधिक फूलों से नम्रीभूत वनपङ्क्ति के समान प्राणियों के लिये सदा दर्शनीय थी ऐसी नवमालिका, स्थूल तथा उन्नत स्तन रूपी घट युगल के बहुत भारी भार से जिसके कृश शरीर की त्रिवली नष्ट हो रही थी ऐसी त्रिशिरा, जिसने कल्पवृक्ष के सुन्दर फूलों के सुन्दर कर्णाभरण बनाकर पहिने थे तथा फूलों के विकास के समान जो सुन्दर थी ऐसी पुष्पचूला, जो विचित्र बाजूबन्दों से युक्त थी ऐसी कनकचित्रा, जिसने अपने तेज से सुवर्ण को तिरस्कृत कर दिया था ऐसी कनकश्री तथा जो अत्यन्त मनोहर थी ऐसी वारुणी ये आठ दिक्कन्यकाएँ नम्रीभू-

श्रीनोन्नतस्तनतटद्वयपूरिताम्बरसम्भ्रियकलिका विलिरालिमालाम् ।
लीलावतंसितसुरद्रुमचारुपुष्पां पुण्यप्रहर्षसुषमामिव च पुष्पयन्तीम् ॥३३
चित्राङ्गजा कनकचित्रसनाह्वया च तेजोऽभिभूतकनका कनकाभिधेया ।
ह्रीश्चाग्रजा च सुमना प्रियकारिणीं तामासेदुरानतशिरोनिहितप्रहस्ताः ॥३४
ताभिः स्वभावसुभिराकृतिभिः परीता सात्यन्तकान्तिसहिता नितरां विरेजे ।
एकापि लोकनयनोत्सवमातनोति तारावलीवलयिता किमु चन्द्रलेखा ॥३५
तिर्यग्विजृम्भकसुरास्तु निधीं दधाना[2]स्तत्सद्मनां प्रतिदिशं मुमुचुर्धनौघान् ।
[3]सार्धत्रिकोटिपरितः प्रमदाय रत्नं लोकस्य पञ्चदश विस्फुरितांशु मासान् ॥३६
सौधे सुधाधवलिते मृदुहंसतूले राज्ञी सुखेन शयिता प्रियकारिणी सा ।
स्वप्नानिमानथ जिनाधिपतिप्रसूतिप्रव्यापकानुषसि भव्यनुतान्[4] ददर्श ॥३७
ऐरावतं मदजलार्द्रकपोलमूलं प्रोत्तुङ्गचिन्दुधवलं वृषभं नदन्तम् ।
विस्फूर्जदुज्ज्वलसटं मृगराजमुग्रं लक्ष्मीं मुदा वनगजैरभिषिच्यमानाम् ॥३८

चूल शिर पर हस्ताञ्जलि लगाकर शीघ्र ही प्रियकारिणी—त्रिशला के समीप आ पहुँचीं ॥ ३२-३४ ॥ स्वभाव से सुन्दर आकृति वाली उन देवियों से घिरी हुई, अत्यधिक कान्ति से युक्त वह प्रियकारिणी अत्यन्त सुशोभित हो रही थी सो ठीक ही है क्योंकि चन्द्रमा की लेखा अकेली होने पर भी मनुष्यों के नयनानन्द को विस्तृत करती है फिर ताराओं की पङ्क्ति से घिरी हो तो कहना ही क्या है ? ॥ ३५ ॥ निधियों को धारण करने वाले तिर्यग्जृम्भक नामक देव, कुबेर की आज्ञा से वहाँ प्रत्येक दिशा में चारों ओर लोगों के हर्ष के लिये पन्द्रह महीने तक देदीप्यमान किरणों से सहित साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा करने लगे ॥ ३६ ॥

तदनन्तर चूना से सफ़ेद महल में रात्रि के समय कोमल हंस तूल के बिस्तर पर सुख से सोयी हुई प्रियकारिणी ने जब प्रातःकाल होने वाला था तब जिनेन्द्रभगवान् के जन्म को सूचित करने वाले तथा भव्य जीवों के द्वारा स्तुत इन स्वप्नों को देखा ॥ ३७ ॥ जिसके कपोलों का मूल-भाग मद रूपी जल से आर्द्र था ऐसे ऐरावत हाथी को, ऊंचे तथा चन्द्रमा के समान सफ़ेद शब्द करते हुए बैल को, पीली पीली आँखों और उज्ज्वल सटाओं से सहित भयंकर सिंह को, वन के हाथी हर्ष से जिसका अभिषेक कर रहे थे ऐसे लक्ष्मी को, जिसके ऊपर भ्रमरों का समूह मँडरा रहा था ऐसे आकाश में स्थित माला युगल को, गाढ अन्धकार को नष्ट करने वाले पूर्ण चन्द्रमा को, कमलों को विकसित करने वाले बाल सूर्य को, निर्मल जल में मद से क्रीडा करते हुए मीन युगल को, जो कमलों से घिरे थे तथा जिनके मुख फलों से ढँके थे ऐसे दो कलशों को, कमलों से रमणीय तथा स्फटिक के समान स्वच्छ जल से सहित सरोवर को, लहरों से दिङ्मण्डल को आच्छादित करने वाले समुद्र को, जिसका शरीर मणियों की किरणों से विभूषित था ऐसे सिंहासन को, जिस पर ध्वजा फहरा रही थी ऐसे बहुत बड़े देव विमान को, जिसमें नवयौवनी नाग कुमारियाँ निवास करती थीं ऐसे नाग भवन को, जिसकी किरणों का समूह आकाश में विस्तृत हो रहा था

---

१. चन्द्रलेखा ब० । २. तत्सद्मनां ब० । ३. सार्धं त्रिकोटि ब० । ४. नुतान्यपश्यत् ब० ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

पुष्पोत्तरात्सममतीर्य सुरश्चिरोऽत्र स्वप्ने विवेश वदनद्विपकल्पधारी ।
देव्या मुखं निशि शुचौ सितषष्ठयवष्टधां चन्द्रे प्रवृद्धिमति चोत्तरफाल्गुनिस्थे ॥४८
तस्मिन्क्षणे स्वहरिविष्टरकम्पनेन ज्ञात्वा सुरश्चिपतयोऽत्र कृपाधिकल्पाः ।
तामेत्य दिव्यमणिभूषणगन्धमाल्यवस्त्रादिभिः समभिपूज्य ययुः स्वधाम ॥४९
श्रीर्ह्रीर्धृतिश्च लवणा च बला च कीर्तिर्लक्ष्मीश्च वाक्च विकसत्प्रमदेन देव्यः ।
एता निजद्युतिविदीपितवायुमार्गास्तामाज्ञया सुरपतेः सहसोपतस्थुः ॥५०
लक्ष्मीर्मुखे हृदि धृतिर्लवणा च धाम्नि कीर्तिर्गुणेषु च बले च बला महत्त्वे ।
श्रीर्ह्रीरिव वाक् च नयनद्वितये च लज्जा तस्या मुदा सह यथोचितमध्युवास ॥५१
[1]गर्भस्थितोऽपि स जहे जगदेकचक्षुर्ज्ञानत्रयेण विमलेन न जातु मातुः ।
आस्ता न भानुरुदयाद्रितटीविशालकुक्षिस्थितोऽपि सचिवेन परीयते किम् ॥५२

से जिनेन्द्र भगवान् के जन्म को सूचित करने वाला स्वप्नावली का फल सुनकर वह प्रियकारिणी बहुत ही प्रसन्न हुई और राजा सिद्धार्थ ने भी अपना जन्म सफल माना सो ठीक ही है क्योंकि त्रिलोकीनाथ का पिता होना किनके हर्ष के लिये नहीं होता ? अर्थात् सभी के हर्ष के लिये होता है ॥ ४७ ॥

तदनन्तर आषाढ़ शुक्ल षष्ठी के दिन, जब कि वृद्धि से युक्त चन्द्रमा उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र पर स्थित था, उस इन्द्र ने पुष्पोत्तर विमान में अवतीर्ण होकर तथा रात्रि के समय स्वप्न में श्वेत हाथी का रूप धर रानी प्रियकारिणी के मुख में प्रवेश किया। भावार्थ—आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन रानी प्रियकारिणी ने रात्रि के समय ऐसा स्वप्न देखा कि एक सफ़ेद हाथी हमारे मुख में प्रवेश कर रहा है। उसी समय प्रियमित्र चक्रवर्ती के जीव इन्द्र ने पुष्पोत्तर विमान से चय कर उसके गर्भ में प्रवेश किया ॥ ४८ ॥ उसी समय अपना सिंहासन कम्पित होने से जिनेन्द्र भगवान् के गर्भावतरण को जानकर चारों निकाय के इन्द्र प्रियकारिणी के पास आये और दिव्य मणियों के आभूषण, गन्ध, माला तथा वस्त्र आदि के द्वारा उसकी पूजा कर अपने स्थान पर चले गये ॥ ४९ ॥ श्री, ह्री, धृति, लवणा, बला, कीर्ति, लक्ष्मी और सरस्वती ये देवियाँ इन्द्र की आज्ञा से अपनी कान्ति के द्वारा आकाश को प्रकाशित करती हुई शीघ्र ही रानी प्रियकारिणी के समीप आकर उपस्थित हो गईं ॥ ५० ॥ उसके मुख में लक्ष्मी, हृदय में धृति, धाम में लवणा, गुणों में कीर्ति, बल में बला, महत्त्व में श्री, वचन में सरस्वती, और नेत्र युगल में लज्जा हर्ष के साथ यथायोग्य निवास करने लगी ॥ ५१ ॥

जगत् के अद्वितीय नेत्र स्वरूप वह बालक माता के गर्भ में स्थित होने पर भी निर्मल ज्ञान त्रितय—मति श्रुत अवधिज्ञान के द्वारा कभी नहीं छोड़ा गया था सो ठीक ही है क्योंकि उदयाचल की तटी रूपी विशाल कुक्षि में स्थित रहता हुआ भी सूर्य क्या मनोहर तेज से व्याप्त नहीं रहता ? अर्थात् अवश्य रहता है। भावार्थ—वह बालक गर्भ में भी मति श्रुत

---

१. गर्भे० वसन्नपि मलैरकलङ्कितस्त्रिगो ज्ञानत्रयं त्रिभुवनैकगुरुर्बभार ।
तुंगोदयाद्रिगहनान्तरितोऽपि धाम किं नाम मुञ्चति कदाचन दिव्यरश्मिः ॥९॥ धर्मशर्माo सर्ग १ ।

स ज्ञान त्रितयेनैव गर्भेऽपि सहजं बहिः ।
बभूव मलदोषेण हीनया सरितेव हि ॥५३
गर्भस्थितस्य जिनबालचन्द्रस्यान्तर्गतं मोहतमोऽपहारि ।
तस्याः स्तनौ सद्य एव क्षीणमुखत्वमूतां क्षीणतां गतौ सुतायाः ॥५४
आपाण्डुतां तनुरिवाप तदा गतायुः निर्यत्तीर्थयात्रा पवनीकृतेव ।
पूर्वं तया न विदरात्र वलिभनेव तया मनोरवतुलयमनेव ॥५५
तस्यास्त्रिसंध्यमवतीत्य 'मनुष्यधर्मा त्रिसंध्यं स्वयं पतिनतिहितानि बिभ्रत् ।
क्षौमाङ्गरागसुमनोमणिभूषणानि प्रख्यापयन्निव जिने निहितां स्वभक्तिम् ॥५६
तृष्णाविहीनमपि गर्भगतं बभार तं दोहदेन न कदाचिदसौ बबाधे ।
एवं क्रमोऽयमिति पुंसवनं नरेन्द्रस्तस्याश्चकार विबुधैरपि पूजिताया: ॥५७
दृष्टे सहस्र विबोध्यगतैः सकलैर्ग्रहे यथोचितकालभूत राजी ।
चैत्रे सिते तिथितृतीयदयानिशान्ते सोमाह्वि चन्द्रमसि चोत्तरफल्गुनिस्थे ॥५८
आशाः प्रसेदुरथ देहभृतां मनोभिः सर्वाः समं विषयवैतमियाय बुद्धिम् ।
येते मदालिचितया सुरपुष्पवृष्ट्या नेदुस्तदा नभसि दुन्दुभयश्च सद्यम् ॥५९

और अवधि इन तीन ज्ञानों से सहित था ॥ ५२ ॥ जिसका कोमल शरीर मल के उपद्रव से सर्वथा रहित था ऐसे उस बालक ने गर्भवास का कुछ भी दुःख प्राप्त नहीं किया था सो ठीक ही है क्योंकि पङ्क के सम्बन्ध से रहित तथा नदी जल के भीतर निमग्न कमल कुड्मल को क्या खेद होता है ? अर्थात् नहीं होता ॥ ५३ ॥ उस समय मृगनयनी प्रियकारिणी के स्थूल उन्नत तथा स्वर्ण कलश के तुल्य स्तन शीघ्र ही मलिन मुख हो गये थे इससे जान पड़ते थे मानों गर्भ स्थित बालक के निर्मल ज्ञान से प्रेरित हृदय स्थित मोहान्धकार को ही उगल रहे हों ॥ ५४ ॥ लताङ्गी प्रियकारिणी का शरीर उस समय कुछ-कुछ सफेदी को प्राप्त हो गया था उससे ऐसा जान पड़ता था मानों गर्भ स्थित बालक के बाहर निकलते हुए यश से ही सफ़ेद हो गया था। तथा उसका उदर पहले जिस प्रकार त्रिवलियों से सुशोभित होता था उस प्रकार अब अत्यधिक वृद्धि हो जाने से सुशोभित नहीं होता था। भावार्थ—उदर में वृद्धि हो जाने के कारण नाभि के नीचे पड़ने वाली उदर की तीन रेखाएं नष्ट हो गई थीं ॥ ५५ ॥ पिटारे में रखे हुए रेशमी वस्त्र अङ्गराग, पुष्प, तथा मणिमय आभूषणों को धारण करने वाला कुबेर तीनों संध्याओं में आकर माता की सेवा करता था उससे ऐसा जान पड़ता था मानों वह अपनी जिन भक्ति को ही प्रकट कर रहा हो ॥ ५६ ॥ तृष्णा रहित, गर्भ स्थित बालक को धारण करती हुई प्रियकारिणी दोहला से कभी भी पीड़ित नहीं हुई थी। यद्यपि वह देवों के द्वारा भी पूजित थी तो भी राजा ने 'यह कुल की रीति है' ऐसा समझकर उसका पुंसवन संस्कार किया था ॥ ५७ ॥

तदनन्तर अपने उच्च स्थान में स्थित समस्त ग्रहों की जिस पर दृष्टि पड़ रही थी ऐसी लग्न में, चैत्र शुक्लत्रयोदशी के प्रातःकाल सोमवार के दिन जबकि चन्द्रमा उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र पर स्थित था रानी ने यथा समय जिन बालक को उत्पन्न किया ॥ ५८ ॥ तत्पश्चात् उस

---

१. "कुबेरः मनुष्यधर्मा धनदो राजराजो धनाधिपः" इत्यमरः ।

जाते त्वदा प्रथिततीर्थकरानुभावे तस्मिन्नभूच्चलितमित्यवधीक्षणेन ।
सिंहासनानि युगपत्त्रिदशेश्वराणां कम्पं ययुः सह मनोभिरतप्तवत्ति ॥६०
उन्मीलितावधिदृशा सहसा विदित्वा तज्जन्म, भक्तिभरतः प्रणतोत्तमाङ्गान् ।
घण्टानिनादसमवेतनिकायमुख्या विद्धा ययुस्त्रिदिवि कुण्डपुरं सुरेन्द्राः ॥६१
आज्ञाप्रतीक्षणपरैः प्रणुरागभावात्कार्त्स्न्यस्पुरः परिजने स्वयमेव बभ्रे ।
हस्तद्वयेन कुसुमस्रजमर्चितुं तं कस्यापवा भवति पूज्यतमे न भक्तिः ॥६२
तस्याभिषेकसमये यदिहास्ति कृत्यं कृत्स्नं तवाशु विदधाम्यहमेव युक्तम् ।
कर्तुं विशामि न परेभ्य इतीव भक्त्या चक्रे सुरः प्रमुदितः स्वमनेकतनेकः ॥६३
कृत्वाधरः करसहस्रमनेकमुच्चैर्विभ्रद्विनिर्गतकमलानि जिनानुरागात् ।
तेने वियत्यपि सरोजवनस्य शङ्कां न कारयति किं कमिवातिभक्तिः ॥६४
केचित्त्वमौलिशिखरस्थितपद्मरागबालातपायितमरीचिविडम्बकेन ।
अन्तर्भरात्सपदि निर्यतितं जिनेन्द्रे रेजुः शिरोभिरनुरागमिवोद्वहन्तः ॥६५

समय प्राणियों के हृदयों के साथ समस्त दिशाएं प्रसन्न हो गईं, आकाश बिना धोये ही शुद्धि को प्राप्त हो गया, मदोन्मत्त भ्रमरों से व्याप्त देव पुष्पों की वृष्टि पड़ने लगी और आकाश में दुन्दुभि बाजे गम्भीर शब्द करने लगे ॥ ५९ ॥ जिसका तीर्थंकरी प्रभाव प्रसिद्ध था ऐसे संसार भ्रमण के छेदक उन त्रिलोकीनाथ के उत्पन्न होने पर इन्द्रों के अकम्पित सिंहासन उनके मनों के साथ युगपत् कम्पित होने लगे ॥ ६० ॥ खुले हुए अवधिज्ञान रूपी नेत्र के द्वारा शीघ्र ही जिनबालक का जन्म जान कर भक्ति के भार से जिनके मस्तक झुक गये थे, तथा जिनके मुख्य भवन घण्टा के शब्द से शब्दायमान हो रहे थे ऐसे इन्द्र उस समय सौभाग्य से कुण्डपुर आये ॥ ६१ ॥ आज्ञा की प्रतीक्षा करने में तत्पर सेवक जनों के विद्यमान होने पर भी कोई देव प्रेम भाव के कारण जिन बालक की पूजा करने के लिये पुष्पमाला को दोनों हाथों से स्वयं ही धारण कर रहा था सो ठीक ही है क्योंकि अतिशय पूज्य में किसकी भक्ति नहीं होती ? अर्थात् सभी की होती है ॥ ६२ ॥

उनके अभिषेक के समय यहाँ जो कुछ भी काम होगा उस सबको मैं ही शीघ्र उचित रीति से करूँगा। दूसरों के लिये कुछ करने के लिये आज्ञा नहीं दूंगा, ऐसी भक्ति से ही मानो प्रसन्न होते हुए एक देव ने अपने आपको अनेक रूप कर लिया था। भावार्थ—भक्तिवश एक देव ने अनेक रूप धारण किये थे ॥६३॥ अनेक हजार हाथ बनाकर उन्हें ऊंचे की ओर उठा, जिनेन्द्र भगवान् के अनुराग से उनमें खिले हुए कमलों को धारण करता हुआ कोई देव आकाश में भी कमल वन की शोभा को विस्तृत कर रहा था सो ठीक ही है क्योंकि अधिक भक्ति किससे कौन सी शक्ति नहीं कराती है ? ॥ ६४ ॥ कितने ही देव अपने मुकुट के अग्रभाग में स्थित पद्मराग मणि की प्रातःकाल सम्बन्धी सुनहली धूप के समान लाल किरणावली के छल से ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों अन्तरङ्ग में बहुत भार होने के कारण शीघ्र ही बाहर निकले हुए जिनेन्द्र विषयक अनुराग को शिरों

---

१. किं किमिवातिभक्तिम् म० ।

[illegible]
[illegible] ॥६३
[illegible]
[illegible] ॥६७
[illegible]
[illegible] ॥६८
ज्योतिःसुरा हरिरवानुगतास्तथान्ये यावत्परे भवनवासिसुरेषु ।
शङ्खध्वनेन भवनोदरवासिनस्ते मुख्यैः सहानु निजसैनिकसम्भवद्भिः ॥६९
सङ्घट्टनेन भवनोदरविस्तृतायाः व्याकुलतेव गतिरुद्धतिरुद्धतायाः ।
प्रापुः पुरं स्वतनयस्थितसद्म तेनाकाशेऽकुण्ठगतयोऽमरपतिप्रमुखाः ॥७०
आसाद्य राजकुलवाटकुलं सुरेन्द्रैः प्रत्युद्गतेन नियता वसुधाधिपेन ।
मातुः पुरः स्थितसुवस्त्रसुतं विलोक्य निर्गत्य तत्क्षण मवापुरपारमोदम् ॥७१
मायार्भकं प्रथमकल्पपतिर्विधाय मातुः पुरोऽथ जनसम्भवसम्भवी ।
बालं बहिर्विजनमातरथा स्फुरन्तं कार्यान्तरादनु पुनोऽपि करोत्यकार्षम् ॥७२

से ही धारण कर रहे हों ॥ ६५ ॥ एकावली—एक लड़ के हार के मध्य में स्थित नील मणि की किरण रूप अङ्कुरों की सन्तति से जिनके सुन्दर वक्षःस्थल व्याप्त हो रहे थे ऐसे कोई देव ऐसे जान पड़ते थे मानों उनके हृदय में स्थित मोहरूपी अन्धकार निर्मल जिनभक्ति के द्वारा तत्काल दूर किया जा रहा हो ॥ ६६ ॥ गमनसम्बन्धी वेग से उत्पन्न वायु के द्वारा बड़ी दूर से खींचे हुए मेघ, आकाश में सब ओर शीघ्र ही उन देवों के पीछे-पीछे जा रहे थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानों विमानों में स्थित रत्नों से निर्मित इन्द्रधनुष की शोभा को ही वे ग्रहण करना चाहते थे ॥ ६७ ॥ नाना प्रकार के मणिमय आभूषण, वेष और वाहनों से सहित आते हुए उन देवों से जिसकी समस्त दिशाएं रुक गई थीं ऐसा आकाश उस समय लोगों के द्वारा आश्चर्य के साथ ऐसा देखा गया था मानों वह बिना दीवाल के किसी रचित सजीव चित्र को ही धारण कर रहा हो ॥ ६८ ॥

सिंहनाद से जिनकी अपनी सेनाएँ पीछे-पीछे चल रही थीं ऐसे चन्द्र आदि पाँच प्रकार के ज्योतिषी देव उस समय शीघ्र ही वहां आ गये थे और भवनों के मध्य में निवास करने वाले जो चमर आदि भवनवासी देव थे वे शङ्खों का शब्द सुनकर अपने सेवकों के साथ शीघ्र ही वहां आ मिले थे ॥ ६९ ॥ भेरी के शब्द से बुलाये हुए सेवकों के द्वारा जिन्होंने दिशाओं के अन्तराल को व्याप्त कर रक्खा है तथा अपने द्वारा धारण बाहुओं के वेग से चञ्चल कुण्डलों के मणियों की कान्ति से जिनके कपोल लिप्त हो रहे हैं ऐसे असुरों के इन्द्र उस अवसर में आ पहुंचे ॥ ७० ॥ उठकर खड़े हुए राजा सिद्धार्थ ने जिनका समाचार जाना था तथा जिनके मुकुट नमीभूत थे ऐसे उन इन्द्रों ने उस समय उत्सव से परिपूर्ण राजभवन में आकर माता के सामने स्थित मायानिर्मित जिनेन्द्र बालक को देखा ॥ ७१ ॥ तदनन्तर सौधर्मेन्द्र ने माता के आगे माया निर्मित बालक रखकर जन्माभिषेक की क्रिया के लिये अपनी कान्ति से देदीप्यमान जिन बालक को उठा लिया

---

१. सिद्धार्थनृपो ब० ।

शच्या धृतं करयुगेन समब्जभासा निन्ये सुरैरनुगतो नभसा सुरेन्द्रः ।
स्कन्धे निधाय शरदभ्रसमानमूर्तेरैरावतस्य मदगन्धहृतालिपङ्क्तेः ॥७३
उच्चण्डिमो दश नवाम्बुवनादमन्द्रस्तूर्यध्वनिः श्रुतिसुखः परमुच्चचार ।
तद्गर्जसंसि कलमप्रतिकिन्नरेन्द्रै-र्गानं नभस्यनुजगेऽनुगतत्रिमार्गम् ॥७४
चन्द्रांशुकुन्दहिमहारं धवलीकृताशं भूर्तं यशो विभु तदीयमिवोज्जिहानम् ।
ईशानकल्पपतिरुच्छ्रितमातपत्रं तस्य त्रिविष्टपपतेर्बिभरांबभूव ॥७५
पार्श्वस्थसानजनिविष्टसनत्कुमारमाहेन्द्रहस्तधृतचामररुद्धदिक्का ।
क्षीरार्णवौ स्वयमनुद्रुवतामिवेक्षुं दुग्धाब्धिना परिवृतेव जिनेश्वरं तम् ॥७६
उत्क्षेपकस्फटिकदर्पणतालवृन्तभृङ्गारदीप्तकलशादिकमङ्गलानि ।
तस्याग्रतः पटलिकागतकल्पवृक्षपुष्पस्रजश्च दधिरे सुरराजवध्वः ॥७७
वेगेन मन्दरमवापुरमा मनोभिश्चैत्यालयैरकृतकैः कृतभूरिशोभम् ।
अध्वश्रमं शलयता त्रिगुणान्वितेन तत्सानुजेन [1]मरुतो [2]मरुतोपगूढाः ॥७८
आसाद्य पाण्डुकवनं विबुधैर्नगस्य तस्यापि[3] पञ्चशतयोजनमात्रदीर्घा ।
दीर्घार्द्धविस्तृतिरयो युगयोजनोच्चा तैः पाण्डुकम्बलशिला शरदिन्दुपाण्डुः ॥७९

सो ठीक ही है क्योंकि किसी अन्य कार्य से विद्वान् भी न करने योग्य कार्य करता है ॥ ७२ ॥ इन्द्राणी जिसे कमल के समान कान्ति वाले दोनों हाथों से धारण किये हुए थे ऐसे जिन बालक को शरद् ऋतु के समान सफ़ेद शरीर के धारक तथा मद की गन्ध से भ्रमर समूह को आकृष्ट करने वाले ऐरावत हाथी के स्कन्ध पर रख कर देवों से अनुगत इन्द्र आकाश मार्ग से ले गया ॥ ७३ ॥ उस समय नूतन मेघ की गर्जना के समान गम्भीर तथा कानों को सुख देने वाला तुरही का शब्द दशों दिशाओं को व्याप्त करता हुआ सब ओर फैल रहा था तथा किन्नरों के इन्द्र आकाश में ऐसा गान गा रहे थे जो जिनेन्द्र भगवान् के यश को सूचित कर रहा था, मनोहर था, अनुपम था और द्रुत मध्य तथा विलम्बित इन तीन मार्गों से अनुगत था ॥ ७४ ॥ ईशानेन्द्र उन त्रिलोकीनाथ के ऊपर लगाये हुए उस छत्र को धारण कर रहा था जो चन्द्रबिम्ब की कान्ति को हरने वाला था, जिसने दिशाओं को सफेद कर दिया था और जो आकाश में ऊपर की ओर जाते हुए उनके मूर्तिक यश के समान जान पड़ता था ॥ ७५ ॥ दोनों ओर स्थित हाथियों पर आरूढ सानत्कुमार और माहेन्द्र के हाथों में धारण किये हुए चामरों से जिसकी दिशाएँ रुक गई थीं ऐसा आकाश उस समय ऐसा जान पड़ता था मानों उन जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक करने के लिये स्वयं पीछे-पीछे आते हुए क्षीरसमुद्र से ही घिरा हो ॥ ७६ ॥ भगवान् के आगे इन्द्राणियाँ, चमर स्फटिक का दर्पण, पङ्खा, झारी और उन्नत कलश आदि मङ्गल द्रव्यों तथा एक प्रकार की टोकनी में रखी हुई कल्प वृक्ष के फूलों की मालाओं को धारण कर रही थीं ॥ ७७ ॥

वे देव वेग से मनों को साथ अकृत्रिम चैत्यालयों से अत्यधिक सुशोभित सुमेरु पर्वतपर पहुँच गये। वहाँ उसके शिखर पर उत्पन्न शीत मन्द और सुगन्ध इन तीन गुणों से सहित, तथा मार्ग के श्रम को शिथिल करने वाली वायु ने उन देवों का आलिंगन किया ॥ ७८ ॥ देवों ने मेरुपर्वत

---

१. मरुतो देवाः । २. मरुता पवनेन । ३. अपि प्राप्ता ।

[illegible]

के पाण्डुकवन में जाकर वहां एक ऐसी पाण्डुकम्बला नामकी शिला प्राप्त की जो पांच सौ योजन लम्बी थी, लम्बाई से आधी अढ़ाई सौ योजन चौड़ी थी, चार योजन ऊँची थी तथा शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान सफेद थी* ॥ ७९ ॥ चन्द्रकला के समान आकार को धारण करने वाली उस पाण्डुकम्बला शिला पर जो पांच सौ योजन लम्बा तथा अढ़ाई सौ योजन चौड़ा और ऊँचा विशाल सिंहासन है उसपर जिनबालक को विराजमान कर देवों ने जन्माभिषेक की महिमा की ॥ ८० ॥ इन्द्रादिक देवों ने हर्ष पूर्वक क्षीर समुद्र से शीघ्र ही लाये हुए देदीप्यमान महामणिमय एक हजार आठ घटों में स्थित जल से उनका अभिषेक किया। अभिषेक के समय माङ्गलिक शङ्ख और भेरियों के शब्दों से दिशाएँ शब्दायमान हो रही थीं ॥ ८१ ॥ जिनेन्द्र भगवान् यद्यपि बालक थे तो भी नाक में प्रविष्ट हुए जल से जब उन्होंने निरन्तर छींक ली तब सुमेरु पर्वत काँप उठा। इस घटना से इन्द्र जोर्यतुण के समान एक साथ उनके चरणों में पड़ गये सो ठीक ही है क्यों कि तीर्थंकरों का अनन्त बल स्वभाव से ही उत्पन्न होता है ॥८२॥ तदनन्तर

---

१. इन्द्रादयस्तुत्य म० । *यहाँ ग्रन्थकर्ता ने पाण्डुकम्बला नामक शिला पर अभिषेक का वर्णन किया है परन्तु यह वर्णन अन्य ग्रन्थोंसे बाधित है। हरिवंश पुराण में लिखा है—दिशि चोत्तरपूर्वस्यां पाण्डुके पाण्डुका शिला। पाण्डुकम्बलया सार्धं रक्तया रक्तकम्बला ॥ ३४७ ॥ दिक्षु शक्रादि हैमी रजती तापनीयिका। लोहिताक्षमयी चार्द्ध चन्द्रार्काराश्च ताः शिलाः ॥ ३४८ ॥ अष्टोच्छ्राया: शतायामाः पञ्चाशद्विस्तृतास्च ताः। यत्रार्हन्तोऽभिषिच्यन्ते जम्बूद्वीपसमुद्भवाः ॥ ३४९ ॥ अर्थात् पाण्डुक वन की ऐशान आदि विदिशाओं में क्रम से पाण्डुक, पाण्डुकम्बला, रक्ता और रक्तकम्बला ये चार शिलायें हैं। ये शिलायें क्रम से सुवर्णमयी, रजतमयी, तप्तस्वर्णमयी और लोहिताक्षमणि मयी हैं एवं इनका आकार अर्धचन्द्र के समान है। ये शिलायें आठ योजन ऊँची, सौ योजन लम्बी और पचास योजन चौड़ी हैं। इन पर जम्बूद्वीप में उत्पन्न हुए तीर्थंकरों का अभिषेक होता है। सर्ग ५ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के उद्देश ४ गाथा १४८-१५० के आधार पर पाण्डुक शिला पर भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुए तीर्थंकरों का, पाण्डुकम्बला शिला पर पश्चिम विदेह के तीर्थंकरों का, रक्तकम्बला पर ऐरावत के तीर्थंकरों का और रक्ता पर पूर्व विदेह के तीर्थंकरों का जन्माभिषेक होता है। इस प्रकरण में ग्रन्थकर्ता ने शिला का जो प्रमाण बताया है वह भी अन्य ग्रन्थों से बाधित है।

अत्यद्भुतं विविधलक्षणलक्षिताङ्गं ज्ञानत्रयेण विमलेन विराजमानम् ।
बाल्योचितैर्मणिमयाभरणैर्विभूष्य भक्त्यामरास्तमिति तुष्टुवुरिष्टसिद्धये ॥८४
श्रीवीर यस्य वचो रुचिरं न ते स्याद् भव्यात्मनां क्वनु कुतो भुवि तत्त्वबोधः ।
तेजो विना दिनकरस्य विभातकाले पद्मा विकासमुपयान्ति किमात्मनैव ॥८५
अस्नेहसंयुतदशो जगदेकदीपश्चिन्तामणिः कठिनतारहितान्तरात्मा ।
अव्यालवृत्तिसहितो हरिचन्दनाघस्तेजोनिधिस्त्वमसि नाथ निराकृतोष्मा ॥८६
क्षीरोदफेनपटलावलिजालगौरं स्थित्वा नभस्यमृतरश्मिपदेन हृद्यम् ।
व्याप्तं मया किमदनाप्तमिदं क्षणेन निध्यायतीव जयघोष 'जगद्धवस्ते ॥८७
स्तुत्वा तमित्थथ सुराः पुनराशु गिर्युर्मेरोस्ततः कुसुमभूषितसन्नमेरोः ।
सौधाग्रबद्धकदलीध्वजरुद्धघर्मानं यानावतारसमयाग्रनगरं तविद्धम् ॥८८
पित्रोः सुतापगमजा भवतोरधार्तिर्माभूदिति प्रतिकृतिं तनयस्य कृत्वा ।
नीत्वामरास्त्रिमभिषिच्य भवत्सुतोऽय[2]मानीत इत्यभिनिवेद्य ययुः सुरास्तम् ॥८९

नम्रीभूत इन्द्र ने 'वीर' यह नाम रखकर उनके आगे अप्सराओं के साथ अत्यन्त सुन्दर नृत्य किया। नृत्य करते समय इन्द्र देव और धरणेन्द्रों के नयन युगल को सफल कर रहा था तथा उसका वह नृत्य साक्षात् समस्त रसों को प्रकट करने वाला था ॥ ८३ ॥

जो अत्यन्त आश्चर्य उत्पन्न कर रहे थे, जिनका शरीर नाना लक्षणों से सहित था तथा जो निर्मल तीन ज्ञानों से सुशोभित थे ऐसे जिन बालक को बाल्य अवस्था के योग्य मणिमय आभूषणों से विभूषित कर देव लोग भक्ति पूर्वक इष्ट सिद्धि के लिये उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥८४॥ हे वीर जिनेन्द्र ! यदि आपके मनोहर वचन न होते तो निश्चय से पृथिवी पर भव्य जीवों को तत्त्व ज्ञान कैसे होता ? प्रभात काल में सूर्य के तेज के बिना कमल क्या अपने आप ही विकास को प्राप्त होते हैं ? अर्थात् नहीं ॥ ८५ ॥ हे नाथ ! आप जगत् के अद्वितीय दीपक हैं परन्तु उसकी दशा—बत्ती तैल से सहित नहीं हैं (पक्ष में राग से रहित वीतराग दशा—अवस्था से सहित हैं)। आप चिन्तामणि हैं परन्तु आपकी अन्तरात्मा कठिनता से रहित है (पक्ष में आपकी आत्मा निर्दयता से रहित है) आप हरि चन्दन के वृक्ष हैं परन्तु साँपों के सद्भाव से सहित नहीं है (पक्ष में दयालु चेष्टा से सहित हैं) आप तेज के निधि हैं परन्तु ऊष्मा—गरमी को नष्ट करने वाले हैं (पक्ष में गर्व को दूर करने वाले हैं ॥ ८६ ॥ हे जगत्पते ! क्षीर समुद्र के फेन पटलों की पंक्तियों के समान सफेद आपका मनोहर यश चन्द्रमा के छल से आकाश में स्थित होकर क्षण भर के लिये मानों यह देख रहा है कि मैंने कितना जगत् व्याप्त किया है और कितना व्याप्त नहीं किया है ? ॥ ८७ ॥ तदनन्तर देव लोग इस प्रकार उनकी स्तुति कर उन्हें फूलों से विभूषित नमेरु वृक्षों से युक्त उस सुमेरु पर्वत से पुनः शीघ्र ही उस नगर को ले गये जो महलों के अग्रभाग में बँधी हुई कदली ध्वजाओं से व्याप्त था तथा विमानों के अवतार समय से देदीप्यमान था ॥ ८८ ॥ आप दोनों माता पिताओं को पुत्र के वियोग से उत्पन्न पीड़ा न हो इस विचार से पुत्र का प्रतिबिम्ब बनाकर हम

---

१. जगद्धवस्ते म० । २. भवत्सुतोऽय म० ।

दिव्याम्बराभरणगात्यविलेपनाद्यैः संपूज्य जातपतिं प्रियकारिणीं च ।
आवेद्य तद्भगवतोऽस्य बलं च नाम प्रीता ययुः स्वनिलयं त्रिदशाः प्रनृत्य ॥९०
तद्गर्भतः प्रतिदिनं स्वकुलस्य लक्ष्मीं दृष्ट्वा मुदा त्रिदशकल्पितमिव वर्द्धमानम् ।
सार्द्धं सुरैर्भगवतो दशमेऽह्नि तस्य श्रीवर्द्धमान इति नाम चकार राजा ॥९१
तस्यापरेद्युरथ चारणलब्धिपुत्तौ संजातसंशयपदार्थमुनी ।
तद्दीक्षणात्समधि निःसृतसंशयार्थौ तेनैव संमतिरितीह जगत्प्रसिद्धाम् ॥९२
शक्राज्ञया प्रतिदिनं धनदोऽनुरूपैः रत्नार्चं रश्मिजटिलैर्मणिभूषणैस्तम् ।
नाथो ववर्द्ध यदवेन्दुरनुज्वलश्री भव्यात्मनामतनुना प्रमदेन सार्द्धम् ॥९३
संप्राप्स्यते न पुनरेव वपुःस्वरूपं बाल्यं मया कृतिसंसृतिकारणत्वात् ।
तस्मादिमां सफलयामि दशामितीव मत्वामरैः सह जिनः पृथुकैः स रेमे ॥९४

मालभारिणी

वटवृक्षमथैकदा महान्तं सह डिम्भैरधिरुह्य वर्द्धमानम् ।
रममाणमुदीक्ष्य सङ्गमाख्यो विबुधस्त्रासयितुं समाससाद ॥९५
स विकृत्य फणासहस्रभीमं फणिरूपं तरसा वटस्य मूलम् ।
विटपैः सह वेष्टते स्म बालास्तमथालोक्य यथायथं निपेतुः ॥९६

लोग जिसे सुमेरु पर्वत पर ले गये थे ऐसा यह आपका पुत्र अभिषेक करने के बाद पुनः यहाँ लाया गया है—ऐसा निवेदन कर देवों ने वह पुत्र माता पिता के लिये दे दिया ॥ ८९ ॥ दिव्य वस्त्र आभरण माला और विलेपन आदि के द्वारा राजा सिद्धार्थ और प्रियकारिणी की पूजा कर तथा भगवान् के उस बल और नाम का निवेदन कर प्रसन्न चित्त देव अपने-अपने घर चले गये। घर जाने के पूर्व उन्होंने मनोहर नृत्य किया था ॥ ९० ॥ उनके गर्भ समय से लेकर चन्द्र कला के समान बढ़ती हुई अपने कुल की लक्ष्मी को हर्ष से देखकर राजा ने दसवें दिन देवों के साथ उन भगवान् का श्रीवर्द्धमान यह नाम रक्खा ॥ ९१ ॥ तदनन्तर किसी अन्य दिन उनके देखने से जिनका संशय पूर्ण अर्थ शीघ्र ही निकल गया था ऐसे चारण ऋद्धिधारी विजय और संजय नाम के मुनियों ने भगवान् का जगत् में सन्मति यह नाम विस्तृत किया ॥ ९२ ॥ इन्द्र की आज्ञा से कुबेर प्रतिदिन अनुरूप तथा किरणों से व्याप्त मणिमय आभूषणों से उनकी पूजा करता था। भगवान् शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान भव्य जीवों के बहुत भारी हर्ष के साथ बढ़ने लगे ॥ ९३ ॥ संसार के कारणों को नष्ट कर चुकने के कारण अब मेरे द्वारा पुनः शरीर स्वरूप बाल्य अवस्था प्राप्त नहीं की जावेगी इसलिये मैं इस बाल्य अवस्था को सफल करता हूँ ऐसा मानकर ही मानों वह जिनेन्द्र भगवान् देव बालकों के साथ क्रीड़ा करते थे ॥ ९४ ॥

तदनन्तर एक समय बालकों के साथ बड़े वट वृक्ष पर चढ़कर क्रीड़ा करते हुए वर्द्धमान जिनेन्द्र को भयभीत करने के लिये संगम नामका देव आया ॥ ९५ ॥ उस देव ने हजारों फणाओं से भयंकर साँप का रूप बनाकर शीघ्र ही शाखाओं के साथ वट वृक्ष के मूल भाग को वेष्टित कर लिया। साथ के बालक उस भयंकर साँप को देखकर जिस किसी तरह नीचे कूद पड़े ॥ ९६ ॥

चरणौ विनिवेश्य वीरमाता भगवान्मूर्धनि तस्य गोरिवाशुः ।
तदतोऽवततार वीतशङ्को भुवि वीरस्य हि नास्ति भीतिहेतुः ॥९७
अभवत्प्रणतया प्रहृष्टचेता त्रिदशस्तस्य निजं प्रकाशयं रूपम् ।
अभिषिच्य सुवर्णकुम्भतोयैः स महावीर इति व्यधत्त नाम ॥९८
अथ लब्धनवौवनः क्रमेण प्रतिपेदे नवयौवनं क्रियाः सः ।
भगवानिव जन्मजातपङ्कं विहन्तुं स्वयमभ्युद्यत एव वर्द्धमानः ॥९९
सहजैर्दशभिर्गुणैरुपेतं वपुरस्येव पुरः शरैस्तदीयम् ।
अभवद्रुचि सप्तहस्तमात्रं दधिकोणं नवकर्णिकारवर्णम् ॥१००
भगवानमरोपनीतभोगान्स निनायानुभवन्भवस्य हन्तुम् ।
त्रिगुणाब्दशवत्सरान्नवाब्जसुकुमाराङ्घ्रियुगः कुमार एव ॥१०१
अथ सन्मतिरेकदाऽनिमित्तं विषयेभ्यो भगवानभूद्विरक्तः ।
प्रशमाय सदा न बाह्यहेतुं विदितार्थस्थितिरीक्षते मुमुक्षुः ॥१०२
विमलावधिना निवृत्य[1] नाथः क्रमतोऽनीतभवानचिन्तयत्स्वान् ।
प्रकटीकृतवृत्तमुद्धतानामधितृप्तिं विषयेषु चेन्द्रियाणाम् ॥१०३

परन्तु वर्द्धमान जिनेन्द्र उस नागराज के मस्तक पर दोनों पैर रखकर निर्भय हो लीला पूर्वक वृक्ष से नीचे उतरे सो ठीक ही है क्योंकि पृथिवी पर वीर मनुष्य के लिये भय का कारण नहीं रहता है ॥ ९७ ॥ उनकी निर्भयता से प्रसन्न चित्त देव ने अपना रूप प्रकट किया तथा सुवर्ण कलश के जल से अभिषेक कर उनका महावीर यह नाम रक्खा ॥ ९८ ॥

तदनन्तर जिनका शैशव काल व्यतीत हो गया था ऐसे उन वर्द्धमान भगवान् ने क्रम-क्रम शोभा युक्त नवयौवन प्राप्त किया । उस समय वे ऐसे जान पड़ते थे मानों अपनी चपलता को नष्ट करने के लिये स्वयं ही उद्यत हुए हों ॥ ९९ ॥ पृथिवी पर उनका शरीर अस्वेद आदि जन्म जात दश अतिशयों से सहित था, सात हाथ ऊँचा था, कान्ति से व्याप्त था तथा नूतन कनेर के फूल के समान वर्ण वाला था ॥ १०० ॥ जो देवों के द्वारा लाये हुए भोगों का अनुभव करते थे, जो संसार का नाश करने वाले थे तथा जिनके चरण युगल नवीन कमल के समान सुकुमार थे ऐसे भगवान् ने कुमार अवस्था में ही तीस वर्ष व्यतीत कर दिये ॥ १०१ ॥

तत्पश्चात् एक समय भगवान् सन्मति किसी बाह्य कारण के बिना ही विषयों से विरक्त हो गये सो ठीक ही है क्योंकि पदार्थों की स्थिति को जानने वाला मुमुक्षु—मोक्षाभिलाषी प्राणी शान्ति प्राप्त करने के लिये सदा बाह्य कारण को नहीं देखता है ॥१०२॥ भगवान् ने निर्मल अवधि-ज्ञान के द्वारा एक साथ अपने अतीतभवों तथा उद्दण्ड इन्द्रियों की विषयों में होने वाली अतृप्ति का इस प्रकार चिन्तवन किया कि जिससे उन्हें पूर्वभवों का सब वृत्तान्त प्रकट हो गया अथवा वृत्त—चारित्र ग्रहण करने का भाव प्रकट हो गया ॥ १०३ ॥

---

1. निवृत्य ब० ।

प्रतिलोकनिर्मुक्तं मुखं भगवतस्तत्र लौकान्तिकानां दृष्टिसन्तोषम् ।
मुकुटाग्रविन्यस्तानञ्जलिपद्मकोशा विदधे कुमारी त्रिदशैः ॥१०४
मुकुलीकृतपल्लवकरां विनयेन[1] प्रणिपत्य तां मुमुक्षुम् ।
सुरसंहतिरित्युवाच वाचं मुदिता ज्ञानसमन्वयद्युतिस्तोः ॥१०५
परिनिष्क्रमणाय नाथ कालः कलितः कल्पतरोः फलाय ते ।
स्वयमुत्कतया समागमाय त्रिदशैर्दूतिरिवोपसर्पितेव सा ॥१०६
सहजेन ललन्तिकत्रयेण त्रिदशैर्दत्तविवेकलोचनेन ।
अवरैः परिबुद्धतत्त्वलेशैः[2] कथितं कार्यं विदुषः ॥१०७
तपसा सुनिरस्तघातिकर्मप्रकृतीः केवलमाप्य भास्वरात्मन् ।
प्रतिबोधय मुक्तसंसृतीच्छा भवतस्तत्त्वविदो हि मोक्षतत्त्वम् ॥१०८
अभिधाय गिरं प्रपल्लवाभिर्हि लौकान्तिकसंहतिर्व्यरंसीत् ।
भगवानपि निश्चिकाय मुक्तिं वचनं स्वावसरे हि याति सिद्धिम् ॥१०९
अथ देवगणाभ्युपेतपाणिस्त्रिदशैः कुण्डपुरे तदा स्वयम्भूः ।
[4]प्रविलोकनकौतुकानिमेषैः पुरनारीः स्वयमूचिरे सुरेभ्यः ॥११०

तदनन्तर हर्ष से संबोधने के लिये उसी समय लौकान्तिक देवों की पंक्ति विचित्र मुकुट राशियों से आकाश में बिना मेघ के ही इन्द्रधनुष की लक्ष्मी को प्रकट कर रही थी ॥ १०४ ॥ जिसने हस्त पल्लवों को कमल के मुकुलाकार कर लिया था ऐसी वह देवपंक्ति, विनय से उन मोक्षाभिलाषी भगवान् को प्रणाम कर उनके सम्मुख पूर्ण दृष्टिपात से प्रसन्न हो इस प्रकार के वचन कहने लगी ॥ १०५ ॥ हे नाथ ! दीक्षाग्रहण करने के योग्य यह काल कल्पवृक्ष के फलके समीप आई है सो ऐसा जान पड़ता है मानों समागम के लिये उत्सुकता वश तपोलक्ष्मी के द्वारा स्वयं भेजी हुई प्रिय दूती ही है ॥ १०६ ॥ हे स्वामिन् ! जो जन्म से ही उत्पन्न हुए निर्मल तीन ज्ञानों से सहित हैं ऐसे आपके लिये तत्त्व का थोड़ा सा अंश जानने वाले अन्य लोगों के द्वारा मोक्ष का उपदेश कैसे किया जा सकता है ? ॥ १०७ ॥ तप के द्वारा घातिया कर्मों की प्रकृतियों को नष्ट कर आप केवलज्ञान प्राप्त कीजिये तथा संसार वास के दुःखों से भयभीत चित्तवाले अन्य जीवों को मोक्ष का उपाय बताकर प्रतिबोध प्राप्त कराइये ॥ १०८ ॥ लौकान्तिक-देवों का समूह इस प्रकार के समयानुकूल वचन कहकर चुप हो रहा और भगवान् ने भी मुक्ति प्राप्त करने का निश्चय कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि वचन अपने अवसर पर ही सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ १०९ ॥ तदनन्तर चार निकाय के देव बड़े वेग से कुण्डपुर नगर में आ पहुँचे । वहाँ उस समय देवों के कौतूहल से निमेषरहित नेत्रों वाली नगर की स्त्रियों को उन देवों ने अपनी स्त्रियों की अपेक्षा से ही मानों देखा था । भावार्थ—देवागमन को देखने के कुतूहल से नगर की स्त्रियाँ निर्निमेष हो रही थीं इसलिये देवों ने उन्हें क्या ये हमारी देवांगनाएँ हैं ? इस अपेक्षा से देखा था ॥ ११० ॥

---

१. प्रणिपत्य ब० । २. परिबुद्धतत्त्वलेशैः ब० । ३. उपदेशः ब० । ४. प्रविलोकन ब० ।

स सुरैर्भगवान्कृतोरुपूजो विधिना पृष्टसमस्तबन्धुवर्गः ।
अभिवाह्यवनं ययौ मुमुक्षुश्चरणाभ्यां भवनात्यवानि सप्त ॥१११
वररत्नमयीं विभुप्रभाख्यां श्रियमाणां नभसि स्वयं सुरेन्द्रैः ।
शिबिकामधिरुह्य वीरनाथो निरगाद्भूव्यजनैः पुरात्परीतः ॥११२
भगवान्वनमेत्य नागखण्डं त्रिदशेन्द्रैरवतारितः स यानात् ।
अभिदृश्य इव स्वकीयपुण्ये स्फटिकाश्मन्यतिनिर्मले न्यसीदत् ॥११३
हृतकर्ममलानुदङ्मुखेन प्रणिपत्यैकधियाथ तेन सिद्धान् ।
ज्वलदाभरणोत्करः करास्यां प्रगटो राग इव स्वतो निरासे ॥११४
भुवि मार्गशिरस्य कृष्णपक्षे स दशम्यां प्रथितः श्रियाऽपराह्णे ।
परमार्यमणि स्थिते शशाङ्के कृतषष्ठे भगवांस्तपः प्रपेदे ॥११५
निबिडीकृतपञ्चमुष्टिलुप्तानलिनीलान्मणिभाजने निधाय ।
स्वयमेव शिरोरुहांस्तदीयान्निदधौ [1]क्षीरपयोनिधौ महेन्द्रः ॥११६
अभिवन्द्य तपःश्रिया समेतं विबुधास्ते प्रतिजग्मुरात्मधाम ।
जनताभिरयं स इत्युदक्षं क्षणमात्रं नभसीक्षिता[2] विचिन्त्य ॥११७

देवों ने जिनकी बहुत बड़ी पूजा की है तथा जिन्होंने विधि पूर्वक अपने समस्त बन्धु वर्ग से पूछ लिया है ऐसे मुमुक्षु भगवान्, भवन से सात डग पैदल ही बाह्य वन की ओर चले ॥ १११ ॥ तदनन्तर स्वयं इन्द्र जिसे आकाश में धारण कर रहे थे ऐसी उत्कृष्ट रत्नमयी चन्द्रप्रभा नाम की पालकी पर सवार होकर भव्यजीवों से घिरे हुए भगवान् वीर नाथ नगर से बाहर निकले ।॥ ११२ ॥ नागखण्ड वन में पहुँचने पर इन्द्रों ने जिन्हें पालकी से उतारा था ऐसे वे भगवान् अपने पुण्य के समान दर्शनीय स्फटिक की अत्यन्त निर्मल शिला पर बैठ गये ॥ ११३ ॥

तदनन्तर उन्होंने उत्तराभिमुख स्थित हो कर्मरूप मल को नष्ट करने वाले सिद्धभगवन्तों को एकाग्रचित्त से नमस्कार किया तथा देदीप्यमान आभूषणों के समूह को दोनों हाथों के द्वारा अपने शरीर से इस प्रकार पृथक् कर दिया मानों प्रकट राग को ही पृथक् किया हो ॥ ११४ ॥ पृथिवी पर लक्ष्मी से प्रसिद्ध भगवान् ने मार्गशीर्ष मास के कृष्णपक्ष की दशमी के दिन अपराह्ण काल में जब कि चन्द्रमा अर्यमा★—उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र पर स्थित था बेला का नियम लेकर तप ग्रहण कर लिया—दैगम्बरी दीक्षा धारण कर ली ॥ ११५ ॥ सुदृढ़ पञ्चमुष्टियों के द्वारा लोंचे हुए, भ्रमर के समान काले उनके केशों को मणिमय पिटारी में रखकर सौधर्मेन्द्र स्वयं ही क्षीर सागर में क्षेप आया ॥ ११६ ॥ वे देव तपोलक्ष्मी से युक्त भगवान् को नमस्कार कर अपने-अपने स्थान पर चले गये । जब वे देव आकाश में जा रहे थे तब जनता उन्हें ऊपर की ओर नेत्र उठा कर क्षण भर के लिये ऐसा विचारती हुई देख रही थी कि यह वह है यह वह है अर्थात् यह सौधर्मेन्द्र है, यह ऐशानेन्द्र है आदि ॥ ११७ ॥

---

१. क्षीरपयोधौ म० । २. नभसीक्षितो म० । ★ ज्योतिष में उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र का स्वामी अर्यमा बताया है । यहाँ स्वामी से उसके नक्षत्र का ग्रहण करना चाहिये । त्रैलोक्य प्रज्ञप्ति में भी भगवान् जन्म नक्षत्र उत्तरा फाल्गुनी लिखा है । उत्तर पुराण में हस्त और उत्तरा का मध्य भाग बतलाया है ।

अचिरादुपलब्धसप्तलब्धिः स [भग]वान्पर्ययबोधमभ्युपेत्य ।
रुरुचे वितमाः परं रजन्यामनवासेककलो यथा मृगाङ्कः ॥११८
अथ रेजुरनूनसत्त्वयुक्तो नभसो मध्यमधिष्ठिते पतङ्गे ।
उरुहर्म्यचयेन पारणार्थे विशता कूलपुरं विवेश वीरः ॥११९
भुवि कूल इति प्रसिद्धनामा नृपतिस्तत्पुरराजिपः स्वगेहम् ।
प्रविशन्तमवेक्षती निषण्णो भवकर्त्तं प्रतिपालितातिथिर्तम् ॥१२०
नवपुण्यविकीर्षया वरार्हां नवपुण्यक्रमवेदिनां वरीयान् ।
विधिनास्तमभोजयत्तदीयाद्गिरमासीद्भुवनाद्भिनोऽपि भूयस्या ॥१२१
अथ तस्य गृहाङ्गिरे नभस्तो मघुधारा निपपात पुष्पवृष्ट्या ।
सह दुन्दुभयोऽपि मन्द्रमन्द्रं दिवि नेदुस्त्रिदशैः प्रताडयमानाः ॥१२२
विकिरन्नवपारिजातगन्धं सुरभी कन्धयद्दः सुगन्धिताशम् ।
अतिविस्मितचेतसां सुराणां सहहोदानवधोभिरापुपूरे ॥१२३
इति दानफलेन स क्षितीशः सममापाद्भुतपञ्चकं सुरेभ्यः ।
यशसः सुखसम्पदां च हेतुर्गृहधर्माभिभुवां हि पात्रदानम् ॥१२४
अतिमुक्तकनामनि श्मशाने प्रतिमास्थं निशि नागसिद्ध जेतुम् ।
विविधैरुपसर्गनात्मविज्ञाविभवैस्तं विभवं भवो वितन्वन् ॥१२५

जिन्हें शीघ्र ही सात ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई थीं ऐसे वे भगवान् मनःपर्यय ज्ञान को प्राप्त कर अज्ञानान्धकार से रहित होते हुए उस तरह अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे जिस तरह कि रात्रि में अन्धकार से रहित तथा एक कला से न्यून चन्द्रमा सुशोभित होता है ॥ ११८ ॥ दूसरे दिन उत्कृष्टशक्ति से युक्त भगवान् महावीर ने, जब सूर्य आकाश के मध्य में स्थित था तब अर्थात् मध्याह्न काल में पारणा के लिये विशाल भवनों के समूह से व्याप्त कूलपुर नगर में प्रवेश किया ॥ ११९ ॥ पृथिवी पर जिसका 'कूल' यह नाम प्रसिद्ध था, तथा जो अतिथि की प्रतीक्षा कर रहा था ऐसे उस नगर के अधिपति अणुव्रती राजा ने अपने घर में प्रवेश करते हुए उन भगवान् को देखा ॥ १२० ॥ जो पृथिवी पर नवधा भक्ति के क्रम को जानने वालों में श्रेष्ठ था ऐसे उस राजा ने नवीन पुण्य बन्ध करने की इच्छा से उन भगवान् को भोजन कराया। भगवान् भी भोजन कर उसके घर से बाहर निकल गये ॥ १२१ ॥ उसी समय उसके गृहाङ्गण में आकाश से पुष्पवृष्टि के साथ रत्नों की धारा पड़ने लगी, आकाश में देवों के द्वारा ताडित दुन्दुभि बाजे भी गम्भीर शब्द करने लगे ॥ १२२ ॥ नूतन पारिजात की गन्ध को बिखेरने वाला पवन दिशाओं को सुगन्धित करता हुआ बहने लगा और जिनके चित्त बहुत भारी आश्चर्य से चकित हो रहे थे ऐसे देवों के 'अहो दानं अहो दानं' शब्दों ने आकाश को व्याप्त कर लिया ॥ १२३ ॥ इस प्रकार दान के फल स्वरूप उस राजा ने देवों से पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये सो ठीक ही है क्यों कि गृहस्थों के लिये पात्र दान यश और सुखसम्पदा का हेतु होता ही है ॥ १२४ ॥

एक बार वे रात्रि के समय अतिमुक्तक नाम के श्मशान में प्रतिमायोग से विराजमान थे।

---

१. कूल्यपुरं ब० ।

प्रविधत्य ततो भवाभिधानो जिननाथस्य चिराय कोटिकाख्याम् ।
स महातिवहादिरेव वीरः प्रथवादित्यभिधां व्यधत्त तस्य ॥१२६
परिहारविशुद्धिसंयमेन प्रकटं द्वादश वत्सरांस्तपस्यन् ।
स निनाय जगत्त्रयैकबन्धुर्भगवान् ज्ञातिकुलामलाम्बरेन्दुः ॥१२७

उपजातिः

अथर्जुकूलोच्छ्वसितानुकूलभाजं श्रीजृम्भकग्राममुपेत्य सम्यक् ।
षष्ठोपवासेन युतोऽपराह्णे सालस्य वृक्षास्य शिलातले च ॥१२८
वैशाखमासस्य विशुद्धपक्षे तिथौ दशम्यामुडुपेऽर्कमस्थे ।
स घातिकर्माणि जिनः प्रहृत्य ध्यानासिना केवलमाप बोधम् ॥१२९

हरिणी

अथ दशविधैरच्छायाद्यैर्गुणैः सहितं तदा
त्रिदशपतयो भक्त्या मेयुः समेत्य जिनेश्वरम् ।
विगतकरणं निर्ध्यायन्तं यथास्थिति सर्वदा
युगपदखिलं लोकालोकं स्वकेवलसम्पदा ॥१३०

भव नामक रुद्र ने अपनी नाना विद्याओं के विभव से उन पर उपसर्ग किये परन्तु वह संसार से रहित उन भगवान् को जीतने के लिये समर्थ नहीं हो सका ॥ १२५ ॥ तदनन्तर उस भव नामक रुद्र ने चिरकाल तक उन जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर यह 'महातिवीर हैं', 'महावीर हैं' इस तरह हर्ष से काशी नगरी में उनके नाम रक्खे ॥ १२६ ॥ तीनों जगत् के अद्वितीय बन्धु तथा ज्ञातिवंश रूपी निर्मल आकाश के चन्द्रमा स्वरूप उन भगवान् ने परिहारविशुद्धि संयम के साथ प्रकट तपस्या करते हुए बारह वर्ष व्यतीत किये ॥ १२७ ॥

तदनन्तर ऋजुकूला नदी के उन्नत तट पर स्थित श्री जृम्भक ग्राम को प्राप्तकर वे अच्छी तरह बेला के नियम से युक्त हो अपराह्णकाल में साल वृक्ष के नीचे शिलापर विराजमान हुए। वहाँ वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि में जब कि चन्द्रमा उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र पर स्थित था, ध्यानरूपी खड्ग के द्वारा घातिया कर्मों को नष्ट कर जिनेन्द्र भगवान् ने केवलज्ञान प्राप्त किया ॥ १२८—१२९ ॥ तदनन्तर उस समय जो अच्छाया—छाया नहीं पड़ना आदि दश प्रकार के अतिशयों से सहित थे तथा इन्द्रियों के बिना अपनी केवल ज्ञान रूप सम्पदा के द्वारा जो समस्त लोकालोक को एक साथ सदा सम्यक् प्रकार से जानते थे ऐसे उन वीर जिनेश्वर के पास जाकर इन्द्रों ने उन्हें भक्ति पूर्वक नमस्कार किया ॥ १३० ॥

इत्यसगकृते श्रीवर्द्धमानचरिते भगवतः केवलज्ञानोत्पत्तिर्नाम
सप्तदशः सर्गः

अष्टादशः सर्गः

मालिनी

अथ धनपतिरिन्द्राज्ञया स्वस्य भक्त्या
विविधवरविभूतिं तत्समवेशभूमेः ।
समवसरणभूमिं तत्र नानारत्न रचयां
बभिनतमवरागो किं न कार्यं विलोके ॥१

उपजातिः

ततो द्विषड्यो जनवारविस्तृतं क्रोशोनितं क्रोशचतुष्टयं रहोनतः ।
धरातलोत्सर्पिनभूरुदोषधः शनैः परीयान् द्विलतासु निर्मलः ॥२
स सिद्धरूपैः सहजैश्च चातुरनैर्महद्भिश्च विकल्पजातजम् ।
धूलिप्रकोटैर्भुवनत्रयोर्जितं ततः परैर्वीक्षुरनेकधाम् ॥३
ततः परान्यज्जनयोजनानि समवसरणानि सरांस्यनूनम् ।
वाप्यादुपान्तानि जनान्तरालं चत्वारि गव्यूतिमवन्ति ॥४

इस प्रकार असग कवि कृत श्रीवर्द्धमानचरित में भगवान् के केवल ज्ञान की उत्पत्ति का वर्णन करने वाला सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

अठारहवाँ सर्ग

अथानन्तर कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा और अपनी भक्ति से उसी समय उन भगवान् की नाना प्रकार की उत्कृष्ट विभूति से युक्त रमणीय समवसरण भूमि की इस प्रकार रचना की सो ठीक ही है क्योंकि देवों का कौन अभिमत—इष्ट कार्य तीन लोक में साध्य नहीं है ? अर्थात् सभी साध्य हैं ॥ १ ॥ तदनन्तर बारह योजन विस्तृत नीलमणिमय पृथिवी तल की चन्द्रमा के समान निर्मल धूलिशाल ने इस प्रकार घेर लिया जिस प्रकार कि क्षीरसमुद्र के आकाश प्रदेश की लहरें उसे सब ओर से घेर लेती हैं ॥ २ ॥ उस देवोन्नमित धूलिशाल के आगे सिद्ध रूप—सिद्ध प्रतिमाओं से सहित चार मान—स्तम्भ थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो महा विभवों का अन्त देखने के लिये पृथिवी पर आये हुए वृष्टि प्रदेश ही हों क्योंकि वृष्टि प्रदेश भी सिद्ध रूप—सिद्ध परमेष्ठियों की अवगाहना से युक्त होते हैं ॥ ३ ॥ उसके आगे स्वच्छ जल को धारण करने वाले कुछ कम दण्डों से सहित सरोवर थे और चार सरोवर के बीच वेदिका से युक्त—किनारों के अन्तराल के समान चार

---

१. बारह योजन विस्तृत समवसरण भगवान् ऋषभदेव का था। महावीर स्वामी का एक योजन ही विस्तृत था। यहाँ कवि ने सामान्य रूप से वर्णन किया है ऐसा जान पड़ता है।

रुचिरा

ततः परा विमलजलाम्बुजातिका सवेदिका विकचसिताम्बुजैश्चिता ।
सतारका सुरपदवी सुरैः समं व्यराजत स्वयमिव भूमिमागता ॥५

मालभारिणी

सुमनोन्वितमप्यपेतबोधं बहुपत्राकुलमप्यसैन्यमासीत् ।
विपरीतमपि प्रशंसिवल्लीवनमाभोगि ततः परं समन्तात् ॥६

प्रहर्षिणी

प्राकारः कनकमयस्ततः परोऽभूत्संयुक्तः सुरजतगोपुरैश्चतुर्भिः ।
आयातो भुवमचिरप्रभासमूहः स्थातुं वा चतुरमलाम्बुदैरुपेतः ॥७

शार्दूलविक्रीडितम्

प्राच्यां गोपुरमुच्छ्रितं विजयमित्यासीदभिख्यां दधद् ।
याम्यां यद्दिशि रत्नतोरणयुतं तद्वैजयन्ताभिधम् ।
वारुण्यां कदलीध्वजैरविकलैः कान्तं जयन्ताभिधं
कौबेर्यामपराजिताख्य[1]ममरैराकीर्णवेदीतटम् ॥८

वसन्ततिलकम्

तद्गोपुरोच्छ्रितिविराजिततोरणानां नेत्रापहारिविधिनोभयभागवर्ति ।
माङ्गल्यजातममलाङ्कुरजालरावि प्रत्येकमष्टशतमाविरभूद्विभूत्यै ॥९

पड़ते थे ॥ ४ ॥ उसके आगे निर्मल जल से सहित, वेदिका से युक्त तथा खिले हुए सफ़ेद कमलों से व्याप्त जल की परिखा थी जो ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों देवों के साथ स्वयं भूमि पर आई हुई ताराओं से सहित सुरपदवी—आकाश ही हो ॥ ५ ॥ उसके आगे चारों ओर घेर कर विस्तृत लता वन था जो सुमनोन्वित—विद्वानों से सहित होकर भी अपेतबोध—ज्ञान से रहित था (परिहार पक्ष में फूलों से सहित होकर भी ज्ञान से रहित था) बहुपत्राकुल—बहुत वाहनों से सहित होकर भी असैन्यसेना से रहित था (परिहारपक्ष में बहुत पत्तों से सहित होकर भी सेना से रहित था) और विपरीत—विरुद्ध आचार वाला होकर भी प्रशंसि-प्रशंसा से सहित था (परिहार पक्ष में पक्षियों से व्याप्त होकर भी प्रशंसा से सहित था) ॥ ६ ॥

उसके आगे चाँदी के चार गोपुरों से सहित सुवर्णमय प्रकार था जो ऐसा जान पड़ता था मानों चार सफेद मेघों से सहित बिजलियों का समूह पृथिवी पर निवास करने के लिये आ गया हो ॥ ७ ॥ पूर्व दिशा में जो ऊँचा गोपुर था वह 'विजय' इस नाम को धारण कर रहा था। दक्षिण दिशा में जो रत्नों के तोरणों से सहित गोपुर था वह 'वैजयन्त' नाम वाला था। पश्चिम दिशा में अखण्ड कदली ध्वजाओं से मनोहर जो गोपुर था वह 'जयन्त' नाम से सहित था और उत्तर दिशा में देवों के द्वारा व्याप्त वेदी तटों से सहित जो गोपुर था वह 'अपराजित' नाम वाला था ॥८॥ उन गोपुरों की ऊँचाई पर सुशोभित तोरणों के दोनों ओर वर्तमान, तथा नेत्रों का

---

१. ममरै म० ।

शार्दूलविक्रीडितः

तेषु व्यराजन्मणिविताननवष्टाहिरूप्यचामरविलम्बनादि ।
मुक्ताकलापान्तरितानि दृष्टेः कारागृहाणीनि निरीक्षकाणाम् ॥१०
तद्गोपुरान्तर्गतरत्नवीथीद्वितयान्तयोरुन्नतनाटयशाले ।
हे हे मृदङ्गध्वनिनेव भव्यान् द्रष्टुं विभातः स्म समाह्वयन्त्यौ ॥११

मुहर्षिणी

वीथीनामुभयविभागयोस्ततः स्युश्चत्वारि त्रिदशजनोपसेवितानि ।
पिण्डधालीविधमपल्लवाम्रपद्मैः कीर्णानि प्रमदवनान्यनुक्रमेण ॥१२

स्रग्धरा

कुर्वाणाः कर्णपूरश्रियमिव विटपैरायतैर्विम्बपूनां
चञ्चद्बालप्रवालैः प्रतिकृतिममलां धारयन्तो जिनानाम् ।
चत्वारो यागवृक्षाः प्रतिकुसुमजुषामुज्झितान्भोजखण्डैः
पिण्डधाद्यास्तेष्वभूवन्समदमधुकृतां मण्डलैर्मण्डयमानाः ॥१३

मन्दाक्रान्ता

तिस्रस्तिस्रो विमलसलिलास्तत्र वाप्यो विरेजु र्यूनस्त्र्यस्रप्रकटचतुररत्नाकृतीर्वारयन्त्यः ।
नन्दा कीर्णा कनककमलैर्नन्दवत्युत्पलौघै र्भद्राभीलैः स्फटिककुमुदैर्नाम नन्दोत्तरा च ॥१४

अपहरण करने वाली विधि से स्थापित प्रत्येक एक सौ आठ एक सौ आठ प्रकार के निर्मल अङ्कुर तथा चामर आदि मङ्गल द्रव्यों का समूह, भगवान् का वैभव प्रदर्शित करने के लिये प्रकट हुआ था ॥ ९ ॥ उन गोपुरों में, जिनके बीच-बीच में मोतियों के गुच्छे लगे हुए थे तथा जो दर्शकों की दृष्टि को कैद कर रहे थे ऐसे, मणिमय मालाएँ, घण्टा तथा सुवर्ण की जाली आदि लटकने वाले पदार्थ सुशोभित हो रहे थे ॥ १० ॥ उन गोपुरों के भीतर स्थित सुन्दर गली के दोनों पार्श्वभागों में दो-दो ऊँची नाट्य शालाएँ थीं जो मृदङ्गध्वनि से भव्यजीवों को दर्शन करने के लिये बुलाती हुई-सी सुशोभित हो रही थीं ॥ ११ ॥

उसके आगे चारों दिशाओं में चार वीथियाँ हैं उन वीथियों के दोनों भागों में देवों से उपसेवित चार प्रमदवन थे जो अनुक्रम से अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्रवृक्षों से व्याप्त थे ॥१२॥ उन प्रमदवन में अशोक आदि चार चैत्यवृक्ष थे। वे चैत्यवृक्ष नये-नये पल्लवों से सुशोभित लम्बी शाखाओं के द्वारा मानों दिशारूपी स्त्रियों के कर्णाभरण की शोभा को सम्पन्न कर रहे थे, जिनेन्द्र भगवान् की निर्मल प्रतिमाओं को धारण कर रहे थे, तथा कमलवन को छोड़कर प्रत्येक पुष्प पर बैठे हुए मदमाते भ्रमरों के समूह से सुशोभित हो रहे थे ॥ १३ ॥ उन वनों में निर्मल जल से भरी हुई तीन-तीन वापिकाएँ थीं जो गोल त्रिकोण और चतुष्कोण आकृति को धारण करती थीं। नन्दा,

---

१. चतुरस्राकृती म० ।

शार्दूलविक्रीडितम्

प्रासादा मणिमण्डपा बहुविधा वारागृहश्रेणय-
स्त्वक्षान्दोलनसभागृहाः सुघटिता मुक्तशिलापट्टकाः ।
क्रीडापर्वतकाः सुरासुरविताससत्रैव रेजुर्वृता
कूजन्मत्त शिखण्डिमण्डलकृतारावैर्लतामण्डपैः ॥१५

वंशस्थम्

वनाग्रतो वज्रमयी नभस्तले प्रसारितानल्पलसत्प्रभाप्रभा ।
बभूव वेदी निजरश्मिसम्पदा युता चतुर्भिर्वररत्नतोरणैः ॥१६
मयूरमाल्याम्बरहंसकेसरिद्विपोक्षताश्वर्याम्बुजचक्रलाञ्छनाः ।
ध्वजा दशैकोत्तरमभ्रुलग्नसाहसं शतं सुवीथीरभितस्ततः परे ॥१७

शार्दूलविक्रीडितम्

एकस्यां विशि नेतवः सुरनदीवत्कल्लोलभङ्गा इव
क्रान्ताम्भोदपथाः सहस्रमभवन्नाशीति वीध्रस्विषः ।
ते सर्वेऽपि चतुर्विगन्तरगतास्त्वेकत्र पिण्डीकृता-
विंशत्या च चतुःसहस्रमपरैर्युक्तं शतैश्च त्रिभिः ॥१८

वंशस्थम्

ततः परो हेममयः स्फुरत्प्रभो बभूव शालोऽम्बुजरागगोपुरैः ।
चतुर्महाद्वारयुतैः सचन्द्रितं विडम्बयन्नैशिकविद्युतां चयम् ॥१९

नन्दवती और नन्दोत्तरा उनके नाम थे। उनमें नन्दा स्वर्ण कमलों से, नन्दवती मेघ के समान नील वर्ण के धारक नील कमलों के समूह से और नन्दोत्तरा स्फटिक के समान सफेद कुमुदों से व्याप्त थी ॥ १४ ॥ उन्हीं वनों में महल, मणिमण्डप, नाना प्रकार के फव्वारों की पंक्तियाँ, चक्राकार झूले, हिंडोलना, सभागृह, मोतियों की शिलापट्ट, सुर-असुरों से व्याप्त, तथा शब्द करते हुए मयूरों के समूह से जिनका प्रान्तभाग घिरा हुआ था ऐसे लता-मण्डपों से वेष्टित क्रीडा पर्वत सुशोभित हो रहे थे ॥ १५ ॥

वनों के आगे वज्रमयी वेदिका थी जो अपनी किरण रूपी सम्पदा के द्वारा आकाश में इन्द्रधनुषों के समूह को फैला रही थी, तथा चार उत्कृष्ट रत्नमय तोरणों से सहित थी ॥ १६ ॥ वेदिका के आगे सुन्दर वीथियों के दोनों ओर मयूर, माला, वस्त्र, हंस, सिंह, हाथी, बैल, गरुड़, कमल और चक्र इन दश चिह्नों से सहित एक सौ आठ एक सौ आठ ध्वजाएँ थीं ॥ १७ ॥ जो अङ्गण नदी की तरङ्ग सन्तति के समान थी, जिन्होंने आकाश को व्याप्त कर रक्खा था तथा जिनकी उत्तम कान्ति थी ऐसी वे ध्वजाएँ एक दिशा में एक हजार अस्सी थीं। चारों दिशाओं की सब ध्वजाएँ एक जगह एकत्रित करने पर चार हजार तीन सौ बीस होती थीं ॥ १८ ॥ ध्वजाओं के आगे देदीप्यमान कान्ति से युक्त सुवर्णसाल—सोने का कोट था जो कि पद्मराग मणि निर्मित गोपुरों से सहित था

उपजातिः

तद्गोपुरेषु प्रतिमान्तरालभाजूपध्वजस्तूपि घटादिकानि ।
ततः परौ हारिमृदङ्गशब्दौ द्वौद्वौ मनोज्ञौ वरनाटयगेहौ ॥२०

वसन्ततिलकम्

तेभ्यः पराक्तनतोऽपि चलत्पुरश्री द्वौद्वौ स्थितौ सुरनिषूपवनूपपृष्ठौ ।
तंरेजतुः कनकधूपघटौ मनोज्ञौ नीलाभ्रजालपिहिताविव हेमशैलौ ॥२१

उपजातिः

तत्रैव कल्पेशवरसेवितानि कल्पद्रुमाणामभवन्वनानि ।
चतुर्महाशास्थितसिद्धकल्पसिद्धार्थभूपालिभृतामकानि ॥२२

वंशस्थम्

ततः परास्तीव्रसुवर्णगोपुरैर्विराजमानोत्पलवज्रवेदिका ।
अधित्यकानीव सुरैर्निवेशिता पराक्तनाद्रेरिव तत्र विस्तृता ॥२३

मालभारिणी

दश दश वररत्नतोरणानि द्युतिविधितानि ततः पराण्यभूवन् ।
सुरतरुकुसुमाम्बरवर्णैविरचितबन्धनमालिकां वहन्ति[1] ॥२४

और सन्ध्या काल सम्बन्धी चार महामेघों से सहित समस्त बिजलियों के समूह को विडम्बित कर रहा था ॥ १९ ॥ उन गोपुरों पर घटादिक प्रसिद्ध मङ्गलक द्रव्य सुशोभित हो रहे थे। उनके आगे मृदङ्गों के मनोहर शब्दों से सहित दो-दो उत्तम नाटक गृह थे ॥ २० ॥

उनके आगे मार्गों के दोनों ओर स्थित, सुगन्धित धूप से उत्पन्न धूम से संयुक्त, बृहदाकार तथा मनोहर दो-दो सुवर्णमय धूप घट सुशोभित हो रहे थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो काले-काले मेघों से आच्छादित सुवर्णमय पर्वत ही हों ॥ २१ ॥ वहीं पर इन्द्रों के द्वारा सेवित कल्प वृक्षों के वन थे जिनके नाम चार महाविद्याओं में स्थित सिद्ध प्रतिमाओं से युक्त सिद्धार्थ वृक्षों—चैत्य वृक्षों के अनुरूप थे ॥ २२ ॥ उसके आगे चार ऊँचे-ऊँचे गोपुरों से सुशोभित नीलमणिमय वज्रवेदिका थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानो देवों के द्वारा वहाँ लाकर रक्खी हुई अस्ताचल गिरि की सबसे चौड़ी उत्कृष्ट अधित्यका—उपरिम भूमि ही हो ॥ २३ ॥ उसके आगे कान्ति से आठ-आठ उत्कृष्ट रत्नमय तोरण थे जो कल्पवृक्षों के फूल, प्रवाल तथा पत्तों से निर्मित बन्दनमालाओं को धारण कर रहे थे ॥ २४ ॥ उन्हीं उत्कृष्ट रत्नमय तोरणों से अन्तरित अर्थात् उनके बीच-बीच में

---

१. वहन्ति ग० ।

शार्दूलविक्रीडितम्

तैरेवान्तरिता बभुर्नवनवस्तूपाः पदार्था इव
प्रादुर्भावमुपागता जिनपतिं द्रष्टुं तदा कौतुकात् ।
सिद्धानां प्रतियातनाञ्चिततया चन्द्रातपश्रीमुषः
पिण्डीभूय भुवि स्थिता इव पृथक् मुक्त्येकदेशा इव ॥२५

मालभारिणी

विविधानि समन्ततश्च तेषां पृथुकूटानि सभागृहाणि रेजुः ।
ऋषिमुन्यनगारसेवितानि ध्वजमालाविरलीकृतातपानि ॥२६

प्रहर्षिणी

आकाशस्फटिकमयस्ततःपरोऽभूत्प्राकारो हरिमणिगोपुरस्तृतीयः ।
मूर्तत्वं स्वयमुपगम्य वायुमार्गः संद्रष्टुं जिनमहिमामिवागतः क्षमाम् ॥२७

उपजातिः

तद्गोपुराणां गगनाग्रभाजां द्विपार्श्वयोः [1]संनिहितानिरेजुः ।
माङ्गल्यवस्तूनि विचित्ररत्नैर्विनिर्मितान्यद्भुतदर्शनानि ॥२८

शार्दूलविक्रीडितम्

तन्मध्ये रुचिरं त्रिभङ्गसहितं पीठं मनोज्ञं बभा-
वाशालात्प्रसृताः प्रदक्षिणमहापीठस्पृशो वेदिकाः ।
आकाशस्फटिकैः परस्परपृथग्भूताः कृता भासुरै-
रासन्नावशभिर्गणैः सविनयैरध्यास्यमाना मुदा ॥२९

स्थित नौ-नौ स्तूप सुशोभित हो रहे थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानों उस समय जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन करने के कौतुक से प्रकट हुए नौ पदार्थ ही थे। वे स्तूप चाँदनी की शोभा को अपहृत करते थे—श्वेत वर्ण के थे और सिद्धों की प्रतिमाओं से युक्त होने के कारण ऐसे प्रतीत होते थे मानों इकट्ठे होकर पृथिवी पर स्थित हुए पृथक्-पृथक् मुक्ति के एक देश ही हों ॥ २५ ॥

उन स्तूपों के चारों ओर ऐसे सभागृह सुशोभित हो रहे थे जिनके शिखर बहुत विस्तृत थे, ऋषि, मुनि और अनगार जिनकी सेवा करते थे—ऋषि मुनि अनगार जिनमें बैठकर धर्म्य-ध्यान करते थे तथा ध्वजाओं की पंक्ति से जिन्होंने आतप—घाम को विरल कर दिया था ॥२६॥ उनके आगे इन्द्रनील मणियों के जिसमें गोपुर बने हुए थे ऐसा आकाश स्फटिक मणिमय तीसरा प्राकार था वह प्राकार ऐसा जान पड़ता था मानों जिनेन्द्र भगवान् की महिमा को देखने के लिये स्वयं आकाश मूर्त रूप को प्राप्त हो पृथिवी पर आ गया हो ॥ २७ ॥ उन गगनचुम्बी गोपुरों के दोनों ओर रखे हुए, नाना प्रकार के रत्नों से निर्मित दर्पण तथा कलश आदि मङ्गल द्रव्य सुशोभित हो रहे थे ॥ २८ ॥ उनके मध्य में देदीप्यमान, तीन कटनियों से सहित, मनोहर पीठ सुशोभित हो रहा था। उस पीठ के चारों ओर कोट से लेकर विस्तृत, प्रदक्षिणा रूप से महापीठ का-

---

१. सन्निहिता विरेजुः म० ।

वसन्ततिलकम्

तासामुपर्यनुपमद्युतिभासुरस्तम्भैर्धृतो विविधरत्नमयो बभूव ।
श्रीमण्डपो मधुपमण्डलमण्डयमानः प्रोत्फुल्लहेमकमलैर्विहितोपहारः ॥३०

उपजातिः

चतुर्महादिक्षुधृतानि यक्षैश्चत्वारि मूर्ध्ना मुकुटोज्ज्वलेन ।
सदाप्यपीठे सह धर्मचक्राण्यात्मांशभूतैर्विनिमङ्गलौघैः ॥३१

वसन्ततिलकम्

हैमे द्वितीयमणिपीठतले विरेजुरष्टौ ध्वजाः प्रविमला हरिदष्टकल्याः ।
चक्रद्विपोक्षकमलाम्बरहंसतार्क्ष्य मालाश्चिह्नता विविधरत्नविनद्धदण्डाः ॥३२

उपजातिः

रराज चूडामणिवत्त्रिलोक्याश्चतुर्थपीठे भगवन्निवासः ।
मनोहरो गन्धकुटीविमानः सर्वार्थसिद्धौद्धविमानलीलः ॥३३
तस्थौ स तस्मिंस्त्रिजगत्प्रतीक्ष्यः प्रतीक्ष्यमाणामलवाग् जिनेन्द्रः ।
विबन्धनो भव्यजनैरुपेतैः सुगन्धिगन्धाम्बुभिरर्चितान्ते ॥३४

वसन्ततिलकम्

तस्थुर्यतीन्द्रविबुधप्रमदार्यिकाश्च ज्योतिष्ककल्पभवनामरवामनेत्राः ।
तं भावना वनसुरा ग्रहकल्पजाश्च मर्त्याः प्रदक्षिणमुपेत्य मृगाः क्रमेण ॥३५

स्पर्श करने वाली वेदिकाएँ थीं। वे वेदिकाएँ देदीप्यमान आकाश स्फटिक मणि से निर्मित थीं परस्पर पृथक्-पृथक् थीं और विनय सहित बारह गण उन पर हर्ष से बैठे हुए थे ॥ २९ ॥ उन वेदिकाओं के ऊपर अनुपम कान्ति वाले सुवर्णमय स्तम्भों से धारण किया हुआ, नाना प्रकार के रत्नों से निर्मित, भ्रमर समूह से सुशोभित तथा खिले हुए सुवर्ण कमलों के उपहार से युक्त श्री मण्डप था ॥ ३० ॥ पहली कटनी पर चारों महादिशाओं में यक्षों द्वारा मुकुटों से उज्ज्वल मस्तक से धारण किये हुए चार धर्म चक्र, मणिमय मङ्गल द्रव्यों के साथ रखे हुए थे ॥ ३१ ॥

सुवर्ण से निर्मित तथा मणियों से जटित दूसरी कटनी पर, जो अत्यन्त निर्मल थी, आठ दिशाओं में स्थित थी, चक्र, गज, बैल, कमल, वस्त्र, हंस, गरुड़ और माला से चिह्नित थी तथा जिनके दण्ड नाना प्रकार के रत्नों से खचित थे, ऐसी आठ ध्वजाएँ सुशोभित हो रही थीं ॥ ३२ ॥ तीसरी कटनी पर गन्धकुटी नाम का वह विमान सुशोभित हो रहा था जो तीन लोक के चूड़ामणि के समान था, जिसपर भगवान् का निवास था, जो मनोहर था और जिसकी शोभा सर्वार्थ सिद्धि के देदीप्यमान विमान के समान थी ॥ ३३ ॥ समीप में आये हुए भव्य जनों द्वारा सुगन्धित जल से जिसका निकटवर्ती भाग सींचा गया था ऐसे उस गन्धकुटी विमान में वे जिनेन्द्र भगवान् स्थित थे जो तीनों जगत् के द्वारा पूज्य थे, जिनके निर्मल वचनों की प्रतीक्षा की जा रही थी तथा जो कर्मबन्ध से रहित थे ॥ ३४ ॥ भगवान् को प्रदक्षिणा देकर क्रम से मुनीन्द्र, कल्पवासिनी देवियाँ,

उपजातिः

अनुक्रमाद्दिव्यनरप्रभेदाद्द्विधाद्विधानूनगणप्रभेदाः ।
तीर्थप्रणामाकर 'वप्रभाट्कजात्यत्परीतपीठान्तगता बभूवुः ॥३६
त्रिशालवर्योन्नतरत्नगोपुरे श्रीद्वारपाला वरहेमवेत्राः ।
आसन्यथासंख्यमुदारवेषा वन्यामरा भावनकल्पजाश्च ॥३७
आद्यस्य शालस्य मनोज्ञमानस्तम्भस्य संख्यानविधांवरा ये ।
त्वन्तरं विभ्रमविभूतियुक्तं तैर्योजनस्यार्द्धमिति प्रणीतम् ॥३८
आद्यस्य शालस्य मनोहरस्य द्वितीयशालस्य च मध्यमाहुः ।
त्रियोजनं कल्पनगावलीविविराजमानस्य जिनागमज्ञाः ॥३९
द्वितीयशालस्य विचित्ररत्नप्रभावलीसारितभानुभासः ।
तृतीयशालस्य मुनिप्रधाना द्वियोजनं चान्तरमित्युशन्ति ॥४०

वंशस्थम्

तृतीयशालस्य विचित्रकेतनैर्निरन्तरेवस्थगितेवायुवर्त्मनः ।
द्विधारिपीठस्य च कीर्तितं बुधैः स्फुरत्प्रभत्वान्तरमर्धयोजनम् ॥४१

उपजातिः

अनूनकान्तेर्जिनसंनिधानदेशस्य शीतांशुसमूपणस्य ।
अभ्यन्तरं रत्नविराजमानस्तम्भस्य षड्योजनमाहुरार्याः ॥४२

आर्यिकाएं, ज्योतिष्क देवों की देवियां, व्यन्तर देवों की देवियां, भवनवासी देवों की देवियां, भवनवासी देव, व्यन्तर देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और पशु आकर क्रम से बैठे हुए थे ॥ ३५ ॥ चारों महादिशाओं के वलय भेद से विस्तृत गणों के भी बारह भेद थे अर्थात् चारों दिशाओं में वलयाकार बारह सभाएँ थीं। उन सभी सभाओं में देदीप्यमान, प्रदक्षिणा रूप से स्थित, तथा सिंहासन के अन्त तक गई हुई सोलह-सोलह सीढ़ियों की पंक्तियाँ थीं ॥ ३६ ॥ तीन कोटों के उत्कृष्ट तथा उन्नत रत्नमय गोपुरों पर क्रम से व्यन्तर, भवनवासी और कल्पवासी देव द्वारपाल थे जो सुवर्ण का बेंत लिये हुए थे तथा उत्कृष्ट वेष के धारक थे ॥ ३७ ॥

जो गणितज्ञ मनुष्यों में अत्यन्त श्रेष्ठ थे उन्होंने प्रथम कोट और सुन्दर मानस्तम्भ का समीचीन अन्तर जो कि नाना प्रकार की विभूति से युक्त था आधा योजन का ऐसा कहा है ॥३८॥ जिनागम के ज्ञाता पुरुषों ने मनोहर तथा कल्प वृक्षों की पंक्ति से सुशोभित पहले और दूसरे कोट का मध्य—बीच का अन्तर तीन योजन कहा है ॥ ३९ ॥ नाना प्रकार के रत्नों की प्रभा पंक्ति से सूर्य की दीप्ति को दूर हटाने वाले दूसरे और तीसरे कोट का अन्तर दो योजन का ऐसा आचार्य कहते हैं ॥ ४० ॥ निरन्तर लगी हुई नाना प्रकार की पताकाओं से आकाश को आच्छादित करने वाले तीसरे कोट और देदीप्यमान प्रभा से युक्त सिंहासन का अन्तर विद्वानों ने आधा योजन कहा है ॥ ४१ ॥ अत्यधिक कान्ति से युक्त, तथा पृथिवीतल के आभूषणस्वरूप गन्धकुटी और रत्नों से

---

१. वप्रभाट्क ब० ।

शार्दूलविक्रीडितम्

इति धाम जिनाधिपस्य तदनोर्बभ्रामयोजनं चतुरात्।
अमरेन्द्रफणीन्द्रभूमिपालैरपरं कीर्णमिवान्तरं त्रिलोक्याः ॥४३

शार्दूलविक्रीडितम्

यौघ्नी वृष्टिरनूहृता मधुकरैः श्वेतीकृताशाननात्
तस्याग्रे ननभोऽवतेव दिवसाद् व्योम्नः पपातम्बरात्।
संग्रष्टुं तदिवाह्वयन् जिनपतिं भव्यांस्त्रिलोकीगतान्
त्रैलोक्योदरसंगमो धृतिसुखः खे दुन्दुभीनां ध्वनिः ॥४४
क्रान्ताम्भोदपथैरनेकविटपैर्व्याप्तदिशां[1] चान्तरं
नानापुष्पनवप्रकाशसुभगो मूर्तः स्वयं वा मधुः।
एकीभूय कुरुद्रुमोत्कर इव द्रष्टुं तमभ्यागतो
रक्ताशोकतरुः सुराञ्चिततलोऽप्यासीत्पवित्रः परम् ॥४५
चक्रीकृत्य सुरैरधुंपरि धृता क्षीराम्बुराशेः पयो
विन्यस्तं गगने त्रिधा परिमितं स्वस्य प्रभाव्याप्तये।
तस्येन्वुद्युतिशुभ्रमभ्यविरतं मध्योधरागावहं
त्रैलोक्येशसुलाञ्छनं भगवतश्छत्रत्रयं विद्युते ॥४६

सुशोभित मानस्तम्भ का अन्तर छह योजन था ऐसा आर्षपुरुष कहते हैं॥ ४२ ॥ इस प्रकार उन जिनेन्द्र भगवान् का वह समवसरण दोनों ओर—पूर्व पश्चिम और उत्तर दक्षिण बारह योजन प्रमाण था तथा देवेन्द्र, नागेन्द्र और नरेन्द्रों से व्याप्त वह समवसरण ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों तीन लोक का दूसरा ही भव्य हो॥ ४३ ॥

भ्रमर जिसका अनुसरण कर रहे थे, जिसने दिशाओं के मुख को सफेद कर दिया था और जो अन्धकार के कणों से सहित दिन में प्रकट हुई चाँदनी के समान जान पड़ती थी ऐसी पुष्प वृष्टि उन भगवान् के आगे आकाश से पड़ रही थी। जो उन जिनेन्द्र के दर्शन करने के लिये त्रिलोकस्थित भव्यजीवों को मानों बुला रहा था ऐसा आकाश में बजने वाले दुन्दुभी बाजोंका धृति सुखद शब्द तीनों लोकों के मध्य में व्याप्त हो गया था॥४४॥ आकाश को व्याप्त करने वाली अनेक शाखाओं से जो दिशाओं के अन्तराल को रोक रहा था, जो नाना प्रकार के पुष्प तथा नवीन पल्लवों से सुन्दर था तथा ऐसा जान पड़ता था मानों स्वयं मूर्तिधारी वसन्त ही हो अथवा उन भगवान् के दर्शन करने के लिये एकरूप रखकर आया हुआ कुरुद्रुमों—उत्तरकुरुभूमि के कल्पवृक्षों का समूह ही हो ऐसा लाल अशोक वृक्ष वहाँ था। वह अशोक वृक्ष सुराञ्चिततल—मदिरा से सुशोभिततल वाला होता हुआ भी पवित्र था यह विरुद्ध बात थी। (परिहार पक्ष में जिसका तल—नीचे का भूमितल सुराञ्चित देवों से सुशोभित होने पर भी पवित्र था॥ ४५ ॥ जो चन्द्रमा

---

१. अन्तरं ब० ।

धुन्वानाविव दृश्यतामुपगतौ ज्योत्स्नातरङ्गौ दिवा
यक्षौ तं विमलप्रकीर्णकपदेनासेविषाताम् प्रभुम् ।
यस्मिन्पश्यति रत्नदर्पण इव स्वातीतजन्मावलीं
भव्यौघस्तदनुत्तरीयवपुषो भामण्डलं मण्डनम् ॥४७
नानापत्रलताञ्चितं वनमिव व्याजृम्भमाणानवै-
र्युक्तं केशरिभिः सरत्नमकरं वाणेव वारां परम् ।
तुङ्गं हेममयं सुरासुरजनैः संसेव्यमानं सदा
मेरोः शृङ्गमिवासनं जिनपतेस्तस्थौ भवद्भासुरम् ॥४८

उपजातिः

अजायमानेऽथ पतिः सुराणां दिव्यध्वनौ तस्य जिनेश्वरस्य ।
आनेतुमात्मावधिदर्शितो यस्तं गौतमग्राममगाद्गणेशम् ॥४९

वसन्ततिलकम्

तत्र स्थितं जगति गौतमगोत्रमुख्यं विप्रं धिया विमलया प्रथितं च कीर्त्या ।
इन्द्रस्ततो जिनवरान्तिकमिन्द्रभूतिं वादच्छलेन बटुवेषभृदाविनाय ॥५०

की कान्ति के समान सफ़ेद होकर भी भव्यजीवों के समूह को रागावह—लालिमा को उत्पन्न करने वाला था (परिहार पक्ष में भव्यजीवों के समूह को रागावह–प्रेम उत्पन्न करने वाला था) तथा उनके त्रिलोकीनाथ होने का उत्तम चिह्न था ऐसा उन भगवान् का छत्रत्रय इस प्रकार देदीप्यमान हो रहा था मानों देवलोग क्षीरसागर के जिस जल को चक्राकार करके ऊपर ले गये थे वह अपनी प्रभा की ख्याति के लिये तीन रूप रख कर वहीं आकाश में मानों स्थित हो गया हो ॥ ४६ ॥ जो दिन में दिखाई देने वाली चाँदनी की दो तरङ्गों के समान जान पड़ते थे ऐसे ढोरते हुए दो यक्ष, निर्मल चमरों के छल से उन भगवान् की सेवा करते थे तथा भव्यजीवों का समूह रत्नमय दर्पण के समान जिसमें अपने अतीत जन्मों के समूह को देखता था ऐसा उनके शरीर का आभूषणस्वरूप भामण्डल था ॥ ४७ ॥ जो वन के समान नाना पत्रलताओं (पक्ष में अनेक बेल-बूटों) से सहित था, जो खुले हुए मुखों से युक्त सिंहों से सहित था (पक्ष में जो सिंहाकार पायों से सहित था) रत्न और मकरों से सहित होने के कारण जो दूसरे समुद्र के समान था, ऊँचा था, सुवर्णमय था, सुर-असुर जनों के द्वारा जिसकी सेवा की जा रही थी तथा जो सुमेरु पर्वत की शिखर के समान जान पड़ता था ऐसा उन जिनेन्द्र भगवान् का देदीप्यमान सिंहासन था ॥ ४८ ॥

तदनन्तर जब उन जिनेन्द्र भगवान् की दिव्यध्वनि नहीं खिरी तब इन्द्र अपने अवधि ज्ञान के द्वारा दिखाये हुए गणधर को लाने के लिये गौतम ग्राम गया ॥ ४९ ॥ तत्पश्चात् वहाँ रहने वाले, गौतम गोत्र के प्रमुख तथा निर्मल बुद्धि और कीर्ति के द्वारा जगत् में प्रसिद्ध इन्द्रभूति ब्राह्मण को, छात्र का वेष रखने वाला इन्द्र, वाद के छल से जिनेन्द्र भगवान् के समीप ले आया

द्रुतविलम्बितम्

मानस्तम्भविलोकनात्प्रणमितं मौलिं विधत्ते जनः
तत्तत्त्वोत्तिमपाकरोत्यवगतिः संपूर्णविद्यास्पदम्।
दीक्षां तत्क्षणतोऽग्रहीत्तदखिलैः शिष्यैः समं सोऽग्रहीत् ॥५१

द्रुतपदा

पूर्वाह्णे दीक्षयाग्रं श्रुतिमवगमयत्सप्तभिर्यैव लब्धया-
बुद्धयौषध्यभयाक्षीणरसबलमहाविक्रियाः सप्त सद्यः।
तस्मिन्नेवाह्नि पश्चाज्जिनपतिवदनश्रीक्षणात्पात्रमुख्यां
सोपाङ्गां द्वादशाङ्गश्रुतपदरचनां गौतमः सोऽपराह्णे ॥५२

उपजातिः

संप्राप्तसर्वातिशयं जिनेन्द्रजिज्ञस्तदा तं विनयावनम्रः।
प्रचक्रमे स्तोतुमिति स्तुतिज्ञः स्तुत्यै न केषां स्तवनाभिलाषः ॥५३

द्रुतविलम्बितम्

अथ जिनेन्द्र तव स्तवनाद्धियो मम भवन्त्यपूता अपि संमुखाः।
स्खलति जीव यतिर्मुखतोऽर्कमकरोऽजिह्मतोऽपि महाभरः ॥५४
जिन तथापि मया मुदविस्मितप्रचुरभक्तिरसावशितास्यते।
तव पुनस्तुतिरप्यतिदुष्करा सकलपूरगतस्य न हि नभः ॥५५

॥ ५० ॥ मानस्तम्भ के देखने से नम्रीभूत शिर को धारण करने वाले उस बुद्धिमान् इन्द्रभूति ने जीव के सद्भाव को लक्ष्य कर भगवान् से पूछा और उत्पन्न हुई दिव्यध्वनि से सहित भगवान् ने उसके संशय को दूर कर दिया। उसी समय पाँचसौ ब्राह्मणपुत्रों के साथ उस इन्द्रभूति ने जिन दीक्षा ग्रहण कर ली ॥ ५१ ॥ विशुद्धहृदय से जिसने पूर्वाह्णकाल में दीक्षा के साथ ही बुद्धि, औषधि, अक्षय, क्षीर, बल, प्रसिद्धरस, तप और विक्रिया से सात ऋद्धियाँ प्राप्त की थीं उस गौतम गणधर ने उसी दिन अपराह्ण काल में, जिनेन्द्र भगवान् के मुख से जिसका अर्थविस्तार प्रकट हुआ था उस उपाङ्ग सहित द्वादशाङ्ग वाणी की पद-रचना की ॥ ५२ ॥ उसी समय विनय से नम्रीभूत तथा स्तुति को जानने वाला इन्द्र, जिन्होंने समस्त अतिशय प्राप्त कर लिये थे ऐसे उन सर्वज्ञदेव जिनेन्द्र की इस प्रकार स्तुति करने के लिये तत्पर हुआ सो ठीक ही है क्योंकि जो स्तुति करने योग्य हैं उनकी स्तुति करने की अभिलाषा किनको नहीं होती ? अर्थात् सभी को होती है ॥ ५३ ॥

हे जिनेन्द्र ! फल की इच्छा से यद्यपि मेरी बुद्धि आपका स्तवन करने में उद्यत हुई है फिर भी वह आपके गुण-गौरव—गुणों की गुरुता (पक्ष में भारीपन) देखकर स्खलित हो गयी है सो ठीक ही है क्योंकि महान् भार प्राप्त होने पर भी अर्क तो उत्पन्न करता ही है ॥५४॥ हे जिनराज !

---

१. मुदविस्मित क० ।

विगतहानि विभानिशमुज्ज्वलं विकचकञ्जचयैरभिनन्दितम् ।
वहति वीर यशस्तव सन्ततं नियमनूतनमपूर्वकलाभृतः ॥५६
त्रिभुवनं सततं करणक्रमावरण [1]वरणवर्जितमञ्जग वीक्षसे ।
जिन यथास्थितममर्त्य परिभ्रमणहि विचिन्त्यगुणः परमेश्वरः ॥५७
सुतसुमारुत कम्पित[2]मेरुणा मनसिजो मृदुपुष्पधनुर्धरः ।
अचरितो भवतेति किमद्भुतं बलवता विषमोऽप्यभिभूयते ॥५८
जगति यस्य सुदुर्धरः सूर्जितं प्रथितधैर्यधनैरपि शासनम् ।
प्रकटदुःसहगुप्तिनिबन्धनं परमकारुणिकः स कथंभवान् ॥५९
अनुदिनं कुमुदं परिवर्धयन् परमलोकविताऽपि महो वधत् ।
विरहितावरणोऽप्यचलस्थितिर्जिनपते त्वमपूर्वतमोपहः ॥६०

यद्यपि मेरी बुद्धि स्खलित हो रही है और आपकी गुण-स्तुति अत्यन्त कठिन भी है तो भी हृदय—स्थित बहुत भारी भक्ति के भारसे वह मेरे द्वारा कही जायगी सो ठीक ही है क्योंकि समीचीन अनुराग से सहित मनुष्य को लज्जा नहीं होती है ॥५५॥ हे वीर जिनेन्द्र ! जो हानि से रहित है, रात दिन उज्ज्वल रहता है, तथा खिले हुए कमलों के समूह से अभिनन्दित है ऐसा आपका बहुत भारी यश निरन्तर अपूर्व चन्द्रमा की लक्ष्मी को धारण करता है। भावार्थ—वर्तमान का चन्द्रमा घटता है, मात्र रात्रि में उज्ज्वल रहता है और उसके उदय में कमल निमीलित हो जाते हैं पर आपका यशरूपी चन्द्रमा कभी घटता नहीं है, दिन-रात उज्ज्वल रहता है तथा उसके अस्तित्व काल में कमल खिले रहते हैं इसलिए वह अपूर्वता को धारण करता है ॥ ५६ ॥ जो परिभ्रमण न करने पर भी अध्वग-पथिक है ऐसे हे वीर जिनेन्द्र ! आप तीनों लोकों को निरन्तर करण, क्रम और आवरण के बिना ही यथावस्थित रूप से देख रहे हैं सो ठीक ही है क्योंकि जो परमेश्वर है उसके गुणों का चिन्तवन नहीं किया जा सकता है। भावार्थ—संसार में पथिक वह कहलाता है जो परिभ्रमण करता है—यहाँ-वहाँ घूमता है पर आप परिभ्रमण के बिना ही पथिक हैं अर्थात् एक स्थान पर स्थित रहकर ही तीनों लोकों को जो जिस प्रकार है उसी प्रकार जानते हैं। संसार के अन्य पथिक किसी पदार्थ को देखते हैं तो इन्द्रियादिक करणों से देखते हैं, क्रम से देखते हैं और जब दूसरों को देखते हैं तब पहले देखे हुए पदार्थ पर आवरण पड़ जाता है परन्तु आपके देखने में करण क्रम और आवरण नहीं है इस तरह आपके गुणों का चिन्तवन करना मेरे लिए शक्य नहीं है ॥५७॥ छींक की वायु से मेरु पर्वत को कम्पित कर देने वाले आपने कोमल पुष्परूपी धनुष को धारण करने वाले कामदेव को पराजित कर दिया इसमें आश्चर्य क्या है ? क्योंकि बलवान के द्वारा विषम भी तिरस्कृत होता ही है ॥५८॥ हे भगवन् ! जब कि संसार में आपका शासन प्रसिद्ध धैर्य-रूप धन के धारकों के लिए भी अत्यन्त दुर्धर है, शक्तिसम्पन्न है तथा स्पष्ट और दुःसह गुप्ति-सुरक्षा के साधनों से युक्त है तब आप परम दयालु कैसे हो सकते हैं ? ॥५९॥ हे जिनेन्द्र ! क्योंकि आप प्रतिदिन कुमुद—चन्द्रविकासी कमल को बढ़ाते हैं, अलोकविनापि—लोक को संतप्त नहीं करने

---

१. वरणहीनमिदं खलु वीक्ष्यते म० । २. मस्य म० ब० । ३. कम्पितिमेरुणा म० ।

सकुसुमकलश मिरं जिन शालवनी कुलालयो न भवन्ति न सालवः ।
नमसि वृष्टिविशेषरजोहरं नवजिनस्तवसन्मुखतो मुदि चातकाः ॥६१
सुगुणरत्नगिरेऽप्यजलाशयो विमदगो[1]ऽपुन विकामसुखप्रदः ।
त्रिजगतामधिपोऽप्यपरिग्रहस्तव मिदङ्गिदं जिन चेष्टितम् ॥६२
अपि सर्वजनप्रमदावहा नवसुधाधिशयास्तिमिरच्छिदः ।
शशिकरा इव भान्ति भवद्गुणास्तव मुधा इव चन्द्रमसः करा: ॥६३
नवपदार्थयुतं विमलं[2]महस्त्रिजगतं परिनिर्वृति कारकम् ।
जगति भव्यमुतं सुखसङ्गतं जिन[3]तवैव मतं सुविराजते ॥६४

वाले उत्कृष्ट तेज को धारण करते हैं, आवरण से रहित हैं अर्थात् मेघ आदि आवरणों से कभी छिपते नहीं हैं, तथा अचलस्थिति—अविनाशी स्थिति से सहित हैं अतः आप अपूर्व सूर्य हैं। भावार्थ—सूर्य कुमुद को नहीं बढ़ाते किन्तु आप कुमुद को बढ़ाते हैं (पक्ष में पृथिवी के हर्ष को बढ़ाते हैं) सूर्य लोक को संतप्त करने वाले उत्कृष्ट तेज को धारण करता है परन्तु आप लोक को संतप्त न करने वाले उत्कृष्ट तेज (पक्ष में लोकाह्लादकारी प्रभाव) को धारण करते हैं, सूर्य मेघ आदि के आवरण से छिप जाता है किन्तु आप किसी आवरण से छिपते नहीं हैं (पक्ष में ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म से रहित हैं) सूर्य की स्थिति चल है अर्थात् वह उदय और अस्त को प्राप्त होता है परन्तु आप अचल स्थिति हैं—अविनाशी स्थिति से सहित हैं इस प्रकार आप अपूर्व सूर्य हैं ॥६०॥ जिस प्रकार श्रावण मास में उररजोहरां—अत्यधिक धूलि को हरने वाली नवीन मेघ की वृष्टि को पाकर पृथिवी पर चातक तृषा—पिपासा से रहित हो जाते हैं उसी प्रकार हे जिनेन्द्र! उररजोहरां—विशाल पाप को नष्ट करने वाली आपकी वाणी को पाकर साधु तृषा—तृष्णा से रहित हो जाते हैं ॥६१॥ हे जिनेन्द्र! आप उत्तम—गुणों के रत्नाकर—सागर होकर भी अजडाशय—अजलाशय हैं—जल से रहित मध्यभाग से युक्त हैं (परिहार पक्ष में अजडाशय—जडाशय नहीं हैं किन्तु प्रबुद्धहृदय हैं), आप विमदग—काम से रहित होकर भी अत्यधिक कामसुख को देने वाले हैं (पक्ष में अत्यधिक अतीन्द्रिय सुख को देनेवाले हैं) और तीनों जगत् के स्वामी होकर भी अपरिग्रह—परिग्रह से रहित हैं (पक्ष में मूर्च्छा परिणाम से रहित-निर्ग्रन्थ हैं इस प्रकार आपकी यह चेष्टा विरुद्ध है ॥६२॥ हे प्रभो! आपके गुण चन्द्रमा की किरणों के समान और चन्द्रमा की किरणें आपके गुणों के समान सुशोभित हो रही हैं क्योंकि जिस प्रकार आपके गुण समस्त मनुष्यों को प्रमदावह—आनन्द उत्पन्न करने वाले हैं विषयदाह को दूर कर आत्मशान्ति को उत्पन्न करने वाले हैं उसी प्रकार चन्द्रमा की किरणें भी सब जीवों को प्रमदावह—प्रकृष्टमद को उत्पन्न करने वाले हैं अथवा दिन सम्बन्धी तपन को दूर कर शीतलता के आनन्द को देने वाले हैं। जिस प्रकार आपके गुण नवसुधाविशय—नूतन अमृत के समान स्पष्ट हैं उसी प्रकार चन्द्रमा की किरणें भी नवसुधाविशद—नूतन चूना के समान धवल हैं और जिस प्रकार आपके गुण तिमिरच्छिद—अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाले हैं उसी प्रकार चन्द्रमा की किरणें भी तिमिरच्छिद—रात्रि सम्बन्धी अन्धकार को नष्ट करने वाली हैं ॥६३॥ हे जिन! जो नौ पदार्थों से सहित है, महान्

---

१. विमदगोऽपि निकाम म० । २. महस्त्रिजगतं ब० । ३. तवैव मतं सम सुखतो म० ।

सलिलराशिविशेषकलाकलापशिशिरद्युतिमण्डलदारणैकराः ।
अधिप धैर्यमहत्त्वसमुन्नतिद्युतिप्रशमैर्यशता जिताः ॥६५
हृदयतो भवता सुनिराकृतः सुविशदाधिबलेन जिनेश यः ।
तमतिराजति रागमिवोद्गमद्विकसदल्पद्युति पाद युगं तव ॥६६
तव निशम्य सुदिव्यरवं मुदं समुपयान्ति जना जिन भक्तिकाः ।
भवति किं न मुदाय नवाम्बुदस्तनितवान्नवकेकिकुलस्य महाध्वनिः ॥६७
वहति यो हृदयेन भवत्गुणान् प्रविमलान्नुरितं तमसोज्झति ।
निशि समप्रशशाङ्ककरान्वितः सुरपथस्तमसा किमु लिप्यते ॥६८
इदमनन्त चतुष्टयवैभवं न च करो लभते भवता विना ।
जगति दुग्धपयोधिरिवापरः किमु वहत्यपरोऽम्बु सुधामयम् ॥६९
विशदबोधमयं परमं सुखं तव जिनेश्वर पादसमाश्रि[2]ता ।
भवति भव्यसभार्द्रतयान्विता कुमुदिनी कुमुदाधिपतेरिव ॥७०
गुणविशेषविदः स्वसुखेच्छया जिन भवन्तमलं समुपासते ।
कुसुमितं सहकारमिवालिनो न हि भजन्त्यपकारिणमङ्गिनः ॥७१

है, अनुपम है, परम निर्वाण अथवा उत्कृष्ट सुख का कारण है, भव्य जीवों के द्वारा स्तुत है और उत्तम दो नयों से सहित है ऐसा आपका मत ही जगत् में सुशोभित हो रहा है ॥६४॥ हे स्वामिन् ! आपने धैर्य, महत्त्व, समुन्नति, कान्ति, धैर्य और प्रशम इन गुणों के द्वारा क्रम से समुद्र, आकाश, सुमेरु पर्वत, सूर्य, पृथिवी और चन्द्रमा को जीत लिया है ॥६५॥ हे जिनेश ! आपने निर्मल समाधि बल के द्वारा हृदय से जिसे सर्वथा तिरस्कृत कर दिया था, पल्लव के समान लाल लाल कान्ति को धारण करने वाला आपका चरणयुगल उस राग को उगलता हुआ-सा सुशोभित हो रहा है ॥६६॥ हे जिन ! भक्त लोग आपकी दिव्यध्वनि को सुन कर हर्ष को प्राप्त होते हैं सो ठीक ही है क्योंकि नूतन मेघ की महागर्जना क्या मयूरों के सुख के लिए नहीं होती ? ॥६७॥ जो मनुष्य हृदय से आपके निर्मल गुणों को धारण करता है पाप उसे छोड़ देता है सो ठीक ही है क्योंकि रात्रि में पूर्ण चन्द्रमा की किरणों से सहित आकाश क्या अन्धकार से लिप्त होता है ? अर्थात् नहीं होता ॥६८॥ आपके बिना कोई दूसरा इस अनन्त चतुष्टयरूप वैभव को प्राप्त नहीं होता है सो ठीक ही है क्योंकि संसार में क्षीरसागर के समान क्या दूसरा समुद्र अमृतमय जल को धारण करता है ? अर्थात् नहीं करता है ॥६९॥ हे जिनेश्वर ! जिस प्रकार चन्द्रमा के पादसमाश्रिता—करों का आश्रय लेने वाली हरीभरी कुमुदिनी निर्मल विकासरूप सुख को प्राप्त होती है। उसी प्रकार आपके पादसमाश्रिता—चरणों का आश्रय लेने वाली दयार्द्र, भव्यसभा निर्मलज्ञानमय परम सुखको प्राप्त होती है ॥ ७० ॥ हे जिन ! जिस प्रकार भ्रमर फूले हुए आम्रवृक्ष की अच्छी तरह उपासना करते हैं उसी प्रकार गुणविशेष को जानने वाले लोग आत्मसुख की इच्छा से आपकी अच्छी तरह उपासना करते हैं सो ठीक ही है क्योंकि प्राणी अपकारी की उपासना नहीं करते हैं ॥ ७१ ॥

---

१. मुदा म० । २. समाश्रिताः म० ।

त्रिभुवनभूषण भूत नाथ भूतगुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं न आभ्रितं हि भवति ॥७२
दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।
पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः क्षारं जलं जलनिधेरशितुं क इच्छेत् ॥७३
यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥७४
वक्त्रं क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम् ।
बिम्बं कलङ्कमलिनं क्व निशाकरस्य यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥७५
सम्पूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलाप शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति ।
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वरनाथमेकं कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम् ॥७६
चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभिर्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ॥७७
निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः ॥७८
नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति ।
नाम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र लोके ॥७९
नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारं गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम् ।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति विद्योतयज्जगदपूर्वशशाङ्कबिम्बम् ॥८०
किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तमस्सु नाथ ।
निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥८१
ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु ।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥८२
मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति ।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि ॥८३
स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान् नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥८४
त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस मादित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र पन्थाः ॥८५
त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥८६
बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात् त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानात् व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ॥८७
तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय ।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय तुभ्यं नमो जिन भवोदधिशोषणाय ॥८८
को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैस्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश ।
दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥८९
उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्ति ॥९०
सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम् ।
बिम्बं वियद्विलसदंशुलतावितानं तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः ॥९१
कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम् ।
उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधार मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥९२
छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम् ।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभं प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥९३
गम्भीरताररवपूरितदिग्विभागस्त्रैलोक्यलोकशुभसंगमभूतिदक्षः ।
सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन् खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥९४
मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजात सन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिरुद्धा ।
गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा ॥९५
शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभाविभोस्ते लोकत्रये द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती ।
प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम् ॥९६
स्वर्गापवर्गगमनैकपथस्य जन्तोर्मिथ्यापथस्थितिषु मोहमयीं प्रदोषे ।
शक्तिं निहन्तुमतिनिर्मलसत्त्वबोधो मार्तण्डमण्डलमिवोदयतीह देव ॥९७
नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारं गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम् ।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति विद्योतयज्जगदपूर्वशशाङ्कबिम्बम् ॥९८
किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तमस्सु नाथ ।
निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥९९
ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु ।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥१००

हे त्रिलोकीनाथ ! भूषण, वेष और परिग्रह से रहित आपका शरीर सुशोभित हो रहा है सो ठीक ही है क्योंकि जिसमें सूर्य चन्द्रमा और ताराओं का उदय नहीं हुआ है ऐसा आकाश क्या शीघ्र ही मनोहर नहीं होता ? अर्थात् होता है ! ॥ ७२ ॥ हे जिन ! इस संसार में जिस प्रकार मनुष्यों के नेत्र आपमें सन्तोष को प्राप्त होते हैं उस प्रकार खिले हुए नूतन कमल में, निर्मल जल से युक्त सरोवर में तथा पूर्ण चन्द्रमा में भी सन्तोष को प्राप्त नहीं होते हैं ॥७३॥ हे वीर ! मणीभूत वस्तुओं पर स्थित, चन्द्रमा की किरणों के समान कान्ति वाला आपके चरणयुगल की नखपंक्तियों का किरणसमूह ऐसा दिखाई देता है मानों अक्षत सन्ततिवाला पुण्य ही स्वयं पड़ रहा हो ॥ ७४ ॥ हे अधिपते ! अगाध संसार-सागर में डूबे हुए इस जगत् का उद्धार आपने ही किया है सो ठीक ही है क्योंकि कृष्ण पक्ष के गाढ अन्धकार से आच्छादित आकाश को सूर्य के बिना दूसरा कौन निर्मल कर सकता है ? ॥ ७५ ॥ हे जिन ! जिस प्रकार नवीन मेघ, बहुत भारी रज-धूलि को नष्ट करने वाली जलधारा के द्वारा आशा—दिशाओं को व्याप्त कर फल की ओर न देख मनुष्यों का उपकार करता है उसी प्रकार आप भी बहुत भारी रज—पाप को नष्ट करने वाली वाणी के द्वारा आशा—तृष्णाओं को पूर्ण कर फल की ओर न देख सदा वाणी के द्वारा मनुष्यों का उपकार करते हैं। भावार्थ—आप मेघ के समान निःस्पृह परोपकारी हैं ॥ ७६ ॥ हे जिन ! मुद्रा सभा से रहित आपके मत में निश्चय से दोष का एक कण भी दिखायी नहीं देता है सो ठीक ही है क्योंकि स्वभाव से शीतल चन्द्रमण्डल में क्या मकरों का एक कण भी पैर रखता है ? अर्थात् नहीं रखता है ॥ ७७ ॥ हे जिन ! जो मनुष्य आदरपूर्वक अपनी अञ्जलि से सदा आपके वचनरूपी अमृत को पीता है हितकारी बुद्धि से युक्त वह मनुष्य, पृथिवी पर यद्यपि तृष्णा निरङ्कुश है तो भी उसके

---

१. पुष्पमिव ब० । २. पुष्पसञ्चारया ब० । ३. रजो मुचा ब० । ४. पुष्पकः ब० ।

जनयतीश रुचिं त्वयि भव्यता सदवबोधमसौ स तपस्तु तत् ।
निखिलकर्मलयं स शरीरिणां शिवसमं[1]स्तमिताष्टगुणं सुखम् ॥७९
अनभिरक्षितरक्तसविभ्रमस्थितिमनोज्ञमधौत सुनिर्मलम् ।
तव जिनेश्वर पादयुगं मम प्रशममातनुतां नमतः सदा ॥८०

वसन्ततिलकम्

इत्थं मया कृतनुतौ घनघातिकर्मनिर्मूलनोपजनितातिशयर्द्धियुक्ते ।
स्थेयान्मम त्रिभुवनाधिपतौ विधिज्ञा भक्तार्यनन्दिनि जिने त्वयि वीर भक्तिः ॥८१

उपजातिः

स्तुत्वेवमिन्द्रः सुचिरं जिनेन्द्रं तमन्वयुङ्क्तेत्यभिवन्द्य भूयः ।
वामेन हस्तेन नयन्स्वदेशं पुरः प्रणामाद्विनतं किरीटम् ॥८२

वसन्ततिलकम्

नाथ स्थितं कथमिदं भुवनं कियद्वा तत्त्वानि कानि पुरुषस्य कथं नु बन्धः ।
कैः स्यादनादिनिधनस्य कथं विमुक्तिः वस्तुस्थितिः कथमुदाहर दिव्यवाचा ॥८३

इन्द्रवज्रा

उक्त्वेति संपृष्टवते यथावत्तस्मै स जीवादिपदार्थतत्त्वम् ।
भव्यान्पथि स्थापयितुं विमुक्तेरित्थं जिनेन्द्रो विजहार वीरः ॥८४

द्वारा बाधित नहीं होता अर्थात् उसकी सब तृष्णाएँ स्वयं ही शान्त हो जाती हैं ॥ ७८ ॥ हे ईश ! भव्यता, आपमें श्रद्धा को उत्पन्न करती है, आपकी श्रद्धा सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न करती है, सम्यग्ज्ञान तप को उत्पन्न करता है, तप समस्त कर्मों का क्षय करता है और समस्त कर्मों का क्षय अष्ट गुणों से सहित सुख रूप मोक्ष को उत्पन्न करता है ॥ ७९ ॥ हे जिनेश्वर ! जो बिना रँगे ही लाल हैं, विभ्रम स्थिति—विलासपूर्ण स्थिति से रहित होकर भी मनोज्ञ हैं तथा बिना धोये भी अत्यन्त निर्मल हैं ऐसे आपके चरणयुगल, नमस्कार करने वाले मेरे प्रशम गुण को सदा विस्तृत करें ॥ ८० ॥ इस प्रकार मेरे द्वारा जिनकी स्तुति की गई है, जो प्रचण्ड घातिया कर्मों के निर्मूलन से उत्पन्न होने वाली अतिशय पूर्ण ऋद्धियों से युक्त हैं तथा जो भक्त आर्य पुरुषों को आनन्ददायी है ऐसे त्रिलोकीनाथ आप जिनेन्द्र भगवान् में हे वीर! मेरी पवित्र भक्ति सदा विद्यमान रहे ॥ ८१ ॥

इस प्रकार चिर काल तक जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति कर इन्द्र ने उन्हें बार-बार नमस्कार किया और नमस्कार करने के बाद इस प्रकार प्रश्न किया। नमस्कार करते समय प्रणाम करने से उसका जो मुकुट आगे की ओर झुक गया था उसे वह बाँये हाथ से अपने स्थान पर पहुँचा रहा था ॥ ८२ ॥ हे नाथ ! यह लोक किस प्रकार स्थित है ? कितना बड़ा है ? तत्त्व कौन है ? अनादिनिधन आत्मा का बन्ध कैसे और किन कारणों से होता है ? मुक्ति की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? तथा वस्तु का स्वरूप क्या है ? यह सब आप दिव्यध्वनि से कहिये ॥ ८३ ॥ इस प्रकार पूछने

---

१. मनन्तमिताष्टगुणं म० अमन्तमितोऽष्टगुणं ब० ।

मञ्जुभाषिणी

अपनीतकण्टकतृणोपलादिका धरणीतले सपदि योजनान्तरे ।
सुरभीकृताखिलदिगन्तरा: सुखा ननृतो ववुः पथि पुरो जिनेशिनः ॥८५

वंशस्थम्

अनभ्रवृष्टिः सुरभिर्महीरजः शमं निनायाकृतपङ्कविभ्रमा ।
अधारितास्तस्य पुरः स्वयंमनुर्ध्वजाः समन्तादृगपने सचञ्चलाः ॥८६

द्रुतविलम्बितम्

मणिमयाब्जतलप्रतिमा मही विविधरत्नमयी समजायत ।
सकलसस्यचयो ववृधेऽवनौ विविधपक्षिमृगैरपि तत्यजे ॥८७

शालिनी

पादन्यासे सप्त पद्माः पुरस्तात्पश्चाच्चासन्सप्त तस्यान्तरिक्षे ।
अग्रे देवैर्वाद्यमानानि भक्त्या मन्द्रमन्द्रं दिव्यतूर्याणि नेदुः ॥८८

उपजातिः

अग्रेसरं व्योमनि धर्मचक्रं तस्य स्फुरद्भासुररत्निचक्रम् ।
द्वितीयतिग्मद्युतिबिम्बशङ्कां सदा दधानोऽपि कुबोधहासीत् ॥८९

वाले उस इन्द्र के लिये जीवादि पदार्थों का यथार्थस्वरूप कह कर उन वीर जिनेन्द्र ने भव्यजीवों को मुक्ति के मार्ग में स्थित करने के लिये इस भाँति विहार किया ॥ ८४ ॥ पृथिवीतल पर शीघ्र ही एक योजन के भीतर जिनेन्द्र भगवान् के आगे-आगे मार्ग में ऐसी सुखदायक वायु बहने लगी जिसने कण्टक तृण तथा पाषाण आदि को दूर हटा दिया था तथा समस्त दिशाओं के अन्तराल को सुगन्धित कर दिया था ॥ ८५ ॥ बिना मेघ के होने वाली सुगन्धित वृष्टि ने पृथिवी की धूलि को शान्त तो कर दिया था परन्तु कीचड़ का विभ्रम नहीं किया था। उनके आगे आकाश में सब ओर फहराती हुई ऐसी ध्वजाएँ स्वयं चल रही थीं जो किसी के द्वारा धारण नहीं की गई थीं ॥ ८६ ॥ नाना प्रकार के रत्नों से निर्मित भूमि मणिमय दर्पण तल के तुल्य हो गयी। पृथिवी पर समस्त धान्यों का समूह वृद्धि को प्राप्त हो गया तथा विविध प्रकार के पक्षियों और मृगों ने उसे छोड़ दिया ॥ ८७ ॥ भगवान् जहाँ पैर रखते थे उसके आगे और पीछे सात-सात कमल रहते थे तथा देवों के द्वारा आकाश में भक्ति से बजाये जाने वाले दिव्य बाजे गम्भीर शब्द कर रहे थे भावार्थ—विहार काल में एक कमल भगवान् के पैर के नीचे रहता था तथा सात-सात कमल आगे-पीछे रहते थे इस प्रकार पन्द्रह कमलों की पन्द्रह पङ्क्तियाँ थीं। सब पङ्क्तियों के मिल कर २२५ कमल दिखाई देते थे। भगवान् का यह विहार आकाश में होता और आकाश में ही यह कमलों का समूह दिखाई देता था ॥ ८८ ॥ जो उन भगवान् के आगे-आगे चल रहा था, तथा

---

१. विविधपक्षिमृगैरपि म०ब०।

एकादश क्षयातमहानुभावास्तत्रेन्द्रभूतिप्रमुखा गणेशाः ।
तनुजताः पूर्वधराश्च पूज्या बभूवुरुच्चास्त्रिशतानि लोके ॥९०

वंशस्थम्

मताः सहस्राणि नवाथ शिक्षका युताम्बुदारा नवभिः शतैः परैः ।
सहस्रमात्रावधीक्षणान्वितास्त्रिभिः शतैरभ्यधिकं च साधवः ॥९१

उपजातिः

वीराः मनःपर्ययबोधयुक्ता बुधस्तुताः पञ्च शतान्यभूवन् ।
अनुत्तराः केवलिनश्च मान्या मनीषिणां सप्तशतानि शश्वत् ॥९२
अनिन्दिता वैक्रियिकाः शतानि ख्याता बभूवुर्नव शान्तचित्ताः ।
[1]उन्मूलिताशेषकुतीर्थवृक्षा वादिद्विपेन्द्राश्च चतुःशतानि ॥९३
आर्यास्विकाः शुद्धचरित्रभूषाः श्रीचन्दनार्याप्रमुखा बभूवुः ।
षट्त्रिंः सहस्रैरधिकानि वन्द्यास्त्रिंशत्सहस्राणि सुनीतिभाजाम् ॥९४

मालिनी

अणुगुणवरशिक्षाभेदभिन्नव्रतस्था जगति शतसहस्राण्यूर्जिताः श्रावकाः स्युः ।
व्रतमणिगणभूषास्तत्त्वमार्गे प्रवीणास्त्रिगुणशतसहस्राण्युज्ज्वलाः श्राविकाश्च ॥९५

मालिनी

तत्रासंख्याता देवदेव्यः सभायां संख्यातास्तिर्यञ्जातयश्चाप्यमोहाः ।
आसन्सम्यक्त्वं निष्कलं धारयन्तो ज्ञाताशेषार्थाः शान्तया चित्तवृत्त्या ॥९६

जिसकी भासुर किरणों का समूह देदीप्यमान हो रहा था ऐसा धर्म चक्र क्षणभर के लिये विद्वानों को भी दूसरे सूर्य बिम्ब की शङ्का को उत्पन्न कर रहा था ॥ ८९ ॥

उन भगवान् के इन्द्रभूतिको आदि लेकर ग्यारह प्रसिद्ध गणधर थे तथा लोक में उन्नत, पूज्य तथा श्रेष्ठ पूर्वधारी तीनसौ थे ॥ ९० ॥ नौ हजार नौ सो उत्कृष्ट शिक्षक थे और एक हजार तीन सौ साधु अवधिज्ञानरूपी नेत्र से सहित थे ॥ ९१ ॥ वीर वीर तथा विद्वज्जनों के द्वारा स्तुत पाँच सौ मनःपर्यय ज्ञानी थे। सर्वोत्कृष्ट तथा विद्वज्जनों के सदा मान्य केवली सात सौ थे ॥ ९२ ॥ अनिन्दनीय, प्रसिद्ध तथा शान्त चित्त के धारक विक्रिया ऋद्धिधारी नौ सो थे। समस्त कुतीर्थ रूप वृक्षों को उन्मूलित करने वाले वादीरूपी गजराज चार सौ थे ॥ ९३ ॥ शुद्ध चारित्र ही जिनका भूषण था ऐसी श्रीचन्दना को आदि लेकर छत्तीस हजार आर्यिकाएँ थीं। वे सभी आर्यिकाएँ सुनीतिज्ञ मनुष्यों की वन्दनीय थीं ॥ ९४ ॥ अणुव्रत गुणव्रत और शिक्षाव्रत के भेद से विभक्त हुए बारह व्रतों में स्थित, जगत्प्रसिद्ध श्रावक एक लाख थे और व्रतरूपी मणिमय आभूषणों से विभूषित, तत्त्वमार्ग में निपुण तथा उज्ज्वल—निर्दोष व्रतों का पालन करने वाली श्राविकाएँ तीन लाख थीं ॥ ९५ ॥ उनकी सभा में असंख्यात देव-देवियाँ तथा संख्यात तिर्यञ्च थे। वे सभी मोहरहित, निश्चल सम्यक्त्व को धारण करने वाले तथा शान्त चित्त वृत्ति से समस्त

---

१. उन्मूलिताशेष व० । २. सुनीतिभाजः म० ।

वसन्ततिलकम्

एभिः सर्वं त्रिभुवनपतिर्निर्वृताभ्यर्चनाद्यैः सम्भाषान्तरसहितमनेकैः ।
पावापुर्यस्य कुसुमलतावल्लकं रम्यं जिनोपवनमाप ततो जिनेन्द्रः ॥९७

वार्धूतकीडितम्

हत्वा योगनिरोधमुद्धितसमः पञ्चाक्षसंज्ञाक्षये
व्युत्सर्गेण निरस्य निर्मलधियः कर्मप्रबोधानि सः ।
स्थित्वेन्द्राविपि कार्तिकासितचतुर्दश्यां[1] निशान्ते क्षणे
स्वातौ ज्यन्तिरसंस्थिते भगवान्सिद्धिं प्रसिद्धामियम् ॥९८

मन्दाक्रान्ता

अव्याबाधं पवनसहितानन्तसौख्यं जिनेन्द्रे
तस्मिन्याते तनुमनुपमां पूजितुं तस्य भूताम् ।
भक्त्याजग्मुर्विबुध पतयो विष्टरीत्कम्पनेन
ज्ञात्वा सर्वे द्रुतमनुगतास्तं प्रदेशं स्वसैन्यैः ॥९९

वसन्ततिलकम्

अग्नीन्द्रमौलिवररत्नविनिर्गतोऽग्निः कर्पूरकोहृदरिचन्दनसारकाष्ठैः ।
संपुजिते सपदि वह्नकुमारनामभिरित्या मुदा जिनपतेर्ववृधुः शरीरम् ॥१००

स्रग्धरा

काल्याः कल्याणमस्मिन्सपदि जिनपतेः पञ्चमं तस्य कृत्वा
भूयान्नोऽन्यस्य भक्त्या ध्रुवमनतिचिरात्सिद्धिसौख्यस्य सिद्धिः ।

पदार्थों के ज्ञाता थे ॥ ९६ ॥

तदनन्तर तीनों लोकों के अधिपति तथा समस्त जीवों को हित का उपदेश देने वाले वीर जिनेन्द्र, इन सबके साथ तीस वर्षों तक विहार कर पावापुर के उस उपवन में पहुँचे जो फूले हुए वृक्षों की शोभा से रमणीय था ॥ ९७ ॥ योग निरोध कर जिन्होंने समवसरणरूप सभा को छोड़ दिया था, जो बेला का नियम लेकर उस वन में कायोत्सर्ग मुद्रा से स्थित थे तथा निर्मल कान्ति अथवा श्रद्धा से युक्त थे ऐसे सन्मति भगवान्, समस्त कर्मों को नष्ट कर कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि के अन्त भाग में जब कि चन्द्रमा स्वाति नक्षत्र पर स्थित था, प्रसिद्ध लक्ष्मी से युक्त सिद्धि को प्राप्त हुए ॥ ९८ ॥

जब वे जिनेन्द्र अतिशय पूर्ण अनन्त सुखों से सहित अव्याबाध पद को प्राप्त हो गये—मोक्ष चले गये तब उनके अनुपम और पवित्र शरीर की पूजा करने के लिये इन्द्र लोग सिंहासनों के कम्पित होने से सब समाचार जान कर शीघ्र ही उस स्थान पर आये। उस समय वे इन्द्र अपनी-अपनी सेनाओं से अनुगत थे ॥ ९९ ॥ अग्निकुमार देवों के मुकुट सम्बन्धी उज्ज्वल रत्नों से उत्पन्न

---

१. चतुर्दश्यां क० ।

इत्यन्तरिक्षान्तयन्तः स्तुतिमुखरमुखास्तं प्रदेशं परीत्य
प्रीत्या शक्रादयः स्वं प्रतियययुरमरा धाम संप्राप्यसम्पत् ॥१०१

उपजातिः

कृतं महावीरचरित्रमेतन्मया परस्वप्रतिबोधनार्थम् ।
समाधिकत्रिंशभवप्रबन्धं पुरूरवाद्यन्तिमवीरनाथम् ॥१०२
वर्द्धमानचरित्रं यः अनुष्टुप् प्रव्याख्याति शृणोति च ।
तस्येहपरलोकस्य सौख्यं संजायतेतराम् ॥१०३

वसन्ततिलकम्

सम्वत्सरे वशनवोत्तरवर्षयुक्ते भावादिकीर्तिमुनिनायकपादमूले ।
मौद्गल्यपर्वतनिवासवनस्थसम्पत्सच्छ्राविकाप्रजनिते सति वा ममत्वे ॥१०४
विद्या मया प्रपठितेत्यसगाङ्कयेन श्रीनाथराज्यमखिलंजनतोपकारि ।
प्राप्यैव चोडविषये विरलानगर्यां ग्रन्थाष्टकं च समकारि जिनोपदिष्टम् ॥१०५

इत्यसगकृते वर्धमानचरिते महापुराणोपनिषदि भगवन्निर्वाणगमनो नाम
अष्टादशः सर्गः

●

निकली थी तथा वायु कुमारों के इन्द्रों ने कपूर, लोहा, हरिचन्दन आदि श्रेष्ठ काष्ठों से जिसे प्रदीप्त किया था ऐसी अग्नि में इन्द्र ने जिनेन्द्र भगवान् के शरीर को हर्षपूर्वक होमा था ॥ १०० ॥ शीघ्र ही उन जिनराज के उत्कृष्ट पञ्चम कल्याण—निर्वाण कल्याणक को करके जो अन्तरङ्ग में भक्ति-पूर्वक ऐसा चिन्तवन कर रहे थे कि हम लोगों को भी नियम से शीघ्र ही सिद्धिसुख की—मोक्ष-सुख की प्राप्ति हो, तथा जिनके मुख स्तुति से मुखर—शब्दायमान हो रहे थे ऐसे सौधर्मेन्द्र आदि कल्पवासी देव प्रीतिपूर्वक उस स्थान की प्रदक्षिणा देकर उत्कृष्ट संपत्ति से सहित अपने स्थान पर चले गये ॥ १०१ ॥

ग्रन्थकर्त्ता श्री असग कवि कहते हैं कि हमने यह महावीरचरित निज और पर के प्रति-बोध के लिये बनाया है इसमें पुरुरवा को आदि लेकर अन्तिम महावीर तक के सैंतीस भावों का वर्णन किया गया है ॥ १०२ ॥ जो मनुष्य इस वर्द्धमानचरित्त का व्याख्यान करता है तथा श्रवण करता है उसे इसलोक और परलोक का सुख अवश्य ही प्राप्त होता है ॥ १०३ ॥

मौद्गल्य पर्वत पर बसे हुए वन नामक ग्राम में रहने वाली सम्पत् नामक श्रेष्ठश्राविका के द्वारा ममत्वभाव प्रकट करने पर मुझ असग कवि ने ९१४ सम्वत् में श्री भाव कीर्ति मुनिराज के पादमूल में रहकर विद्या का अध्ययन किया और जनता का उपकार करने वाले श्रीनाथ राजा के सम्पूर्ण राज्य को प्राप्त कर चोल देश की विरला नगरी में मैंने जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा उपदिष्ट आठ ग्रन्थों की रचना की ॥ १०४–१०५ ॥

इस प्रकार असगकवि कृत वर्धमानचरितरूप महापुराणोपनिषद् में भगवान् के निर्वाण-गमन का वर्णन करने वाला अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ●

पद्यानुक्रमणी

सूचना—पद्यांशों के आगे जो अंक दिये गये हैं उनमें पहला सर्ग का, दूसरा श्लोक का और तीसरा पृष्ठ का समझना चाहिये।

अ

अकम्पनं कम्पितसर्वसैन्यं १।६२।१११
अकारेणापि वृत्तेऽर्थे ३।९।२३
अकारवर्ज्यान् जिनाधिपानां १२।१९।१४६
अकालमृत्युर्न बभूव देहिनां १०।१५।१२०
अकाण्डे वधमुपगम्य पापकार्यं १४।४८।१७५
अगर्वता स्तोक कषायता च १५।३९।१८२
अग्रीन्द्रमौलिवररत्न १८।१००।२६७
अग्रेसर. स्थितिमतामपि ६।२७।१७
अग्रेसरं व्योमनि धर्मचक्रं १८।८९।२६५
अघच्छिदा शान्तविलोकितेन १२।४४।१४९
अङ्गरागसुमनोऽम्बरादिभिः ८।७१।९९
अचिन्त्यवर्ण्यवैभवनात्मवस्तुषु २।१३।१४
अचिरादुपलब्धसप्तलब्धि. १७।११८।२४७
अजमरमनेमं केवलज्ञाननेत्रं १४।५३।१७५
अजलनिष्ठाविकदानसंपदा २।३।१३
अजायत तयोः प्रेयान् ३।७४।२८
अजायमानेऽप्य पतिः सुराणां १८।४९।२५८
अज्ञानसूढः स्वपरोपतापा १२।५४।१५१
अज्ञानं च श्रीणि जिज्ञानि जेतव्या १५।१२।१७७
अज्ञानानि श्रीणि चत्वारि सद्भिः १५।११।१७७
अटवीषु यत्र सरज्जां सरसीः ५।३४।९२
अणिमादिगुणोपेतम् ३।४२।२६
अत्युद्गुणवरणिमादेव १८।९५।२६६
अतः समस्तस्य विधित्सय १०।६२।१२७
अतश्च च अत्र शासनः ७।३०।७९
अतिदर्पविदर्पोत्थयाः फलभुवो ५।८।५८
अतिदुर्लभानपि पदार्थान् १६।५८।२९५
अतिदूरं क्रमं चरता १।४०।१६

अ५

अतिनिर्मलं तनुपमम्य १६।५३।२९५
अतिनिर्मितविविधमहीसिद्धस्तो ११।८।१३३
अतिपवरी: धृति सुरन्ती ११।१६।१६४
अतिमानुषं तमय वर्म्मधरं ५।६६।५६
अतिमुक्तकनामनि श्मशाने १७।१२५।२४७
अतिरोषवतो हितं प्रियं ७।३४।८०
अतीत्य सर्वान् विविधान वयस्यया १०।८०।१२९
अतो निधाय त्वयि राज्यमुर्जितं २।२१।१५
अतोऽनुरूपं स्वयमेव कल्पका १०।९८।१२८
अतोऽनुयच्छाम्यधुनापि १०।५५।१२६
अतो राजाधिपः सार्धं ३।३२।२५
अतोऽत्मदीयः कुशलीभवन्तं ५।१०४।६१
अत्यन्तशान्तस्वभावेन ३।२७।१४
अत्यन्तादुचिनोनिसंभवतया १५।९५।१९४
अत्यद्भुतं विविधलक्षणलक्षिताङ्गं १७।८४।२४२
अत्युन्नता: शशिकरप्रकराववाता १७।११।२२९
अत्रान्तरेऽन्युनिवहैः सह ६।४४।७०
अथ कल्पलतामिवैकपुण्यां ५।१०६।६१
अथ कारणानि परिवीक्ष्य १९।३२।२२२
अथ किङ्करपीयतामुपेत्य ४।३२।३७
अथ गृहाजिरे नगस्तो १७।१२२।२४७
अथ जिनेन्द्र तव स्तवसंविधो १८।५४।२९९
अथ तत्क्षणमेव पीतवासा १०।८४।१३०
अथ तस्य परीक्षितुं शिवं ७।५५।८२
अथ तस्य निशम्य भारतीं ७।११।७९
अथ तस्य नियासतो रिपुः ७।६।८२
अथ तेन गतैः प्रशस्यवत्सरा ७।२।७०
अथ प्रथमिकं (प्रथमिकं) प्रावचिकं १५।१३।१९४
अथ प्रथमैरेकादशाङ्गैः १७।१३०।२५९

अथ वैकगणाख्यपुरिकल्या	१७।११०।२४५	अथैकदा दूतमुखान्नभःस्पृशां	१०।३२।१२१
अथ द्वयोरम्बरतस्य वेद्यो	१५।१७८।२१३	अथैकदा कौतुकनिश्चलाक्षो	५।९५।५९
अथ धनपतिरित्यस्याज्ञया	१८।१।२४९	अथैकदा हर्म्यतले समुत्थिते	२०।१०।१४
अथ नरकभवे विचित्रदुःखं	११।१।१३२	अथैकवात्युग्रतपोविभूति	४।८८।४४
अथ नाकसौख्यमनुभूय	१६।१।२१७	अथैकदा संसृतिवासभीतस्	१२।३२।१४८
अथ प्राप मुनेस्तस्य	३।१।१२२	अथैवत क्मारजसा परीतां	९।१।१०२
अथ भयपरिणामः स्वस्य चान्यस्य	१५।३६।१८१	अधोच्छ्वसन्नूतनपुष्पपल्लवान्	२।४६।१९
अथ भव्यचातकगणस्य	१६।४७।२२४	अथो विपूर्वोपरतक्रियादिका	१५।१५१।२०८
अथ भारतवास्यभूतलेऽस्मिन्	४।१।३३	अदूरभव्यो विषयेषु नि.स्पृहो	२।१६।१५
अथ भारतेऽस्ति विषयोऽत्र	५।३२।५१	अदृष्टपूर्वामिव पूर्ववल्लभा	२।५७।२०
अथ भूपतिः सुतयुगेन समं	५।६७।५६	अधिकोऽपि नयेन वीरलक्ष्म्या	४।२५।३६
अथ मन्त्रविदामुपह्वरे	७।१।७५	अधिखड्गधारमिव शाप	१६।४५।२२४
अथ मुनियुगले व्यतीत्य	११।५२।१३९	अधिप भग्नमगाधभवोदधौ	१८।७५।२६३
अथर्जुकूलोच्छ्रितकूलभाजं	१७।१२८।२४८	अधिप सर्गजनप्रमदावहा	१८।६३।२६१
अथ लंघितशैशवः क्रमेण	१७।९९।२४४	अधिरुह्य यथेष्टवाहनम्	१६।७।२१८
अथ लीलया करयुगेण	५।८८।९	अध्यास्य वासभवनाजिर	७।६८।८४
अथवा निहतः स युद्धरङ्गे	४।४३।३८	अध्यासिता गोधनभूति	१३।७४।१६५
अथवा किमिहास्ति देहभाजां	४।२०।३५	अनन्तरङ्गः स्वनृपस्य कश्चित्	१।११।२
अथ सन्मतिरेकवाऽनिमित्तं	१७।१०२।२४४	अनन्यसाधारणसौरभान्वितं	९।९।१०३
अथ सरसतृणोन्मपावकीर्णा	८।९१।८७	अनन्यसाधारणसौरभाम्वितं	२।५५।२०
अथ हृष्टिवृद्धिस्वपादि तदा	५।५८।५५	अनन्यलभ्यामपि राज्यलक्ष्मी	१२।३३।१४८
अथात्मजे विश्वगुणैकभाजने	२।१।१३	अनन्यसाधारणबाहुवीर्यं	९।६१।१११
अथान्तराले पुरुषोत्तमेन	९।८५।११४	अनपेतकालमथ षट्सु	१६।४३।२२३
अथान्यदा मत्तचकोरनेत्रां	१२।३८।१४८	अनपेतमयं विपाकरम्यं	४।४४।३८
अथान्यदा यौवनसंपदा युतां	१०।५९।१२६	अनपेतपुष्पफलचारुकुजे.	५।३६।५२
अथाभिषिक्ते विजयेन	१०।१।११८	अनभिरञ्जितरक्तमविभ्रम	१८।८०।२६४
अथायुरन्ते तपसा तनुत्वं	१५।१९६।२१७	अनभ्रवृष्टिः सुरभिर्मरुद्भीरजः	१८।८६।२६५
अथायुरन्ते खलु मासमेकं	१६।६३।२२६	अनर्तयत्कोकिलपुष्करध्वनि	२।५२।१९
अथार्ककीर्तिः सहसा निशम्य	१०।७०।१२८	अनवद्यवाद्यलयतालसमं	५।५९।५५
अथार्यिकाः शुद्धचरित्रभूषाः	१८।९४।२६६	अनवाप्य वनं प्रयासि कोपं	४।४०।३८
अथावगम्याशु विशाखनन्दिनं	४।८६।४४	अनवलोक्य फलं त्वमनुग्रहं	१८।७६।२६३
अथावगच्छ द्विविधं तपस्त्वं	१५।१३०।२०२	अनादिकालं भ्रमतो भवाब्धौ	१२।५६।१५१
अथास्ति कच्छाविषयः प्रतीतो	१२।१।१४३	अनाप्तपूर्वं भवतां प्रसादात्	११।६८।१४२
अथाहि शुद्धे सुविशुद्धलक्षणा	१०।७९।१२९	अनादि सांसारिकचित्रदुःख	१२।५१।१५०
अथेह भारते वास्ये	३।१३।२३	अनादिमिथ्यात्वनदातुरात्मने	२।१५।२५
अथैश्वरो विश्वजनीन	१।३७।६	अनादिनिधनो जीवः	३।३०।२५

अनाप्तलक्ष्मीरिति विचार्य धीरता २।२३।१६
अनात्मनीने कुमतः क्रियाविधौ १०।५०।१२५
अनारतं रतं तासां ४।१००।३३१
अनियुद्ध धीर्यमसमान १६।३६।२२३
अनिम्बनेन ज्वलवेन धीरस् ९।८९।११४
अनिन्दिता वैक्रियिकाः शतानि १८।९३।२६६
अनियतपथबन्धकारणं त्वं ११।३१।१३६
अनुकूलतमेऽपि सोदरस्य ४।३६।३७
अनुदिनं कुमुदं परिवर्धयन् १८।६०।२६०
अनुपमसुखसिद्धिहेतुभूतं ११।४३।१३८
अनुरागपराजितं जगत् ७।१६।७७
अनूनकान्तेर्जिनसंविधान १८।४२।२५६
अनूनशीलाभरणैकभूषा १२।१७।१४५
अनूनसत्त्वा बहुरत्नशालिनो १०।२२।१२१
अनूनसत्त्वेन विमत्सरात्मा २।४२।१८
अनेकशो यत्र मृतो न जातो १२।५७।१५१
अनेकसंख्यासु कुयोनिषु भ्रमन् १०।५१।१२५
अन्धकारशबरेण गृहीतां १३।५८।१६२
अन्धकारपटलेन घनेन १३।५०।१६१
अन्तर्मदं करिपतेरिव बृंहितानि ६।५४।७२
अन्तर्मुहूर्तस्थितिकं यदायुस् १५।१६०।२१०
अन्यस्मिन्नहनि धनञ्जयो जिनेन्द्रं १४।११।१६९
अन्यरक्तहृदयापि निकामं १३।७१।१६४
अन्यथा निजवधूजनालये ८।४५।९६
अन्यदा वन्यनागेन्द्रं ३।२१।२४
अन्धेषुराधाय सिताक्षसूत्रं ५।२७।५१
अन्येद्युः प्रविलम्बदर्पणे स्वबिम्बं १४।४०।१७३
अन्येद्युरात्मसमबद्धित १।५२।९
अन्यैरवाप्यं युधि कामदेव ९।७१।११२
अन्योऽहं स्थिरा शरीरत इतो १५।९४।१९४
अन्योऽन्यमाहुम विनापि वैरं ९।८।१०३
अपत्यवदनाम्बुजावीक्षणावधि १०।५४।१२६
अपनय शिखरं गिरीन्द्रपक्षोद्यान् ११।४४।१३८
अपनय रजनाव कम्पतोऽस्मो ७।९७।८८
अपनीतसपत्नबाधि ३।४।२३
अपनीतकण्टकक्षुपोपलाविका १८।८५।२४५
अपवर्गविकारवर्जनार्थं १६।१४।२२२
अपराः, सरसीरुहाटिनी ७।५७।८३
अपरिग्रहोऽपि स महद्धि १६।४८।२२४
अपरे न च शासयन्ति यो ७।५६।८३
अपरेद्युरनूनसत्त्वयुक्तो १७।११९।२४७
अपहृतकुचकञ्चकध्वजाद्यान् ७।९३। ७
अपसव्यविषोऽथवा निगदितो १५।१४६।२०७
अपास्तपद्मा कमलेव कान्ति ५।१७।४९
अपि जातु न प्रकृतिसौम्य १६।५१।२२४
अपि नाम तृणं च दुर्बलं ७।३९।८०
अपीषदुन्मुकुलांकुराङ्कितं २।४८।१९
अप्येवं समनुभवन्वशाङ्क १४।३७।१७३
अभवत्कमलेव यौवनस्य ४।१३।३४
अभवत्त्वं गिरौ तत्र ३।१५।२३
अभयात्मतया प्रहृष्टचेता १७।९८।२४४
अभवद्विमुखो भवान् तस्मिन् ४।६८।४१
अभिगर्जति तावुद्यतो ७।४४।८१
अभिधाय गिरं प्रपन्नकाला १७।१०९।२४५
अभिधाय धीरमिति १६।१९।२२०
अभिमानिनमार्द्रचेतसं ७।३५।८०
अभिरक्षितामपि तवासिलता ५।६९।५६
अभिवन्द्य तपःश्रिया समेतं १७।११७।२४७
अभीवस्तुस्तौ प्रधनाय वीरा ९।७४।११२
अभूतदाभस्य विनाश विभ्रमा २।१२।१४
अभेद्यमप्यावरणं विभिद्य ९।४४।१०८
अभ्रङ्कषान्तर्गतनीलं १।१५।३
अभ्यर्चयन् जिनगृहान् १।६५।१२
अभ्यस्यसामन्तसनाभिसंहृति २।३६।१७
अमानवाकारमुदीक्ष्य लक्ष्मया ९।८३।११३
अमितक्षमामृतजलेन १६।४९।२२४
अमृतच्युता मुनिगिरा १६।११।२१९
अमेयकान्तिसम्पत्ति ३।७६।२९
अमेयमान्तीर्यगुणस्य दूरा १२।२६।१४७
अमोघयुक्तयुक्तं ८।८६।२०१
अम्भःकायिकसत्त्वहिंसन १५।१२०।२०००
अम्भोराशिः करानिन्दोः ३।६०।२७

अर्धं चतुर्णां त्रिभवार्द्धयायिनां १०।७।११८
अर्धमुक्तस्वनेन पूर्णौ ७।१००।८८
अर्धेन्दुचन्द्रस्य कलो ४।७२।४२
अर्धेवाभिनिवेशितः फलं ७।२७।७९
अरतिना प्रसृतरसं विचिन्वः ९।३६।१०७
अरतिना मूर्धनि मुद्गरेण ९।४३।१०८
अरण्यतामुपः सन्तु कृतोऽपि १६।२५।२२१
अर्वाग्व्यञ्जनयोगसंक्रमणतः १५।१५७।२०९
अर्वैरविघनोरधान् सफलयन् २।७०।२२
अर्थशास्त्रविहितेन वर्त्मना ८।२६।९२
अलंकरोतीन्दुकरावदातं ५।१०३।६०
अलंकृतद्वारमुखी १।२२।४
अलंकृताशेषमहीतलेन १।४२।७
अलङ्घनीयस्थितिमत्सु १०।२१।१२१
अल्पारम्भपरिग्रहत्वमुदितं १५।४३।१८३
अवगमनमपाकरोत्यविद्या ११।४५।१३८
अवगाहकटाहकर्करी ७।७६।८५
अवयम्परिपाक दु.खबीजं ४।२१।३५
अवतीर्य ततः पुनः ३।८१।२९
अवतीर्य दिवस्तयोरुवारस् ४।१५।३४
अवतीर्य यतीमुख्या ३।२३।२४
अवनम्य पदे पदे शिरोभि ४।१९।३५
अवनिं प्रसाधयितुमेव दिवस् ५।५३।५४
अवबोधविधौ विशुद्धता ७।८।७६
अवबोधवारि दामकारि १६।६।२१८
अवरोधनमेतदञ्चितं ७।८१।८६
अवलम्ब्य हरेस्तदा तदाज्ञा ९।१०।११७
अवलोकयति स्म स स्वदेशं ४।६२।४०
अवलोकनमात्रसत्फला ७।८६।८६
अवलोक्य तां प्रथमगर्भवतीं ५।५६।५५
अवाप्य राज्ञां शिविरैः समन्ततः १०।७१।१२८
अवाप्य सम्यक्त्वमतीव दुर्लभं १०।४५।१२५
अवाप्तसाधुश्रवणेषु सादरं १०।१९।१२०
अविचिन्तितमप्ययत्नतः ७।५।७६
अविनाशयन्प्रतिभयं जगतो ५।७५।५७
अविभाहिषमदेभकुम्भकुटानां ११।२१।१३५
अविरतदुरितास्रवानुबन्धात् ११।५।१३२
अविरतिसहितैः कषाययोगैः ११।२६।१३५
अवेहि सत्संहननस्य सत्फलं १५।१४०।२०५
अवैषि किं त्वत्क्रमसेवया विना २।२४।१६
अव्याबाधं परमतिशयानन्त १८।९९।२६७
अशक्तमादौ मधुरं मनोहरं १०।४०।१२४
अशितं हृदयप्रवेशकं १७।२०।७८
अंशुकामिलफणीन्द्रकञ्चुक ८।५४।९७
अशेषभावाः क्षणभङ्गुरा न किं १०।३८।१२३
अश्रुकण्ठमपहाय कः सता ८।२७।९३
अश्वग्रीवे दुर्निवारोरु ६।७०।७५
अष्टौ सहस्राणि षडाहतानि ५।३०।५१
असत्यवादित्वरतिं च नित्यं १५।३८।१८२
असाध्यमन्यस्य बलेन युद्धे ९।८०।११३
असुहृत्त्वविधावुपस्थित ७।४५।८१
असूत कालेन यथाक्रम सुतौ १०।२८।१२२
असूत कालेन ततः सुत सतो २।४४।१८
अस्ति तत्र सकलोज्ज्वलवर्णा १३।७।१५४
अस्तीह मन्दिरं नाम ३।९०।३०
अस्त्यत्र शैलो विजयार्धनामा ५।१००।६०
अस्त्युत्तरतटे तस्या ३।१४।२३
अस्नेहसयुतदशो जगदेक १७।८६।२४२
अस्मिन्प्रतीहि भरते भरतेशवंशो ५।११०।६२
अस्याः पुरे भारतवास्यलक्ष्म्या ३।१११।३२
अहमेव हि वेधि केवलं ७।४८।८२
अहिंसादीनि सरक्ष्य ३।४१।२६
अहोभिरल्पैरथ नूतनेश्वर २।४०।१८

आ

आकर्षमाकृष्य धनुर्निघातो ९।११।१०४
आकर्ण्य तस्य वचनं ४।९१।४४
आकाशस्फटिकमयस्ततः १८।२७।२५४
आकृष्टवान्खेचरकन्यकानां १२।२५।१४७
आकृष्टाः सुकृतफलेन रत्नभूता १४।३९।१७०
आकृष्टो विषयसुखैर्न योऽपि १४।४३।१७४
आगर्भवासविरक्तात्प्रभृति १।६१।१२

[illegible]	६।२०।१६९
[illegible]	१५।१४।१२०।१
आत्मानमेवमपदेऽप्यनुराग	१७।६२।२३८
आत्मोत्कर्षादरक्षणमित्यन्त	६।१५।१६५
आरात्रिकक्रमचा मनीषिणः	८।७०।१९९
आत्मप्रशंसा च परात्मनिन्दा	१५।४९।१८१
आत्मनो धनमित्येव वियासु	१३।३६।१५९
आत्मंभरित्वावगृह्य यानं	४।८७।४४
आत्मात्मीयायाः स्वसंकल्पबुद्धिः	१५।१३९।२०५
आदाय हस्तेन घटो गजेन	९।२७।१०६
आधानां तिसृणा परा स्थिति	१५।७३।१८९
आद्यस्य शाक्यस्य मनोहरस्य	१८।३१।२५६
आद्यस्य शाक्यस्य मनोज्ञ	१८।३८।२५६
आनतो मुकुलिताग्रकरश्रीः	१३।३८।१५९
आनम्रराजकशिखारुणरत्न	१७।२०.२३१
आपाण्डुता तनुरियाय तदा	१७।५५।२३७
आबभौ गुणविनम्रमुन्नतं	८।६५।९९
आबभौ नभसि लम्बपताका	१३।३०।१५८
आबभौ नवजमारुणकान्तिः	१३।४३।१६०
आभाति वाताहृतपूर्णमाला	१।१६।३
आमन्द्रध्वनिपाञ्चजन्य	८।८७।१०२
आमुक्तमौक्तिकविभूषण	१७।१३।२३०
आमूलस्तूनावतहृस्तदेया	९।३०।१०६
आयासवेगपवनेन विकृष्यमाणा	१७।६७।२६९
आयान्तमन्तकनिभं	४।७७।४२
आयासौ तं सखा सुप्तं	३।२५।.४
आयुःस्थितेरप्यपरं निकाम	१५।१६२।२१०
आरक्तकैकिप्रवरहं	१।२१।४
आरक्तवाहुगतिवेषविलोल	६।३।६३
आरोपितप्रणवणामरचा	१।५९।१०
आर्तं रौद्रं अरणाग्र	३५।१४।२०५
आर्तं विद्धि मनुष्यिवं	३५।१४।२०५
आर्द्रोशीरा नवनलाम्बुसेकैः	१२।६५।१५९
आलोक्यन्तं अखिलजगते [illegible]	५।४९।७२
आवन्ध्या मुकुलीकृताक्ष [illegible]	१५।१६५।१२०
आशिङ्गन मुखकरेण [illegible]	९।२।६४
आशिङ्गनसुखं [illegible]	१३।३३।१६५
आशीलोक लोपकरिराजचिह्ने-	६।३९।६९
आशोकाश्चितकीर्तिस्त	४।६८।२४
आवश्यकाहानिवकन्ति मार्ग	१५।४८।१८३
आवासी कपति सान्न	१३।४७।१६१
आवासमात्मासु विधो वनीषु	१५।१२०।१९८
आवासान्प्रतिपद्यतेति	७।१०३।८९
आविष्टपान्त्राध्वन यति	१५।१८७।२१४
आशाः प्रसेदुरथ देहभृता	१७।५९।२३७
आशु संपत्तविहङ्गनिनादैः	१३।४०।१५९
आश्लिष्टो वननपि राजराज	१४।३८।१७३
आश्वसाद कृतान्तस्तं	३।७१।२८
आसाद पाण्डुकवनं	१७।७९।२४०
आसाद राजकुलमाकुल	१७।७१।२३९
आसीत्स्वात्मजो नाम्ना	३।५६।२७
आस्फालितारवसनिर्दय.	६।३८।६९
आहूतोऽपि मुहुरमकराग्रं	१३।१०।१५५

इ

इतस्ततोऽभावत कोहवाणैः	९।४२।१०८
इतरेतरस्यभूषण	७।७०।८४
इति कठकमर्यमुद्दिश्यन्तः	७।१०।१८८
इति कुरु मनसि त्वमक्षयश्री	११।३७।१३७
इति कृत्यविधौ विदा सदा	७।५०।८२
इति गामुदीर्य रचितभ्रकुटि	५।७७।५७
इति गामभिधाय सादरेषा	४।५२।३९
इति चिरमनुशिष्य तत्त्वमार्ग	११।५०।१३९
इति तद्वचनं निशम्य पत्युः	४।४६।३८
इति तद्वचनं विशम्य सम्यक्	४।५०।३९
इति तद्वचनेन विस्मयन्ती	४।६५।४१
इति तस्य मुदा नरेन्द्रलक्ष्मी	१३।८१।१६७
इति ते विकथोपकल्पितं	७।५४।८२
इति तेन निवेदिता विधित्सा	४।५८।४०
इति त्रिदशं मतिप्रसादयन्त्	२।५।६४
इति दानफलेन स त्रिदीवः	१७।१२८।२४७
इति धाम त्रिलोकिपत्तये	१८।४३।२५७

इति नरकभवाद्विभिन्न	११।२४।१३५
इति नन्दनाय समुदीर्य	१६।११।२१९
इति परिकथिता भवावलिस्ते	११।२५।१३५
इति पौरुषसाधनं परं	७।४९।८२
इति प्रजासु प्रतिवासरं	१०।२७।१२२
इति प्रधानाग्रहतानधाम्नी	९।८१।११३
इति प्रभुः प्रव्रजनाभिलाषुकः	२।१८।१५
इति प्रफुल्लद्रुमराजि	२।६२।२१
इति भूपतिः सुतयुगेन	५।९४।१५९
इति भूरिबलं पुरो वितन्वन्	७।९०।८७
इति मासमेकमचल	११।६३।१४१
इति विक्रमशालिनां	४।७३।४२
इति वाक्यमुदीर्य भूपतौ	७।७।४६
इति वाक्यमुदीर्य मन्त्रिमुख्ये	४।४८।३९
इति वासुपूज्य जिनतीर्थ	१६।६२।२२६
इति संवरनिर्जरानिमित्तं	१५।१६७।२१२
इति स्फुटं तुरगबलस्य	६।६८।७४
इति स्थितं निष्क्रमणैक	२।२७।१६
इति स्वशक्तित्रयसार	२।४३।१८
इतीदमात्मैकहितं	२।१७।१५
इतीरयित्वा वचनं वचस्वी	१२।५९।१५१
इतीरयित्वा तनयस्य मूर्धनि	२।३१।१७
इतीरितां भूपतिना मुमुक्षुणा	२।२२।१६
इतो निशम्योपवने स्थितं	२।६५।२१
इत्थं मनोभववशीकृत	१३।७२।१६५
इत्थं तदा निगदितः	६।१३।६५
इत्थं धुरं विधुरवर्जित	१२।७०।१५३
इत्थं निगद्य विबुध	११।७०।१४२
इत्थं मया कृतनुतौ	१८।८१।२६४
इत्थं वचोभिरचिराय	१३।८०।१६६
इत्थं हरिस्मश्रुमुवार	६।६५।७४
इत्थं प्रदाय तनुजां	६।२२।६६
इत्थं स सांसारिकसौख्य	१२।३७।१४८
इत्यग्रहीतां प्रतिमुक्तं	६।२६।६७
इत्यावेद्यावधिवपुगिरस्तस्य	५।११३।६२
इत्युदाहृत्य वचनं	३।११।२३
इत्युदीर्य विरते वचः परं	८।४१।९५
इत्युक्त्वा विरतवति स्वकार्य	५।१०९।६१
इत्येवं विफलितसर्वशस्त्र	९।९१।११५
इदमनन्तचतुष्टयवैभवं	१८।६९।३६२
इदं च पुंसां भवकोटि	२।१४।१५
इदमद्भुतमीदृक्षेऽपि कोपो	४।६९।४१
इदमीदृक्षमेव यत्प्रणीतं	४।४५।३८
इन्द्रस्तदा विकसिता	१७।३१।२३१
इन्द्रियार्थरतिरापदां पदं	८।२१।९२
इन्द्रियेष्टविषयेषु निरुत्सुक	१५।१०९।१९७
इन्दीवरश्यामरुचिः पतन्ती	९।३५।१०७
इन्दुरश्मिभिरगाधतयान्तो	१३।६४।१६३
इमे मम प्राणसमाः सनाभयः	१०।३७।१२४
इममुरगरिपुध्वजेन लक्ष्या	७९९।८८
इमं भवद्भिः स्थितिराजबंजवी	१०।४८।१२५
इरम्मदोद्गारिभिरुन्नादैः	१२।६४।१५२
ईदृग्वधो मतिमतां वर	६।१४।६५

उ

उक्तास्त्वात्रवहेतवः	१५।९६।१९४
उक्तौ तस्य द्वावधीशौ	१५।२२।१७९
उक्त्वेति संपृष्टवते यथावत्	१८।८४।२६४
उच्चारणाचतुरचारण	६।१९।६६
उज्जचाल बलमाज्ञया	८।८१।१०१
उज्जतः खलु परस्परनाशि	१३।४१।१६०
उत्तीर्याप्ता दुस्तरं ये	१५।१४।१७८
उत्क्षेपकस्फटिकदर्पण	१७।७७।२४०
उत्प्लुत्य खातमचिरेण	४।७६।४२
उत्पन्नमात्रमानन्दाद्यं नीत्वा	३।५३।२७
उत्पादनं स्वस्य परस्य	१५।३१।१८०
उदपाटयन्मुदमुदारमति	१६।५५।२२५
उदपादि दिवश्च्युत्वा	३।८७।२९
उदरस्थितस्य वज्रसेव युतं	५।५४।५४
उदाजहारेति सभा तमीश्वरं	२।३७।१७
उदीरितावामिति वाचि	१०।६३।१२७
उद्भूतवान्स परिवृढो	१।६६।१२

उद्भिद्य क्षितितलमुत्थितो	१४।२।१६८
उद्भिद्यमानलवयौवन	१।५१।९
उपतः शलभूतो मनुष्यान्	१३।५५।१६२
उन्मत्तं दशशतारसंयुतं	८।५९।९८
उन्मीलितावधिदृशा सहसा	१७।६१।२३८
उपकर्णमराज्ञिसैन्यवार्ता	८।८५।१०१
उपनच्छति सामभिः शमं	७।४३।८१
उपयम्य परिव्राजा	३।८२।२९
उपनम्य चतुःशतैर्नरेन्द्रैः	४।८३।३५
उपनम्य विनिर्जितारिजातं	४।२४।३६
उपनीकृतभूरिगोरसै	७।८०।८६
उपयाति न विक्रियां पर	७।२४।७८
उपयाति जडोऽपि पाटवं	७।१०।७७
उपयान्तमथैकदा विलोक्य	४।६६।३५
उपलक्षय सूक्ष्मसाम्परायं	१५।१२८।२०२
उपशाम्यति मार्दवेन यो	७।२३।७८
उपास्तसर्वर्तुगणो निरन्तरं	१९।१७।१२०
उपेत्य हृष्टाङ्गरुहैः समन्ताद्	१२।४३।१४९
उभयतटनिविष्टनारकौघैः	११।१३।१३३
उर स्थले कस्यचिदप्यसह्या	९।३४।१०७
उरुसौधतलस्थ वन्मतीनां	४।९।३४
उरु पौरुषं रिपुषु साधुषु च	५।४८।५४
उल्लसन्मणिवातायनजालनिर्यद्	४।७।३३
उल्कासहस्रज्वलितान्तरिक्षा	९।९०।११४
उल्लङ्घ्य मन्त्रिवचनं	४।८३।४३
उषस्यकालकृष्यमणो	१५।८५।१९२
ऊचे तं तु विहस्य	९।५६।११६
ऊढजानिरपि मन्मथवश्यो	१३।२८।१५८

ऋ

ऋतुभिः सकलैः सदा परीतं	४।२६।३६

ए

एभिः सर्वं विभुक्तमाश्रितेषु	१८।९७।२९७
एकदा वस्तुपालेन	३।३७।३५
एकदा सचिवं केऽपि विप्रियं	८।१।८९
एकदा सचिवमूलवासगं	१३।३२।१५८
एकदाऽथ वसुतो मुनिपुङ्गवात्	१३।२१।१५७
एकद्विकचतुर्भिरित्यभिहितो	१५।७६।१९०
एकस्मिन्नथ दिवसे सभा	१४।१५।१७०
एकस्यां दिशि केशवः	१८।१८।२५२
एकादशकमातमहानुभावात्	१८।९०।२६६
एकावलीतरलनीलकर	१७।६६।२३९
एकाग्रये विद्धि कुधाग्रबुद्धे	१५।१५२।२०८
एकीकृतक्षमातलव्यापुमार्गा	९।८६।११४
एकेन तस्यायतमार्दवेन	९।६८।१११
एकेन साधु जनतां प्रति	६।२।६३
एकेन्द्रियादिपञ्चत्वरिन्द्रियाम्ब	१५।१७२।२१३
एकोऽप्यनेकविधरत्नकरान्	१।३२।११
एकोऽयमेव सममूदनिराम	१७।२८।२३३
एतत्ते चक्रभुर्ग्रथितरिपु	९।९५।११५
एते पञ्च हि हेतवः समुदिताः	१५।६६।१८७
एतेषु कश्चिदपि यः सचरा	६।४२।७०
एवमुक्तमथ चक्रवर्तिना	८।१३।९१
ऐन्द्रं गजं मदजलार्द्रकपोलमूलं	१७।३८।२३४

ओ

औद्धत्यं नवनिधिभिः	१४।३६।१७३

क

कण्ठे निबद्धारुणभासरौचः	९।४११।०८
कदलीफलसावनावसाने	४।५।३१
कदाचिदुत्सङ्गमृगेन्द्रविष्टरे	२।२।१३
कनकावली परिसमाप्य	१६।४६।२२४
कन्यया स्वयमया प्रयोजनं	८।१५।९१
कपिलभ्रूधनुर्भीमो	३।१७।२४
कपोलमूलश्रुतचामलोलुप	२।५।१३
करचरणधुर्मिर्विर्जितोऽपि	१२।२२।१३५
करान्गृहीता परचक्रभूभृतां	२।६।१३
करिणां कदलीष्वलोलकराः	७।६३।८३
करिणां पतता विहायसा	७।७४।८५
कर्ता जीवः सदसु नाम्ने	१५।१६।१७८
कर्णीकृतानि स्वान्तस्थापी विनेयाः	१५।२०।१७९
कलकलिकलिलकलम्बुकान्वयान्	२।३३।१७

[illegible]	१०।२३।१२१	कृतभूरिपरामर्शेऽपि सभ्ये	४।७१।४२
[illegible]	३।१०१।३१	कृतमङ्गलं सपदि राजकुलं	५।१६०।५९
[illegible]	१४।५।१६८	कृतं महावीरचरित्रमेतत्	१८।१०२।२६८
कथामर्मेदानीम् वक्ष्यविंशति	१५।६५।१८७	कृतार्थतामेत्य सुराचलस्य	५।२८।५१
कस्य वा बहुविधं मनोरमं	८।३०।९३	कृत्वा तपश्चिरतरं स	४।८५।४३
कस्य वा भवति कः सरला	८।४७।९७	कृत्वा यशोभिरतमथात्मजयो	१०।८२।१३०
कंदर्पतप्तमनसामिह	१३।७५।१६५	कृत्वाहमीदृक्षमनात्मसमं	४।८२।४३
काञ्चनप्रविधिनिर्गतानल	८।५८।९७	कृत्वायोगनिरोधमुज्झित	१८।९८।२६७
काचिदास्तु भविरामदमोह	१३।६९।१६४	कृत्वाथ वीर इति नाम	१७।८३।२४१
कान्तोऽपि यत्कूटतटो	१२।५।१४३	कृत्वापरः करसहस्रमनेक	१७।६४।२३८
कीर्यस्वभावो जगतः स्थितिश्च	१५।६१।१८६	कृत्स्ने भूते चानुकम्पातलाक्ष	१५।२८।१८०
कायालापस्वान्तकर्मैकयोगो	१५।२१।१७९	कृशं निजक्रूरकृशं तपोभिः	१२।४०।१४९
कार्त्या; कल्याणमुच्चैः	१८।१०१।२६७	केकिनां कलभरानताम्बुदः	८।६२।९८
कालान्तरादधिगतावसरो	३।३६।६९	केचित्स्वमौलिशिखरस्थित	१७।६५।२३८
किञ्चिदग्न वेत्ति पशुरेव	१५।१२३।२००	केयूरहारकटकोज्ज्वल	६।२१।६६
किं न सन्ति बहवो मनोरमाः	८।१६।९१	कोपेन पल्लवितभीषणदृष्टि	६।२४।६७
किमिदं कथितं न तत्त्वतः	७।५१।८२	क्रान्ताम्भोपथैरनेकविटपैः	१८।४५।२७५
किमिन्द्रियार्थैः पुरुषो न	१०।३९।१२४	क्रान्तापि यद्गर्भमहामरेण	५।२३।५०
किरीटकोटिविन्यस्त	३।६।२३	क्रीडासु चित्रासु च तत्परत्वं	१५।३३।१८१
किं वपोऽपु सदृशः पराक्रमः	८।४६।९६	क्रुधा तदीये हरिकन्धरोऽपि	९।६७।१११
किं कौमुदी तनुमती नहि	१७।२५।२३२	क्रुद्धे यमे त्वयि च जीवति कः	६।४३।७०
कुञ्जराननुकुलाद्रि	३।२०।२४	क्रोधस्य लोभस्य च भीरुतायाः	१५।१५।१८५
कुट्टिमेषु सलिलाभिशङ्कया	८।५५।९७	क्रोधोद्धतः समदशावव	६।२२।६८
कुन्दकुड्मलसत्कान्ति	३।८०।२९	क्षणमपि विवशास्तुधा क्षुधा वा	११।५८।१४०
कुन्दवीक्षाततुरङ्गनस्विषं	८।७७।१००	क्षणमात्रममोपविश्य पूर्वं	४।५६।४०
कुन्दावदातस्तुरगोऽवतारे	९।२०।१०५	क्षान्तिः सत्योक्तिर्मार्दवं	१५।८४।१९२
कुपितस्य रिपोः प्रशान्तये	७।२१।७८	क्षिणोति शुद्धया सहितोऽनिवृत्तिः	१५।१७३।२१३
कुम्भेषु मन्मनिजबर्हवर्ष्मे	९।१४।१०४	क्षिप्रं विहाय कुमुदानि	१३।७७।१६६
कुम्भौ सरोरुहवृतौ फल	१७।४०।२३५	क्षीरमेव रसनावशीकृतः	८।४३।९५
कुरु करभमपेतयत्नभारं	७।९६।८८	क्षीरोदफेनपटलावलि	१७।८७।२४२
कुर्वाणाः कर्णपूरक्रियमिव	१८।१३।२५१	क्षीरोदधे रतिमुदा तरसोप-	१७।८१।२४१
कुर्वन्प्रलापमिति मानस	३।१०८।३१	क्षीरवारणशिरोविदारणे	८।३९।९४
कुलव्रताः क्षीविषवः	१०।७४।१२८	क्षुतसुभगतकम्पिसक्तमेदसा	१८।५८।२६०
कुलाभिमानं विपुलां च लज्जां	९।४६।१०९	क्षुद्वेदनीयोदयबाधितोऽपि	१५।१०३।१९६
कुशलं सकले निमित्ततन्त्रे	५।१०७।६१	क्षेत्रं कालचरित्रलिङ्गवशयः	१५।१९१।२१६
कृतचारुवधूवधिः क्रमज्ञः	५।५७।५५	क्षेत्रेषु यस्य सलिलं सकलम्	१७।३।२२०

श्रीमीसार्थं प्रणम्य शक्रस्य ५।१२५।१३३

श

श्रङ्गप्रहारैर्विक्षतविमानां ९।१७।१०४
श्रवसरपक्षनाविधातक्षयां ११।५५।१४०
श्रवलबदशनैः शिवाभुगाणैः ११।६१।१४०
श्रुरानिघातप्रभवो हयानां ९।३।१३३
श्रेषैः कवचितैवदामुखैः ८।७४।१००

स

सच्छत्रि प्रथमसम्मदोदयात् ८।६४।९८
सज्जं सज्जं पटहाः प्रणेदुः ९।२।१०२
सणकस्त्रिकालविदनुज्झतनुः ५।६१।५५
सणाधिपैरुक्तमुदार ११।४।१
सतभयदशमे भवाद्भवेऽस्मात् ११।४८।१३९
सतिरियमशुभप्रदा च का का ११।९।१३३
सतिषु सतिमुपैति बन्धदोषात् ११।२७।१३६
सत्यक्षणि स्थानभेदादशेषान् १५।८।१७७
सत्वा महीपतिभिराप्तु समं सहस्रैः ४।८४।४१
सदाप्रहारेण बलोऽपि तस्य ९।७६।११२
सर्जज्जिमृगेन्द्रैः स्थिरसुङ्गशृङ्गैः ९।८८।११४
सर्भस्थितस्य विमलावगम १७।२४।२३७
सर्भस्थितोऽपि स जहे १७।५२।२३६
साढोपगूहनसुधासलिलेन ६।६।६४
सुखविशेषविदः स्वसुखेच्छया १८।७१।२६२
सुणिनां चकार स गदेषु १६।४१।२२३
सुणिनां भवति प्रसङ्गती ७।४।७६
सुत्यन्विर्तैः समितिधर्म १५।८२।१९२
सुपतामुपयाति यन्मृतः ७।४०।८०
सूक्ष्मप्रहाराकुलितो मुखेन ९।३३।१०७
सृष्टितनेरुच्चविलासविभ्रमं २।६९।२२
सृष्टकल्पमनुपद्विकः समयः ११।३९।१३७
सृष्टपात्रपरिं हित्वा २।९३।३०
सृष्टप्रभे सुखं चलविद्युदभिरञ्जनम् ९।२५।१०५
सेतुरोधसिलाद्रयोभिरेषि १३।४६।१६०
सोमप्रभेण चरमेण सता १७।२।२२७
सौधाभ्यूहपुरे सरित्यम् ३।१२।३०

ह

हस्तप्रियं सुगमसुखितप्रियं ८५।१८।१९९
हीमानाम्नविमृतिविचारणम १५।१३६।३०४
हीमे महोत्पातकुलाचलस्त्रये १२।६३।१५२

ह

हनुमहनपरीतवक्त्रभूषा ११।१९।१३४
हनुस्तम्भमूलमपि नाम १६।५।२१८
हंसस्तपक्षेषु निमानवक्त्रम् ९।२४।१०५

ह

हस्तगणिमनुगीय मत्सुतं ८।१७।९१
हस्तक्रियां परिगतोऽहमिति ६।५७।७२
हस्तं प्राप्य स विष्णुरेव ९।१००।११७
हस्तं सहस्रारमनोवशांस्ति ५।२९।५१
हस्तीकृत्य सुरैरमर्युपरि १८।४६।२५७
हस्त्यश्वरथं सुरविमानमनन १७।४१।२३५
हतुःपयोरुविषयोधरश्रियं २।७।१४
हतुर्दशप्रहारत्न ३।५७।२७
हतुर्विकल्पं निगदन्ति १५।१४८।२०७
हतुर्महाविग्रहविजयप्रभेदाद् १८।३६।२५६
हतुर्महादिषु यतीश् १८।३१।२५५
हतुर्व्रतैरासंयतपूर्वसम्यग् १५।१७०।२१२
हन्त्राकृतिर्भुतिहरं बबली १७।७५।२४०
हन्द्रांशुभ्रैरपि स प्रजासु १२।३४।१४८
हन्द्रोदये चन्द्रमणिप्रणद्ध १।३३।६
हरणी विनिवेद्य लोकयात्रां १७।९७।२४४
हापं विहायासिलतां गृहीत्वा ९।५९।११०
हारणी हरिबोधाय ३।२४।२४
हारिषमाद्यं कथितं जिनेन्द्रैः १५।१२५।२०१
हास्तरा विरहिता न पुरन्ध्रिः १३।५।१५४
हिच्छेद वेगात्सहु वेसुदण्डया ९।५८।१३०
हिमाद्रुमो हिमुखवायव ६।२८।६७
हिमाद्रुमा कनकविभक्तमाद्रुमम १७।३४।२३४
हिमाद्रि शब्दविशालवाप १४।३६।१७२
हिरण्यवर्णं समवस्तपत्रा ३।८३।३५
हिरण्यवीर्यपुमा गिरीयमाणी १५।५।२१९
हिरं स्वयुद्धुका परिचिन्तय १५।५६।२१७

चिरं चिन्तयतैवमुदार	१०।४७।१२५	जिनोदितं तत्त्वमवेत्य तत्त्वतः	१०।४३।१२४
चिराय जानन्निति सर्वसङ्गे	१२।५८।१५१	जीवत्वं चाभव्यता भव्यता च	१५।१३।१७८
चूडामणिश्चुतिविराजित	१७।३२।२३३	जीवाजीवौ पुण्यपापास्रवाश्च	१५।५।१७६
चूडारत्नांशुजालैः किसलयित	१५।१५९।२१०	जीवास्तेषु द्विप्रकारेण भिन्नाः	१४।६।१७६
		जैनेषवोऽस्मन्मनसो मकरध्वजस्य	१६।१०।२२९
छ		ज्ञात्वा क्षणादवधिना सकलं	११।६६।१४१
छिन्नं च चक्रेण शिरः करेण	९।२२।१०५	ज्ञात्वा तवोर्विविधामथ	६।१०।६५
छिन्नाः समस्ता भवतो महिम्ना	८।८४।१०१	ज्ञानं च तस्य क्रियया	१२।६९।१५२
छिन्ने परे दक्षिणबाहुदण्डे	९।३९।१०८	ज्ञानावृनिर्दृष्टिवृतिश्च वेद्यं	१५।७१।१८८
छिन्नोऽपि हस्ते सुभटासिघातैः	९।१९।१०५	ज्ञानावृतिः पञ्चविधा च दृष्टचा	१५।११७।२१३
छिन्नोऽपि जङ्घाद्वितये	९।१०।१०३	ज्ञाने तपस्यप्यकृताभिमानो	१५।१२१।२००
छेदोपस्थापनाख्यं निरुपम	१५।१२६।२०१	ज्ञानेक्षणावरणदेशवृतिश्च	१५।७७।१९०
		ज्याघातजैः किणकिणैः	६।३५।६९
ज		ज्योतिःसुरा हरिरवानुगतात्म	१७।६९।२३९
जगति यस्य सुदुर्धरमूर्जितं	१८।५९।२६०	ज्योत्स्नया सरसचन्दनपङ्क	१३।६२।१६३
जगद्वशीकर्तुमलं मनोभुवा	२।६०।२०	ज्वलनजटिलः श्रुत्वा वाणी	६।७१।७५
जगाद चैति क्व गतं बलं ते	४।९०।४४	ज्वलन्मणिविमानान्त	३।७७।२९
जंघामृदुत्वेन हृता नितान्तं	५।१८।४९		
जनता हिताय तमिताश्च	१६।५९।२२५	**ञ**	
जनयतीव रुचिं त्वयि भव्यता	१८।७९।२६४	ञाङ्कारितेऽलिविरुतैर्मलया	१।५३।०
जन्मनः खलु फलं गुणार्जनं	८।७।९०		
जन्मव्याधिजरावियोगमरण	१५।९३।१९४	**त**	
जरागृहीतं नवयौवनं यथा	१०।४४।१२४	तटपविसिकताविभिन्नपादः	११।१२।१३३
जरीवीचीभङ्गो जननसलिलो	११।६९।१४२	तडिदुज्ज्वलरुक्ममण्डनांस्	७।६७।८४
जलोद्धृतावुच्चतकच्छिकाना	१।१२।२	तज्जन्मकाले विमलं नभोऽ	१।४७।८
जवनिश्चलकेतनोत्करं	७।७१।८४	ततः परासीच्चतुरुच्चगोपुरैः	१८।२३।२५०
जवनिलाक्षुष्टपयोधरेण	१२।३१ १४७	ततः परा विमलजलाम्बुखातिका	१८।५।२५०
जहदात्मदृष्टिफललौल्य	१६।२३।२११	ततः पराण्यच्छपयोधराणि	१८।४।२४९
जाते तदा प्रथिततीर्थ	१७।६०।२३८	ततः परो हेममयः स्फुरत्प्रभो	१८।१९।२५२
जानाति स्वयमपि जीवते	१४।४७।१७४	ततः क्रमात्क्षीणकषायवीत	१५।१७६।२१३
जित्वार्ककीर्तेः सकलां च सेनां	९।६३।१११	ततः समुच्छिन्नपदादिकक्रिया	१५।१६४।२११
जिन तथापि मया हृदय	१८।५५।२५९	ततः सुतारा प्रविहाय पार्थिवान्	१०।८१।१२९
जिनवचनरसायनं दुरायं	११।४०।१३८	ततस्तदुध्वनिना ध्वस्त	३।२५।२४
जिनेन्द्रपूजां महतीं विधाय	१।४८।८	ततोऽवतीर्यास्तमितोरुपुष्पो	३।१०९।३३
जिनैर्दिरोधः परमास्त्रवाणां	१५।८०।१९१	ततो महाशुक्रमवाप्य कल्पं	४।९७।४५
जिनैर्यथाख्यातमिति प्रतीतं	१५।१२९।२०२	ततो द्विषड्योजनमात्रविस्तृतं	१८।२।२४९
		ततो वरादि तनुमच्युतो नतं	१०।४।११८

तस्यामजीजनत् तडित्,सत्यसक्त	१४।३।१७६
तस्याश्चक्षुरवलोकनकरं जनदेक	६।५९।७३
तस्यासनौ चलंतो मैत्रांस्	३।१९।२४
तत्र स्वकान्त्या विजिता	१।८।२
तत्र स्थितं जगति गौतम	१८।५०।२५८
तत्राष्टादशसागरायुरमर	१५।१९७।२१७
तत्रास्ति पुण्यात्मकृताधि	१।१४।३
तत्रास्ति त्रिजगदिवैकतामुपेतं	१४।३।११८
तत्रास्त्यसौ निखिलवस्त्ववगाह	१७।७।२२८
तत्रैव कल्पेश्वरसेवितानि	१८।२२।२५३
तत्रैव पुंवेदमथो विहन्ति	१५।१७५।२१३
तत्रैव स्फुरितमणिप्रभा	१४।१७।१७०
तथापि पुण्यास्रवहेतु	१।५।१
तदवेत्य पलायते जनान्तो	४।६४।४१
तदद्भुतं नो तमुपेत्य भूभृतं	२।४१।१८
तदपायभवामेव	३।७८।२९
तदयुक्तमार्य तव यानमिति	५।७९।५७
तदा सुतारामिततेजसौ समं	१०।७६।१२९
तद्गर्भतः प्रतिदिनं स्वकुलस्य	१७।०१।२४३
तद्गोपुराणा गगनाग्रभाजां	१८।२८।२५४
तद्गोपुरान्तर्गतचारुवीथी	१८।११।२५१
तद्गोपुरेषु प्रथितान्यराजन्	१८।२०।२५३
तद्गोपुरोच्छ्रितिकरं	१८।९।२५०
तद्व्यन्तराधिपतयः पटह	१७।७०।२३९
तनयाय वनं प्रदत्स्व राजन्	४।३०।३६
तन्वन्तमित्थं विजबाहुवीर्यं	९।५५।११०
तन्न चित्रमिह बुद्धिदुर्विधो	८।४२।९५
तन्मध्ये रुचिरं त्रिभङ्ग	१८।२९।२५४
तपसा सुनिरस्य घातिकर्म	१७।१०८।२४५
तपसा दहन्नपि स कर्ममल	१६।५५।२२५
तप्तमेव हि मया जगदेतत्	१३।३३।१५८
तमकीर्तिरस्तनयं निरीक्ष्य	१०।७३।१२८
तमवाप्य जीवनमवाप परा	५।६५।५६
तमुवीक्ष्य भवोऽवशेषमानं	१०।८५।१३०
तयोर्व्यधिष्णोरति वर्षमाणो	९।५०।१०९
तयोर्महावलयोरासीत्	३।६४।२७
तरुमूलगावलवदञ्चन	१६।२९।२२१
तव भक्तिः यथा परा त्रिपुष्टिः	१२।४६।१३८
तव निशम्य सुदिव्यरवं मुदं	१८।९७।२६२
तस्थुर्यतीन्द्रदिविजप्रवाणिकास्त्र	१८।३५।२५५
तस्थौ स तस्मिन्जिनवरप्रतीक्ष्यः	१८।३४।२५५
तस्मादेतत्खेचरा वासस्तारं	५।११२।६२
तस्माद्विनिर्गतमसौ	१।५८।१०
तस्माद्व न कार्यमभियानमनात्मनीन	६।५८।७९
तस्मिन्नशोकतरुचारुतले	१।५४।९
तस्मिन्वर्णे स्वहरिविष्टर	१७।४९।२३६
तस्मिंस्तरावपि समं स्वममोरथेन	४।७८।४३
तस्मिंस्तदा क्षुभति कम्पित	१७।८२।२४१
तस्य निर्मलकरस्य सुशीला	१३।१६।१५६
तस्य प्रिया महादेवी	३।६३।२७
तस्य प्रिया नरपतेः	१७।२४।२३२
तस्य प्रणयिनी चासीत्	३।७३।२८
तस्य शत्रुभवनं विलोकयन्	८।५७।९७
तस्य सान्निहितोऽथ वारिजः	८।६१।९८
तस्यार्क कीर्तेर्वचनोऽथ	९।६९।११२
तस्यार्ककीर्तिरवनीश्वर	६।७।६४
तस्याः पतिर्धैर्यधनः खगेन्द्रो	५।१५।४९
तस्याः परेद्युरथ चारणलब्धि	१७।९२।२४३
तस्याभिषेकसमये	१७।६३।२६८
तस्यामभूत्प्रीतिरनन्ययोग्या	५।२१।५०
तस्यास्विसंख्यमकृतैत्य	१७।५६।२३७
तस्यासंख्याता देवदेव्यः सभायां	१८।९६।२६६
तस्यासीच्च नृपतिः पुरस्य	१४।४।१६८
तस्यामवत्पालयिता विनीतां	१२।१३।१४५
तस्याच कान्तेरधिदेवतेव	१।४३।७
तस्याद्भुतात् केतनवंशयष्टि	९।६६।१११
तस्यां सुरा रत्ननिधाय	१७।८०।२४१
तस्येयुः परमरयोऽपि	१४।१४।१७०
तस्यैकदेशस्थितबालपिण्डो	१२।१९।१४८
तं आतमिन्नमवलम्य	१६।५५।२२६
तं दृष्ट्वा भणिसुकुरं	१४।४१।१७४
तं निवृत्य चरणौसत्सारे	१३।१२।१५७

सं पश्यितुं सकलाः समन्ततो	८।८०।१००
सं शिक्षाः प्रथममुपासिरे	१४।७।१६९
सं स्वर्गः पातयामास	३।८५।२९
सानिः स्वभावचिराकृतिभिः	१७।३५।२३४
सावदेव पुरुषः सचेतनः	८।१९।९२
सासामुपर्यनुपमद्युति	१८।३०।२५५
सिर्यगेवमूर्ध्वमकसुरास्त्र	१७।३६।२३४
सिष्टानें किमु भाषितेन	९।९८।११६
सिक्तसिक्ती विमलसलिला	१८।१४।२५१
सीमाक्षिकथुतमहाम्बुनिधेः	१५।१२२।२००
सीव्रः परं यः परिणामभेदी	१५।३०।१८०
सीव्रातीव्रज्ञातविज्ञातभाव	१५।२४।१७९
तुल्याः सर्वे निर्वृताः संप्रणीताः	१५।१४।१७८
तुल्ये रिपौ जगति दैवपराः	६।५३।७१
तृतीयशालस्य विचित्रकेतनैः	१८।४१।२५६
तृष्णाविहीनमथ गर्भगतं	१७।५७।२३७
तृष्णां विधर्षयति धैर्य	६।४६।७०
तृष्णां सदाभितजनस्य	१७।५।२२८
ते धन्या जगति विदां	१४।४४।१७४
तेनाम कल्पितसमस्तबलेन	८।८३।१०१
तेनामी समवसृतिः प्रसन्न	१४।५२।१७५
तेनोक्तामिति नरलोकसार	१४।२१।१७१
तेभ्यः परावुभयतोऽपि	१८।२१।२५३
तेषु भ्रवैराजन्मणिदामघण्टा	१८।१०।२५१
तैरेवान्तरिता बभूवुरिव नव	१८।२५।२५४
तौ धन्यती सर्वगुणाधिवासा	१।४५।७
तौ विरेजतुरनन्यसमानौ	१३।१७।१५६
त्यागः सुशास्त्रादिकदानमिष्टं	१५।८८।१९३
त्यागान्वितो यत्र सदा विरूपः	१२।११।१४४
त्रिकरणविधिना स्वपापभोगं	११।४७।१३९
त्रिभिरेव भवद्भिरर्जितैः	७।१२।७७
त्रिभुवनं सततं करणक्रमा	१८।५७।२६०
त्रिशालवर्योन्नत रत्नगोपुरे	१८।३७।२५६
त्वङ्मध्यजातः प्रथमस्य सूनुः	५।१०३।६०
त्वच्चित्तदुर्भवगम्य दुर्जयांस्	८।२३।९२
त्वया विरागादिविदोषवैद्यो	३।३४।२५
त्वया विना राज्यमपेत नायकं	२।२८।१६
त्वमेव वत्स प्रतिपन्नवत्सलः	२।१९।१५
त्वा देव निष्प्रतिमात्मसमं	६।१२।६५

द

दण्डं कपाटमथनं प्रतरं च	१५।१६३।२१०
दण्डो ध्वजे सम्मुरजे च बन्धो	५।१४।४८
दत्तार्धमप्यात्महितैः	१।२।१
ददृशे वनिताजनैः समं	७।७३।८५
दन्तैश्च गात्रैः करिणां करैश्च	९।४७।१०९
दर्भसूचिदलिताङ्गुलिक्षरद्	८।५१।९७
दलयन्महतोऽपि भूभृतः	७।८७।८७
दलिताञ्जनपुञ्जरोचिषो	७।८५।८६
दवनिभमुखदंशमक्षिकौघैः	११।५६।१४०
दवाग्निज्वालाभिर्जटिलित	१५।१०६।१९७
दश दश वररत्नतोरणानि	१८।२४।२५३
दशनांशुमण्डलनिभेन किरन्	५।७३।५७
दशाननुभवन्दिव्यां	३।७०।२८
दष्टोऽपि दंशमशकादिगणेन	१५।१०७।१९७
दानादिविघ्नकरणं परमन्तराय	१५।५१।१८४
दानाम्बुसेकसुरभीकृतगण्ड	६।६४।७४
दानिनं विपुलवंशमूर्जितं	८।७५।१००
दामद्वयेन भविता यशसो	१७।४४।२३५
दामद्वयं भ्रमवलिप्रकरं	१७।३९।२३५
दावानल शिखाकल्पा	३।९२।३०
दिनकर करजालतापयोगात्	११।६२।१४१
दिवसैरिति संमितैर्वधी	७।५९।८३
दिवसैरथ सम्मितैः स्वदेशं	४।५३।३९
दिवोऽवतीर्याथ विशाख	५।२२।५०
दिव्यदुन्दुभयो नेदुः	३।५२।२६
दिव्याञ्जनाजनमनोहरूप	१३।८४।१६७
दिव्याम्बराभरणमाल्य	१७।९०।२४३
दिशं महेन्द्रस्य महेन्द्र	१०।३।११८
दीनातिहासो बहुविप्रलापः	१५।३२।१८१
दीनेन दुःखहास्तेन	४।६६।२८
दुःखं शोकाक्रन्दने देहभाजां	१५।२७।१८०

दुरन्तो जिनशिशुरजिनस्तु ३।३१।१५५
दूरोत्क्षिप्तस्य शंखस्येव १।४५।२१६२
दूरान्यविनतस्य निवासं १।३६।२१६४
दूरारोहतरङ्गान्तान् ३।३।१२३
दुःविधिरेरावणलेखित: ३।६०।७३
दुष्टेन्द्रियाश्वदमनदर्प १५।१३४।३०३
दृष्ट्वापां सकलनृपाधिराज्य १४।१३।१५०
दृष्टेन ते त्रिभुवनाधिपति १७।४३।२३५
दृष्टे कहैरथ निजोच्चगतै: १७।५८।२३७
दृष्ट्वा स्फुटं स्फाटिकभित्ति १।२९।५
दृष्ट्वा तन्निजहस्तसंस्थित ९।४६।११९
देवानन्दं निजतनुरुचां १२।७१।१५३
देवालयादवतरिष्यति १७।४६।२३५
देवैर्विचित्रमणिभूषण १७।६८।२३९
देहीति शब्देन विवर्जितानू ५।२४।५०
दोष: स यत्र निशि सौधचयास्र १७।१८।२३१
दोषो बभूव गुणिनोऽप्ययमेक १७।२३।२३२
द्रव्याणुं सुवशीकृताक्षतुरगो १५।१५५।२०८
द्वयमेव सुखावहं परं ७।२८।८०
द्वयमेव विधीयते मतं ७।२७।८०
द्वात्रिंशत्सकलनराधिराट् १४।२४।१७१
द्वाभ्यौ क्रमत: प्रमाद १५।६७।१८८
द्विरदं विनिहन्ति केसरी ७।४६।८१
द्वितीयशालस्य विचित्ररत्न १८।४०।२५६
द्विषण्मुहूर्ता ह्यपरा स्थिति: १५।७४।१८९
द्वीपेऽस्मिन्नगरी पूर्व ३।३५।२५
द्वीपेऽत्र जम्बूद्रुम १।७।२
द्वीपेऽत्र जम्बूमति भारताख्ये ५।२।४६
द्वीपेऽस्मिन्नवयवपरेतरे १४।१।१६८
द्वौ योगहेतू प्रकृतिप्रवेशौ १५।७०।१८८
द्वौ सज्ञानजिनसौ नरोत्तमौ ८।३५।९४

ध

धर्मं स्वयम्भामरजै: सर्मं तदा २।६६।२६
धनुर्विमुक्ता निशितास्त्र मार्गा: २।७।१०३
धरणीतलमर्धभारताख्य ४।६।१३

धर्मचिन्तौ प्रणतपृथुपृथक्कर्मा १२।१७।१७८
धर्मचिन्तौ पृथुपरकायाकल्पाना: १५।२५।१७८
धर्मोत्तिकायस्य न यान्त्यवगाहात् १५।२९०।२१५
धर्मोधर्मौ: सततमित्यविरोध १७।२९।२३३
धर्मौ जिनेन्द्रै: सकलावबोधै: १२।४७।१५०
धवलातपवारणस्य मूले ४।२२।३५
धात्यस्थलं षट्चुपीन सलक्षणाङ्गं १७।४५।२३५
धीरा मन:पर्ययबोधयुक्ता: १८।९२।२६६
धुन्वानाविव वृषयतामुपवनौ १८।४७।२५८
धृतनिर्झरवारिसीकर: ७।८३।८९
धृत्वा चिरं युद्धधुरां ९।१६।१०४
धैर्यमाकृतिरियं व्यनक्ति न: ८।३।८९
धौतेन्द्रनीलमणिकल्पित १७।९।२२९
ध्यानागमाभ्यसनभूरि १५।११३।१९८
ध्येयं द्रव्यमथार्थमित्यभिमतं १५।१५४।२०८
ध्वजा निपेतु: सममातपत्रै: ९।५३।११०

न

न खलु दोषलवोऽपि निरीक्ष्यते १८।७७।२६३
नगरं तत: प्रतिनिवृत्य यमी ५।८९।५९
न चचाल धरैव केवलम् ७।६५।८४
न जन्मनोऽन्यत्परमस्ति दु:खं १२।५५।१५१
न तुतोष भक्तिविनतस्य १६।५६।२२५
नतोत्तमाङ्गस्थितहस्तकुड्मलान् २।३२।१७
नदच्छिवास्यारणिलब्ध ९।४९।१०९
न ददाति धर्मं स याच्यमानो ४।३९।३८
नदीसहस्रैरिव यादसां पति: १०।३६।१२३
ननु सर्वविदोऽपि राजते ७।१३।७७
नन्तुं चैत्यवतीन् गुरूनभिमतान् १५।१११।१९८
नपुंसकं वेदयते विणोति १५।१७४।२१३
न प्राप किञ्चिदपि धर्मनिवास १७।५३।२३७
नभश्चरान् सप्तशतं विचित्य ९।७३।११२
नयचक्रमूलसरचयाली ४।१३।३४
नय मार्गविदां वरस्य युक्तं ४।३८।३७
नव वर्त्मनि य: सुनिश्चितं ७।२९।७९
नवनागतिरूपागतो हरिर्ज: ३।३५।१४५

नरनाथपतेरनुजयात्मान् ४।५७।४०
नरनाथपतेश्च लक्ष्मणाया ४।२८।३६
न रूपमात्रं न कला न यौवनं १०।६७।१२७
नरेश्वरैः षोडशभिः समन्वितो १०।११।११९
नवकेन्दुमिवाम्बवारकं ७।७९।८५
नवविवरसमन्वितं निसर्गाद् ११।३२।१३६
नवपदार्थयुतं विमलं १८।६४।२६१
नवपुण्यचिकीर्षया धरायां १७।१२१।२४७
न विषं मरणस्य हेतुभूतं ४।३७।३७
न श्रेयसे भवति विक्रम ६।५१।७१
न ह्रीयते यत्र सरोवराणां १२।७।१४३
नाम्नैव केवलं नूनं ३।२९।२५
नाथ स्थितं कथमिदं १८।८३।२६४
नाना विधास्त्राहृतयन्त्र १५।११५।१९९
नामप्रत्ययसंयुता इति जिनैः १५।७८।१९१
नानापत्रलताश्चितं वनमिव १८।४८।२५८
नानारोगैर्बाधितोऽपि प्रकामं १५।११६।१९९
नापेक्षतेऽर्थापचयं १।६।२
नार्यां पुरुरवानार्यां ३।३८।२५
निगद्य पुत्राविति पुत्रवत्सलः १०।५६।१२६
निगमैर्बहुदिक्षुयन्त्रगन्त्री ४।४।३३
निगदन्त्यथ योगवक्रभूयं १५।४५।१८३
निजतनुतरत्वमेवमर्गूढं ११।३३।१३७
निजतनुवचःसाधु व्रज्यान्तरैं १५।१३८।२०४
निजमुग्धतया समन्वितान् ७।३।७६
निजसाहसेन महतापि महान् ५।८७।५८
निजविग्रहेऽपि हृदि यस्य १६।५२।२२५
नितरां सकषायभूयतः १५।६८।१८८
नितरामपि तद्विपर्ययो १५।५०।१८४
नितान्तशुद्धैरतिशुद्धवृत्तः ९।५४।११०
निस्योदयो भूमिभृतां शिरःसु १२।१६।१४५
निद्रादिनिघ्ना प्रचलास्वपूर्वा १५।१७१।२१२
निधानमासाद्य यथा दरिद्रो १२।४२।१४९
निपत्य यस्मिन्पुरसुन्दरीणां १२।२४।१४६
नियुज्य कार्यं तस्मिन् ३।६८।२८
निरता दधिरेऽस्य वारणं ७।६१।८३
निरवर्तत वेगतो युवेवः ४।६१।४०
निरन्तरं कुड्मल कोरकोत्करान् २।४१।१९
निराकरोत्यक्षबलं बलीयसी १०।४६।१२५
निरीक्ष्य साम्राज्यमिति १०।१२।११९
निरीक्ष्य क्रूरं व्रणविह्वलाङ्गं ९।३२।१०७
नरेन्द्रविद्वानु गजाधिरोहणे १०।३१।१२३
निर्गत्य खस्तकर्णाग्र ३।२६।२४
निर्जला न सरिदस्ति जलं च १३।५।१४५
निर्व्याजपौरुषवशीकृत ६।३३।६८
निर्यद्बहुलगैरिकारुणा ८।७२।९९
निवृत्य गच्छ स्वगृहं प्रियस्त्रियः २।६१।२१
निविडीकृतपञ्चमुष्टिलुप्ता १७।११६।२४६
निवृत्तरागप्रसरस्य यत्सुखं १०।४२।१२४
निःशेषमेकत्वविचार्य १५।१५८।२०९
निःश्वाससौरभाकृष्ट ३।४६।२६
निष्कारणं किमिति कुप्यसि ६।४५।७०
निसर्गवैमल्यगुणेषु यस्मिन् १२।१०।१४४
निसर्गशत्रूनपि योऽभ्युपेता १।४०।७
नूनमेतदधुनापि तावकं ८।१२।९१
नृत्यन्मदालसवधूजन ६।१८।६६
नृपतिर्जगति प्रतीतवंशो ४।११।३४
नृपैः समं पञ्चशतैः स ४।३४।१७
नेत्रोत्पलाभ्यामनवाप्य ५।१९।४९
नैसर्पः सममथ पाण्डुपिङ्गलाभ्यां १४।२५।१७१
नोपेक्षते परिणतमवय ६।६१।७३
नो भार्या न च तनयौ १४।४५।१७४
न्याययानमिनिवेशमात्मनः ८।११।९१
न्यायहीनमिह यस्य वाञ्छितं ८।४०।९५

प

पञ्चतां चिरकालेन ३।९४।३
पठितं न शुकोऽपि किं ७।३२।७९
पद्माङ्गनाजनकटाक्ष १।५०।८
पतिः कनीयानपि यः १०।६४।१२७
पतिं विद्यामित्यनुशिष्य सा सभा २।३९।१८
पतिं पवातिस्तुरगं पुरञ्जो ८।५।१०३

पथि ग्रामकोटिवेष्टितः	७।८२।८६	पारिवज्यमनुष्ठाय	३।८८।१५
पथि चित्तमनीयमण्डनं	७।७५।८५	पारिव्रज्यं तपो घोरं	३।७५।२८
पद्मकरं तमवलम्ब्य	६।६२।७३	पारावतेन्दीवरकर्णपूरा	१।२०।४
पद्माग्निभः कोमलशुद्धपादो	५।२६।५०	पार्श्वस्थमक्षमजनिविष्ट	१७।७६।२४०
पपात कश्चिद्विवशो न वार्धेः	९।३६।१०८	पार्श्वात्पार्श्वमथ निजसैन्यिक	७।१०२।८८
पप्रच्छाथ प्राञ्जलिर्भक्तितन्त्रः	१५।१।१७६	पितुर्पर्यास्तावनुचक्रतुः सुतौ	१०।३०।१२३
परंतपःश्रीविजयोऽजः	१०।२९।१२२	पितुर्निदेशात्कनकप्रभाया	१२।२७।१४७
परमस्तमुपैति भानुमानपि	७।४२।८१	पितुर्वचो यद्यपि साध्वसाधु	२।२०।१६
परस्परं तौ स्ववशं निकामं	१२।२८।१४७	पितुः समक्षोऽपि भवान् धुरंधरः	१०।६१।१२७
परमान्तरं च स चकार	१६।३१।२२२	पित्रोः सुतापममजामभवतो	१७।८९।२४२
परा सम्यस्कान्तेर्विनय	१६८।१२	पिबति यो वचनामृतमादरात्	१८।८८।२६३
परा विहायोगतिरभ्रशस्ता	१५।१८०।२१४	पीनोन्नतस्तनघटद्वय	१७।३३।२३४
परां मनोगुप्तिमथैषणादिकं	१५।५४।१८४	पुण्ड्रेक्षुवाटैर्निचितोप	१।१०।२
परिकुड्मलीकृतकराम्बुरुहः	५।६८।५६	पुनरित्यधिपेन नोदितः सन्	४।६७।४१
परिकुप्यति यः सकारणं	७।३३।७९	पुरतः प्रविलोक्य दन्तिनं	७।७८।८५
परिचितपरिचारिकाकराग्र	७।९८।८८	पुरमस्ति पोदनमिति	५।३७।५२
परिच्युतैस्तन्मुकुटादनेकैः	९।७७।११३	पुर.सरैरष्टनवैः पदातिभिः	२।६८।२१
परिजनभुक्ततालवृन्तवात	७।९५।८७	पुरस्सरीभूतबलाच्युतस्ततः	१०।७५।१२९
परितोऽपि वनं विशालनन्दी	४।६३।४१	पुराणपद्माध्वपनीय दूरतो	२।४७।१९
परिनिष्क्रमणस्य नाथ योग्या	१७।१०६।२४५	पुरि श्वेतविकाख्यायां	३।८६।२९
परिपृच्छतः क्षितिपतेर्विजये	५।९३।५९	पुरुषस्य परं विभूषणं	७।१४।७७
परिरभ्य सम्मदभवाश्रुभृता	५।९१।५९	पुरुषेण दुर्लभमवेहि	१६।३।२१८
परिरेभे तमभ्येत्य	३।२।२२	पुरे कौलेयके जातः	३।७२।२८
परिवारितो धवलमारिधरैः	५।३९।५२	पुरेव सर्वः क्षितिपाल वासरः	२।३८।१८
परिहारविशुद्धिसंयमेन	१७।१२८।२४८	पुष्पफलक्षिरहितोऽस्ति न वृक्षः	१३।६।१५४
परिहारविशुद्धिनामधेयं	१५।१२७।२०१	पुष्पोत्तरात्समवतीर्य	१७।४८।२३६
परुषाक्ष्य मृदुः सुखावहः	७।१८।७८	पुष्पोत्तरे पुष्पसुयग्विदेहो	१६।६४।२२६
परेण सद्यो निजकौशलेन	९।३७।१०७	पूगद्रुमैः स्वागतनानताग्रता	१७।४।२२८
परेण मल्लेन विभूषणवत्सा	९।२३।१०५	पूजार्हितानर्घविचित्र	१।१९।३
परोपरोधाकरणं विसर्जिते	१५।६५।१८५	पूर्वमेव सुविचार्य कार्यवित्	८।८।९०
पशुनिग्रहेऽपि भुजि तप्ता	५।७८।५७	पूर्वप्रयोगान्नियमप्रकृष्टा	१५।१८८।२१५
पक्षवक्षरक्षां नृत्यं	३।८४।२९	पूर्वमग्नमनि स आविश	१३।५३।१५७
पाण्डुरामपयोदसुन्दरैः	१३।५४।१६२	पूर्वभूमिरहितस्य कर्म वा	१३।६५।१५९
पादन्यासे सप्त पदाः पुरस्तात्	१८।८८।२६५	पूर्वोक्ति निजिरधिकान्यथोक्ति	१४।१९।१७३
पादान्तं तमकलोकमुद्विहीन	४।७९।४३	पूर्वाह्णे श्रीक्षमाया प्रविलस	१८।५३।२५९
पारिव्रज्यं तपस्तप्त्वा	३।९८।१०	पृष्टः स.क्षेम मुनिरेवमुवाच	१।५७।१०

पृच्छो मुनिस्तेन स इत्युवाच १२।४६।१४९
पौतो वारिधिमध्यगः क्षति १५।९७।१९५
पौष्पी वृष्टिरनूद्गता मधुकरैः १८।४४।२५७
प्रकृतिः स्थितिरप्युदारबोधैः १५।६९।१८८
प्रजायरायौद्धतदोषशान्त्यै १५।१३२।२०३
प्रजानुरागं विमलेव कीर्तिः १२।३६।१४८
प्रजानुरागं सततं वितन्वतः २।२०।१५
प्रणतमूर्द्धसु वीरभवत्क्रम १८।७४।२६३
प्रणनाम निवेशितेन भूम्यां ४।५५।३९
प्रणतस्य समस्तभौलवर्गैः ४।३५।३७
प्रणयेन समाश्लिष्य ३।१०७।३१
प्रणम्य पादौ वणिनामधीशितुः १०।५७।१२६
प्रणम्य भक्त्या परया २।६३।२१
प्रणम्य याचेऽहममोघदायकं २।२६।१६
प्रणिपत्य ततो भवाभिधानो १७।१२६।२४८
प्रणिपत्य मौलितट १६।१५।२२०
प्रणामसंपर्कस्किरीट १०।९।११९
प्रणाममुष्टैर्गुरुभिः ससंभ्रमैः १०।२।११८
प्रतापभानोरुदयाद्विरिन्दुः १।३८।६
प्रतिदिवसमगात्तनुत्वमङ्गैः ११।५९।१४०
प्रतिपक्षमनाप्य मत्प्रतापो ४।५१।३९
प्रतिपद्य भूपतिरुभे सुषुभे ५।४९।५४
प्रतिबुद्धमहोत्पलोत्पलान्त ४।३।३३
प्रतिबोधयितुं मुदा तदाया १७।१०४।२४५
प्रतिबोधजृम्भणविभीममुखः ५।८२।५८
प्रतिमागतबालपद्मराग ४।८।३४
प्रतिरवपूरिताद्रिरन्ध्रां ११।३।१३२
प्रतिलोममारुतविकम्पित ६।६७।७४
प्रतिस्वनापूरितसर्वदिङ्मुखं २।६७।२१
प्रत्यक्षं जिनपतिमभ्युपेत्य १४।२२।१७१
प्रत्याजग्मुः प्रहतमङ्गलतूर्य ६।१७।६६
प्रत्युप्त प्रविपुलरत्नराजि १४।२८।१७२
प्रत्युत्थितो जयजयेति वदद्भि ११।६५।१४१
प्रत्येककाचोऽन्यवशः पदादि १५।१८१।२१४
प्रथयाम्बभूव परितुष्टि १६।३५।२२२
प्रपीयरक्तासवमाशुमत्ता ९।४८।१०९
प्रबुद्धपद्माकरशोभ्यपार्श्वं १।४६।८
प्रविधाय वृष्यरसभोज १६।२६।२२१
प्रविहाय तपो जैनं ३।६७।२८
प्रविशन्नथ दूरतः सभान्तं ४।५४।३९
प्रवेशय द्राक् सुमुखेत्यथाज्ञा ५।९७।६०
प्रश्रयास्तव सुधारसच्छटा ८।४।९०
प्रसाधनमपश्चिमं कुशल १०।८८।१३१
प्रसिद्धमानेन विरोधवर्जिना ५।१२।४८
प्राकारः कनकमयस्ततः १८।७।२५०
प्राकारकोटिघटितारुण १७।८।२२९
प्राक्कला हिमरुचेरुदयाद्रेः १३।५७।१६२
प्रागेव तं प्रमुदितः १।४५।९
प्रागेव मोहं सकलं निरस्य १५।१६९।२१२
प्राप्या गोपुरमुच्छ्रितं १८।८।२५०
प्राज्ञाः प्राहुरनित्यताप्यशरणं १५।८९।१९३
प्राणीन्द्रियाणां परिहार एको १५।८७।१९२
प्रादुर्बभूव स्वसमानसत्त्वे ९।७९।११३
प्रापयात्मसचिवैः स्वयंप्रभां ८।२४।९२
प्रापत्तदप्रतिमसालमलङ्घ्यमानं ४।७५।४२
प्राप्य पादहृतिमप्यखरांशोः १३।६१।१६३
प्राप्यानन्तगुणैकवृद्धिसहितं १५।१५६।२०९
प्रार्थनाधिगतजीवितस्थितिः ८।३३।९३
प्रालेयपातक्षतपद्मखण्डे १२।६५।१५२
प्रालेयबिन्दुभिरमी नवमौक्तिकाभैः १३।७६।१६६
प्रालेयवायुहृतिमप्यविचिन्त्य १५।१०५।१९६
प्रावर्ततालस्यमपास्य दूर १२।६२।१५१
प्रासादाश्मृदुशयनानि सोपधाना १४।२६।१७१
प्रासादा मणिमण्डपा बहुविधा १८।१५।२५२
प्रासादशृङ्गाणि समेत्य मेघा १।३०।५
प्रियाविरोगव्यथया कृशीकृतो १०।२६।१२२
प्रीतिमल्पसुखकारणेन मा ८।२२।९२
प्रेषिता प्रतिबलं निषादितुं ८।८२।१०१
प्रोक्तस्त्रिशोगस्य जिनैः १५।१४९।१७७
प्रोक्तास्तु पञ्च नव च १५।७२।१८९
प्रोज्झ्य बहुविधसङ्गमसेवं १३।४२।१६०
प्रोत्तस्थावथ समयं ९।६६।७४

प्रोत्तुङ्गपूर्वकायेन ३।१८।२४

ब

बद्धचारुकवचैर्महाभटै ८।७३।१९९
बन्धस्य हेतोर्न्तिरामभावात् १५।१६८।२१२
बभञ्ज यत्पं शशिशेखरस्य ९।७२।११२
बभार हारो गुणवत्तु केवलं १०।२५।१२२
बलहृयं वीक्ष्य तयोरचिन्त्यं ९।७८।११३
बलवान्हृयकन्धरः परं ७।६।७६
बलरेणुभयेन भूतलं ७।६९।८४
बलाधिकस्यापि बलस्य पूर्वं ९।७५।११२
बहुविधकलिखितात्तपत्र ११।१५।१३४
बहुविधपरिवर्तनक्रियाभिः ११।१८।१३४
बहुविधपरितापहेतुभूतं ११।३४।१३७
बहुभिर्गजदन्तचामरैः ७।८४।८६
बह्वारम्भपरिग्रहत्वमसमं १५।४१।१८२
बालचन्दनलतेव भुजङ्गैः १३।१२।१५५
बालेन्दुस्पर्द्धिदंष्ट्राय ३।१६।२४
बाल्येऽपि योऽभ्यस्त १।४९।८
बिभ्रतापि नवयौवनलक्ष्मीं १३।२६।१५७
बीभत्से प्रकृतिविनश्वरे १४।५०।१७५
बुधा वितर्कं श्रुतमित्युशन्ति १५।१५३।२५८

भ

भक्त्या प्रणेमुरथ तं मनसा १७।३०।२३३
भगवन् भव्यसत्त्वानां ३।८।२३
भगवानपरोपनीतभोगान् १७।१०१।२५४
भगवान्धनमेत्य नागखण्डं १७।११३।२४६
भद्रानयोर्मूलमुदाहरन्ति १२।४९।१५०
भवात्परिम्लानमुखानि १२।१५।१४५
भवतः करिष्यति वचोऽत्र १६।१८।२२०
भवता विचिता न किं प्रतीताः ४।४९।३९
भवतामनुभावतो हि नः ७।२।७६
भवतापि वाग्मिनां पुरः ७।११।७७
भवतां प्रविलक्ष्य भारती ७।४७।८१
भवतोऽभिकलिनी पुनः पुनस्य ११।२८।१३६
भव्यसत्त्वसमूहनायकौ ३।१०।२३

भ्रान्तोद्विग्नम् पुरी बलाद्या ३।४३।२६
भव्याः पञ्च त्रायिकज्ञानवन्तः बभुः १५।९।२७७
भावानां बभूव भूमिश्च १५।१८६।२१४
भावी तीर्थकरोऽभिनन्दनविरतं १६।६६।२२७
भावैरचाभ्यन्तरुणं रमन्ती १५।७५।१९०
भास्वत्तमविषयो मलिनात्मा १३।५१।१६१
भुक्तोत्सृष्टं वर्तीयं ९।९९।११७
भुवि कूल इति प्रसिद्धनामा १७।१२०।२४७
भुवि भार्गवितस्य कुण्डपत्ने १६।११५।२४६
भुवि तस्य रक्षणविधौ ५।७४।५७
भूत्वा तयोः स्थावर इत्यभिख्यां ३।११२।१२
भूभृतामुपरि केन शात्रवः ८।४९।९६
भूमृद्भुवृहविषु पुरा १५।११२।१९८
भूरिप्रतापसहितैं रविभिन्न ६।६३।७३
भूरिप्रतापपरिपूरितसर्वदिक्कः ६।३४।६८
भूरिसारधनधान्यविहीनो १३।३।१५४
भीरोर्भीतिकरं त्वदीयवचनं ९।९३।११५
भोगार्थैः सुरनृपखेचरोपनीतैः १४।४२।१७४
भ्रान्त्वा कुयोनिषु चिरात् ३।११०।३२
भ्रूभङ्गभङ्गुरमुखः ६।२१।७

म

मणिमयाब्जतलप्रतिमा मही १८।८७।२६५
मण्डलं दिनकरस्य दिनान्ते १३।३४।१५८
मत्ताः सहस्राणि नवाथ शिक्षकाः १८।९१।२६६
मतिश्रुतावधिज्ञानैः ३।५४।२७
मदालिलाय प्रतिसामजस्य ९।१३।१०४
मनसा क्रियया च विप्रवसन्ती ४।३४।३७
मनसा श्रुतार्थमसकृत् १६।२३।२२०
मनसि प्रशमं निधाय शुद्धं १५।१९५।२१७
मनसो विरामकुपल यान १७।५०।२२४
मनुवंशजेऽपि सति भूमिपतौ ५।७६।५७
मनोहरेष्वभ्यमनोहरेषु १५।५८।१८५
मन्त्रिभिः परिवृतः स तु सोथ १३।२७।१५७
मन्त्री हरिश्मश्रुरनेकवीरो ९।५१।१०९
मन्दानिलोत्कम्पितपादपेभ्यः ५।११।४८

मयूरनाल्याम्बरहंसकेसरि	१८।१७।२५२
मर्मग्रहाराकुलितोऽपि कश्चित्	९।२१।१०५
महतीमथ तस्य कारयित्वा	४।५९।४०
महतां वरे सकलसत्त्वचय	५।४६।५३
महात्मनां शीरवरारुधारिणां	१०।५३।१२६
महाप्रतीहारनिवेदितागमः	२।६४।२१
महाशया धीरतरा गभीरा	५।८।४७
महोपवासाश्विविधानशेषान्	१२।६६।१५२
महोपवासेन कृशीकृतोऽपि	१५।११७।१९९
मानस्तम्भविलोकनादवनती	१८।५१।२५९
मनुष्यं खलु कर्मभूमिरुचितो	१५।१०१।१९६
मायाभालवहेतुरित्यभिहिता	१५।४२।१८२
मायार्मकं प्रथमकल्पपति	१७।७२।२३९
मित्रमेत्य सकलेन्दुमनङ्गो	१३।६५।१६४
मिथ्यात्वाभावाविरति	१५।६२।१८६
मिथ्यात्वयोगाविरतिप्रमादैः	१२।५२।१५०
मिथ्यात्वेन सदा विमूढ	१५।१४५।२०६
मिथ्यात्वेन सदाबलिप्त	१४।११४।१९८
मीलितानि कमलान्यप	१३।४४।१६०
मुकुलीकृतहस्तपल्लवा सौ	१७।१०५।२४५
मुनिपतिमवलोक्य सुप्रतिष्ठं	१३।८२।१६७
मुनिवाक्यमद्भुतमचिन्त्य	१६।१२।२१९
मुनिविरहशुचा सर्वं स्वचित्ताद	११।५३।१३९
मुनीश्वरैः संस्तुतिकारण	१५।८१।१९१
मूर्च्छामिपास्य व्रणदुःखजातां	९।३१।१०६
मूर्धानमानतमुदस्य	४।८०।४३
मूलं बन्धादिदोषस्य	३।३३।२५
मृगकुलमपहाय तं नगेन्द्रं	११।४।१३२
मृगविद्विषं नवमृणालमिवे	५।८६।५८
मृतमृगपतिशङ्कया मदान्धैः	११।५७।१४०
मृत्युमासाद्य कालेन	३।६९।२८
मृदुतामुपयाति वह्निना	७।३६।८०
मृदुना सहितं सनातने	७।२९।७९
मृदुनैव विभिद्यते क्रमात्	७।२८।७९
मौर्वीनिनादाचितरेतराणां	९।४।१०३

य

यः कलत्रमयपाशवेष्टितः	८।२०।९२
यः कांशशुभ्रैः शिखरैरदभ्रैः	१२।३।१४३
यः कुप्यति प्रतिपदं	६।४८।७०
यः प्रतीपमुपयाति वर्त्मनः	८।९।९०
यः शशास स्फुरच्चक्र	३।६२।२७
यः सदा भवति निर्जितेन्द्रियम्	८।१८।९१
यः सानुदेशस्थित पद्मरागं	५।४।४६
यज्ज्ञानावरणादि कर्म	१५।१४७।२०७
यत्पादनीलांशुमहाप्रभाभि	५।३।४६
यत्र च प्रतिमायात	३।४६।२६
यत्र सारारहिता न धरित्री	१३।२।१५३
यत्रामलस्फाटिककूटकोटि	५।२।४७
यत्राकुलीनाः सततं हि तारा	५।१३।४८
यत्राङ्गनानां वदनारविन्दे	१२।१२।१४५
यत्राम्बराच्छस्फटिकाश्म	१।२७।५
यत्रासधौतासिमयूखरेखा	१२।४।१४३
यत्रोल्लसत्कुण्डलपद्म	१।२६।५
यत्समोऽहि दिननाथभयेन	१३।४९।१६१
यत्नतोऽपि रचितापि रमण्या	१३।६८।१६४
यत्नेनापि विशोषणा	१५।९८।१९५
यत्सौधकुड्येषु विलम्बमाना	१।२३।४
यथा यथायुर्गलति क्षणेन	१०।३५।१२३
यथागमं शून्यगृहादिकेषु	१५।१३५।२०३
यथा पथि श्रेयसि वर्तते	२।२५।१६
यथावत्कथ्यमानानि	३।१२।२३
यथा न नक्षत्रमुदीक्ष्यते	१०।६५।१२७
यथावदापृच्छ्य ततः	१०।८।११९
यथोक्तमार्गेण सुदुश्चरं परं	१०।५८।१२६
यदि निवससि संयमोन्नताद्रौ	११।३८।१३७
यदि वेत्सि विधत्स्व तं	४।४७।३९
यदि च त्वयि तस्य बन्धुबुद्धि	४।७०।४१
यदृच्छया यान्तमुदीक्ष्य	१२।२३।१४६
यद्गोपुराग्रस्थितसालभञ्जी	५।१०।४७
यद्वक्त्रसंस्थामनवाप्य	५।२०।५०
यमी तनूजामनुशिष्य पद्मिनि	१०।१०।११९

अस्तादूर्ध्वं मृगपतिं मृगराज	६।५५।७२
अस्य दिग्विजये भूरि	३।५८।२७
अस्य धर्मावतारे भू	३।५१।२६
अस्य चापरवशङ्कया	८।५०।९६
अस्यालब्धवरप्रभा	३।६१।२७
अस्यां निशीथे गृहदीर्घिकाणां	१।३४।६
अस्यां गवाक्षान्तरसंप्रविष्टां	१।३५।६
अस्यां गवाक्षान्तर	१।२८।५
अस्या गृहालिन्दकभागभाजां	१।२५।५
अस्यां मरकतच्छाया	३।४९।२६
अस्मिन्महात्मन्यमलस्वभावे	१।३९।६
अस्मिन्नहीनवपुरप्यभुजङ्ग	१७।७५।२३०
अस्मिन्सदास्ति मुरजेषु	१७।६।२२८
अस्मिन्विमानखचितामल	१७।१४।२३०
अस्मिन्प्रसूते ववृधे कुलश्री	१२।२०।१८
अस्तीक्ष्णवर्त्यतृणकण्टक	१५।११९।१९९
अं कलाधरमिवाभिनवोत्थं	१३।१९।१५६
अं च स्वयं ज्वलनजटयुपगम्य	६।५६।७२
अं प्राप्य रेजुरमलं नरनाथ	१६।२२।२३२
आज्ञा प्राणिवधादिदोष	१५।१०८।१९७
आतेषु केषुचिदङ्ग स्वय	६।१।६३
आते गुरौ श्रेयसि तद्वियोगजं	२।३५।१७
आविष्ठिता कोटिसहस्र	१।१८।३
आनात्ससंभ्रममुभा	६।५।६४
आन्तमस्तमपहाय	१३।३७।१५९
आन्तं तदाचरितमाचरितुं	४।८२।४३
आवन्न पक्षयुगलं	१३।७८।१६६
आवन्निपादी मदवारणस्य	९।१२।१०४
आ चुडाचवलितौवरसौधं	१३।८।१५४
आक्तयुग्मनुरगाः	८।६९।९९
आक्तमेव भवतोरसंशयम्	८।६।९०
आक्तसङ्गममवेक्ष्य दुर्जनः	८।३१।९३
आक्तात्मपक्षबलगर्वतयैव	६।५२।७१
आक्तिहीनमिति कर्तुं	८।२९।९३
आ क्रोधाद्धा इन्द्रियाण्य	१५।२३।१७९
आ क्षत्रियैश्चमनलेन्दु	१७।२१।२३१
आदेतुं द्विषा सह वियत्सवि	६।३६।६९
आधा विरेजुः शरपूरिताङ्गा	९।२९।१०६
आऽभ्युद्यतो दुरितलज्जनतो	११।६७।१४१
आ मूकभावो घनमात्म	१५।३५।१८१
आ यौवनश्रीविलयैकपक्षो	१२।२२।१४६
आऽवरिष्ट भुवि कन्यका	८।२८।९३
आ वाञ्छितानेकफल	१।४१।७
आ विवेकरहितो यदृच्छया	८।३२।९३
आवनोद्धतपुस्त्विन्दसुन्दरी	८।५६।९७

र

रक्तरागविवशीकृतचित्ताः	१३।५३।१६२
रक्ताशोकतरोर्मूले	३।५।२३
रक्षन् शरेभ्यः पतिमात्मवात्रैः	९।४५।१०९
रक्षा परा समभिव्राञ्छित	६।५०।७१
रक्षितुर्भुवनमण्डलस्य मे	८।७८।१००
रजनिषु हिममारुतो बबाधे	११।६०।१४०
रजनीषु यत्र सदनाग्रभुवो	५।३८।५९
रजोविताभैर्नवकाशशुभ्रैः	९।६।१०३
रतिविनाशनमन्यजनारति	१५।३४।१८१
रत्नसालप्रभाजालै	३।४४।३६
रत्नाकरैर्यः समतीत	१।९।२
रत्नानां वियति सुरेन्द्र	१४।३४।१७३
रथचक्रक्षयस्य चीत्कृतं	७।८८।८६
रथवाजिखुराभिघातजः	७।६४।८४
रथेन तस्याभिमुखं स गत्वा	९।५६।११०
रराज चूडामणिवत् त्रिलोक्या	१८।३३।२५५
रविमण्डलं विमलरत्नभुवि	५।४३।५३
रश्मिजालमुदयान्तरितस्य	१३।५६।१६२
रागस्य प्रशमाय कर्मसमिते	१५।१३१।२०२
रागं वृशौर्वपुषि कल्पमनेक	६।४७।७०
रागिणः न खलु सिध्यति	१३।५९।१६३
रागी बध्नाति कर्माणि	३।३०।२५
राजा समेत्यामतभावरेण	५।८८।६०
राज्यश्रियं श्रीविजयाय दत्वा	१०।८९।१३१
रामाविभूषणमणिप्रकरांशुजाल	१७।१७।२३१
रिपुस्त्रिभुष्टस्य पुराजवेऽभवत्	५।११।६२

रुन्धन् विशो दश नवाम्बुद १७।७४।२४०
रूढबंशयशहलाम्बकारितं ८।५३।१९७
रूपस्पर्शौ वर्णवन्धौ रसस्य १५।१८।१७८
रूपं यौवनमायुरक्षनिचयो १५।९०।१९३
रेजे परं सहजरम्यतया १७।२६।२३२
रेजिरे सख्यमूचाद ३।५९।२७
रौप्ये गिरौ धनदरक्षित ६।६९।७५
रौप्यो गिरिस्तत्र नभश्चराणां १२।२।१४३

ल

लक्ष्मीप्रतापबलशौर्य ६।८।६४
लक्ष्मीर्मुखे हृदि धृतिं १७।५१।२३६
लग्ने गुरौ शुभदिने १।६०।११
लताग्रये नन्दनकाननान्ते १२।३०।१४७
ललनामुखाम्बुरुहगन्धवहो ५।४२।५३
ललितेन विलासिमीजनेन ४।२७।३६
लीलां महोत्पलमपास्य १७।१२।२३०
लुलाव मौर्वीभिरमा शिरांसि ९।५२।१०९
लोकजीवनकरस्थितियुक्तं १३।२०।१५६
लोकस्याथ यथा जिनोदित १५।९९।१९५
लोकाधिकां नमिकुल ६।४१।६९
लोकानामिति स मनोरथा १४।३५।१७३
लोचनोद्गतविधानलप्रभा ८।३७।९४
लोहजालमलिनीलं ८।६५।९८
लौकान्तिकामरैरेत्य ३।६५।२८

व

वक्षसि श्रियमुदीक्ष्य १३।१४।१५५
वचसा पथ्येन अर्थते ७।२२।७८
वज्रभूषितकरो भुवि राजा १३।१३।१५५
वज्रसारमिदमेव मद्वपुः ८।७६।१००
वटवृक्षमथैकदा महान्तं १७।९५।२४३
वदन्ति जात्यादिमवाभिमान १५।८६।१९२
वदन्ति दैवस्य वरावसंयमं १४।४४।१८३
वनात्परा वज्रमयी नभस्तले १८।१६।२५२
वपुरादधद्विविधमाशु १६।२।२१८
वपुरस्य पुरा विवृत्य जुष्टं ४।१७।३५
वररत्नमयीं विचुम्प्रभाख्यां १७।११२।२४६
वरवाङ्मयेन तपसा च १६।४४।२२३
वर्द्धमानचरितं यः १८।१०३।२६८
वल्लभं स्वमपहाय सुरक्ता १३।४५।१६०
वल्लभं प्रणयिनामथान्तरे ८।१४।९१
वल्लभं समवलोक्य सदोषं १३।७०।१६४
वसुनन्दकृपाणपाणिभिः ७।७७।८५
वहति को हृदयेन भवद्गुणान् १८।६८।२६२
वाचमेवमभिधाय सस्फुरां ८।२५।९२
वाद्यानां ततघनरन्ध्रनद्ध १४।३१।१७२
वामाङ्घ्रिमादाय करेण गाढ ९।२६।१०६
वारणे कलकलाकुलीकृते ८।६६।९८
वारुणीरतमुदीक्ष्य पतङ्गं १३।३५।१५८
विकसितेऽभिनवेऽपि महोत्पले १८।७३।२६३
विकिरन्नवपारिजातगन्धं १७।१२३।२४७
विकृतिं भजते न जातुचित् ७।२५।७८
विक्षिपन्कुमुदकेसररेणून् १३।६६।१६४
विगतहानि दिवानिशमुज्ज्वलं १८।५६।२६०
विगतभूषणवेषपरिग्रहं १८।७२।२६३
विगाह्यमाना युगपच्चतस्रो १२।२१।२४६
विगलन्मदवारिनिर्झरा ७।६६।८४
विचार्य कार्यान्तरमित्युदारधीः १०।६९।१२८
विचित्रमणिरश्मिभि ४।९३।४५
विजयस्य च सिंहवाहिनी ७।५८।८३
विजितान्यनरेश्वरोऽपि राजन् ४।४२।३८
विजिताखिलभूतलो ४।१४।३४
विज्ञाय मोक्षपथमित्यथ १५।१९३।२१६
विदलितवदनं तमुष्टिकान्ते ११।१७।१३४
विदार्य नाराचपरम्पराभिः ९।७०।११२
विद्या मया प्रपठितेत्यसगाह्वयेन १८।१०५।२६८
विद्याप्रभावरचितादद्भुत ६।४।६४
विद्यावलिप्तहृदयः शरणातुराणां ६।३०।६८
विद्यानुभावेन परेण केल्यां १२।६।१४३
विद्युल्लतेवाभिनवाम्बुवाहं १।४४।७
विधाय पूजां महतीं जिनानां ५।२५।५०
विधिवत्प्रजापरचितर्क १६।२४।२२१

विधिवशविधि विधेनेश्वरः	१५।१६२।२१६
विनयप्रणतान्वितं सदा	७।१५।७७
विनिधाय दक्षिणकरेण शिला	५।८४।५८
विनिर्मलस्फाटिकरत्नभूमौ	१।२४।४
विनिवृत्य यदि व्रजामि पश्चात्	४।६६।४१
विनिहितवपुरेकपार्श्ववृत्त्या	११।५४।१३९
विन्यस्य श्रियमथ तत्र पुत्रमुख्ये	१४।१२।१६९
विफलयति मनोरथांस्तवेदं	९।९२।११५
विभान्ति यस्या विधिशा	१।३१।५
विमलाम्बुभिना निवृत्य नाथः	१७।१०३।२४४
विमलाशयं तमुपगम्य	१६।६०।२२६
विमलेतरया दृशैव राज्ञो	४।३३।३७
विरचितपटमण्डपोपकार्या	७।९२।८७
विरलाः कियन्त इह सन्ति	१६।१७।२२०
विरला भवन्ति मुनयोऽत्र	१६।१६।२२०
विराजिता द्वारघनप्रवेशा	१।१७।३
विललाप कृताक्रन्दो	३।१०२।३१
विलपति करुणं कृतार्तनादः	११।११।१३३
विलासिनीवक्त्रसरोरुहासव	२।५१।१९
विवर्धयन् ज्ञातिकुमुद्वतीमुदं	२।४५।१८
विविधानि समन्ततश्च तेषां	१८।२६।२५४
विवृत्तहस्तोज्झितशीकरौघैः	९।२८।१०६
विशदबोधमयं परमं सुखं	१८।७०।२६२
विश्राणितं न भुवि केनचिदा	१।६३।११
विषानलोद्रेककरालभोगा	५।६।४७
विहाय सर्वानितरान्बलादीन्	९।८२।११३
विहायसा कश्चिदुपेत्य देव	५।९६।६०
वीचीनामुदयविभावधोस्ततः	१८।१२।२५१
वेगेन मन्दरमवापुरमा	१७।७८।२४०
वेद्यश्चोरन्यतरं नराणा	१५।१८३।२१४
वैराग्यादिशयेन शुद्धमनसस्	१५।१२४।२००
वैशाखमासस्य सितेतरपक्षे	१७।१२९।२४८
व्यमनय मनसः कषायदोषान्	११।२९।२३६
व्यपेतकेदः प्रतिपद्य भाति	१५।१८५।२१४
व्यपेतशङ्को मुनिरस्तकांक्षो	१२।९८।१५२
व्याधिव्याधवधंकरे	१५।९१।१९३
व्याहरन्तमिति दूतमुत्तमं	८।६०।९८
व्रजति क्रमव्यपुरःसराणि	११।७।१२

श

शकलय खलु गार्ववेन मानं	११।४१।१३८
शक्रस्तया प्रतिदिनं जगदोऽनुरूपैः	१७।९३।२४३
शक्या धृतं करयुगेन समज्ज	१७।७३।२४०
शतायुषः शत्रुशतायुधौघैः	९।६०।१११
शमरतह्रदयः परैरजय्याद्	११।४२।१३८
शमरत वधमावहा भवन्तं	११।४९।१३९
शमविरहितमानसो निसर्गात्	११।२।१३२
शमसंपदा स्थितमुपेत्य	१६।५७।२२५
शरक्षताक्षोऽपि तुरङ्गवर्यो	९।४०।१०८
शरणं कं प्रपद्येऽहं	३।१०५।३१
शरदम्बरद्युतिमुषा वपुषा	५।६३।५५
शरद्बुधपतिरश्मिश्रीमुषा	११।७१।१४२
शान्तपुण्यप्रदीपस्य	३।१०३।३१
शारदाम्बरसमद्युतिर्महा	८।७९।१००
शालायाममलत्वां वरायुधाना	१४।१६।१७०
शालीना तिलयवमाषकोद्रवाणा	१४।२७।१७२
शासतोऽपि चतुरम्बुधिवेला	१३।२५।१५७
शिथिलीचकार परिरम्भणतः	५।९२।५९
शिखीमुखांस्तस्य कुलाव	९।५७।११०
शिवसुखमपुनर्भवं विधाय	११।३५।१३७
शिशिरतमे बहिरुद्यत	१६।३०।२२१
शीतकरैरपि करैस्तुहिनाशो	१३।६३।१६३
शुद्धचष्टकस्यागमविद्भि	१५।६४।१८७
शुभाशुभं कर्मफलं समस्तुत	१७।३८।१२४
शुल्लप्रहारेण पशोः पतन्तं	४।८९।४४
शून्यता गुणगणा न केवलं	८।२।८९
शमयत्कर्णिकाविताखिलाङ्गा	७।९४।८७
श्रित्वा जैनं व्रतमनुपमं	४।९३।४५
श्रियं त्रिलोकीं तिलकायमाना	१।१।१
श्रीः स्थिता मयि परातिशायिनी	८।१४।९३
श्रीर्द्यु धृतिस्त्व लक्ष्मणा च वक्त्रं च	१७।५०।२३१
श्रीमत्तमथ सङ्गतमिवासो	१३।१।२५३

श्रीमांस्तीर्थकृतामाद्यः ३।५०।२६
श्रीमानभेह्य भरते स्वयमस्ति १७।१।२२७
श्रीमानागमनस्य कारणमिति ५।११४।६२
श्री वीर यद्यथ वचो रुचिरं न ते स्यात् १७।८५।२४२
श्रुतमिदमप्यफलमेव १६।१०।२१९
श्रुतवारिधि द्व्यधिकपंक्ति १६।२१।२२०
श्रुतस्य सारार्थमिवात्तरूपं १२।४१।१४९
श्रुत्वाथ खेचरपतेर्दुहितुः प्रदानं ६।२३।६७
श्रुत्वा तदीयवचनं सभयावनीशे ९।९४।११५
श्रेणीमपाचीं रथनूपुराख्यं ५।१०१।६०
श्रेष्यामपाच्यामथ तत्र हैम १२।९।१४४
श्रेष्यामपाच्यामलकाभिधाना ५।७।४७
श्वेतातपत्राणि नरेश्वराणां ९।१५।१०४
श्वेतभानुरकृताशु विनाशं १३।६०।१६३

ष

षट्कर्मजीवनोपायैः ३।५५।२७
षट्खण्डं कतिपय वासरै रनूनैः १४।२३।१७१
षडिन्द्रियाणां विषयप्रभेदान् १५।६३।१८६

स

स एव धन्यो रथनूपुरेश्वरो १०।३३।१२३
सकलः शशीव विमलं गगनं ५।५२।५४
सकलर्तुषु यत्र शालिवप्रा ४।२।३३
सकलावनीशमुकुटाग्रमणी ५।४५।५३
सकलेन्द्रियशक्तिसम्पदायं ४।१८।३५
स कदाचिदुपेक्षणीय वीक्षणीयं ४।२९।३६
स क्रूरोऽपि मुनेर्वचियात् ३।३९।२५
स चन्दनस्थासकवत्सुखाय १२।३५।१४८
सचेतनः स्यादुमिहोत्सहेत को १०।४१।१२४
स जनान्तमैक्षत मृगाधिपतेः ५।८०।५८
सजलनयनैर्वृद्धातैर्भवस्थिति १०।८६।१३०
स जीवितान्ते विधिवद्विधिज्ञः १३।८३।१६७
स तपे तपोभिरभिसूर्य १६।२८।२२१
सतरङ्गमिवाश्वसम्पदा ७।८९।८७
सतां प्रियः काञ्चनकूटकोटिषु २।४।१३
सत्रिकालमभिपूज्य जिनानां १३।२९।१५८
सत्वरं जवमितानधिष्ठिता ८।६८।९९
सत्स्वप्नैर्निगदितचक्रवर्तिलक्ष्मीः १४।६।१६८
सदनाग्रलग्नहरिनीलरुचां ५।४१।५३
सदनामलिबद्धनीलभासां ४।१०।३४
सदनप्रगतोऽङ्गनाजनः ७।६२।८३
सदा कषायाधिकता परेषां १५।४०।१८२
सदान्तरार्द्रेषु धरासु वर्षणाद् १०।२०।१२०
सदृशः सुदृशः स्वयंप्रभायाः ५।१०८।६१
सद्दृष्टिसज्ज्ञानतपश्चरित्रै १२।५३।१५०
सद्यो विनिद्र कमलेक्षणया १३।७९।१६६
सद्वृत्तः सकलकलाधरो विज्ञन्वन १४।९।१६९
सद्वेदनीयं शुभयुक्तमायुः १५।७९।१९१
स निविश्यतदभ्यर्णं ३।७।२३
स निशम्य तस्य वचनेन तदा ५।७२।५७
सन्मार्गाध्ययनविशिष्टनिर्जरार्थं १५।१०२।१९६
सन्नियम्य धनमातमगुणौघै १३।३१।१५८
सन्ध्ययाप्यनुपतङ्गमगामि १३।४५।१६०
स पक्ष्मलासं ललितभ्रु सस्मयं २।८।१४
सपदि वपुरवाप्य हुण्डसंस्थं ११।७।१३३
स पदेष्वजस्तुबकेषु १६।२७।२२१
सप्तसागरसंख्यात ३।८९।३०
सप्तोदधिसमं कालं ३।९५।३०
सकलं च जन्म खलु १६।४।२१८
स बहुश्रुतेष्वथ जिनेषु १६।४२।२२३
स भारतार्द्धं परिसम्मितैर्दिनैः १०।५।११८
स भूपतीनां च नभोविलङ्घिनां १०।१३।११९
समकारयन्न परिखावलयं ५।४४।५३
समभावयन्नव पदार्थ १६।३६।२२२
समग्रपञ्चेन्द्रियशक्तिसंयुतः १०।५२।१२६
समभावयत्पथि जिनेन्द्र १६।३३।२२२
समभूदरातिकमलालयया ५।५५।५५
समन्ततो दृष्टिविषाग्निरेखा ९।८७।११४
समन्वितोऽभ्युज्ज्वलवर्णशोभया २।५२।२०
समरे ननु चक्रवर्तिनं ७।५३।८२
समागमाः सापगमा विभूतयो १०।४९।१२५
समीपगैरप्यविभाव्यमान ९।१८।१०५

समुपैत्य निसर्गतः शुची	७।९।७६
समुपलभ्य चिरं चिर तापसौ	१८।६१।२६१
समुद्धरिष्यामि कथं निमग्न	१२।६२।१५२
सम्पदं धनपतेरपवादां	१३।११।१५५
सम्यक्त्वरत्नमधुना कुल	६।११।६५
सम्यक्त्वं स्यात् सच्चरित्रं	१५।१०।१७७
सम्यक्त्वशुद्धिविनयाधिकत्वं	१५।४६।१८३
सम्यग्योगविनिग्रहो निगदितो	१५।८३।१९२
सम्यग्दृष्टिरुपासकश्च विरतः	१५।१६६।२११
सम्वत्सरे दशनवोत्तरवर्षयुक्ते	१८।१०४।२६८
सरसाः समुन्नतलया सहिताः	५।३३।५१
सरभसपरिरम्भणेन भग्नो	११।२०।१३४
सरसी यत्र च शिरीषविभास्	५।४०।५३
स रुषा वमन्निव दवाग्निकणान्	५।८५।५८
सरोभिरुन्मीलितपद्म	१।१३।३
सरोरुहिण्या शिशिरात्यये चिरात्	२।५६।२०
सर्वतो जयजयेतिसैनिकान्	८।६३।९८
सर्वर्तुप्रसवफलानि सर्वकालं	१४।२९।१७२
सर्वर्तवोऽलंकृतसर्ववृक्षाः	१।३६।६
सर्वान् सत्त्वान् भिन्नजातीन्	१५।२।१७६
सर्वेषु सत्त्वेषु च भावनीया	१५।६०।१८६
सर्वेषामजनि स भाजनं गुणानां	१४।८।१६९
सलिलराशिवियत्कनकाचल	१८।६५।२६२
स वमन्मुदाश्रु शुचि तस्य	१६।१४।२१९
स विकृत्य फणासहस्रभीमं	१७।९६।२४३
स विशाखभूतिरवतीर्य दिवस्	५।५१।५४
स विस्मयं पश्यत एव तत्क्षणात्	२।११।१४
स समादधे स्वयमेव भेदकृति	१६।४०।२२३
स संभ्रमं प्रत्युदितौ बलाच्युतौ	१०।७२।१२८
स संयुतः षोऽशभिः सहस्रैः	५।३१।५१
स सिद्धलब्धैः समभावि भान	१८।३।२४९
स सुरैर्जगवाङ्कुतोत्सवपूजो	१७।१११।२४६
सस्पृहं दिव्यनारीभिः	३।९९।३०
स स्वयं कथमिवारमनीयं	८।४४।९५
सहजवणिविभूषा	३।११३।३२
सहजेन समन्वितस्य भर्तुं	१७।१०७।२४५
सहजेन यतं यथापि	३।१०६।३१
सहजैर्जयविनुर्मनोवतं	१७।१००।२४४
सहनाम्नः शिवममास्य	१६।२०।२२०
सहसा वचनेन वल्लभायाः	४।३१।३६
सहसैव परं क्षमाधरो	७।४१।८०
संकल्प एकसमयनाधिकवोचरो यः	१५।१३३।२०३
संघो धर्मः केवली च श्रुतं सत्	१५।२९।१८०
संचरन्ति परितो दवानलं	८।५२।९७
संजाता नव निधयः कुबेरलक्ष्म्याः	१४।२०।१७१
संतृप्तिर्न च विषयैर्निषेव्यमाणैः	१४।४६।१७४
संधाय वेगेन शरं प्रभावा	९।६५।१११
संपत्तिस्तडिदिव चञ्चला समया	१४।४९।१७५
संप्राप्तसप्ततिशतं जिनेन्द्र	१८।५३।२५९
संप्राप्यते न पुनरेव वपुःस्वरूपं	१७।९४।३४३
संफलीवचनमाशु सरागं	१३।४८।१६१
संभाव्य तावितिं महीपतिखेचराणां	६।१६।६५
संभिन्नवस्तविवसेऽथ	६।२०।६६
संरम्भार्द्धरविन्तोऽष्टातिरिक्तं	१५।२५।१७९
संरेजे समदवधूविलोलनेत्रैः	१४।१०।१६९
संविश्य तं मुनिपतिं	१।५६।१०
संवेगतो साधुसमाधिवैयावृत्ति	१५।४७।१८३
संसर्पत्करनिचयेन रुद्धदिक्क	१४।१८।१७७
संसारस्थितिचेतसा विचिन्त्य	१४।११।१७५
संसारः खलु कर्मकारणवशात्	१५।९३।१९३
संसारस्थास्ते त्वनेक प्रकारा	१५।७।१७७
संस्थानषट्कं निशरीरकाङ्गो	१५।१८२।२१४
सागारिकोऽणुव्रतभेदभिन्नो	१२।४८।१५०
साधुक्रियाचारविधौ जुगुप्सा	१५।३७।१८१
साधुरत्र इव भूतिसंज्ञमान्	८।३६।९४
साध्वात्मनः सदृशमेत्य पतिं	१७।२७।२३२
सामग्री मदविचेतनोऽपि सन्	८।३८।९४
साम्राज्यमित्थमनुभूय चिरं	१०।८३।१३०
सार्धेन तत्र सार्धेन	३।३६।२५
सालो विशालः स्फुरदंशुजालः	५।९।४७
सावज्ञमालीक्य तमर्ककीर्ति	९।६४।१११
सांसारिकीं वृत्तिमवेत्य कण्वां	१२।६०।१५१

सुखमित्यमिति यद्यदात्ममुद्धया	११।२३।१३५	स्तुत्वैवमिन्द्रः सुचिरं जिनेन्द्रं	१८।८२।२६४
सुखाय सर्वत्र सदा शरीरिणां	१०।१६।१२०	स्तुत्वा तत्रित्यथ सुराः पुनरत्र	१७।८८।२४२
सुगुणरत्नगिरिरप्यजडाशयो	१८।६२।२६१	स्त्रीरागादिकथाश्रुतेंन्द्रियमथं	१५।५७।१८५
सुतं गृहीत्वा व्रजता तपोवनं	२।३०।१७	स्थातुं निमेषार्धमपि प्रतीता	१२।२९।१४७
सुतयोचितोऽभ्यनभिवीक्ष्य	५।७१।५६	स्थितिहीनमिति प्रतीततत्त्वा	४।४१।१८
सुतपोरणे मुनिनृपस्य	१६।८।२१८	स्थित्वाग्रतस्तस्य मुनेरदूरे	१२।४५।१४९
सुतरामशिक्षत कलाः सकला	५।६४।५६	स्थिरसंगतो विनयसारधनो	५।४७।५३
सुतारया श्रीविजयस्य मानसं	१०।७८।१२९	स्थूणाकारे पुरे सोऽभूद्	३।७९।२९
सुतयोः पुरतः प्रजापतिः	७।७२।८५	स्थैर्यधैर्यमेधासमथ भावनाः स्युः	१५।५३।१८४
सुतोऽर्ककीर्तिः अपितारिकीर्तिः	५।१०५।६१	स्निह्यति त्वयि गुणाधिके परं	८।५।९०
सुतीर्थकत्वं सुभगो यशः स्यात्	१५।१८४।२१४	स्पर्शाष्टकं पञ्च रसाः शरीर	१५।१७९।२१३
सुदुस्तरानादिदुरन्त	१।३।१	स्पृश्यते स दुरितेन न राज्ये	१३।२४।१५७
सुदुर्निवारान्विविधान्विघिघ्नः	९।८४।११४	स्यात्सम्यक्त्वं निर्मलं ज्ञानमेकं	१४।३।१७६
सुनिश्चलात्तिष्ठदसौ तदीये	१२।१४।१४५	स्यान्मात्सर्यं चान्तरायप्रदोषौ	१५।२६।१८०
सुपयोधराः शफरीलोलदृशः	५।३५।५२	स्वच्छे कपोलफलके निशि	१७।१९।२३१
सुमनोऽन्वितमप्यपेतबोधं	१८।६।२५०	स्वं ज्यायसे सकलराज्य	१५।१९४।२१६
सुरक्तसर्वप्रकृतिः प्रतापी	५।१६।४९	स्वकुलोचितां जिनपतेर्महिमां	५।६२।५५
सुरान्नि यस्मिन्परिपाति मेदिनी	१०।१८।१२०	स्वधामाभिः कुन्दवलावदातैः	१२।८।१४४
सुवशीकृताक्षद्विषस्य	१६।९।२१९	स्वप्नावलीफलमिति प्रियतो	१७।४७।२३५
सुविचार्य कृताद्धि कर्मणः	७।५२।८२	स्वपावनम्रान् सचिवस्य शिक्षया	१०।१४।११९
सुविप्रियस्वारुफलेषु पादपो	१०।२४।१२१	स्वपूर्वकृतकर्मणा च्युतिरुदीरिता	१५।१६५।२११
सुवशीकरणं शरीरिणां	७।१९।७८	स्वप्नान्सदस्यवनिपाय जगाद	१७।४२।२३५
सूक्ष्मक्रियासु प्रतिपातितेन	१५।१५०।२०७	स्वभुक्तशेषं विरहादितानां	२।५०।११९
सूर्यांशवो निपतिता भुवनोदरेषु	१७।१६।२३१	स्वमतार्थसिद्धिमभिवीक्ष्य	१६।६१।२२६
सृजन्ति राज्ञावपि यत्र	१।३२।६	स्वमितः कथं व्यपनयामि	१६।३७।२२२
सेनामथ प्रमुदितां प्रधनागमस्य	४।७४।४२	स्वमातृसंकल्पवशीकृतेन	१०।७७।१२९
सौवर्णोपानसीलग्न	३।४८।२६	स्वयं परिच्छेत्तुमपारयन्नयं	१०।६०।१०७
सौधर्मकल्पमथ धर्मफलेन	११।६४।१४१	स्वमपि स्वकीयमपलील्य	१६।३८।२२३
सौधर्मकल्पादवतीर्य पुत्रः	१२।१८।१४६	स्वयंप्रभामनुमरणार्थमुद्यतां	१०।८७।१३०
सौधे सुधाधवलिते मृदु	१७।३७।२३४	स्वयमाददे निजमनोऽभिमतं	५।६०।५५
सौन्दर्ययौवनवयोदय	१।६४।११	स्वयमेव किं हरिपदेन वयो	५।७०।५६
सौम्याकृतिः कस्त्वमनन्यसाम्य	५।९९।६०	स्वर्गसौख्यमनुभूय स देवः	१३।१८।२५६
सौम्याभिजातकुलशालबलवयो	१५।१८९।२१५	स्वर्गादित्य तयोरासी	३।९७।३०
सौवर्णं सदनपरिच्छदं विचित्रं	१४।३०।१७२	स्वसदृशानवगम्य सर्वसत्त्वान्	११।३०।१३६
स्कन्धाः प्रोक्ता त्रयाद्यनन्तप्रदेशैः	१५।१९।१७८	स्वसौरभामोदितसर्वदिङ्मुखं	२।५९।२०
स्तब्धमुत्खनति किं न मूलतः	८।४८।९६	स्वस्तिमत्यां पुरि श्रीमान्	२।९६।३०

स्वयंवरं विनिर्म्याप्य रत्नमण्डपमे ५।५०।७४
स्वयूथ्यवत्सरकल्पितेन नित्यं १५।१०४।१९६
स्वाख्यातो जगतां हिताय परमो १५।१००।१९५
स्वामिनं सुहृदमिष्टसेवकं ८।१०।९०
स्वेदार्द्रनिर्मलतनुयष्टिविभ्रितेन ६।३१।६८

ह

हतमानुषास्थिपरिपाण्डुरितं ५।८१।५८
हत्वा क्षतिचलुप्टयं हलधरो १०।९०।१३१
हत्वैवं हयकन्धरं निजरिपुं ९।१०२।१३७
हरिकरिशयुपुण्डरीककङ्क ११।१४।१३३
हरिणाश्चपि वेगशालिनो ७।१७।७७
हरेरुदीचीमवसन्ननायकां १०।६।११८
हर्म्याग्रशिखरारूढ ३।४५।२६
हा स्वर्गविभ्रमोपेत ३।१०४।३१
हिंसापरिमिह नास्ति किञ्चिदन्यत् ११।३९।१३७
हिंसयातां वीक्ष्य समस्तपद्मिनी २।५३।१९
हिंसाव्यपायादिवाची सुखावहां २।५८।२०
हिंसानृतस्तेयरतिव्यवाय १५।५२।१८४
हिंसानृतस्तेयवधूव्यवाय १२।५०।१५०
हिंसानृतस्तेयपरिग्रहैक १५।१४३।२०६
हिंसादिषु स्फुटमिहैव १५।५९।१८६
हुतभुजि परितापयन्ति चण्डा ११।१०।१३३
हुतकर्ममलानुदङ्मुखेन १७।११४।२४६
हृदयतो भवता मुनिराकृतः १८।६६।२६२
हे खेचराः श्रुतमिदं ननु किं ६।२५।६७
हेतीनां निवहमनेकभेदभिन्नं १४।३३।१७२
हेमशालकचितासकरत्न १३।९।१५४
हैमे द्वितीयमणिपीठतले १८।३२।२५५

व्रतविधि

सर्ग १६ : श्लोक ४६ : पृष्ठ २२४

कनकावलीं परिसमाप्य विधिवदपि रत्नमालिकाम्।
सिंहविलसितमुपावसदप्युरुमुक्तये तदनु मौक्तिकावलीम् ॥१६।४६॥

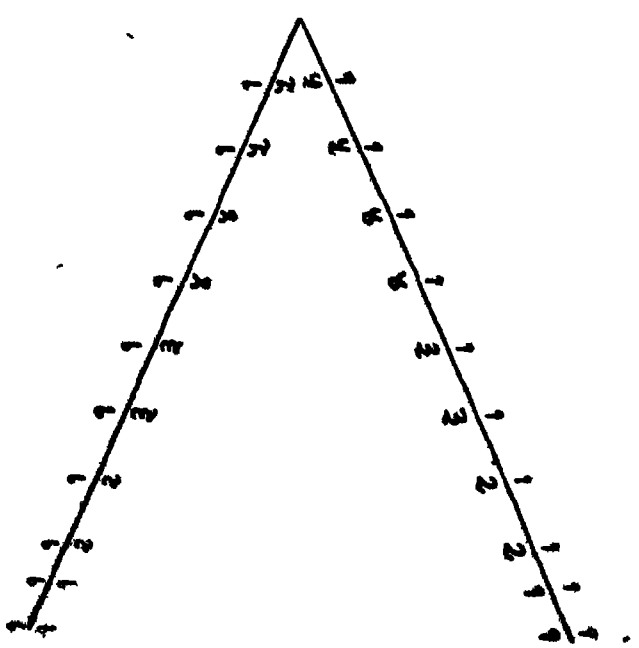
१. कनकावली

इस व्रतमें २५ उपवास और ९ पारणाएँ होती हैं। उनका क्रम यह है—एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, पाँच उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा और एक उपवास एक पारणा। यह व्रत चौंतीस दिनमें पूर्ण होता है।

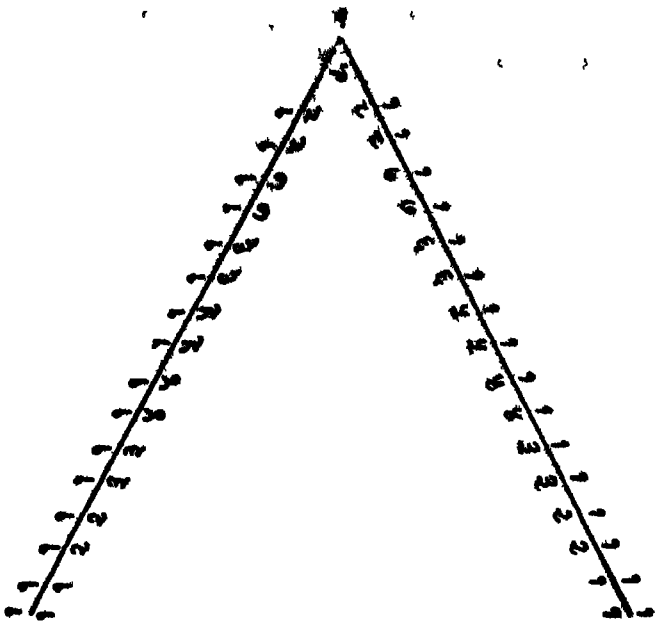
२. सिंहनिष्क्रीडितव्रत

सिंहनिष्क्रीडितव्रतके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टकी अपेक्षा तीन भेद हैं। जघन्यमें ६० उपवास और २० पारणाएँ होती हैं। यह व्रत ८० दिनमें पूर्ण होता है। मध्यममें एक सौ त्रेपन उपवास और तेतीस पारणाएँ होती हैं। यह व्रत एक सौ छियासी दिनमें पूर्ण होता है। उत्कृष्टमें चार सौ छियानवे उपवास और इकसठ पारणाएँ होती हैं। इस व्रतमें कल्पना यह है कि जिस प्रकार सिंह किसी पर्वत पर क्रमसे ऊपर चढ़ता है और फिर क्रमसे नीचे उतरता है उसी प्रकार इस व्रतमें मुनि तपरूपी पर्वतके शिखरपर क्रमसे चढ़ता है और क्रमसे उतरता है। इसके उपवास और पारणाकी विधि निम्नलिखित यन्त्रोंसे स्पष्ट की जाती है। नीचेकी पंक्तिसे उपवास और ऊपरकी पंक्तिसे जिसमें एकका अंक लिखा है पारणा समझना चाहिये।

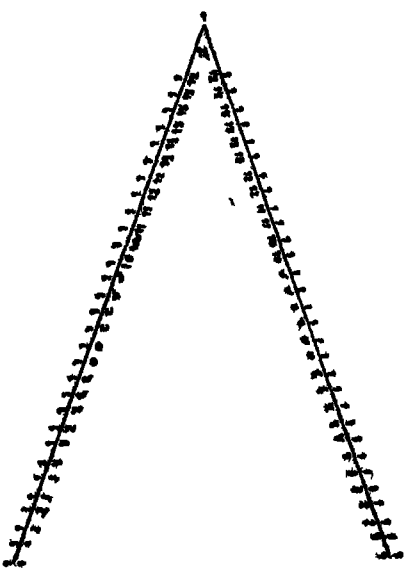
जघन्य सिंहनिष्क्रीडित व्रतका यन्त्र—



[illegible] निम्नलिखितों [illegible]



उत्कृष्ट सिद्धान्तोंवाला [illegible]



[illegible]

इस [illegible] उपवास और १० पारणाएँ होती हैं तथा ४५ दिनों में पूर्ण होता है। उपवासक्रम इस प्रकार है—

एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, पाँच उपवास एक पारणा, पाँच उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा और एक उपवास एक पारणा।

इस व्रतकी दूसरी विधि हरिवंश पुराणमें इस प्रकार बतलाई है—एक बेला एक पारणा, एक बेला एक पारणा—इस क्रमसे दस बेला दस पारणा, फिर एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, इस क्रमसे सोलह उपवास तक बढ़ाना चाहिये। फिर एक बेला एक पारणा इस क्रमसे तीस बेला तीस पारणा, फिर षोडशीके सोलह उपवास एक पारणा, पन्द्रह उपवास एक पारणा इस क्रमसे एक उपवास एक पारणा तक आना चाहिये। फिर एक बेला एक पारणाके क्रमसे बारह बेला बारह पारणाएँ। तत्पश्चात् नीचेकी चार बेला और चार पारणाएँ करना चाहिये। इस प्रकार यह व्रत एक वर्ष, तीन माह और बाईस दिनमें पूर्ण होता है। इसमें सब मिलाकर तीन सौ चौरासी उपवास और अठासी पारणाएँ होती है।

कनकावली

इस व्रतमें चार सौ चौंतीस उपवास और अठासी पारणाएँ होती है। इनका क्रम इस प्रकार है—एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा आदि। इस व्रतके उपवास और पारणाओंकी संख्या निम्नलिखित यन्त्रसे समझना चाहिये। ऊपरकी पंक्तिसे उपवासोंकी और नीचेकी पंक्तिसे पारणाओंकी संख्या लेना चाहिये—

१, २, ३, ३, ३, ३, ३, ३, ३, ३, ३, १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९,
१, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १,
१०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, ३, ३, ३, ३, ३, ३, ३, ३,
१, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १,
३, ३,
१, १,
३, ३, ३, ३, ३, ३, १६, १५, १४, १३, १२, ११, १०, ९, ८,
१, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १,
७, ६, ५, ४, ३, २, १, ३, ३, ३, ३, ३, ३, ३, ३, ३, २, १
१, १

व्यक्तिवाचक शब्द संग्रह

श्री वर्धमानचरितमें आये हुए व्यक्तिवाचक शब्दोंका संग्रह नीचे दिया जा रहा है। शब्दोंके आगे दिये हुए तीन अंकोंमें पहला अंक सर्गका, दूसरा श्लोक का और तीसरा पृष्ठका सूचक है। एक नामका एक ही बार संकलन किया गया है।

अकम्पन = एक विद्याधर ६।३७।६९
अकम्पन = एक विद्याधर योद्धा ९।६२।१११
अग्निमित्र = गौतम और कौशिकाका पुत्र (अग्निसह का जीव) ३।९२।३०
अग्निसह = अग्निभूति और गौतमीका पुत्र ३।८७।२९
अग्निभूति = श्वेतविका नगरीका एक ब्राह्मण ३।८६।२९
अच्युत = त्रिपृष्ठ १०।४।११८
अनिरुद्ध = विश्वनन्दीका एक कृतज्ञ सेवक ४।६२।४०
अमितकीर्ति = एक मुनि ३।२२।२४
अमितप्रभ = एक मुनि ३।२२।२४
अमिततेज = ज्वलनजटीके पुत्र अर्ककीर्तिका पुत्र १०।७०।१२८
अर्ककीर्ति = ज्वलनजटीका पुत्र ५।१०५।६१
अशनिघोष = एक योद्धा ९।६१।१११
अश्वग्रीव (हयकन्धर) = मयूरग्रीव और कनकमाला का पुत्र (विशाखनन्दीका जीव) ५।२५।५०
असग = वर्द्धमानचरित्रके कर्ता १८।१०५।२६८
इन्दु = ज्वलनजटीका दूत एक विद्याधर ५।११३।६२
इन्द्रभूति = गौतम गणधर १८।५०।२५८
ईश्वर = एक विद्याधर ६।३६।६९
ईशानकल्पपति = ईशानेन्द्र १७।७५।२४०
कच्छ = नमिका पिता, भगवान् वृषभदेवका साला ५।१०३।६०
कनकचित्रा = एक देवी १७।३४।२३४
कनकदेवी = एक देवी १७।३४।२३४
कनकध्वज = हेमपुरके राजा कनकाभ और कनकमालाका पुत्र १२।१८।१४६
कनकमाला = अलकाके राजा मयूरग्रीवकी स्त्री ५।१७।४९
कनकमाला = हेमपुरके राजा कनकाभकी स्त्री १२।१७।१४५
कनकप्रभा = कनकध्वजकी स्त्री १२।२७।१४७
कनकाभ = हेमपुर नगरका राजा १२।१३।१४५
कपिला = कौलेयक नगरके निवासी कौशिक ब्राह्मणकी स्त्री ७।७३।२८
कमलाधर = विदेहके एक तीर्थंकर ११।४८।१३९
कामदेव = एक विद्याधर योद्धा ९।७१।११२
काली = पुरूरवा भीलकी स्त्री ३।३८।२५
कीर्ति = विशाखभूतिका मंत्री ४।३१।३७
कीर्ति = एक देवी १७।५०।२३६
कूल = कूलपुरका राजा, जिसके घर मुनिराज वर्द्धमानका प्रथम आहार हुआ १७।१२०।२४७
कृष्ण = नारायण त्रिपृष्ठ ९।८७।११४
केशव = त्रिपृष्ठ ९।९३।११५
कौशिक = कौलेयक नगरमें रहनेवाला एक ब्राह्मण ३।७२।२८
कौशिक = गौतम ब्राह्मणकी स्त्री
क्षेमङ्कर = एक तीर्थंकर १४।११।१६९
गौतम = मन्दिरनगरका रहनेवाला एक ब्राह्मण ३।९१।३०
गौतमी = श्वेतविकाके अग्निभूति ब्राह्मणकी स्त्री ३।८६।२९
चन्द्रशेखर (शशिशेखर) = एक विद्याधर योद्धा ९।७२।११२
चित्राङ्गद = एक विद्याधर ६।२८।६७

चूलावती = विद्युत्प्रभा देवी १७।३२।२३३
जय = एक योद्धा ९।६२।१११
जयावती = राजा प्रजापतिकी एक स्त्री ५।४९।५४
जयिनी = राजगृहके राजा विश्वभूतिकी रानी ४।१३।३४
जितशत्रु = एक राजा १३।७४।१६५
ज्योतिःप्रभा = त्रिपृष्ठ और स्वयंप्रभाकी पुत्री १०।२९।१२२
ज्वलनजटी = विजयार्धकी दक्षिण श्रेणी रथनूपुरका राजा ५।१०।१६०
तिर्यग्विजृम्भक सुर = एकप्रकारके देव १७।३६।२३४
तुरङ्गकण्ठ = अश्वग्रीव ९।८१।११३
तुरगबाल = अश्वग्रीव ६।६६।७४
त्रिपृष्ठ = राजा प्रजापति और मृगावतीका पुत्र (विश्वनन्दीका जीव) ५।६२।५५
त्रिशिरा = एक देवी १७।३३।२३४
त्रिशला = राजा सिद्धार्थकी स्त्री, प्रियकारिणीका दूसरा नाम १७।३१।२३३
दिवाकर = एक विद्याधर ६।३४।६८
देवानन्द = एक देव १२।७१।१५३
धनञ्जय = अपरविदेहके कच्छादेशमें स्थित हेमद्युतिपुरका राजा १४।४।१६८
धनेश = कुबेर १७।३६।२३४
धर्मस्वामी = जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह स्थित पुण्डरीकिणीनगरका एक सेठ ३।३५।२५
धारिणी = भरतचक्रवर्तीकी स्त्री ३।६३।२७
धूमशिख = एक विद्याधर ६।३९।६९
धूमशिख = एक योद्धा ९।६०।१११
धृति = एक देवी १७।५०।२३६
नन्द = नन्दन और प्रियंकराका पुत्र २।४४।१८
नन्दन = राजा नन्दिवर्धन और रानी वीरवतीका पुत्र १।४८।८
नन्दिवर्धन = श्वेतातपत्रानगरीके राजा १।३७।६
नवमालिका = एक विद्युत्कन्यका देवी १७।३२।२३३
नीलरथ = एक विद्याधर योद्धा ९।७३।११२
नीलरथ = एक विद्याधर ६।२७।६८
नीलकण्ठ = एक विद्याधर ६।३०।६८
नीलाञ्जना = अलकाके राजा मयूरकण्ठकी स्त्री ६।६९।७५
परिघ = एक विद्याधर ६।३२।६८
पारासरी = राजगृह निवासी शाण्डिल्य ब्राह्मणकी स्त्री ३।११।३२
पिहितास्रव = एक मुनि २।३४।१७
पिहितास्रव = राजा प्रजापतिको दीक्षा देनेवाले मुनिराज १०।५७।१२६
पीतवासस् = त्रिपृष्ठ १०।८४।१३७
पुरुषोत्तम = त्रिपृष्ठ ९।९०।११४
पुरुरवा = मधुवनमें रहनेवाला एक भील ३।३८।२५
पुष्पचूला = एक देवी १७।३३।२३४
पुष्पदन्ता = स्थूणागारनगरके भारद्वाज ब्राह्मणकी स्त्री ३।८०।२९
पुष्पमित्र = भारद्वाज और पुष्पदन्ताका पुत्र ३।८१।२९
प्रजापति = सुरम्यदेशके पोदनपुरका राजा ५।४५।५३
प्रभावती = हेमद्युतिनगरके राजा धनञ्जयकी स्त्री १४।५।१६८
प्रभास = एक देव १०।४।११८
प्रियङ्गुरा = नन्दनकी स्त्री १।६६।१२
प्रियकारिणी = राजा सिद्धार्थकी पत्नी, भगवान् वर्धमानकी माता १७।२४।२३२
प्रियमित्र = एक मुनि १५।१९६।२१७
प्रियमित्र = प्रीतिकर देवका जीव, धनञ्जय और प्रभावतीका पुत्र १४।६।१६८
प्रीतिकर = एक देव १३।८४।१६७
प्रौष्ठिल = एक मुनिराज २।६२।२१
बला = एक देवी १७।५०।२३६
बली = एक विद्याधर ६।३८।६९
बाहुबली = भगवान् वृषभदेवका पुत्र ५।१०२।६०
भव = वृक्षका नाम १७।१२५।२४८
भरत = भगवान् वृषभनाथका पुत्र, भरतक्षेत्रका प्रथम चक्रवर्ती ३।५६।२७
भारद्वाज = शालङ्कायन और मन्दिराका पुत्र (अग्निसिंहका जीव) ३।९७।६०

अग्निभूति = गौतम गणधरका एक ब्राह्मण ३।७१।२९
अमरकीर्ति = अमरण कविके गुरु १८।१०४।२६८
अमित = एक विद्याधर ६।२९।६८
अमितसागर = प्रजापतिका एक मंत्री ७।४९।८२
अमितमति = सात्यकायन ब्राह्मणकी स्त्री ३।९६।३०
मयूरकण्ठ = (मयूरग्रीव) = अलकानगरीका राजा ५।१५।४९
मरीचि = भरतचक्रवर्ती और धारिणीका पुत्र ३।६४।२७
महावीर = भगवान् वर्धमान १७।९८।२४४
महेन्द्रकल्प = एक देव (विश्वनन्दीका जीव) ४।९२।४५
मागध = एक देव १०।३।११८
माहेन्द्र = माहेन्द्रस्वर्गका इन्द्र १७।७६।२४०
मालिनिका = विद्याकन्यका देवी १७।३२।२३३
मृगवती = राजा प्रजापतिकी एक स्त्री ५।४९।५४
मैत्रायण = कौशिक और कपिला नामक ब्राह्मण दम्पतीका पुत्र ३।७४।२९
रथाङ्गपाणि = त्रिपृष्ठ नारायण ११।१।१३२
लक्ष्मणा = विशाखभूतिकी स्त्री ४।२८।३६
लक्ष्मी = एक देवी १७।५०।२३६
लवणा = एक देवी १७।५०।२३६
वज्रदंष्ट्र = एक विद्याधर ६।३६।६९
वज्रसेन = उज्जयिनीका राजा १३।१३।१५५
वज्रायुध = इन्द्र ९।८८।११४
वरतनु = एक देव १०।४।११८
वारुणी = एक देवी १७।३४।२३४
वायुवेगा = ज्वलनजटीकी स्त्री ५।१०५।६१
वासुपूज्य = एक तीर्थंकर १६।६२।२२६
विजय = अजातशत्रु और अजातशत्रुका पुत्र (विशाखभूतिका जीव) ५।५२।५४
विजय = एक चारणऋद्धिधारी मुनि १७।६२।२४३
विशाख = भोदिलनगरका छोटा भाई १०।७४।२२८
विशाखनन्दी = विशाखभूति और लक्ष्मणाका पुत्र ४।२८।३६
विशाखभूति = राजगृहके राजा विश्वभूतिका छोटा भाई ४।२२।३९
विश्वनन्दी = राजगृहके विश्वभूति और जमनीका पुत्र ४।१५।३४
विश्वभूति = राजगृहनगरका राजा ४।२१।३४
विष्णु = त्रिपृष्ठ ९।८९।११४
वृषभ = भरत क्षेत्रके प्रथम तीर्थंकर ३।५०।२६
वीरवती = राजा नन्दिवर्धनकी स्त्री १।४१।७
शतायुध = एक योद्धा ९।६०।१११
शतजित = एक योद्धा ९।६१।१११
शाण्डिल्यायन = राजगृहनगरका एक ब्राह्मण ३।१११।१३२
शार्ङ्गायुध = त्रिपृष्ठ नारायण (भगवान् वर्धमानका जीव) १०।८३।१३०
शिखिजटी = ज्वलनजटी ८।७४।१००
श्री = एक देवी १७।५०।२३६
श्रीधर = एक भूमिराज ४।२३।३५
श्रीनाथ = चोलदेशकी विरजा नगरीके राजा १८।१०५।२६८
श्रीवर्धमान = अन्तिम तीर्थंकर १।५।१
श्रीविजय = त्रिपृष्ठकी रानी स्वयंप्रभाका पुत्र १०।२९।१२२
श्रुतपयोनिधि (श्रुतसागर) = एक मुनि १३।२१।१५७
श्रुतसागर = एक मुनिराज १।५४।९
सप्तिगल = अश्वग्रीव ८।३३।९३
सप्तिग्रीव = अश्वग्रीव ९।९६।११६
सम्मत् = असगकविको आश्रय देनेवाली एक श्राविका १८।१०४।२६८
सन्मति = (अन्तिम तीर्थंकर) १।१।१
सन्मति = वर्द्धमान् स्वामी १८।९८।२६७
सन्मति = भगवान् महावीर १७।९२।२४३
सङ्गम = एक देव जो सर्पका रूप रखकर वर्धमानकी परीक्षाके लिए आया था १७।९५।२४३
संजय = एक चारणऋद्धिधारी मुनि १७।९२।२४३
सिंहसेन = एक विद्याधरराजा ५।१०।७१

संभूत = एक मुनिराज ४।८४।४३
सागरसेन = धर्मस्वामी सेठके संघके साथ चलने वाले एक मुनि ३।३६।२५
सानत्कुमार = सानत्कुमारस्वर्गका इन्द्र १७।७६।२८०
सालङ्कायन = स्वस्तिमतिनगरीका एक ब्राह्मण ३।९८।३०
सिद्धार्थ = वर्धमान तीर्थंकरके पिता कुण्डग्रामके राजा १७।२०।२३१
सीरपाणि = विजय-बलभद्र १०।८।११९
सुतारा = अर्ककीर्तिकी पुत्री १०।७०।१२८
सुप्रतिष्ठ = एक मुनिराज १३।८२।१६७
सुमति = एक मुनिराज, जिनके पास राजा कनकाभने दीक्षा ली १२।३२।१४८
सुवर्णकुम्भ = एक मुनिराज १०।८९।१३१
सुव्रत = एक मुनिराज १२।४१।१४९
सूर्यप्रभदेव = एक देव, प्रियमित्रका जीव १५।१९८।२१७
सुशीला = उज्जयिनीके राजा वज्रसेनकी स्त्री १३।१६।१५४
सुश्रुत = प्रजापतिका मन्त्री ७।७।७६
सेन = एक विद्याधर ७।३१।१६८
स्थावर = शाण्डिल्यायन और पाराशरीका पुत्र ३।११२।३२
स्वयंप्रभा = ज्वालनजटीकी पुत्री ५।१०५।६१
हरि = त्रिपृष्ठ ९।८८।११४
हरिध्वज = एकदेव (सिंहका जीव) ११।६४।१४१
हरिकन्धर = एक विद्याधर ६।३३।६८
हरिश्मश्रु = अश्वग्रीवका मंत्री ६।६५।७४
हरिषेण = वज्रसेन और सुशीलाका पुत्र १३।१८।१५६
हलायुध = बलभद्र १०।८६।१३०
हेमरथ = कनकध्वजका पुत्र १२।३६।१४८
ह्री = एक देवी १७।५०।२३६

भौगोलिक शब्द संग्रह

श्री वर्धमानचरितमें आये हुए भौगोलिक शब्दोंका संग्रह नीचे दिया जा रहा है। शब्दोंके आगे दिये हुए तीन अंकोंमें पहला अंक सर्गका, दूसरा श्लोकका और तीसरा पृष्ठका सूचक है। एक नामका एक ही बार संकलन किया गया है।

अमरावती = इन्द्रकी नगरी ५।७।४७
अलंका = विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीकी एक नगरी ५।४७।४७
अवन्ती = एक देश (आधुनिक मालवा) १३।१।१५३
ईशान् = दूसरा सर्ग ३।८३।२९
ऋजुकूला = एक नदी १७।१२८।२४८
कच्छा = विदेहका एक देश १२।१।१४३
कापिष्ठ = आठवाँ स्वर्ग १२।७०।१५३
कामरूप = एक देश जो आजकल आसाम कहलाता है ४।४९।३९
कुण्डपुर = विदेह देशका एक नगर, भगवान् वर्धमानकी जन्मनगरी १७।७।२२८
कूलपुर = विदेह देशका एक नगर, जहाँके कूल राजाके यहाँ भगवान् वर्धमानका प्रथम आहार हुआ था १७।१२०।२४७
कौलेयकपुर = एक नगर ३।७२।२८
जम्बूद्वीप = आद्य द्वीप १।७।२
जृम्भक = ऋजुकूला नदीके तटपर बसा हुआ ग्राम, जिसके उपवनमें भगवान् वर्धमानको केवलज्ञान हुआ था १७।१२८।२४८
पुण्डरीकिणी = जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रकी एक नगरी ३।३५।२५
पुष्पोत्तर = प्राणत स्वर्गका एक विमान १६।६४।२२६
पूर्वदेश = जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्रका एक देश १।७।२
पोदनपुर = जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्रके सुरम्यदेशका एक नगर ५।३७।५२
प्राणत = बारहवाँ स्वर्ग १६।६३।२२६
ब्रह्मलोक = पाँचवाँ स्वर्ग ३।११२।१२
भारत = भरतक्षेत्र १।७।२
भारतवास्य = भरतक्षेत्र ४।१।३३
मगध = भरतक्षेत्रका एक नगर ४।१।३३
मथुरा = उत्तरप्रदेशकी प्रसिद्ध नगरी ४।८८।४४
मधुवन = पुरूरवा भीलके रहनेका वन ३।३८।२५
मन्दिर = भरतक्षेत्रका एक नगर ३।९१।३०
महाशुक्र = दशम स्वर्ग ४।९२।४५
महाशुक्र = एक स्वर्ग १३।८३।१६७
माहेन्द्र = चौथा स्वर्ग ३।९४।३०
रथनूपुर = भरतक्षेत्रकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर ५।१०।१६७
राजगृह = भरतक्षेत्रका एक नगर ३।१११।३२
राजगृह = मगधदेशका एक नगर ४।६।३३
रौप्यगिरि = विजयार्ध पर्वत १२।२।१४३
विजयार्ध = जम्बूद्वीप भरतक्षेत्रका एक नगर ५।१।४६
विदेह = भरतक्षेत्रका एक देश (बिहार प्रान्तका एक भाग १७।१।२२७
विनीता = भरतक्षेत्रकी एक नगरी (अयोध्या) ३।४३।२६
श्वेतपत्रा = पूर्वदेशकी एक नगरी १।१४।३
श्वेतविका = एक नगरी ३।८६।२९
सनत्कुमार = तीसरा स्वर्ग ३।८८।३०
सहस्रार स्वर्ग = बारहवाँ स्वर्ग १५।१९७।२१७
सिंहगिरि = भरतक्षेत्रका एक पर्वत ११।१।१३२
सीता = विदेहकी एक नदी १२।१।१४३
सुरमा = भरतक्षेत्रका एक देश ५।३२।५१
सौधर्मस्वर्ग = पहला स्वर्ग ३।४।२६
स्वस्तिमती = एक नगरी ३।९६।३०
हेमद्युति = विदेहके कच्छा देशका एक नगर १४।१।१६८

पारिभाषिक शब्द संग्रह

सूचना—शब्दोंके आगे दिये गये तीन अङ्कोंमें से प्रथम अङ्क सर्गका, दूसरा श्लोकका और तीसरा पृष्ठका सूचक है।

अक्ष १५।८।१७७ = स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँच इन्द्रियाँ।

अजीव १५।५।१७६ = चेतना लक्षणसे रहित एक तत्त्व।

अणु १५।१९।१७८ = पुद्गलद्रव्यका अविभाज्य—सबसे छोटा अंश।

अदूरभव्य २।१६।१५ = निकटभव्य—शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करनेवाला जीव।

अद्भुतपञ्चक १७।१२४।२४७ = पञ्चाश्चर्य—१ रत्नवृष्टि, २ पुष्पवृष्टि, ३ दुन्दुभि बाजोंका बजना, ४ मन्द सुगन्ध पवनका चलना और ५ अहोदानं अहोदानकी ध्वनि होना।

अधर्म १५।१५।१७८ = जीव और पुद्गलके ठहरनेमें सहायक एक द्रव्य।

अनन्तचतुष्टय १८।६९।२६२ = अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त बल।

अनभीष्ट निर्जरा १५।४४।१८३ = अकामनिर्जरा—अनचाहे दुःखके कारण उपस्थित होनेपर समताभाव रखनेसे होनेवाली निर्जरा।

अनशन १५।१३१।२०२ = चारों प्रकारके आहारका त्याग कर उपवास रखना।

अनादिमिथ्यात्वगद २।१५।१५ = अनादिकालीन मिथ्यादर्शनरूपी रोग।

अनुभाग १५।६९।१८८ = कर्मबन्धका एकभेद।

अनुप्रेक्षा १५।८२।१९२ = पदार्थके स्वरूपका बारबार चिन्तन करना। इसके अनित्यत्व आदि बारह भेद हैं।

अन्तराय १५।२६।१८० = ज्ञान-दर्शनकी प्राप्तिमें विघ्न डालना।

अन्तराय १५।७१।१८८ = दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यमें बाधा डालने वाला एक कर्म।

अपायविचय १५।१४४।२०६ = धर्म्यध्यानका एक भेद।

अभव्यता १५।१३।१७८ = अभव्यपना, जिसे सम्यक्त्वादिके प्राप्त करनेकी योग्यता न हो ऐसा जीव अभव्य, कहलाता है।

अम्भोराशि—सागर ३०।७०।२८ = असंख्यात वर्षोंका एक सागर होता है। इस ग्रंथमें इसका पाराबार, समुद्र, अर्णव तथा सागर आदि शब्दोंके द्वारा उल्लेख किया गया है।

अलोक १५।१६।१७८ = जहाँ मात्र आकाश ही आकाश रहता है।

अवधिज्ञान ३।५४।२८ = प्रत्यक्षज्ञानका एक भेद।

अवमोदर्य १५।१३२।२०३ भूखसे कम भोजन करना, इसके कवलचान्द्रायण आदि भेद हैं।

अवर्णवाद १५।२९।१८० = झूँठे दोष लगाना।

अविरत १५।१४३।२०६ = प्रारम्भके चार गुणस्थानवर्ती जीव।

अविरति १५।६२।१८६ = इन्द्रियोंके विषय तथा षट्कायिक जीवोंकी हिंसासे विरक्त नहीं होना।

असद्वेद्य १५।२७।१८० = असातावेदनीय कर्म, जिसके उदयसे दुःखका अनुभव होता है।

असंयत = १५।१२।१७७ = हिंसादि पाँच पापोंसे विरक्त नहीं होना।

आकिञ्चन्य १५।८४।१९२ = परिग्रहका त्याग करना—एक धर्म।

आचार्यभक्ति १५।७७।१८३ = एक भावना—आचार्यमें भक्ति रखना।

अपायविचय १५।१४।२०६ = धर्मध्यानका एक भेद।

अपोहन तप १६।३१।२२२ = प्रायश्चित्त आदि अन्धकार तप।

आयु १५।७१।१८८ = जीवको नारकी आदिके शरीरमें रोकनेवाला एक कर्म।

आरम्भ १५।२५।१७९ = संकल्पित कार्यको करते रहना।

आर्तध्यान १५।१४२।२०५ = तिर्यञ्च आयुके बन्धका कारण—एक खोटा ध्यान।

आर्जव १५।८४।१९२ = एक धर्म—कपट नहीं करना।

आवश्यकाहानि १५।४८।१८३ = एकभावना—समता वन्दना आदि आवश्यक कार्योंमें न्यूनता नहीं करना।

आसादन १५।२६।१८० = दूसरेके द्वारा प्रकाशित होनेवाले ज्ञानको काय और वचनसे रोकना।

आस्रव १५।५।१७६ = आत्मामें कर्मप्रदेशोंका आना।

ईर्यापथ आस्रव १५।२२।१७९ = कषायरहित जीवोंका आस्रव। यह ११, १२ और १३वें गुणस्थानमें होता है।

उच्चगोत्र १५।५०।१८४ = गोत्रकर्मका एक भेद, जिससे जीव उच्च कुलमें उत्पन्न होता है।

उपघात १५।२६।१७३ = किसीके प्रशस्तज्ञानमें दूषण लगाना।

एकत्ववितर्क १५।१४९।२०७ = शुक्लध्यानका एक भेद।

कनकावली १६।४६।२२४ = मुनियोंका एक तप। इसकी विधि व्रतविधानके परिशिष्टमें द्रष्टव्य है।

कपाट १५।१६३।२१० = केवलि समुद्घातका एक भेद।

कल्प ३।६९।२८ = सौधर्म आदि सोलह स्वर्ग।

कल्पवासवासी १८।१९।२५६ = कल्पवासी देवोंकी परिषद्।

कषायता १५।१०३।१९६ = नीरोगता।

कषाय १५।६२।१८६ = आत्मस्वभावको कलुषित करने वाले क्रोध, मान, माया और लोभरूप परिणाम।

कषायवेदनीय १५।३१।१८० = मोहनीय कर्मका एक भेद, इसके १६ भेद होते हैं।

कारुण्य १५।६०।१८६ = एक भावना—दुःखी जीवों पर करुणाभाव होना।

क्षान्ति १५।८४।१९२ = क्रोधके कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध उत्पन्न नहीं होना।

गणधर १८।९०।२६६ = तीर्थंकरके समवसरणके प्रमुख श्रोता।

गति १५।८।१७७ = जीवकी अवस्था विशेष, इसके नरक आदि चार भेद हैं।

गन्धकुटी १८।३३।२५५ = समवसरणका वह मध्यभाग जहाँ जिनेन्द्र भगवान् विराजमान होते हैं।

गुप्ति १५।८२।१९२ = मन, वचन और कायका निरोध करना, इसके मनोगुप्ति आदि तीन भेद हैं।

गो १५।१९२।२१६ = वाणी, किरण।

गोत्र १५।७१।१८८ = उच्च नीच व्यवहारमें कारणभूत एक कर्म।

घातिकर्म १५।७६।१९० = ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म।

चक्रभृत् २१।६।२७ = चक्रवर्ती, जो छह खण्डके स्वामी होते हैं।

चतुर्थतप १५।१३४।२०३ = रसपरित्याग तप।

चरित्र १५।८२।१९२ = संसारबन्धक कारणोंसे निवृत्ति होना। इसके सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय और यथाख्यात ये पाँच भेद हैं।

चारण ३।२४।२४ = चारणऋद्धि—आकाशमें चलनेकी शक्तिसे युक्त मुनिराज।

चारित्रमोह १५।३०।१८० = मोहनीय कर्मका एक भेद।

छेदोपस्थापना १५।१२६।२७१ = चारित्रका एक भेद।

जिनायतनादिक (प्रायतनादिक) १५।४७।१८३ = एक भावना।

ज्ञानावृति १।७१।१८८ = ज्ञानगुणको आवृत करने वाला एक कर्म।

तप १५।८४।१९२ = इच्छाका निरोध करना, इसके अनशन आदि १२ भेद हैं।

तरल १७।६६।२३९ = हारका मध्य मणि।

तीन अज्ञान १५।११।१७७ = कुमति, कुश्रुत और कुअवधिज्ञान।

तीन लिङ्ग ११।१२।१७७ = स्त्री, पुरुष और नपुंसक भाववेद।

तीर्थकृत् ३।५०।२६ = तीर्थंकर।

तीर्थंकरनाम १५।४९।१८३ = नामकर्मका एक भेद।

तृतीयतप १५।१३३।२०३ = वृत्ति परिसंख्यान नामक तप।

तृतीयवेद १५।४०।१८२ = नपुंसक वेद।

त्याग १५।८०।१९२ = दान।

त्रिदोष १५।९५।१९४ = वात, पित्त और कफ।

दण्ड १५।१६।२१० = केवलिसमुद्घातका एक भेद जिसमें आत्माके प्रदेश अधोलोकसे लेकर ऊर्ध्वलोकके अन्त तक दण्डके आकार फैलते हैं।

दिविज प्रमदा १८।३५।२५५ = कल्पवासी देवोंकी देवाङ्गनाएं—प्रथम स्वर्गसे लेकर सोलहवें स्वर्ग तककी स्त्रियां।

दृष्टिवृति १५।७१।१८८ = दर्शनगुणको आवृत करने वाला दर्शनावरण कर्म।

दृष्टिमोह १५।२९।१८० = दर्शनमोहनीय कर्म।

द्विगुणितपंक्तिसागरोपम १५।७३।१८९ = बीस सागर प्रमाण।

द्विपारिपीठ १८।४१।२५६ = सिंहासन।

द्विविधपरिग्रह २।१६।१५ = दोनों प्रकारका परिग्रह—अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग।

द्विषट्प्रकार तप १३।६९।१५३ = बारह प्रकारका तप—१. अनशन, २. ऊनोदर, ३ वृत्तिपरिसंख्यान, ४. रसपरित्याग, ५. विविक्त शय्यासन ६. कायक्लेश, ७. प्रायश्चित्त, ८. विनय, ९. वैयावृत्य, १०. स्वाध्याय, ११. व्युत्सर्ग और १२. ध्यान।

धर्म १५।१४।१७८ = जीव और पुद्गलकी गतिमें सहायक एक अमूर्त द्रव्य।

धर्म १५।८२।१९२ = आत्मस्वभाव, इसके उत्तम क्षमा आदि १० भेद हैं।

नवपदार्थ १५।५।१७६ = जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ हैं।

नाम १५।७१।१८८ = जीवकी नारक आदि अवस्थाओंमें कारणभूत एक कर्म।

निर्जरा १५।५।१७६ = कर्मपरमाणुओंका एक देश क्षय होना।

निह्नुति १५।२६।१८० = किसी कारणवश अपने ज्ञानको छिपाना।

नीचगोत्र १५।४९।१८३ = नीच कुलमें उत्पत्तिका कारण एक कर्म (गोत्र कर्म)।

पञ्चमकल्याण १८।१०१।२६७ = निर्वाणकल्याणक—तीर्थ करके मोक्ष जानेका उत्सव।

पञ्चलब्धि १५।११।१७७ = दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पांच लब्धियां हैं।

पञ्चमीगति २।३४।१७ = मोक्ष।

पराभ्युपेक्षा (माध्यस्थ्यभाव) १५।६०।१८६ = उद्दण्ड मनुष्योंमें उपेक्षाका भाव।

परिग्रह १५।५२।१८४ = धनधान्यादिक वस्तुओंमें ममताभाव।

परिदेवन १५।२७।१८० = करुण विलाप करना।

परिहारविशुद्धिसंयम १७।१२७।२४८ = संयमका एक भेद—इस संयमके धारक मुनिके द्वारा किसी जीवका घात नहीं होता। यह छठवें और सातवें गुणस्थानमें होता है।

परिषहजय १५।८२।१९२ = क्षुधा, तृषा आदिको समताभावसे सहन करना। इसके २२ भेद हैं।

पाप १५।५।१७६ = अशुभभाव—नौ पदार्थोंमें एक पदार्थ।

पुण्य १५।५।१७६ = शुभभाव—नौ पदार्थोंमें एक पदार्थ।

पुद्गल १५।१५।१७८ = स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण-से युक्त सभी द्रव्य।

पुंसवन १७।५७।२३७ = गर्भिणी स्त्रीका एक संस्कार।

पूर्वधर १८।९०।२६६ = उत्पाद पूर्व आदि चौदह पूर्वों—श्रुतभेदोंके पाठी मुनि।

पृथक्त्ववितर्क १५।१४९।२०७ = शुक्ल ध्यानका एक भेद।

प्रकृति १५।६९।१८८ = कर्मबन्धका एक भेद। कर्मों-की मूल प्रकृतियाँ ८ और उत्तरप्रकृतियाँ १४८ हैं।

प्रज्ञप्ति ३।२४।२४ = जैनागमका एक भेद।

प्रतर १५।१६३।२१० = केवलि समुद्घातका एक भेद, इसमें आत्माके प्रदेश वातवलयको छोड़कर समस्त लोकमें फैल जाते हैं।

प्रतियातना १८।२५।२५४ = प्रतिमा—मूर्ति।

प्रदेश १५।६९।१८८ = कर्मबन्धका एक भेद—प्रत्येक समय संसारी जीवके सिद्धोंके अनन्तवें भाग और अभव्यराशिसे अनन्तगुणे कर्मपरमाणु बंधते हैं।

प्रदेश १५।१६।१७८ = आकाशके जितने भागको पुद्गलका एक परमाणु रोकता है, उसे प्रदेश कहते।

प्रदोष १५।२६।१८० = मोक्षके साधनभूत तत्त्वज्ञान-का विवेचन चलनेपर कुछ न कहते हुए अन्तरङ्ग-में पैशुन्यरूप परिणाम रखना।

प्रमाद १५।६२।१८६ = आठ प्रकारकी शुद्धियोंमें अनादर होना अथवा कुशल कल्याणकारी कार्योंमें अनुत्साह होना। इसके १५ भेद हैं—४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रिय, १ निद्रा और १ स्नेह।

प्रमोद १५।६०।१८६ = एकभावना-गुणीजनोंको देख-कर हर्षका उत्पन्न होना।

प्रायश्चित्त ९।२३।२०४ = लगे हुए दोषोंका निरा-करण करना, इसके आलोचना, प्रतिक्रमण, तदु-भय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापन ये दस भेद हैं।

प्रायोपवेशन १५।६३।२१६ = संन्यासमरणका एक भेद जिसमें अपने शरीरकी सेवा न स्वयं की जाती है और न दूसरेसे कराई जाती है।

बन्ध १५।५।१७६ = आत्मप्रदेशोंके साथ कर्मपरमा-णुओंका संश्लेषणात्मक सम्बन्ध होना। इसके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और बन्ध ये चार भेद हैं।

बहुश्रुतभक्ति ४५।४७।१८३ = सोलह कारणभाव-नाओंमेंसे एक भावना। ज्ञानी जीवोंमें आदरका भाव रखना।

बालतप १५।४।१८१ = पञ्चाग्नि तपना, धूमपान करना आदि अज्ञानी जनोंका तप।

बोधि १५।१०१।१९६ = सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय।

ब्रह्मचर्य १५।८४।१९२ = स्त्रीमात्रका त्यागकर आत्म स्वरूपमें स्थिर रहना।

भव्यता १५।१३।१७८ = भव्यपना—जिसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्राप्त करनेकी योग्यता हो ऐसा जीव भव्य कहलाता है।

भाव १५।९।१७७ = आत्माके परिणाम विशेषको भाव कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं—१ औपशमिक, २ क्षायिक, ३ क्षायोपशमिक, ४ औदयिक और पारिणामिक।

मति ३।५४।२७ = एक क्षायोपशमिकज्ञान, यह इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होता है। इसके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार मूल तथा बहु-बहुविध आदि पदार्थोंको जाननेकी अपेक्षा ३३६ उत्तरभेद होते हैं।

मनुष्यधर्मा १७।५६।२३७ = कुबेर, यह तीर्थंकरके कल्याणकोंमें प्रमुख कार्य करता है।

मात्सर्य १५।२६।१८० = किसी कारणवश देने योग्य ज्ञान भी दूसरेके लिए नहीं देना।

मार्दव १५।८४।१९२ = मानका निग्रह कर विनयभाव धारण करना (उत्तम क्षमा आदि दस धर्मोंमें एक धर्म)

मार्गप्रभावना १५।४८।१८३ = सोलह कारण भाव-

नाओंमें एक भावना—मोक्षमार्गकी प्रभावना करना।

मिथ्यात्व १५।६२।१८३ = अतत्त्वश्रद्धान-जीवादि सात तत्त्वोंका श्रद्धान नहीं होना।

मिथ्यादर्शन १५।१२।१७७ = अतत्त्वश्रद्धान-जीवादि सात तत्त्वोंका श्रद्धान नहीं होना।

मैत्री १५।६०।१८६ = एक भावना—कोई जीव दुःखी न रहे ऐसी भावना रखना।

मोक्ष १५।५।१७६ = समस्त कर्मोंका क्षय हो जाना।

मोह १५।७१।१८८ = आठ कर्मोंमेंसे एक कर्म, इसके निमित्तसे जीव परपदार्थोंमें आत्मबुद्धि करता है। अतत्त्वश्रद्धान और क्रोधादि कषाय उत्पन्न करना इसका कार्य है।

मौक्तिकावली १६।४६।२२४ = मुनियोंका एक तप। इसके विधि व्रतविधानके परिशिष्टमें देखें।

यथाख्यात १५।१२९।२२० = चारित्रका एक भेद। यह चारित्रमोहनीयकर्मके उपशम और क्षयोपशमसे प्रकट होता है। उपशमसे होनेवाला ११वें गुणस्थानमें और क्षयसे होनेवाला बारहवें आदि गुणस्थानोंमें होता है।

योगवक्रभूय १५।४५।१८३ = मन-वचन-कायरूप योगोंकी कुटिलता, यह अशुभ नामकर्मके बन्धका कारण है।

रतिव्यवाय १५।५२।१८४ = मैथुन, इसके त्यागसे ही ब्रह्मचर्यव्रत होता है।

रत्नत्रय १।२।१ = सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र।

रत्नमालिका १६।४६।२२४ = मुनियोंका एक तप। इसे रत्नावली भी कहते हैं। इसकी विधि, व्रतविधानके परिशिष्टमें देखें।

रौद्रध्यान १५।१४३।२०६ = नरकायुके बन्धके कारण एक खोटा ध्यान। इसके हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी ये चार भेद हैं।

लेश्याषट्क १५।१२।१७७ = कषायसे अनुरञ्जित योगोंकी प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। इसके कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये छः भेद हैं।

लोक १५।१६।१७८ = जहाँ तक जीवादि छह द्रव्योंका सद्भाव रहता है वह आकाशलोक कहलाता है। यह १४ राजू ऊँचा, उत्तर-दक्षिणमें ७ राजू विस्तृत तथा पूर्वपश्चिममें ७ राजू, १ राजू, ५ राजू और १ राजू चौड़ा है। इसका क्षेत्रफल ३४३ राजू होता है। एक राजू असंख्यात योजनोंका होता है।

लोकपूरण १५।१६३।२१० = केवलिसमुद्घातका एक भेद। इस समुद्घातमें आत्माके प्रदेश समस्त लोकमें व्याप्त हो जाते हैं।

लौकान्तिकामर ३।६५।२८ = ब्रह्मस्वर्गके अन्तमें रहनेवाले विशिष्ट देव। ये देव ब्रह्मचारी रहते हैं, द्वादशांगके पाठी होते हैं, संसारसे विरक्त रहते हैं, एक भवावतारी होते हैं तथा तीर्थंकरोंके मात्र तपःकल्याणक में आते हैं।

वनसुर १८।३५।२५५ = व्यन्तरदेव, इनके किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये आठ भेद होते हैं।

वन्यामर १८।३७।२५६ = व्यन्तरदेव, इनके किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये आठ भेद होते हैं।

वर्तना १५।१७।१७८ = पदार्थोंमें प्रत्येक समय होनेवाला षड्गुणी हानिवृद्धिरूप परिणमन। यह निश्चय कालद्रव्यका कार्य है।

वितर्क १५।१५३।२०८ = श्रुत—द्वादशाङ्ग सम्बन्धी शास्त्र।

विनयाधिकत्व १५।४६।१८३ = सोलह कारण भावनाओंमें एक भावना—विनयरूप प्रवृत्ति करना।

विपाकविचय १५।१४।२०६ = धर्म्यध्यानका एक भेद इसमें कर्मोंकी मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंके बन्धका विचार किया जाता है।

विविक्तशय्यासन १५।१३५।२०३ = १२ तपोंमें एक तप। एकान्तस्थानमें शयन-आसन करना।

वीर्याचार १५।१५३।२०८ = अपने बलको धर्म आचरण और योगोंमें लगानेमें परिवर्तन होना।

वेद्य १५।७१।१८८ = सुख और दुःखका अनुभव करानेवाला एक कर्म, इसके सद्वेद्य और असद्वेद्य यह दो भेद हैं।

वैयावृत्ति १५।४७।१८३ = सोलह कारण भावनाओंमेंसे एक भावना। आचार्य उपाध्याय आदि दश प्रकारके मुनियोंकी सेवा करना वैयावृत्ति या वैयावृत्य है।

व्युपरतक्रियानिवर्ति १५।१५१।२०८ = शुक्लध्यानका एक भेद। यह भेद चौदहवें गुणस्थानमें होता है।

व्रत १।६७।१२ = अभिप्रायपूर्वक हिंसादि पापोंके त्यागको व्रत कहते हैं। ये अणुव्रत और महाव्रत के भेदसे दो प्रकारके हैं। दोनोंके अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह परिमाण तथा परिग्रहत्यागके नामसे पांच-पांच भेद हैं।

शक्तिततस्तपस्या १५।४६।१८३ = सोलह कारण भावनाओंमें एक भावना—शक्तिके अनुसार तपश्चरण करना।

शक्तिततस्त्याग १५।४६।१८३ = सोलह कारणभावनाओंमें एक भावना—शक्तिके अनुसार दान देना।

शिक्षक १८।९१।२६६ = उपाध्याय— पढ़ानेवाले साधु।

शीलव्रतेष्वव्यभिचारचर्या (शीलव्रतेष्वनतिचार) १५।४६।१८३ = सोलह कारण भावनाओंमें एक भावना। शील और व्रतोंमें अतिचार—दोष नहीं लगाना।

शुक्लध्यान १५।१४८।२०७ = एक उच्च कोटिका ध्यान, यह मुनियोंके ही होता है। यह दो अष्टम गुणस्थानसे लेकर उपरितनगुणस्थानवर्ती मुनियोंके है। इसके पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये चार भेद हैं।

शैक्ष्य १५।८४।१९२ = एक अवस्थासे एक अवस्था, दीक्षाका स्वीकार करना।

श्रुत १।५४।१७ = मतिज्ञानके बाद होनेवाला एक विशिष्ट ज्ञान। यह अक्षरात्मक और अनक्षरात्मकके भेदसे दो प्रकारका है। अक्षरात्मक श्रुतज्ञान द्वादशाङ्गमें विस्तृत है।

श्रुतवात्सल्य १५।४७।१८३ = सोलह कारण भावनाओंमें एक भावना—साधर्मी जनोंमें धार्मिक स्नेह रखना।

षट्कर्म ३।५५।२७ = असि, मषी, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या (गायन वादन नर्तनकला) ये छः कर्म हैं। इनसे कर्मभूमिमें मनुष्योंकी आजीविका चलती है।

षड्वर्ग ४।२४।३६ = काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य ये छह षड्वर्ग कहलाते हैं।

षष्ठतप १५।१३६।२०४ = छठवां तप—कायक्लेश, आतापनादियोग धारण करना।

षष्ठोपवास = १७।१२८।२४८ बेला—दो दिनका उपवास।

सततं ज्ञानोपयोग (अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग) १५।४६।१८३ = सोलह कारण भावनाओंमें एक भावना—निरन्तर ज्ञानमय उपयोग रखना।

सद्दृष्टिसुधा २।१५।१५ = सम्यग्दर्शनरूपी अमृत।

सद्वेद्य १५।२८।१८० = वेदनीय कर्मका एक भेद, इसके उदयमें सुखका अनुभव होता है।

सन्निपातोद्भव (सान्निपातिक भाव) १५।१३।१७८ = औपशमिकादिभावोंके सम्बन्धसे होनेवाला भाव।

समवसरण १८।१।२४९ = तीर्थंकरकी धर्मसभा।

समारम्भ १५।२५।१७९ = संकल्पित कार्यकी सामग्री एकत्रित करना।

समिति १५।८२।१९२ = प्रमादरहित प्रवृत्ति, इसके ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और व्युत्सर्ग अथवा प्रतिष्ठापना ये पांच भेद हैं।

समुद्घात १५।१६२।२१५ = मूल शरीरको न छोड़कर आत्मप्रदेशोंका बाहर फैलना। इसके आहा-

एक, वैक्रियिक, तैजस, वेदना, कषाय, मारणान्तिक और लोकपूरण ये सात भेद हैं।

सम्यक्त्व १।६७।१२ = सम्यग्दर्शन, जीव-अजीव-आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों अथवा पुण्य-पाप सहित नौ पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान करना।

सम्यक्त्वशुद्धि १५।४८।१८३ = दर्शनविशुद्धिभावना —अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शनका निर्दोष पालन करना।

सरागसंयम १५।४४।१८३ = रागसहित संयम, छठवें और सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिका संयम।

संघ १५।२९।१८० = ऋषि मुनि यति और अनगार इन चार प्रकारके मुनियोंका समूह।

संयतासंयत १५।१४३।२०६ = पञ्चम गुणस्थान वर्ती श्रावक, यह पाँच पापोंका एकदेशत्याग करता है।

संयमासंयम १५।४४।१८३ = हिंसादि पाँच पापोंका एकदेशत्याग करना जैसे त्रसहिंसाका त्याग करना परन्तु स्थावर हिंसाका त्याग नहीं करना आदि।

संरम्भ १५।२५।१७९ = किसी कार्यके करनेका संकल्प करना।

संवर १५।५।१७६ = आस्रव—नवीन कर्मोंका आगमन रुक जाना यह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्रसे होता है।

संवेगता १५।४७।१८३ = सोलह कारण भावनाओंमें एक भावना—संसारसे भयभीत रहना।

संस्थिति विचय (संस्थान विचय) १५।१४४।२०६ = धर्म्यध्यानका एक भेद इसमें लोकके आकारका विचार किया जाता है।

सांपरायिकआस्रव १५।२२।१७९ = कषायसहित जीवोंका आस्रव। यह पहलेसे दसवें गुणस्थान तक होता है।

स्कन्ध १५।१९।१७८ = दो या इससे अधिक परमाणुओंके संगसे निर्मित पुद्गलद्रव्यकी पर्याय।

स्थण्डिलोर्वरा १५।११३।१९८ = ऊँची नीची जमीन, शय्या परिषह सहन करनेके लिए मुनि ऐसी जमीनमें शयन करते हैं।

स्थिति १५।६९।१८८ = कर्मबन्धका एक भेद। इस बन्धमें कषायभावोंके अनुसार ज्ञानावरणादि कर्मोंकी स्थिति बँधती है।

साधु समाधि १५।४७।१८३ = सोलह कारणभावनाओंमें एक भावना—मुनियोंका उपसर्ग दूरकर उन्हें निराकुल बनाना।

सामायिक १५।१२५।२०१ = चारित्रका एक भेद, समस्तपापोंका त्याग करना।

सिंहविलसित (सिंहनिष्क्रीडित) १६।४६।२२४ = मुनियोंका एक तप। इसकी विशेष विधि व्रतविधान परिशिष्टसे जानना चाहिये।

सुप्रतिष्ठकनिभ १५।९९।१९५ = उत्तम भोदराके समान अर्थात् बीचमें पतला और नीचे तथा ऊपर विस्तृत।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति १५।१५०।२०७ = शुक्लध्यानका एक भेद। यह तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें होता है।

सूक्ष्मसाम्पराय १५।१२८।२०२ = चारित्रका एक भेद। यह दशमगुणस्थानमें होता है।

हरिदष्टकस्थ १८।३२।२५५ = पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण इन चार दिशाओं तथा ऐशान, आग्नेय, नैर्ऋत्य और वायव्य इन चार विदिशाओंमें स्थित।

हरिमणि १८।२७।२५४ = इन्द्रनीलमणि।

कतिपय विशिष्ट साहित्यिक शब्द

सूचना—शब्दोंके आगे दिये गये तीन अंकोंमेंसे प्रथम अंक सर्गका, दूसरा श्लोकका और तीसरा पृष्ठका सूचक है।

अकुलीन = पृथिवीमें लीन नहीं अर्थात् आकाशमें स्थित, नीच कुलमें उत्पन्न १५।१३।४८

अकृष्टपच्य = अनायास उत्पन्न होनेवाला अन्न १।९।२

अक्ष = इन्द्रियाँ १४।४८।१७५

अत्युन्नत = बहुत ऊँचे, अत्यन्त उदार १७।११।३९९

अतिदुर्मुख = अत्यन्त तेज ७।७९।८५

अध्वगचूतग = मार्गस्थित आम्रवृक्ष पर बैठा हुआ २।६१।२१

अनवग्रह = वर्षाके प्रतिबन्धसे रहित १।९।२

अनात्मनीन = आत्माके लिए अहितकारी ६।५८।७२

अनुशय = पश्चात्ताप ८।९।९०

अन्तरेण (अव्यय) = बिना २।१९।१५

अन्यपुष्ट = कोयल ३।२६।३६

अपशब्द = खोटेशब्द १।६।२

अपवर्ग = मोक्ष ११।४५।१३८

अपाच्य = दक्षिण दिशामें स्थित १।७।२

अभिख्या = नाम २।४४।१८

अभिषङ्ग = दुःख ११।३०।१३६

अभ्रंकष = गगनचुम्बी, अत्यन्त ऊँचे १२।३।१४३

अभीष्टवाह = मनचाहे घोड़े २।६८।२१

अम्ब = दर्पण ८।३६।९४

अब्द = वर्ष १३।८१।१६७

अमृतरश्मि = चन्द्रमा १७।८७।२४२

अयोधमुखी = त्रिपृष्ठ नारायणकी शक्तिका नाम ८।८७।१०९

अरविन्दलक्ष्मा = लक्ष्मी ५।५०।१२४

अर्थापत्ति = परिहारि, काव्य-अर्थकी हानि ३।६।१२

अवग्राह = हृदय ७।७६।८५

अवरोधन = अन्तःपुर ७।८२।१८५

अवसर = सारथि ७।७८।८५

अश्ववारक = घोड़ेका सवार

अस्रधारा = खूनकी धारा ५।३३।१०७

अवष्कान्त = चुम्बक १२।२५।१४७

अम्बरिदुर्ग = शत्रुके दुर्गके संमुख ३।७३।४९

अशनिघोरनाद = वज्रके समान भयंकर शब्द करनेवाला ६।२४।१७७

अरातिकमलालया = शत्रुओंकी लक्ष्मी ५।५५।१५५

अरविन्दबान्धव = सूर्य २।२४।१६

असुकरतर = अत्यन्त कठिन १६।४५।२२४

असितवलिभुर्ज = काले कोए ११।१६।१३४

अहीनवपु = शेषनागका शरीर अत्यन्त सुदीर १७।१५।२१०

अष्टार्ष = चार १५।६।१७६

आङ्गी = शरीरसम्बन्धी ३।१६।३५

आखण्डलचाप = इन्द्रधनुष १।३०।५

आजिधरा = युद्धकी भूमि ९।७७।११३

आजिरङ्ग = युद्धका मैदान ९।२५।१७५

आजिशीण्ड = रणमें शूर ९।६९।११२

आत्यन्तिकी = अन्तरहित-अविनाशी १।१।१

आदित्सा = ग्रहण करनेकी इच्छा १७।६७।२१६

आयतिनत = भविष्यमें नष्ट होनेवाले ८।३।९४

आधि = मानसिक पीड़ा ११।५२।१३९

आमुक्त = धूप ८।८७।१०१

आमामाजन = मिट्टीका कच्चा बर्तन ७।३७।७९

आयस = लोहनिर्मित पदार्थ ७।५५।८७

आशा = दिशाएँ, समीरण १७।५।२२७

आशाशी = आशाओंकी १७।२६।२७१

इन = सूर्य ९।३४।१९९

हरमद = वज्र ९।७६।११२
उत्तमाङ्ग = मस्तक १।५५।९
उदवसित = घर ७।९६।८८
उद्भ्रीकृत = ऊपरकी ओर किये हुए ५।११।४८
उपकार्या = राजाओंके ठहरने योग्य बड़े तंबू ६।६७।७४
उपह्वर = एकान्त ७।१।७५
उपशल्य = गाँवोंका समीपवर्ती प्रदेश १।१०।२
उपह्वर = एकान्त १०।६०।१२७
उपस्नुता = दूध छोड़नेके लिए तत्पर २।७।१४
उरगारिकेतन = गरुडध्वज-त्रिपृष्ठ नारायण
उष्ट्रिका = कड़ाहा ११।१७।१३४
ऊढजानि = विवाहित पुरुष १३।२८।१५८
ऐन्द्री = इन्द्रकी दिशा—पूर्व दिशा १३।५४।१६२
और्वशिखी = बड़वानल ७।४३।८१
कनकावली = एकतप १६।४६।२२४
कन्तु = कामदेव १२।२६।१४७
कर्करी = झारी ७।७६।८५
करपत्रक = करौंत ११।६८।१३४
करभ = ऊँट ७।९६।८८
कलकण्ठ = सुरीले कण्ठवाले ३।२४।२४
कलमामोद = धानकी सुगन्ध ३।२।२३
कलानिधि = कलानोंका भाण्डार ५।२१।५०
कादलपत्रनीला = केलाके पत्तोंके समान नील-हरित वर्ण १।१६।३
काल = चक्रवर्तीकी एकनिधि १४।२५।१७१
कार्सान्तिक = निमित्तज्ञानी ५।११३।६२
कुम्भ = हाथीका गण्डस्थल ९।१४।१०४
कुमुदाकरप्रिय = चन्द्रमा २।५८।२०
कुरुभूमिकल्प = देवकुरु, उत्तरकुरु नामक उत्तम भोगभूमिके समान १२।१।१४३
कुलिशधर = वज्रधर—इन्द्र ९।९२।११५
कुल्या = नहर १।१०।२
कुसुमोद्गम = वसन्तऋतु ५।५२।५४
कृतान्त = यमराज-मृत्यु २।१५।१५
केसर = वकुलवृक्ष २।५१।१९
केसर = सिंहकी गर्दनके बाल ३।१६।२४
केसरिद्विष = त्रिपृष्ठनारायण ८।१।८९
कोककुटुम्बिनी = चकवी १।३२।६
कौमुदी = त्रिपृष्ठनारायणकी गदा ८।८७।१०२
कौस्तुभ = त्रिपृष्ठनारायणका प्रमुखरत्न ८।८७।१०२
क्रोधशिखिन् = क्रोधरूपी अग्नि १६।४९।२२४
क्रमेलक = ऊँट ७।७३।८५
क्षताज = रुधिर १४।५९।१७५
क्षमाधर = पर्वत, क्षमाको धारण करनेवाला पुरुष ७।४१।८०
क्षुरधेनु = छुरी ९।३७।१०७
खरतर = अत्यन्त तीक्ष्ण ११।५५।१४४
खलता = खलिहान, दुर्जनता १७।३।२२७
गणक = ज्योतिषी ५।६१।५५
गव्या = धनुषकी डोरी ९।२३।१०५
गृहालिन्दक = १।२५।५
गो = वाणी ५।७७।५७
घातिचतुष्टय = ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय कर्म १०।९०।१३१
घनास्रपङ्क = अत्यधिक रुधिरकी कीचड़ ९।२४।१०५
चक्रीवत् = गधा ९।१।१०२
चतस्रोनरेन्द्रविद्याः = १ आन्वीक्षिकी, २ त्रयी, ३ वार्ता और ४ दण्डनीति ये चार विद्याएँ १२।२१।१४६
चन्दनस्थासकवत् = चन्दनके मित्रक समान १२।३५।१४८
चमूरु = व्याघ्र ३।७।३३
चारुकुज = सुन्दर वृक्ष ५।३६।५२
जयकदलिका = विजयपताका १।६८।१२
जयगोमिनी = विजयलक्ष्मी ५।६६।५६
जनान्त = देश १३।१।१५३
जलधरपदवी = मेघमार्ग—आकाश ११।५१।१३९
जिगीषा = जीतने की इच्छा ५।२३।५०
तटपरिसिकता = किनारेकी वज्रमयधूलि ११।२।१३३
तनीयसी = अत्यन्त अल्प ११।६०।१४०

तनुत्र = कवच ८।७४।१००
तनूनपात् = अग्नि १०।३६।१२३
तपनीय = स्वर्ण ५।४३।५३
तारकित = ताराओं से व्याप्त १।३१।५
तार्क्ष्यक = मोचक ८।३३।९३
तालवृन्त = पङ्खा १७।७७।२४०
तुम्ब = चक्रका वह भाग जिसके आश्रय अर रहते हैं ८।५८।९७
तुहिनाचल = हिमालय ५।३९।५२
त्रिगुप्ति = मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति ११।३०।१३६
त्रिमार्ग = संगीत के तीन मार्ग द्रुत, मध्य और विलम्बित १७।७४।२३०
त्रिशल्य = माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीन शल्य ३।८५।४३
त्वक्सारगुल्म = बांसकी झाड़ियां ९।२९।१०६
दक्षिणमातरिश्वा = मलयसमीर—दक्षिणकी वायु २।४७।१९
दण्ड = दण्ड, जुर्माना ५।१४।४८
दवनिभ = दावानलके समान ११।५६।१४०
दशा = बत्ती ७।२९।७९
दस्युवृन्द = डाकुओंका दल ३।३७।२५
दिविज = देव ३।७६।२९
दिवौकस् = देव १।८।२
दुरितखञ्जन = पापरूपी कीचड़ ११।६७।१४१
दुरन्त = जिसका अन्त—परिणाम दुःखदायक है ११।३६।१३७
दुर्नामक = अर्श—बवासीरकी बीमारी ७।४५।८१
दृष्टिमोह = दर्शनमोहनीय (मोहकर्मका एकभेद) ११।९४।१३५
द्विज = ब्राह्मण ३।१११।३२
द्विज = दांत ३।२१।३०
द्विमिह्न = सांप ९।३६।१०७
द्विषारि = सिंह ११।२७।१३५
द्विषेफ = भ्रमर २।१।३३
द्युमणि = सूर्य ३।७।५३
द्विसप्तमुहूर्त = बारह मुहूर्त १५।७७।१८६
द्विसमुद्रायुः = दो सागरकी आयुवाला ३।४१।३६
दोषा, दोष = रात्रि, दुर्गुण ५।३३।४८
दौःस्थ्य = दुःख १५।१।१७६
धरणी = पृथिवी ६।५।६४
धरणीध्रनाथ = विजयार्धपर्वतका स्वामी ज्वलनजटी विद्याधर ६।५।६४
नन्दक = त्रिपृष्ठ नारायणकी तलवारका नाम ८।८७।१०२
नभस्यवारिद = भाद्रमासका मेघ १६।४७।२२४
नभःस्पृश् = विद्याधर ८।२२।९२
नराधिराट् = मुकुटबद्ध राजा १४।२४।१७१
नवपल्लिताङ्कुर = नवीन सफेद बाल १४।४०।१७३
नाक = स्वर्ग १३।१।१५३
नाग = हस्ती ३।३।२३
नागलता = पानकी बेल १७।४।२२८
निकार = पराभव ५।१९।४९
निगम = नगर १।११।२
निर्वृत्त = मुक्त जीव १५।६।१७६
निशीथ = अर्धरात्रि १।३४।६
निष्ठितजीव = जिसका जीवन समाप्त हो गया है ३।८८।३०
पङ्क = कीचड़ १७।३।२२७
पक्षान्वित = पङ्खोंसे सहित, सहायकोंसे सहित ६।६२।७३
पञ्चगुरु = पञ्चपरमेष्ठी—अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ११।४३।१३८
पञ्चता = मृत्यु ३।९४।३०
पण्याङ्गनाजन = वेश्याओंका समूह १५०।८०
पतदीशवाहिनीप्रमुख = गरुडवाहिनी आदि विद्याएँ जिनमें प्रमुख हैं ७।५७।८१
पद्म = चक्रवर्तीकी एक निधि १४।२५।१७१
पद्माप्रिय = पद्म—कमलोंका अप्रिय—विरोधी, पद्म—लक्ष्मीका प्रिय ५।२६।५०
पयोधर = मेघ १२।४१।१४७

पयोधर = स्तन, मेघ ५।९।४७
परिमेया = परि ७।१३।७७
पवन = दीनानाथवलय—अनीकधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय ७।१२।७७
पाञ्चजन्य = त्रिपृष्ठनारायणका शङ्ख ८।८७।१०२
पाण्डु = चक्रवर्तीकी एक निधि १४।२५।१७१
पाद = चरण, किरण ५।२६।५०
पाणिन् = वक्ष १३।४३।१६०
पिङ्गल = चक्रवर्तीकी एक निधि १४।२५।१७१
पीतवाससू = त्रिपृष्ठनारायण १०।८४।१३०
पुरुहूतभूति = इन्द्रके समान विभूतिसे युक्त १।३७।६
पुलाका = तुच्छ १३।२।१५३
पुलिन्द = भील ३।३९।२५
पुष्कर = आकाश ८।३८।९४
पुष्पधनुष = कामदेव १।६८।१२
पुष्पोद्गम = वसन्त १।३८।६
पूर्व = चौरासी लाख वर्षोंका एक पूर्वाङ्ग होता है और चौरासी लाख पूर्वाङ्गोंका एक पूर्व होता है १४।३९।१७३
पृथुक = बच्चे ७।३।७६
प्रकम्पोल्लित = हिलाया हुआ १।५३।९
प्रधि = चक्रधारा ८।५८।९७
प्रताप = तेज ६।३४।६८
प्रभंकरी = एक विद्या ७।५७।८३
प्रमादभवागस् = प्रमादसे होनेवाले अपराध १५।१३७।२०४
प्रायोपवेश = एकसंन्यासमरण १६।६३।२२६
प्रालेयशैल = हिमालय पर्वत ६।२७।६७
प्रष्ठ = कोष्ठ ७।७२।८५
प्रसाधन = अलंकरण १०।८८।१३१
प्रियजानि = जिसे स्त्री अत्यन्त प्रिय है ऐसा पुरुष ३।३१।३६
प्रेयस् = अत्यन्त प्रिय ६।१०।६५
फल = बाणकी अनी—अग्रभाग ९।४४।१०८
फल्गुभाव = निःसारता १५।६१।१०
बुद्धिदुर्विध = बुद्धिहीन ८।४२।९५
भङ्ग = पराजय, बालोंका घुंघुरालापन ५।१४४।८
भूति = संपत्ति, भस्म ८।३६।९४
भूरिदक्षिण = अत्यन्त उदार ३।२।२२
मधुप = भ्रमर, मद्यपायी १७।३।२२७
मनसिशय = कामदेव १।६६।१२
महाकाल (भूरिकाल) = चक्रवर्तीकी एक निधि १४।२५।१७१
माणव = चक्रवर्तीकी एक निधि १४।२५।१७१
मालूर = बिल्वफल ५।१८।४९
मित्र = सूर्य, सुहृद् १३।४०।१५९
मुखच्छद = मुखका परदा ९।१२।१०४
मूषा = सांचा ११।१९।१३४
मृगेन्द्रविष्टर = सिंहासन २।२।१३
मेघपदवी = मेघोंका मार्ग—आकाश १३।८।१५४
मौक्तिकावली = तपका एक भेद १६।४५।२२४
रत्नमालिका = तपका एक भेद १६।४६।२२४
रथाङ्ग-पाणि = चक्रपाणि—त्रिपृष्ठनारायण १०।१।१३२
राजक = राजसमूह २।६८।२१
राजहंस = जिसकी चोंच और चरण लाल होते हैं ऐसा हंस, श्रेष्ठ राजा ६।६२।७३
रोहिणी = एक विद्या ८।५६।८३
लतालय = निकुञ्ज—लतागृह १२।३०।१४७
वज्रभूषितकर = हीरासे सुशोभित हाथवाला पुरुष १३।१३।१५५
वज्रसार = वज्रके समान सुदृढ़ १३।१३।१५५
वदान्य = उदार—दानशील २।४८।९९
वरवारकामिनी ७।१००।८८
वसुवृष्टि = धनवृष्टि १।६०।११
वायुवर्त्मन् = आकाश ७।८८।८६
वाराङ्गना = वेश्या ३।८९।४४
वारुणी = पश्चिम दिशा, मदिरा १३।३५।१५८
वालधि = पूँछ ३।२६।२४

वारक = वर्ष—वर्षों ३।१३।१६९
विकुण्ठ = कुण्ठा आदि सुख शक्तियोंसे रहित १।५।७९
विकीर्ण = व्याप्त १।१२।१२
विचिकित्सा = ग्लानि १२।६८।१५१
विजया = एकविधा ७।५८।८३
विजयाग्रज = विजयबलभद्रका छोटा भाई
त्रिपृष्ठ नारायण ७।५९।८३
विडालशावक = बिलावका बच्चा ८।४३।९५
विद्युरवर्जित = पापरहित, दुःखरहित १२।७०।१५३
विनिवेशित = रखे हुए ६।१७।६६
विपक्षिता = पक्षोंका अभाव, विरुद्ध पक्षका
ग्रहण १०।२२।१२१
विबुध = देव ११।७०।१४२
विभङ्ग = मिथ्याअवधिज्ञान ११।९।१३३
विरोध = विद्वेष, वि-पक्षियोंका रोका जाना
५।१४।४८
विवदिषा = बोलनेकी इच्छा ६।१०।६५
विश्वजनीनवृत्ति = सर्वहितकारीवृत्तिसे सहित
१।३७।६
विश्राणित = प्रदत्त १।६३।११
विहस्तता = विवसता, सूंडसे रहितपना ९।१९।१०५
वीभ्र = शुक्ल ८।७७।१००
वृत्त = छन्द, चारित्र ५।१३।४८
वृत्तभङ्ग = चारित्रका नाश, छन्दोभङ्ग १।६।२
वृषा (वृषन्) = इन्द्र १७।२४।२३२
वेगवती = एकविद्या ७।५७।८३
वैतरणी = नरककी एक नदी ११।१२।१३३
वैनतेय = गरुड़ ३।९७।३०
व्यवाय = मैथुन १२।५०।१४९
शङ्ख = चक्रवर्तीकी एकनिधि १४।२५।१७१
शय्या = अवसर ११।१४।१३३
शरदभ्रपुति = शरदृतुका बादल ११।७१।१४२
शात = तीक्ष्ण ९।४४।१०८
शालकुम्भकुम्भ = स्वर्णकलश ६।१७।६६
शारि = पासा ८।६३।९८
शालिक्षेत्र = धानके खेत १।१०।१२
शिखिन् = मयूर ९।१४।१०४
शिखिकुल = मयूरोंका समूह १७।३।२२९
शिरोधि = ग्रीवा ३।१९।९५
शुद्धलेश्य = शुभलेश्यावाला (कषायके उदयसे अनु-
रंजित योगप्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं)
११।५४।१३९
श्रुतदेवता = सरस्वती ५।५०।१५४
श्रुति = कान ११।१६।१३४
श्वेतभानु = चन्द्रमा १३।६०।१६३
षड्वर्ग = काम, क्रोध, लोभ, मोह मद और मात्सर्य
इन छह अन्तरङ्ग शत्रुओंका समूह ३।२४।३६
षडाहृत = छहसे गुणित ५।३०।५१
षष्ठ = बेला तप—दो दिनका उपवास १७।११५।२४६
सकलकलाधर = समस्त कलाओं—चतुराईयोंको
धारण करनेवाला, सोलह कलाओंसे सहित
१४।९।१६९
सङ्ग = परिग्रह ११।३५।१३७
सदम्बर = उत्तमवस्त्र, निर्मल आकाश ५।९।४७
सदर्शन = सम्यग्दर्शन १२।४९।१४९
सदवृत्त = सदाचारी, गोल १४।९।१६९
सनाभि = सहोदर १०।३७।१२४
सपिगल = अश्वग्रीव (प्रतिनारायण) ८।३३।९३
संफली = दूती १३।४८।१६१
समय = मर्यादा, आचार ६।६६।७४
संमद = हर्ष १२।१८।१४६
सर्पिष् = घी ७।३४।८०
सर्वरत्न = चक्रवर्तीकी एकनिधि १४।२५।१७१
सार्व = सर्वहितकारी विवेक १५।५।१७६
सामिमिहित = आधा ढका हुआ ५।४१।५३
सिंहगामिनी = एकविद्या ७।५८।८३
सिंहविलसित = सिंहनिष्क्रीडित नामका एक व्रत
१६।४३।२२४
सीरपाणि = बलभद्र—विजय १०।८।११७
सुदर्शनोद्यान = जम्बूद्वीप सम्बन्धी वैजयन्तका
एक वन १३।४८।१४८

सुपयोधरा = अच्छे स्तनोंवाली, उत्तम जलको धारण करनेवाली ५।३५।५२
सुधा = चूना १३।३०।१५९
सुरविलासिनीसम = अप्सराओंके समान ८।१६।९१
सुरपदवी = आकाश १४।५२।१७५
सौविद = कञ्चुकी, अन्तःपुरका पहरेदार ७।७५।८५
स्पष्टीता = विस्तृत ६।१६।१५५
स्यपुटशिला = ऊँची नीची शिलाएँ ११।१८।१३४
हरि = त्रिपृष्ठनारायण ५।८७।५८
हरि = सिंह ७।४४।८१
हरिरव = सिंहनाद १७।६९।२३९
हुण्डसंस्थ = हुण्डकसंस्थानवाला ११।७।१३३

सुभाषित संचय

वर्द्धमानचरित्र अनेक सुभाषित रत्नोंका भाण्डार है। यहां सर्गानुक्रमसे कुछ सुभाषितों-का संचय किया जाता है—

सर्ग १

'फलार्थिनां नास्ति हि दुष्करेच्छा' १।५।१
'नापेक्षतेऽर्थापचयं न कष्टं न वृत्तभङ्गं भुवि नाप-धाव्यम्।
मूढीकृतः सन् रसिकत्ववृत्त्या कविश्च वेद्यार्पितमान-सश्च ॥' १।६।२
'भ्रान्तात्मनो नास्त्यथवा विवेकः' १।२४।४
'कामाकुलितो हि मूढः' १।२६।५
'क्लेशो हि कल्पतरुरेव सति प्रयुक्तः' १।६१।११
'शुद्धात्मनां न तु विकारकरं हि किञ्चित्' १।६४।१२
'धर्मानुरागमतयो हि भवन्ति भव्याः' १।६५।१२
'सदानुकूला हि भवन्ति भार्याः' १।६७।१२
'न किंवा संचस्ते भुवि गुणगणानामुपचयः' १।६८।१२

सर्ग २

'पितुः सुपुत्रो ह्यनुकूलवृत्तिमान्' २।१।१३
'सुखाय केषां न निरीक्षणं प्रभोः' २।२।१३
'धर्मधना हि साधवः' २।४।१३
'प्रिया न केषां भुवि भूरिशालिनः' २।५।१३
'प्रभवो हि वत्सलाः' २।६।१३
'मनोहरे वस्तुनि को न रज्यते' २।८।१४
'न विद्यते येषु वि गोत्र सन्ततिः
किमात्मजेभ्यः स्पृहयन्ति साधवः' २।२८।१६
'सतां वियोगे हि बुधोऽपि खिद्यते' २।३५।१७
'महीयसां को न सुखाय चेष्टते' २।३६।१७
'बुधो यशः का पुरुषो न धीरधीः' २।३७।१७
'प्रियाः समानव्यसना हि देहिनाम्' २।५१।१९
'समाहि लोके सकले न दृश्यते समाश्रयः कोऽपि
समस्तसंकल्पम्' २।५४।२०
'सुखं सुखत्वे खलु तावतां स्थितिः' २।५५।२०
'यशः हि लोके मधुपायिनां रतिः' २।५७।२०

सर्ग ३

'विनयेन विना का श्रीः' ३।३।२३
'रागो बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यति।
'जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः ॥'
३।३१।२५
'अत्याकस्मिकतः साधोः संयोगात्को न शाम्यति'
३।३९।२५
'नैर्ग्रन्थ्यं हि परं यस्ते धीरचित्तो न कातरः'
३।६६।२८
'संसृतौ वर्तमानस्य कस्य मृत्युरगोचरः' ३।७१।२८
'गृहिणी गृहमूषणा' ३।८०।२९
'हा हा पुण्यक्षये किं वा विप्रलेपं नोपगच्छति'
३।१०६।३१

सर्ग ४

'वलिना पलितेन चाभिभूतं तदिदं सम्प्रति कस्य वा न शोच्यम्' ४।१७।३५
'खलु वृद्धस्य विवर्द्धते हि मोहः' ४।१८।३५
'महतां किं विषयेषु सक्तिरस्ति' ४।२१।३५
'नि.स्पृहता सतां हि जुष्टा' ४।२२।३५
'स्थितिमाक्रामति किं महानुभावः' ४।२५।३६
'प्रियजालैः स्वजनो हि वैरिवर्गः' ४।३१।३६
'न विषं मरणस्य हेतुभूतं न समो बुद्धिविनाशनप्रवीणम्।
बहुदुःखकरं न चापि घोरं नरकं न्यायविदः कथय-माहुः ॥' ४।३७।३७
'असतां वचने प्रवर्तमानो विपदां याति हि पात्रता-मवश्यम्' ४।३८।३७
'मनु कस्यामियते मतिर्न मुग्धा' ४।३९।३८
'मतयो हि प्रति पूरुषं विभिन्नाः' ४।४७।३९

'कृतानुरिक्तप्रकृतेऽपि सत्ती प्रतिक्रोधे न करोति पौरुषं यः ।
प्रतिनिम्बितमीक्षते स पद्मवान् निजगात्रीमुख-दर्पणे कलङ्कम् ॥' ४।७१।४२
'किं वा महान् व्यसिनतार्द्रनिवृत्य याति' ४।८२।४३
'पुंसां तपो ननु विभूषणमेकमेव' ४।८४।४३
'क्रोधो हि कारणमनर्थपरम्पराया:' ४।९१।४४

सर्ग ५

'को वा मविनां विवेक:' ५।५।४६
'मनोहरे को न हि सक्तिमेति' ५।२१।५०
'पुण्योदयात्साध्यमहो न किं स्यात्' ५।२९।५१
'गुणसंग्रहे जगति यत्नपर: शिशुरप्यहो भवति सत्पुरुष:' ५।६४।५६
'मदुनोत्थहो खलु जगद् व्यसनम्' ५।७२।५७
'मुदे गुणस्तुतिरहो महताम्' ५।९३।५९

सर्ग ६

'नैसर्गिको हि महतां विनयो महत्सु' ६।७।६४
'स्तब्धो महान् गुरुजने न गुणाधिकोऽपि' ६।८।६४
'केषां तनोति न मुदं शिवबन्धुसङ्ग:' ६।९।६४
'कालविदो हि दक्षा:' ६।१०।६५
'पूर्वक्रमो ननु सतामविलङ्घनीय:' ६।१५।६५
'सख्यम्बमेत्य महता सह को न तुष्येत्' ६।२२।६६
'सीदत्यहो मतिमतां मतिरन्यभावे' ६।४३।७०
'कोपाग्निशत्रुरपरोऽस्ति शरीरभाजां लोकद्वयेऽपि विपदां ननु हेतुभूत:' ६।४५।७०
'तृष्णां विवर्धयति धैर्यमपाकरोति
प्रज्ञा विनाशयति संजनयत्यवाच्यम् ।
उत्तापयेत्स्वपुरिन्द्रियवर्गमुग्र:
शेषज्वरप्रतिनिधि: पुरुषस्य कोप: ।' ६।४६।७०
'रागंदुशोर्वपुषि कन्यमनेकरूपं
चित्ते विवेकरहितानि विचिन्तितानि ।
पुंसाममार्गगमनं जनयन्त्यजातं
कोप: करोति सहसा मदिरामदश्च' ॥ ६।४७।७०
'य: कुप्यति प्रतिपदं मुनि निर्निमित्त-
मात्तोऽपि नेच्छति जन: सह तेन सख्यम् ।
मन्यानिलोल्लसितपुण्यतरुप्रतोऽपि
किं सेव्यते विषतरुर्वपुषाजेन ॥' ६।४८।७०
'किं वा विमृष्टमनसामजितेन्द्रियाणां, संपत्सुखाय सुचिरं परिणामकाले' ६।५७।७२
'मतिमान्नहि वक्तव्यकार्यम्' ६।५८।७२
'अस्वन्तको ननुबवत्यधिरादराति: काले पवस्य सहसा परिवर्द्धमान:' ६।६१।७३
'अवसरसमावृत्तिनृणां फलं मति सम्पद:' ६।७१।७३

सर्ग ७

'ऋतुभिस्तरवो विना स्वयं ननु पौष्पीं श्रियमुद्वहन्ति किम् ।' ७।२।७६
'गुणिनां भवति प्रसङ्गतो गुणहीनोऽपि गुणी धरातले ।
सुरभीकुरुतेऽथ कर्परं सलिलं पाटलपुष्प वासितम् ॥' ७।४।७६
'समुपेत्य सितगंत: शुची ननु यत्किञ्चिदपि प्रकाशते ।
सुहिनद्युतिबिम्बसंश्रितो मलिनोऽपि प्रतिभासते मृग: ॥' ७।९।७६
'उपयाति जडोऽपि पाटवं सहसोपज्ञविशेषत: परम् ।
करकालगत: पयोलव: करिणां किं न भिनत्ति मस्त-कम् ॥' ७।१०।७७
'ननु सर्वविदोऽपि राजते न वच: श्रोतरि बोधवर्जिते ।
परिजेतरि नष्टलोचने सफल: किं नु कलत्र विभ्रम: ॥' ७।१३।७७
पुरुषस्य परं विभूषणं परमार्थं श्रुतमेव नापरम् ।
प्रशमो विनयश्च तत्फलं प्रकटं नीतिविद: प्रचक्षते ॥' ७।१४।७७
'विनयप्रशमान्वितं सदा स्वयमेवोपनयन्ति सम्पद: ।
स च साधु समागमो जगत्यनुरागं विदधाति केवलम् ॥' ७।१५।७७
'अनुराग पराजितं जगत्सकलं किङ्करतां प्रपद्यते ।' ७।१६।७७
'निजवैरिवधेन किं मुद: कुरुते कस्य न कार्यसाधनम् ।' ७।१७।७७
'पवनाग्न्य मृदु: सुखावह: पर मित्युष्णतुषार वैरिभि: ।
परितापयति क्षितिं रविर्न तु निर्वापयति क्षणात्कर: ॥' ७।१८।७८

'सुखयीकरणं वरैरिणां त्रिदशस्यापदरं न विद्यते ।
मधुरं च रसायनं यशोविषं परपुष्टोऽपि बलस्य बालधः ॥'
७।१९।७८

'कुपितस्य रिपोः प्रशान्तये प्रथमं साम विधीयते बुधैः ।
कतकेन विना प्रसन्नतां सलिलं कर्दमितं प्रयाति किम् ॥'
७।२१।७८

'वचसा पवनेन वर्धते मृदुना शाम्यति कोप उद्धतः ।
पवनेन यथा दवानलो घनमुक्तेन च भूरिवारिणा ॥'
७।२२।७८

'उपयाति न विक्रियां परः परिणामेऽपि च सान्त्व-साधित' ।
सलिलेन तु मस्मसात्कृतो ज्वलनः प्रज्वलितुं किमीहते ॥'
७।२४।७८

'विकृतिं भजते न जातुचित्कुपितस्यापि मनो महात्मनः ।
परितापयितुं न शक्यते सलिलं वारिनिधेस्तुषोल्कया ॥'
७।२५।७८

'नयवर्त्मनि यः सुनिश्चितं यतते तस्य न विद्यते रिपुः ।
ननु पथ्यभुजां किमामयः प्रभवत्यल्पमपि प्रवाधितुम् ॥'
७।२६।७९

'नयविद्भ्य बुधैः प्रशस्यते कुरुते यस्य वचोऽर्थसाधनम् ॥'
७।३२।७९

'परिकुप्यति यः सकारणं नितरां सोऽनुनयेन शाम्यति ।
अनिमित्तवधः प्रतिक्रिया क्रियतां केन नवेन कथ्यताम् ॥'
७।३३।७९

'अतिरोषवशो हितं प्रियं वचनं प्रत्युत कोपदीपकम् ।
घृतिषेकसमे हि सर्पिषि प्रपतत्तोयमुपैति वह्निताम् ॥'
७।३४।८०

'अनिमानितमार्दवेक्षितं पुरुषं भ्रक्षयति श्रियं क्षयः ।'
७।३५।८०

'मृदुनानुपयाति वह्निना खरतामेति जलेन शीतताम् ।
इति वैरिनिरोधितस्तथा विनयेनैति वशं नरो न चान्यथा ॥'
७।३६।८०

'न भवत्यवमत्य वा रुषः परिभूतेरिह कारणं वधा ॥'
७।४१।८०

'उपकल्पयति शान्तयेः शमं महतो नैव निसर्गशत्रवः ।
बधते च स तैः प्रशाम्यतां सलिलैरौर्वशिखीव वारिधेः ॥'
७।४३।८१

'सुविचार्य कृताद्धि कर्मणः परिणामेऽपि सुखं न जायते ।
अतएव विवेकवान् क्रियामविचार्यारभते न जातुचित् ॥'
७।५२।८२

'क्रियतामयं पुनर्युवयोरुदयः' ७।५७।८३
'कुरुते प्रियतामपूर्वतां ननु कान्त्या रहितेऽपि वस्तुनि ।'
७।७३।८५
'ननु दुःखितयापदां पदम् ।' ७।७९।८५
'नहि सेवकः स्वतन्त्रः' ७।९७।८८

सर्ग ८

'तोयधेरतिमहत्त्वमम्भसः किं वदीति न तरङ्ग संहतिः'
८।३।८९
'साधवो ननु परोक्षबान्धवाः' ८।५।९०
'जन्मनः खलु फलं गुणार्जनं प्रीणनं गुणफलं महात्म-नाम् ।' ८।७।९०
'यः प्रतीपमुपयाति वर्त्मनः सोऽचिरक्षति किमीप्सितां दिशम् ।' ८।९।९०
'स्वामिनं सुहृदमिष्टसेवकं बल्लभाप्रणुबमात्मजं गुरुम् ।
मातरं च पितरं च बान्धवं द्रुषयन्ति न हि नीति-वेदिनः ॥' ८।१०।९०
'चित्तवृत्तिमवयन् प्रभोः पुरा कः करोति विनयादिक-त्थनम् ।' ८।१२।९१
'यः सदा भवति निर्जितेन्द्रियस्तस्य नास्ति परिभूति-रन्यतः ।
जीवितं ननु तदेव सम्मतं यन्निकारदहितं मनस्वि-नाम् ॥' ८।१८।९१
'तावदेव पुरुषः सचेतनस्तावदाकलयति क्रमाक्रमम् ।
तावदुद्वहति मान्यमुन्नतं यावदिन्द्रियवशं न गच्छति ॥'
८।१९।९२
'यः कलत्रमय पाशवेष्टितो मूढतोऽपि स विलङ्घयेत् परैः ।
'अक्षरीमकरयितं महात्रयं भाविरोहति विनम्र बालकः'
८।२०।९२

'इन्द्रियार्थरतिरापदां पदं कस्य वा तनुमतो न जायते।' ८।२१।९२

'युक्तसङ्गममवेक्ष्य दुर्जनः कुप्यति स्वयमकारणं परम्।

चन्द्रिकां नभसि वीक्ष्य निर्मलां कः परो भवति मण्डकादृते॥' ८।३१।९३

'यो विवेकरहितो यथेच्छया वर्तते वधि सतामसम्मते।

निस्पृहः स खलु दण्डयते न कैस्तुङ्गकुचकुङ्गणाकवर्जितः पशुः॥' ८।३२।९३

'द्वौ सतामभिमतौ नरोत्तमौ जन्म संसदि तयोः प्रशस्यते।

यो न मुह्यति भये पुरास्थिते यस्य संपदि मनो न माद्यति॥' ८।३५।९४

'न्यायहीनमिह यस्य वाञ्छितं खेचरः स इति कथ्यते कथम्।

जातिमात्रमनिमित्तमुन्नतेः किं प्रयाति गगने न वायसः॥' ८।४०।९५

'स्तन्यमृत्सृजति किं न मूलतः पादपं तटरुहं नदीरयः।

वेतसः प्रणमनाद्विवर्धते चाटुरेव कुरुते हि जीवितम्।' ८।४८।९६

'संभ्रमेऽपि कुशलो न मुह्यति' ८।६६।९८

'न श्रिये किमनुरूपसंगमः' ८।६७।९९

सर्ग ९

'सेवामतो नेच्छति पापभीरुः' ९।५।१०३

'गुणच्युतः को लभते प्रतिष्ठाम्' ९।७।१०३

'प्राणव्ययं वाञ्छति को न धीरः। ९।८।१०३

'न साधयेत् किं खलु सुप्रयुक्तः।' ९।११।१०४

'कोपो हि शौर्यस्य परः सहायः।' ९।२२।१०५

'विगुणो हि हेयः' ९।३३।१०५

'को निर्दयः संशयिणां विपत्तौ' ९।२८।१०६

'न दुःखितं हन्ति महानुभावः' ९।३२।१०७

'धीरस्य न स्वेऽपरिचिन्तितानाम्।' ९।३८।१०८

'विपत्सु कामोऽनुपयोगमेति' ९।३९।१०८

'समो हि जातो विपुरे सुते वा' ९।४०।१०८

'अहार्यं धैर्यं प्रवरो हि धीरः' ९।४३।१०८

'पूर्वं त्रिलोकं को न हिनस्ति सत्त्वात्' ९।४४।१०८

'सुनिश्चितः किं न करोति धीरः' १।४५।१०९

'को वा न मुह्यति कृतावदानात्' ९।४९।१०९

'प्रशस्यनं भूमिभृतां हि धैर्यम्' ९।६०।१११

'हत्वा रिपुं को न विभाति युद्धे' ९।७०।११२

'गुणाधिके कस्य न पक्षपातः' ९।८३।११३

सर्ग १०

'सतां हि लक्ष्म्या विनयो विभीयते' १०।८।११९

'दयालवो हि प्रणतेषु साधवः' १०।१४।११९

'निरर्थकं गर्जितमप्यकारणम्' १०।२०।१२०

'किमस्ति लेशोऽपि सुखस्य संसृतौ' १०।३४।१२३

'नदीसहस्रैरिव यादसां पतिस्तनूनपादिन्धनसंचयैरिव।

चिराय संतुष्यति कामधस्मरो न कामभोगैः पुरुषो हि जातुचित्॥' १०।३६।१२३

'शुभाशुभं कर्मफलं समश्नुते ध्रुवं पुमान्प्राक्तनमेक एव हि।' १०।३८।१२३

'निवृत्तरागप्रसरस्य यत्सुखं शमात्मकं शाश्वतमात्मनि स्थितम्।

दुरन्तमोहानलतप्तचेतसः किमस्ति तस्यैकलवोऽपि रागिणः॥' १०।४२।१२४

'जराभृहीतं नवयौवनं यथा निवर्तते नैव पुनःकदाचन।

तथायुरारोग्यमपि प्रतिक्षणं विलुप्यमानं नियतेन मृत्युना॥' १०।४४।१२४

'निबन्धनं नास्ति हि भव्यचेतसाम्' १०।५६।१२६

'तमोपहा धीः सकलार्थदर्शनम्' १०।६१।१२७

'महात्मनां नाम वयः समीक्ष्यते' १०।६४।१२७

'सुखं किमन्यन्निजबन्धुदर्शनात्' १०।७४।१२८

सर्ग ११

'न हि कणिकापि सुखस्य नारकाणाम्' ११।२३।१३५

'जिनवचनरसायनं दुरापं श्रुतियुगलाञ्जलिना निपीयमानम्।

विषयविषतृषामपास्य दूरं कमिह करोत्यजरामरं न भव्यम्॥' ११।४०।१३८

'जनयति सदिरुहो न कस्य वाधिम्' ११।५२।१३९

'कृतिकृद्भिरिवाशीरकाङ्क्षद्भिरुपासितः सभापरिषदं सुभाषणैः प्रीणयेत्' ११।५८।१४०
'न हि विधुरे भरिमुद्गते समावान्' ११।६१।१४०
'सम्यक्त्वमात्मुद्धिरवेद्या न सुखाय केषाम्' ११।६४।१४१
'कस्योन्नतिं न कुरुते भुवि साधुसंगमः' ११।६७।१४१

सर्ग १२

'प्रियेषु यत्नेभरसाधहृत्वं तृष्णाक्षयाया हि फलं प्रधानम्' १२।२८।१४७
'तथाहि लोके महतां विभूतिर्वहीयसी सापि विकारहेतुः' १२।३३।१४८
'अचिन्त्यरूपा महतां हि वृत्तिः' १२।३४।१४८
'भव्ये मुमुक्षोर्न हि निःस्पृहा धीः' १२।४८।१४९
'संसारवासस्य हि कर्म हेतुः' १२।५२।१५०
'प्रत्येति भव्यो हि मुमुक्षुवाक्यम्' १२।५९।१५१
'न कालहानिर्महतां हितार्थे' १२।६१।१५१

सर्ग १३

'प्रीतये भुवि न कस्य सुपुत्रः' १३।१९।१५६
'संसृतेर्भुवि विभेति हि भव्यः' १३।२२।१५७
'श्रीमतामविनयो हि सुदूरः' १३।२३।१५७
'चन्दनः किमु जहाति हिमत्वं सर्पवक्त्रविषवह्नियुतोऽपि।' १३।२७।१५७
'यस्य रज्यति मनो न कैतवे सत्यपि स्मरभये स हि धीरः' १३।२८।१५८
'कं न तापयति मित्रवियोगः' १३।४०।१५९
'आपदा परिगतं सुकृतज्ञः स्वोपकारिणमपोज्झति को वा।' १३।४४।१६०
'रक्ष्यमेव मलिनो हि बलीयान्' १३।४९।१६१
'न भिये हि तमसा सहयोगः' १३।५०।१६१
'राजिमः किमु न सिध्यति कार्यं किम्बिदत्र्यभिमतं पुरुषस्य' १३।५९।१६३
'तृणमूलमपि वा चमत्करणीरन्युपैति सत्ये सुसहायम्' १३।६५।१६४
'प्रेम कस्य न करोति हि मायाम्' १३।६९।१६४
'कोपिता खलु मनो हि विदूनम्' १३।७०।१६४
'विस्मृतात्महृदो मुनिरेव विषयं नृपः' १३।७८।१६६

सर्ग १४

'विरक्तौ भुवि महतां न दुष्करापि' १४।४।१६८
'संसार व्यसनशितस्मिते मुमुक्षोः, कोभावे भवति न कस्य वा तपस्या' १४।१२।१६९
'दीपस्योरिव किरणाः सतां कुलीना, विस्तारं विदधति कस्य वा न बुद्धाः।' १४।१४।१७०
'की विष्टपा भवति सचेतनो महत्या' १४।१५।१७०
'प्राज्ञस्य प्रशमितभूरि पुण्य चक्षिः, किं कासां न भवति संपदां सविधी।' १४।२०।१७१
'प्राज्ञानां किमिह कुतूहलस्य हेतुः' १४।२१।१७१
'दु साध्यं न हि भुवि भूरिपुण्यभाजाम्।' १४।२३।१७१
'दुःप्रापं न हि जगतां समग्रपुण्यैः' १४।३१।१७२
'धीराणा न हि विभवो विकारहेतुः' १४।३६।१७३
'श्रेयोऽभ्यस्यहि विजहाति निर्मला धीः' १४।३८।१७३
'मोहान्धो ननु सकलोऽपि जीवलोकः' १४।४३।१७४
'ते धन्या जगति विदां त एव मुख्याः पर्याप्तं सुकृतफलं च भूरि तेषाम्।'
'यैस्तृष्णाविषवल्लिका समूलमूलं श्रोन्मूल्य प्रतिविषमुज्जिता सुदूरम्।' १४।४४।१७४
'संसारो व्यसनमयो ह्यनात्मनीयः' १४।४६।१७४
'भ्रान्तात्मा प्रशमरतो न जातु लोकः' १४।४७।१७४
'जीवानामहिसरतिः परं स्वभावः' १४।४८।१७५

सर्ग १५

'ज्ञात्वा दौस्थ्यं संसृतेरप्रमेयं, भव्यः को वा सिद्धये नोत्सहेत।' १५।१।१७६

सर्ग १६

'न हि दुर्जयोऽस्ति सुतपोऽस्त्रसम्विनाम्' १६।८।२१८
श्रुतमिदमव्यसनमेव विषयनिरतस्य चेष्टितं।
अन्धमिव निशितमाविमुखे भय विद्धुजस्य शमवेहि केवलम्।' १६।१०।२१९
'शमिनामहो चरितमद्भुतात्मवम्' १६।१५।२२१
'प्रीतिविरहितसमाचरणः, किमु दुष्करेऽपि परिमुह्यति प्रभुः।' १६।१७।२२१
'समवसरणकल्पतरोऽपि सदा जगते परोपकरणाय हि सज्जनः।' १६।१८।२२१

'मान्द्यमिति किं भूपतिवः कलयेत्' १६।६४।२२६

सर्ग १७

'लोके यथाहि नितरामनुकम्पयोगः, केषां न दीपयति कान्तिमनन्यधाम्नः ।' १७।२७।२३२

'कालाश्रया भवति पूर्वसमे न भक्तिः' १७।६२।२३८

'लक्ष्मीः न कारयति किं कमिवातिभक्तिः' १७।६४।२३८

'कार्यान्तरात्मनु बुधोऽपि करोत्यकार्यम्' १७।७२।२३९

'भूमि वीरस्य हि नास्ति भीतिहेतुः' १७।९७।२४९

'प्रशमाय सदा न बाह्यहेतुं विदितार्थस्थितिरीक्षते मुमुक्षुः' १७।१०२।२४४

'यशसः सुख सम्पदां च हेतुर्दुरवापोऽरिकुलेषु हि प्रणामः ।' १७।१२४।२४७

सर्ग १८

'अभिलषितमनोज्ञा किं न साध्यं त्रिलोके ।' १८।१।२४९

'स्तुत्ये न केषां स्तवनाभिलाषः' १८।५३।२५९

'तवनुरागयुतस्य न हि वृथा' १८।५५।२५९

'नहि विचिन्त्यगुणः परमेश्वरः' १८।५७।२६०

'बलवता विषयोऽभिभूयते ।' १८।५८।२६०

'न हि भजन्त्यपकारिणमङ्गिनः' १८।७१।२६२

टीकाकर्तुः प्रशस्तिः

गच्छीलक्षणसूक्षेमं [illegible]युदरसंभुवा ।
पन्नालालेन बालेन [illegible]निना ॥ १ ॥

द्वितीये माधवेमासे कृष्णपक्षस्य तिथौ ।
एकादश्यभिधानायां वारेभीराभिधानके ॥ २ ॥

वसुनवचतुर्द्वीन्द्वब्दमिते [illegible]रे ।
वीरनिर्वाणसंज्ञाने प्रदीपे [illegible]पके ॥ ३ ॥

वर्धमानचरित्रस्य रम्यस्यासगसत्कृते ।
महाकाव्यस्य टीकेयं राष्ट्रभाषामयी कृता ॥ ४ ॥

भूयाद्विदस्प्रिया भूमावाकल्पं कल्पनायुता ।
स्थेयात्तावत्पृथिव्याञ्च यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ ५ ॥

अज्ञानेन प्रमादेन स्खलितं यन्मयात्र भोः ।
क्षमध्वं तद्बुधा यूयं ज्ञानवारिधिसंनिभाः ॥ ६ ॥

अज्ञोऽहं काव्यकर्तारमसमं बुधसंस्तुतम् ।
विरुद्धं भाषितं स्वीयं क्षमयामि निरन्तरम् ॥ ७ ॥

काव्यं मनोहरं भाव्यं भव्यभावाभिभूषितम् ।
कल्पनोर्मि समाकीर्णं सत्यमन्वीयतेतराम् ॥ ८ ॥

तदेतत्तु कामानां ज्ञानानां विदुषां तथा ।
टीकेयं मे तरीभूयात्सततं सौख्यदायिनी ॥ ९ ॥

[illegible]स्मरोहस्त [illegible]स्तरे ।
[illegible]वज्रवज्रासो मे रोचतां बुधपङ्क्तये ॥ १० ॥

वर्द्धमान वन्दना

हे वीर ! हे गुणनिधे ! त्रिशलासतनूज !
मज्जन्तमत्र भववारिनिधौ दयालो !
दत्त्वालम्बनमतः कुरु मां विदूरं
मुक्त्वा भवन्तमिह कं शरणं व्रजामि ॥ १ ॥

पापप्रचण्डदवनवह्निशमे नदीष्णं
सच्चातकावलितृषापरिहारदक्षम् ।
सन्मानसस्य परिवृद्धिकरं समन्तात्
तं वीरवारिदमहं विनमामि सम्यक् ॥ २ ॥

आनन्दमन्दिरममन्दमनिन्द्यमाद्यं
वन्दारुवृन्दपरिवन्द्यपदारविन्दम् ।
कुन्दातिसुन्दरयशो विजितेन्दुबिम्बं
वन्दे मुदा जिनपतिं वरवीरनाथम् ॥ ३ ॥

गन्धर्वगीतगुणगौरवशोभमानं
सद्बोधदिव्यमहसा महता सुयुक्तम् ।
वन्दे जिनं जितभवं खलु वर्धमानं
संवर्धमानमहिमानमुदारमोदात् ॥ ४ ॥

नीहारहारहरहाससहासकाश-
संकाशकीर्तिमतिवीरमुदारबोधम् ।
देवेन्द्रवृन्द परिवन्दित पादपद्मं
वन्दे विभुं जिनपतिं त्रिशलातनूजम् ॥ ५ ॥

●